ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन

डा. रामकृष्ण आचार्य

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों
का
तुलनात्मक अध्ययन

डा० रामकृष्ण आचार्य

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

ग्रन्थ-कर्त्ता डा० रामकृष्ण आचार्य संस्कृतसाहित्य एवं दर्शनशास्त्र के विद्वान् हैं। आपका निवास-स्थान ग्राम मुहम्मदी (जि० आगरा) है। सम्प्रति आप बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा के हिन्दी-संस्कृत विभाग में सहायक प्रोफेसर हैं। भारतीय-दर्शन-सम्बन्धी अध्ययन-अध्यापन तथा शोध-कार्य में आपकी विशेष अभिरुचि है। आप की उत्कट अभिलाषा रहती है, कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का कोष राष्ट्र की प्राचीन दार्शनिक निधि से सम्पन्न हो। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी दिशा में आपका एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पर आगरा विश्वविद्यालय ने आपको पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है। इस समय आप 'ब्रह्मसूत्र-समालोचन। ब्रह्म-सूत्रों का भाष्य निरपेक्ष समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर डी० लिट्० के लिए शोध-कार्य कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वसाहित्य में अपने विषय की अभूतपूर्व कृति है। ब्रह्मसूत्र-वैष्णवभाष्यों के इस व्यापक तुलनात्मक 'अध्ययन' से जिज्ञासु जन अवश्य ही तृप्ति का अनुभव करेंगे।

२८ मार्च ६१, शनिवार
(वाराणसी)

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों
का
तुलनात्मक अध्ययन

[आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

डा० रामकृष्ण आचार्य
एम० ए०, पी-एच० डी०
बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

प्रथम संस्करण
जनवरी सन् १९६०
मूल्य १०) रु०

मुद्रक
गुलाबसिंह यादव
आगरा फाइन आर्ट प्रेस,
अहीर पाड़ा, आगरा ।

स्वर्गीय पूज्य पिता

श्रीयुत पं० वृन्दावनप्रसाद शर्मा, एडवोकेट

एवं

स्वर्गीया पूज्य माता

सम्मान्या जानकीदेवी शर्मा

की

पुण्य स्मृति में

विश्वात्मा

को

FOREWORD

I have read with great interest Dr. Ram Krishna Acharya's work on the Brahmasutras of Badrayana and their Vaishnava Commentaries in which an attempt has been made, for the first time I believe, to study the different Vaishnava viewpoints on a comparative basis. It is a systematic and critical study and covers a wide field. The writer has always tried to keep in view the question of fidelity to the Sutras and the extent to which each of the schools of interpretation has succeeded in maintaining it. Evidently a work of this kind involves hard labour as well as much critical discernment. I congratulate the author on the excellent manner in which he has accomplished his self-imposed task. The book has impressed me as a valuable scholarly production, especially in philosophical Hindi literature which is rather poor in this respect.

Gopinath Kaviraj

2/A Sigra,
VARANASI.
18. 12. 1959.

(M. M. Dr. Gopinath Kaviraj)
M. A., D. Litt.
Formerly Principal,
Govt. Sanskrit College, BENARES.

आमुख

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में चिरकाल से वेदान्त का प्रमुख स्थान रहा है। वेदान्त का मौलिक सम्बन्ध उपनिषदों से है, तो भी एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में उसका प्रारम्भ ब्रह्मसूत्रों से ही हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। इसीलिए श्री शंकराचार्य से लेकर श्री रामानुज आदि वैष्णव तथा अन्य आचार्यों ने भी ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या के आधार पर ही अपने-अपने सांप्रदायिक दर्शन का प्रासाद खड़ा किया है।

पर यह विचारणीय विषय है कि एक ही मूल ग्रंथ परस्पर-विभिन्न सांप्रदायिक दर्शनों का वास्तविक आधार कहाँ तक हो सकता है।

साथ ही एक दूसरी बात भी है। ब्रह्मसूत्रों का मुख्य आधार श्रुति-वाक्यों पर है, किन्तु ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुतिवाक्य और श्रुतिग्रन्थ कौन-कौन से हैं, इस विषय में भी भाष्यकारों का ऐकान्तिक ऐकमत्य नहीं है।

ब्रह्मसूत्रों के साथ-साथ विभिन्न भाष्यों के तुलनात्मक और विवेचनात्मक अध्ययन से ही उक्त विषयों के सम्बन्ध में तात्त्विक निर्णय किया जा सकता है।

प्रसन्नता का विषय है कि ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों को लेकर इसी प्रकार का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन डा० रामकृष्ण आचार्य ने प्रकृत ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

प्रकृत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप में स्वीकृत हो चुका है। निर्देशक और परीक्षक दोनों रूपों में मेरा इससे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अन्य परीक्षकों के समान मेरी दृष्टि में भी ग्रन्थ के लेखन में विद्वान् ग्रन्थ-कर्त्ता ने विशिष्ट विद्वत्ता और विवेचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है और श्लाघनीय सफलता के साथ अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है।

ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषय क्या हैं? वैष्णव-भाष्यों में से किसने कहाँ तक वस्तुतः सूत्रों का अनुसरण किया है और कहाँ तक अपने

अभिप्रायों को सूत्रों पर आरोपित किया है ? ब्रह्मसूत्रों के मीमांस्य श्रुतिवाक्य और आधारभूत श्रुतिग्रन्थ कौन हैं ? इस सम्बन्ध में भी वैष्णव-भाष्यों में से कौन कहाँ तक सूत्रों का अनुसरण करता है ? इत्यादि अपेक्षित विवेचनीय प्रश्नों के सम्बन्ध में, ब्रह्मसूत्रों की अपनी दृष्टि, तत्तद् भाष्यों की पारस्परिक दृष्टि और ब्रह्मसूत्रों के साथ उनके सम्बन्ध की दृष्टि से ग्रन्थ में, बड़े परिश्रम और योग्यता से, अपने प्रतिपाद्य विषय का मौलिक विवेचन किया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि अपने विषय में यह एक मूल्यवान् अपूर्व कृति है। मुझे विश्वास है कि विद्वज्जगत् में इसका हार्दिक स्वागत होगा और निःसंकोच भाव से इसकी उपादेयता और उत्कृष्टता स्वीकार की जायगी।

मङ्गलदेव शास्त्री

(डा० मङ्गलदेव शास्त्री)
M. A., D. Phil. (Oxon.)
(*पूर्व-प्रिंसिपल*,
गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस),
डायरेक्टर,
प्राच्य अनुसन्धान संस्थान,
वाराणसी

इंगलिशिया लाइन,
वाराणसी
१५–१२–१९५९

प्राक्कथन

यह तथ्य सुविदित है कि विभिन्न ब्रह्मसूत्र-भाष्यों ने ब्रह्मसूत्रों के मन्तव्य को समान रूप से प्रकट न कर परस्पर-भिन्न ही नहीं, अपितु परस्पर-विरुद्ध रूप में भी प्रकट किया है और इसलिए यह भी जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का एक विषय रहा है कि ब्रह्मसूत्रों का वास्तविक मन्तव्य क्या है और ब्रह्मसूत्र-भाष्यों में से कौन भाष्य कहाँ तक उसे सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत कर सका है। जहाँ तक ज्ञात है, सर्वप्रथम डा० करमरकर ने अपने 'कम्पेयरीज़न ऑव् द भाष्याज़्०'[1] शीर्षक एक निबन्ध में केवल कुछ ही सूत्रों के सम्बन्ध से शंकर, रामानुज, केशव काश्मीरी और वल्लभ द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं की सूत्रानुकूलता पर विचार किया है। उक्त निबन्ध के लेखन-काल के आस-पास ही डा० घाटे ने अपने 'दी वेदान्त'[2] में शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ के भाष्यों की सूत्रानुकूलता पर विचार किया है। उसके बाद अभी हाल ही में डा० मोदी का 'क्रिटिक ऑव् ब्रह्मसूत्राज़्' दो भागों में प्रकाशित हुआ है, जिसके प्रथम भाग में सूत्र ३।२।११ से लेकर समाप्ति तक के ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की सूत्रानुकूलता पर विचार किया गया है और द्वितीय भाग में मुख्यतः ब्रह्मसूत्रों के उक्त अंश तथा सामान्यतः सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य के सम्बन्ध से महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। विद्वानों के उक्त प्रयत्नों की दिशा में ही एक यह भी प्रयत्न है जो प्रस्तुत 'अध्ययन' के रूप में उपस्थित है।

प्रस्तुत 'अध्ययन' में ब्रह्मसूत्रों के केवल वैष्णव-भाष्यों—रामानुजभाष्य, निम्बार्कभाष्य, मध्वभाष्य, वल्लभभाष्य और बलदेवभाष्य—की सूत्रानुकूलता

---

१. बम्बई विश्वविद्यालय की निबन्ध-प्रतियोगिता में प्रस्तुत एक निबन्ध, सन् १९१७।

२. पेरिस विश्वविद्यालय की डॉक्ट्रेट डिग्री के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध, सन् १९१८।

पर विचार किया गया है ।[1] उक्त भाष्यों में से बलदेवभाष्य पर तो प्रस्तुत 'अध्ययन' से पूर्व कोई विचार हुआ ही नहीं है, अवशिष्ट भाष्यों पर भी जो विचार हुआ है, वह व्यापक रूप से नहीं हो सका है । वैष्णव-भाष्यों ने कहाँ तक ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों को स्वीकृत किया है, कहाँ तक उन्होंने सूत्रों के वास्तविक मीमांस्य श्रुतिवाक्यों को मीमांसित माना है, कहाँ तक वे सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय को यथावत् रूप में प्रस्तुत कर सके हैं, कहाँ तक वे सूत्रों के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रकट करते हैं और कहाँ तक वे सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत परमत-निराकरण के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत कर सके हैं, इन सभी दृष्टियों से अभी तक वैष्णव-भाष्यों पर विचार हुआ ही नहीं है । उक्त सभी दृष्टियों से वैष्णव-भाष्यों की परस्पर-तुलना करते हुए उनकी सूत्रानुकूलता पर मौलिक रूप से व्यापक विचार करना ही प्रस्तुत 'अध्ययन' का प्रमुख उद्देश्य है ।

प्रस्तुत 'अध्ययन' विषय-प्रवेश और उपसंहार के अतिरिक्त सात अध्यायों में विभक्त है । 'विषय-प्रवेश' में आलोच्य विषय और उससे सम्बद्ध विषयों—ब्रह्मसूत्रों का महत्त्व, उनका स्वरूप, उनके रचयिता और रचना-काल तथा उनके वैष्णव-भाष्य आदि—का सामान्य परिचय है ।

---

१. रामानन्दसम्प्रदाय के उपलब्ध भाष्यों—आनन्दभाष्य और जानकी-भाष्य—की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में स्वयं उक्त सम्प्रदाय के विद्वानों में ही परस्पर विवाद होने के कारण उनको प्रस्तुत 'अध्ययन' में सम्मिलित नहीं किया गया है (द्रष्टव्य—'संस्कृतम्' पत्र, अयोध्या; दिनाङ्क—३०–८–५५ ; २०, २७–९–५५ ; ४, ११, १८, २५–१०–५५ ; १–११–५५) ।

यद्यपि भास्करभाष्य के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि उसकी रचना त्रिदण्डिमत के अनुसार हुई है, और यतः 'त्रिदण्डी' वैष्णवों के सन्यासियों का नाम होता है, अतः उक्त प्रसिद्धि से यह सम्भावना करने की ओर झुकाव हो सकता है कि संभवतः उक्त भाष्य भी कोई वैष्णव-भाष्य हो; किन्तु परम्परा के द्वारा उक्त भाष्य के वैष्णव-भाष्य के रूप में न माने जाने तथा उसमें जीव और ब्रह्म के बीच में उपाधि के स्वीकृत किए जाने के कारण उसके वैष्णव-भाष्य के रूप में प्रतीत भी न होने से उक्त भाष्य को वैष्णव-भाष्यों के साथ प्रस्तुत 'अध्ययन' में सम्मिलित नहीं किया गया है ।

प्रथम अध्याय में ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों के निर्द्धारण का प्रयत्न किया गया है। वैष्णव-भाष्यों ने ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय समान रूप से नहीं माने हैं; किन्हीं सूत्रों में यदि एक भाष्य ने किसी विशिष्ट विषय का प्रतिपादन माना है, तो दूसरे भाष्य या भाष्यों ने उन्हीं सूत्रों द्वारा एक भिन्न ही विषय का प्रतिपादन स्वीकृत किया है, जिससे सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में ही समस्या उपस्थित हो गई है। प्रतिपाद्य-विषयों के निर्द्धारण के विना उनके सम्बन्ध में भाष्यों के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्तों की सूत्रानुकूलता का परीक्षण नहीं किया जा सकता है, अतः सर्वप्रथम उक्त अध्याय में विभिन्न वैष्णव-भाष्यों द्वारा स्वीकृत विषयों की सूत्रानुकूलता का परीक्षण करते हुए सूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों को निर्द्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। उक्त प्रयत्न जिस रूप में किया गया है, वह सर्वथा एक मौलिक प्रयास है।

द्वितीय अध्याय में उक्त प्रकार से निर्द्धारित किए हुए विषयों पर एक सामान्य दृष्टिपात करते हुए सूत्रप्रतिपादित ऐसे प्रमुख अध्येतव्य विषयों का परिगणन एवं वर्गीकरण किया गया है, जिनके सम्बन्ध में सभी वैष्णव-भाष्यों या उनके बहुमत ने अपने सिद्धान्त प्रकट किए हैं और फलतः जिनका अध्ययन आगे किया जा सकता है।

तृतीय अध्याय में ब्रह्मसूत्रों के समन्वयाध्याय में मीमांसित श्रुतिवाक्यों को निर्द्धारित करने का तथा साथ ही सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों को जानने का प्रयत्न किया गया है और यह देखा गया है कि वैष्णव-भाष्यों ने कहाँ तक सूत्रानुकूल श्रुतिवाक्यों की मीमांसा या उनका निदश सूत्रों में माना है। उक्त दृष्टि से अभी तक वैष्णव-भाष्यों की सूत्रानुकूलता पर विचार नहीं किया गया, इस विषय में प्रस्तुत 'अध्ययन' का ही उक्त प्रयत्न सर्वप्रथम है। उक्त रूप में सूत्रों के मीमांस्य श्रुतिवाक्यों और आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों के निर्द्धारण के बाद उनकी मीमांसा के क्रम तथा पद्धति पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय के स्वरूप का परिचय प्राप्त किया गया है और यह देखा गया है कि वैष्णव-भाष्य कहाँ तक उसे यथावत् सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत कर सके हैं। उक्त विचार करने के साथ ही ऐसे संकेतों को प्राप्त किया गया है जो श्रुतिवाक्य-समन्वय के प्रसङ्ग से सूत्रकार ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिए हैं।

पंचम अध्याय में ब्रह्मसूत्रों के दार्शनिक सिद्धान्तों को जानने का प्रयत्न किया गया है और यह देखा गया है कि वैष्णव-भाष्य कहाँ तक उक्त सिद्धान्तों को यथातथ रूप में प्रस्तुत करते हैं। उक्त अध्याय में ब्रह्मसूत्रों के प्रमुख सिद्धान्त 'ब्रह्मकारणवाद' के स्वरूप और उसकी सूत्राभिमत उपपत्ति पर मौलिक रूप से विचार किया गया है और देखा गया है कि उक्त वाद किस भाष्य के द्वारा किस सीमा तक सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्रों की तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन उक्त अध्याय में किया गया है।

षष्ठ अध्याय में ब्रह्मसूत्रों के अन्य विविध विषयों के सम्बन्ध में उनके मन्तव्य का परिचय प्राप्त किया गया है।

सप्तम अध्याय में ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत परमत-निराकरण के स्वरूप का परिचय प्राप्त किया गया है और देखा गया है कि वैष्णव-भाष्य कहाँ तक उसे यथावत् सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत कर सके हैं। सूत्रों में प्रस्तुत परमत-निराकरण के स्वरूप को जानने और उसके आधार पर वैष्णव-भाष्यों की सूत्रानुकूलता को परखने का प्रयत्न इससे पूर्व हुआ ही नहीं।

'उपसंहार' में अध्ययन के फलस्वरूप ब्रह्मसूत्रों के मन्तव्य का संक्षिप्त प्रकाशन और ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में वैष्णव-भाष्यों का संक्षिप्त मूल्याङ्कन है।

इसके बाद परिशिष्ट 'क' में रामानुजभाष्य के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों का पाठ देकर साथ में अन्य वैष्णव-भाष्यों के अनुसार पाठ-भेद प्रदर्शित किया गया है।

परिशिष्ट 'ख' में अधिकरण-क्रम से वैष्णव-भाष्यों के सभी प्रतिपाद्य-विषयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

प्रस्तुत 'अध्ययन' विभिन्न वैष्णव-वेदान्तों के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वतन्त्र अध्ययन न होकर केवल सूत्रानुकूलता की दृष्टि से वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन है और इसलिए इसमें वैष्णव-भाष्यों में प्रतिपादित ऐसे ही विषयों का अध्ययन किया गया है जो सूत्रों की व्याख्या से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं। वैष्णव-भाष्यों के द्वारा सूत्र-प्रतिपाद्य रूप में स्वीकृत किए हुए सभी प्रतिपाद्य-विषयों का परिगणन परिशिष्ट 'ख' में कर दिया गया है और उनकी सूत्रानुकूलता का परीक्षण 'ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय' शीर्षक प्रथम अध्याय में व्यापक रूप से किया गया है, और उसके फलस्वरूप वैष्णव-भाष्यों के जो प्रतिपाद्य-विषय सूत्रानुकूल प्रतीत हुए हैं, केवल उनका ही अध्ययन पुनः सम्पूर्ण

प्रबन्ध में किया गया है और तदरिक्त विषयों को प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा से वाहर रक्खा है, क्योंकि उनका अध्ययन एक स्वतन्त्र अध्ययन ही हो जाता। इसी प्रकार वैष्णव-भाष्यों में प्रतिपादित विचारधाराओं के उद्गम, विकास, प्रभाव एवं विशेषताओं के किसी विशिष्ट अध्ययन को प्रस्तुत प्रबन्ध में सम्मिलित नहीं किया गया, क्योंकि वह भी अपने में एक स्वतन्त्र अध्ययन है। यद्यपि वैष्णव-भाष्यों में प्रतिपादित विचारधारा अपने मौलिक रूप में प्राचीन 'भागवतमत' की ही विचारधारा है, फिर भी विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों में उसका विभिन्न रूप से विकास हुआ है और उस पर विविध प्रभाव हैं, जिससे उक्त सम्प्रदायों की विचारधाराओं में परस्पर-भेदक अनेक विशेषताएँ हो गई हैं, जिनका प्रदर्शन वैष्णव-भाष्यों में भी न्यूनाधिक रूप में हुआ है, उन सबका अध्ययन स्वतन्त्र रूप से ही किया जा सकता है। इस प्रकार प्रस्तुत 'अध्ययन' वैष्णव-भाष्यों का किसी भी दृष्टि से स्वतन्त्र अध्ययन न होकर केवल 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' के रूप में उनका तुलनात्मक अध्ययन है।

प्रस्तुत 'अध्ययन' आगरा विश्वविद्यालय के द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। यह शोध-कार्य संस्कृत-जगत् के प्रसिद्ध विद्वान्, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस के अवसरप्राप्त प्रिंसिपल, वर्तमान में प्राच्य अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी के डायरेक्टर डा० मङ्गलदेव शास्त्री के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। आपने मेरे अध्ययन की दिशा तो निर्धारित की ही है, साथ ही सभी प्रकार की सुविधा एवं सहायता प्रदान करने की कृपा की है। आपके विद्वत्तापूर्ण मार्ग-निर्देशन का ही यह फल है कि यह कार्य इस रूप में प्रस्तुत हो सका है। इसके लिए और साथ ही आपने जो यहाँ **'आमुख'** लिखने की कृपा की है, उसके लिए मैं आपके प्रति हृदय से साभार कृतज्ञता प्रदर्शित करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

दर्शनशास्त्र के विश्वविख्यात प्रकाण्ड विद्वान् महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, पूर्व-प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस का भी मैं हृदय से अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अनेक निर्देशनात्मक महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर शोध-कार्य में सहायता दी है और साथ ही अपने व्यस्त कार्य-क्रम में से अमूल्य समय देकर प्रस्तुत ग्रन्थ को मनोयोग के साथ देखने तथा इसका 'Foreword' लिखने की कृपा की है।

श्रद्धेय गुरुवर वैष्णवशास्त्रवेत्ता श्री स्वामी राघवाचार्य जी महाराज, श्री रङ्गमन्दिर, वृन्दावन के प्रति भी मैं कृतज्ञता से श्रद्धावनत हूँ, जिन्होंने

शोध-कार्य के प्रसंग में आने वाली अनेक समस्याओं का समाधान करने की कृपा की है और साथ ही अपेक्षित सामग्री को सुलभ बनाया है।

अन्य जिन विद्वान् महानुभावों ने विविध सुझाव देकर इस कार्य में सहायता दी है, उनमें डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, अवसरप्राप्त अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ; डा० नरेन्द्रदेव शास्त्री, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा एवं श्री भोलानाथ शर्मा, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, बरेली कालेज, बरेली का नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। उक्त सभी विद्वानों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। साथ ही अपने कालेज के उदारमना प्रिंसिपल डा० रामकरणसिंह जी का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस कार्य के लिए अपेक्षित सर्वविध सुविधाओं को प्रदान करने की कृपा की।

इस अवसर पर अपने परमपद-प्राप्त श्रद्धेय गुरुजनों—श्री स्वामी रङ्गाचार्य जी महाराज, श्री रङ्गमन्दिर, वृन्दावन; श्री स्वामी धरणीधराचार्य जी महाराज एवं वेदान्तमर्मज्ञ श्री स्वामी श्रीधराचार्य जी महाराज, श्री-निवास विद्यालय, वृन्दावन—की अपार कृपा का श्रद्धा एवं सम्मान के साथ कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके आश्रय में रहकर मैंने वेदान्तशास्त्र में किञ्चित् प्रवेश पाने का सुयोग प्राप्त किया, जिसके कि फलस्वरूप प्रस्तुत 'अध्ययन' के प्रस्तावन का यह अवसर उपलब्ध हो सका।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; राजकीय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; गोयनका पुस्तकालय वाराणसी; काशी विद्यापीठ, वाराणसी; आगरा विश्वविद्यालय, आगरा; चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा एवं श्री वृन्दावन रामानुज पुस्तकालय, मुहम्मदी (आगरा) आदि पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपने-अपने पुस्तकालयों से लाभ उठाने की अनुमति प्रदान की। इस प्रसंग में श्री वासुदेवाचार्य जी, अयोध्या; श्री भगवदाचार्य जी, अहमदा-बाद; श्री वज्राङ्गदास जी, हरिद्वार; डा० टीकमसिंह तोमर, आगरा; श्री रासविहारी गोस्वामी एम० ए०, व्याकरणाचार्य, वृन्दावन; श्री सदाशिव शास्त्री, व्याकणाचार्य, वृन्दावन; वैद्य श्री गौरकृष्ण गोस्वामी शास्त्री, काव्य-पुराणदर्शनतीर्थ, वृन्दावन; श्री वनमालिदास शास्त्री, वृन्दावन; श्री राधाकृष्णा-चार्य शास्त्री, वृन्दावन; श्री अच्युतानन्द घिल्डियाल शास्त्री, आगरा; श्री चमेलीप्रसाद शर्मा एम० ए०, फीरोज़ाबाद; श्री कुंजीलाल जैन शास्त्री,

फीरोज़ाबाद एवं श्री हरिप्रसाद शास्त्री, वेदाचार्य, मुहम्मदी (आगरा) का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपेक्षित सामग्री को सुलभ बनाने की कृपा की। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। साथ ही उन विद्वान् लेखकों का कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रन्थों से मैंने साभार लाभ उठाया है।

प्रस्तुत शोध-कार्य के प्रसंग से मेरे वाराणसी-निवास के अवसर पर परममित्र श्री मनोहर सिंह चौहान एम० ए०, अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी ने स्नेह एवं सौजन्य के साथ विविध रूप में जो मेरी सहायता की, उसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

अपने अग्रज श्री जगदीशप्रसाद शर्मा, वैद्यविशारद श्रद्धापूर्ण सम्मान और अनुज चि० मथुराप्रसाद शर्मा 'मथुरेश' एम० ए०, साहित्यरत्न एवं तनुज चि० रंगेशकुमार शर्मा स्नेहपूर्ण आशीर्वाद के योग्य हैं, जिन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रस्तावन एवं मुद्रण के अवसर पर विविध सहायतापूर्ण कार्य किए। साथ ही वे सभी सुहृद् महानुभाव धन्यवादार्ह हैं जिनकी शुभ प्रेरणा एवं मङ्गलकामनाओं तथा विविध सहायताओं से प्रस्तुत कार्य सम्पन्न हो सका है।

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा के संचालक महोदय भी धन्यवाद के योग्य हैं, जिन्होंने अपने व्यय से थोड़े ही समय में प्रस्तुत ग्रन्थ को सुचारु रूप से प्रकाशित कर राष्ट्रभाषा हिन्दी में दार्शनिक साहित्य के प्रकाशन के लिए अपने विशेष उत्साह का परिचय दिया है।

अन्त में, विद्वान् पाठकों से यह नम्र निवेदन करना है कि यद्यपि मुद्रण की शुद्धता के लिए सभी प्रकार की यथाशक्य सावधानता रक्खी गई है, फिर भी प्रेस की कुछ सामान्य भूलें रह गई होंगी, उनके लिए एवं आगे विज्ञप्ति के अन्त में निर्दिष्ट तीन उल्लेखनीय अशुद्धियों के लिए उदारता से क्षमा-प्रदान करें और यथावत् संशोधन कर लेने तथा अपने उपयोगी सुझाव भेजने के लिए मेरा हार्दिक धन्यवाद पूर्व में ही ग्रहण करें।

बलवन्त राजपूत कॉलेज,
आगरा
१—१—६०

रामकृष्ण आचार्य

विज्ञप्ति

ब्रह्मसूत्रों के अन्य सभी भाष्यों की भाँति वैष्णव-भाष्यों में भी परस्पर सूत्रपाठ-सम्बन्धी कुछ भेद होने के कारण उनमें सूत्रों के क्रमाङ्क समान रूप से नहीं है, किन्तु सूत्र-निर्देश की निश्चयात्मकता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सूत्र-निर्देशक क्रमाङ्क में एकरूपता हो। यतः उक्त एकरूपता किसी एक ही भाष्य के अनुसार सूत्राङ्क देने से लाई जा सकती है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वत्र वैष्णव-भाष्यों में प्राचीनतम माने जाने वाले भाष्य रामानुजभाष्य—के अनुसार सूत्राङ्क दिए गए हैं और उक्त भाष्य के अनुसार क्रमाङ्क सहित ब्रह्मसूत्र-पाठ परिशिष्ट 'क' में दे दिया गया है। विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में जहाँ कहीं भी किसी विशिष्ट भाष्य के नाम-निर्देश के विना सामान्यतः सूत्राङ्क दिया गया हो, वहाँ उस अंक से उसी सूत्र का निर्देश समझा जावे जो रामानुजभाष्य में उससे निर्दिष्ट है। यदि कहीं किसी अन्य भाष्य का सूत्राङ्क दिया गया है तो उसके साथ उस भाष्य का निर्देश अनिवार्यतः कर दिया गया है।

दूसरा निवेदन यह है कि पृ० ३१ पंक्ति ५ में **'गीतार्थसंग्रह'** के स्थान पर 'गीतार्थसंग्रहरक्षा' और पृ० १६२ पंक्ति २५ में **'वल्लभ'** के स्थान **'बलदेव'** भूल से छप गया है तथा इसी प्रकार पृ० २२ पंक्ति १६ पर **'भर्तृहरि'** और **'भर्तृप्रपंच'**, ये नाम अशुद्ध छप गए है, अतः यथावत् संशोधन कर उक्त स्थलों पर क्रमशः **'गीतार्थसंग्रह'**, **'वल्लभ'** और **'भर्तृहरि, भर्तृप्रपंच'** पढ़े जाने की कृपा की जावे।

—लेखक

संकेत-सूची

अ०	अध्याय
अधि०	अधिकरण
अ० स० प्र० पा०	अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता
आर० (आ०)	आरण्यक
ईशा०	ईशावास्योपनिषद्
उप० (उ०)	उपनिषद्
ई०	ईसवी सन्
ई० पू०	ईसा से पूर्व
ऐ० आ०	ऐतरेयारण्यक
कम्पेयरीज़न ऑव् द भाष्याज़्०	कम्पेयरीज़न ऑव् द भाष्याज़् ऑव् शंकर, रामानुज, केशव काश्मीरी एण्ड वल्लभ ऑन सम क्रूशल सूत्राज़्
कौषी० उप०	कौषीतक्युपनिषद्
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गो० भा०	गोविन्दभाष्य (ब्रह्मसूत्र)
छा०	छान्दोग्योपनिषद्
जे० ए० ओ० एस०	जर्नल ऑव् अमेरिकन ऑरियण्टल सोसाइटी
तै० आर०	तैत्तिरीयारण्यक
तै० उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति० नारा० उ०	तैत्तिरीयनारायणोपनिषद्
तै० ब्र०	तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दनवल्ली
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० भृगु०	तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली
पा०	पाद

पाशु० सू०	पाशुपतसूत्र
पा० सू०	पाणिनिसूत्र (अष्टाध्यायी)
पू० भा०	पूर्णप्रज्ञभाष्य (ब्रह्मसूत्र)
पू० मी० सू०	पूर्वमीमांसासूत्र
पृ०	पृष्ठ
प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
प्रपा०	प्रपाठक
बल० भा०	बलदेवभाष्य (ब्रह्मसूत्र)
बृहदा० (बृह०)	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रह्मसूत्राज़् ऑव् बादरायण०	ब्रह्मसूत्राज़् ऑव् बादरायण विद् कमैण्टरी ऑव् शंकराचार्य
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
म० भा०	मध्वभाष्य (ब्रह्मसूत्र)
मा० का०	माध्यमिककारिका
मुण्ड०	मुण्डकोपनिषद्
रा० भा०	रामानुजभाष्य (ब्रह्मसूत्र)
वि०	विक्रमी सम्वत्
वैष्णविज़्म, शैविज़्म०	वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स्
शा० भा०	शाङ्करभाष्य (ब्रह्मसूत्र)
श्लो०	श्लोक
श्वेत० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सू०	सूत्र

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन

विषय-प्रवेश

आलोच्य विषय और उससे सम्बद्ध विषयों का सामान्य परिचय

ब्रह्मसूत्रों का महत्त्व

भारतीय दर्शनसाहित्य की एक प्रमुख धारा के उपजीव्य एवं मूलस्रोत के रूप में ब्रह्मसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी असाधारण विशेषताओं के कारण ये अपने रचना-काल से ही अध्ययन, अध्यापन तथा चर्चा के विषय बने हुए हैं। पूर्वाचार्यों ने इनके ऊपर वृत्ति, वाक्य, वार्तिक और भाष्य लिखे, जिनके कि ऊपर अनेक व्याख्यान, अनुव्याख्यान तथा साररूप विविध प्रकरण-ग्रंथ प्रस्तुत हुए और अभी तक हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी ब्रह्मसूत्रों का जो अध्ययन आधुनिक काल में हुआ है, उसके फलस्वरूप अनेक ग्रन्थ प्रस्तुत हो चुके हैं। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के मूलस्रोत से दार्शनिकसाहित्य की जो धारा प्रसूत हुई, जो कि 'ब्रह्मसूत्रसाहित्य-धारा' के नाम से अभिहित की जा सकती है, वह भारतीय दर्शनसाहित्य के एक बहुत बड़े भाग को व्याप्त किए हुए है। उक्त धारा के अन्तर्गत आने वाला साहित्य—ब्रह्मसूत्रसाहित्य—भारतीय दर्शनसाहित्य में अपना एक स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस साहित्य की सृष्टि में भारत के उच्चकोटि के मनीषियों ने अपना योग दिया है। महामनीषी एवं उच्चकोटि के दार्शनिक होने पर भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय ब्रह्मसूत्रों के व्याख्यान के रूप में ही देकर अपने को कृतकृत्य समझा है। यह साहित्य अपनी विविधता, विपुलता, गम्भीरता तथा मनीषाप्रसूतत्व से अपने स्वरूप में तो स्वयं महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु साथ ही अपने मूलस्रोत ब्रह्मसूत्रों के असाधारण महत्त्व एवं व्यापक उपजीव्यत्व तथा भारतीय दर्शन-साहित्य में उनके गौरवपूर्ण स्थान का अनुभव सहज ही में करा देता है।

दार्शनिक जगत् इस तथ्य से पूर्णतया परिचित है कि भारत के सभी श्रुतिपरम्परावादी मतों में ब्रह्मसूत्रों को व्यापक मान्यता प्राप्त है। ये मत अपने

स्वरूप में, भले ही, एक दूसरे से विभिन्नता या विरोध रखते हों, किन्तु जहाँ तक ब्रह्मसूत्रों का सम्बन्ध है, इनका प्रामाण्य सबको समान रूप से मान्य है, इन्हें सबने अपना उपजीव्य बनाया है। किसी भी श्रुतिपरम्परावादी मत ने, चाहे उसके कुछ सिद्धान्त सूत्रप्रतिकूल हों, ब्रह्मसूत्रों की उपेक्षा करने का साहस नहीं किया, अपितु सभी ने इन के समक्ष नतमस्तक होकर परस्परप्रतियोगितापूर्वक यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि उनके सिद्धान्त सर्वथा सूत्रानुकूल हैं और अन्य मत सूत्रप्रतिकूल हैं। ब्रह्मसूत्रों की रचना के बाद जिस किसी मत ने, चाहे वह मूलतः वैदिक हो या वैदिकेतर, श्रुतिपरम्परावादी भारतीयों के समक्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि उसके सिद्धान्त सर्वथा श्रुत्यनुकूल हैं, तो उसने अपनी उक्त श्रुत्यनुकूलता को प्रमाणित करने के लिए अपनी सूत्रानुकूलता प्रायः अवश्य प्रदर्शित की है, उसे यह प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होना पड़ा है कि उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन सूत्रों से होता है। उक्त व्यापक प्रवृत्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक कोई मत अपने को सूत्रानुकूल रूप में प्रदर्शित नहीं कर देता था, तब तक उसे यही आशंका बनी रहती थी कि संभवतः श्रुतिपरम्परावादी समाज उसे श्रुत्यनुकूल मानने को प्रस्तुत न होगा और फलस्वरूप स्वमतानुयायियों को प्राप्त करना कठिन होगा। उक्त दृष्टि से प्रेरित होकर विभिन्न मतों ने अपने को सूत्रानुकूल प्रदर्शित करने के लिए जो प्रयत्न किए, वे विभिन्न ब्रह्मसूत्रभाष्यों के रूप में जनता के समक्ष आए और प्रायः स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने के इच्छुक प्रत्येक मत ने किसी न किसी स्थिति पर पहुँच कर अपना एक स्वतन्त्र ब्रह्मसूत्रभाष्य प्रस्तुत किया, और तन्मतावलम्बियों के द्वारा उस भाष्य के व्याख्यान, अनुव्याख्यान, वार्तिक तथा साररूप प्रकरण-ग्रन्थ आदि के रूप में एक परम्परा चल पड़ी, जो किसी न किसी रूप में अब भी चल रही है। इसी परम्परा का परिणाम है कि ब्रह्मसूत्र-साहित्य परिमाण में इतना विशाल और स्वरूप में इतना विविध हो सका है।

अपने अपने मतों का समर्थन करने वाले ये ब्रह्मसूत्रभाष्य चाहे सूत्रानुकूल हों या न हों, किन्तु इनके सृजन की मूलभूत प्रेरणा से यह सहज ही जाना जा सकता है कि श्रुतिपरम्परावादी भारतीयों में ब्रह्मसूत्रों के प्रति कितना श्रद्धाभाव तथा सम्मान रहा है, जिसको ध्यान में रखकर विभिन्न मतों को अपनी सूत्रानुकूलता प्रदर्शित करने को बाध्य होना पड़ा; अन्यथा अपने को श्रुत्यनुकूल सिद्ध करने के लिए सभी मत इतने विशाल वैदिक साहित्य से कुछ न कुछ श्रुतिवाक्यों को स्पष्टतः स्वमतप्रतिपादक रूप में प्रदर्शित कर और

प्रतिकूल प्रतीत होने वाले वाक्यों की स्वानुकूल व्याख्या कर श्रौतसिद्धान्तों का एक समन्वित रूप स्वसिद्धान्तसमर्थक रूप में प्रस्तुत कर सकते थे, जैसा कि उन्होंने किया भी है, किन्तु उतने मात्र से सन्तुष्ट न होकर, उन्होंने सूत्राक्षरों की खींचा-तानी कर ब्रह्मसूत्र-भाष्य-रचना का जो प्रयास किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्रों के अस्तित्व में आने पर इनको इतना सम्मान मिला कि श्रुतियों के वास्तविक सिद्धान्त को प्रकाशित करने वाले एकमात्र यही माने गए और फलतः विना इनका समर्थन प्राप्त किए कोई भी मत यह विश्वास नहीं कर सकता था कि श्रुतिपरम्परावादी समाज उसे श्रुत्यनुकूल मानने को प्रस्तुत होगा।

यद्यपि, जैसा कि स्वयं ब्रह्मसूत्रों के साक्ष्य से ही ज्ञात है, इनसे पूर्व भी ब्रह्ममीमांसकों की एक परम्परा रही है और इस परम्परा के आश्मरथ्य, बादरि, काशकृत्स्न, औडुलोमि और कार्ष्णाजिनि आदि कतिपय ब्रह्ममीमांसकों के मतों का ब्रह्मसूत्रों में निर्देश भी किया गया है। इनमें से, सम्भव है, कुछ ने ब्रह्मसूत्रकार के समान ब्रह्म-मीमांसा-सूत्र भी प्रस्तुत किए हों, किन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। सम्भव है कि उनकी तुलना में वर्तमान ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म-मीमांसा अपनी शैली की गरिमा और सिद्धान्तों के औचित्य से इतनी उच्च, व्यवस्थित और प्रभावशालिनी हो कि इनके समक्ष अन्य ब्रह्म-मीमांसा-सूत्रों का प्रभाव क्षीण हो गया हो। इस प्रकार वर्तमान ब्रह्मसूत्रों के अस्तित्व में आने के बाद श्रुतिप्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों के वास्तविक प्रकाशक एकमात्र यही स्वीकृत हुए। इस क्षेत्र में एकमात्र इन्हीं का सार्वभौम साम्राज्य है, जो इनके असाधारण महत्त्व का सूचक है।

२. ब्रह्मसूत्रों का स्वरूप

(अ) **मीमांसात्मक**—ब्रह्मसूत्रों पर एक सामान्य दृष्टिपात करने से ही यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि इनका स्वरूप अन्य दर्शनसूत्रों के समान स्वतन्त्र-दर्शनात्मक नहीं, अपितु पूर्वमीमांसासूत्रों के समान श्रुतिमीमांसात्मक है। वस्तुतः ब्रह्मसूत्रों के उक्त स्वरूप की सूचना उनके प्रथम सूत्र से ही प्राप्त हो जाती है। सूत्रकार ने 'अथातो जगत्-कारण-जिज्ञासा' न कह कर 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (१।१।१) के द्वारा ही यह स्पष्ट कर दिया है कि वे अन्य दर्शनों की भाँति स्वतन्त्र रूप से जगत् के मूलकारण की जिज्ञासा में प्रवृत्त नहीं हैं, अपितु श्रुतियों ने जिसे जगत् का मूलकारण मान कर 'ब्रह्म' कहा है, उसी तत्त्व की उन्हें जिज्ञासा है, उसी के स्वरूप पर वे विचार करना चाहते हैं

कि वह श्रुतियों में किस रूप में प्रतिपादित है। श्रुतियों में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग जगत् के मूलकारणतत्त्व के साथ अन्य अनेक अर्थों में भी हुआ है, अतः द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः (१।१।२) में 'ब्रह्म' शब्द के स्वाभिमत अभिधेय को स्पष्ट कर तृतीय सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' (१।१।३) के द्वारा उन्होंने यह पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है कि वे जिस तत्त्व की जिज्ञासा में प्रवृत्त हैं, उस में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, उस तत्त्व के ज्ञान की 'योनि' अर्थात् उद्गम-स्थान एकमात्र शास्त्र है और इसलिए वे अपने द्वारा जिज्ञास्य तत्त्व के स्वरूप पर विचार करने के लिए उसके प्रतिपादक शास्त्र अर्थात् श्रुतियों का मनन करेंगे–उनकी मीमांसा करेंगे, और आगे सूत्रों में प्रमुख रूप से सर्वत्र यही किया गया है। इस प्रकार उन्होंने प्रथम तीन सूत्रों के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मप्रतिपादकश्रुतिमीमांसा का अविच्छेद्य सम्बन्ध ही नहीं, अपितु यों कहना चाहिए कि एक ही तथ्य के दो रूपों को प्रकट करने वाले ये दो समानार्थक प्रयोग हैं। ब्रह्मस्वरूपविचार साध्य है, और उसका एकमात्र साधन है—श्रुतिमीमांसा। ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मप्रतिपादकश्रुतिमीमांसा के विना हो ही नहीं सकती। सूत्रकार ने मुख्य ध्येय होने के कारण प्रथम सूत्र में साध्य के स्वरूप का निर्देश किया है, जिससे उसके अनिवार्य एवं एकमात्र साधन की सूचना स्वतः प्राप्त हो जाती है और तृतीय सूत्र में उन्होंने यह सूचना स्पष्टतः दे भी दी है। उक्त प्रकार से प्रथम सूत्र से ही ब्रह्मसूत्रों का स्वरूप स्पष्ट है कि उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन सूत्रकार का अपना कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं, अपितु श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा या व्याख्या मात्र हैं और इसलिए सूत्रकार को सूत्रप्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रतिपादन में स्वतः ही श्रुतिपरतन्त्र रहना पड़ा है।

उक्त प्रकार से ब्रह्मसूत्रों के श्रुतिमीमांसात्मक होने से सूत्रकार को अन्य दर्शनकारों के समान स्वाभिमत सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए स्वतः ही प्रयास नहीं करना पड़ा। अन्य दर्शनकारों को जहाँ अपने प्रतिपाद्य मूलतत्त्व या अन्य तत्त्वों के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक युक्ति, तर्क और अनुमान आदि प्रमाणों की शरण लेनी पड़ी है, वहाँ सूत्रकार ने, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, अपने शास्त्र के प्रतिपाद्य जगत्कारण ब्रह्म के अस्तित्व और उसके मूलकारणत्व को सिद्ध करने के लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' (सू० १।१।३) को ही पर्याप्त समझ कर एक असाधारण प्रबल प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है। इसी प्रकार जहाँ अन्य आत्मनित्यत्ववादी दर्शनों को जीवात्मा के अस्तित्व और नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियों का समाश्रयण करना

पड़ा है, वहाँ ब्रह्मसूत्रों ने 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (सू० २।३।१८) से ही उसके नित्यत्व का प्रतिपादन कर दिया है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मसूत्रों में सर्वत्र स्वाभिमत सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वतन्त्र प्रमाणों के आधार पर नहीं, अपितु श्रुतियों के आधार पर ही किया गया है, उनमें श्रुतिपरतन्त्रता सर्वत्र स्पष्ट है। यद्यपि युक्तियों का आश्रय भी लिया गया है, किन्तु वह स्वतन्त्र रूप से नहीं, अपितु श्रुतियों के ही परतन्त्र होकर उनकी उपपत्तिसहित व्याख्या और समन्वय करने के लिए ही लिया गया है। सूत्रों के सिद्धान्तों का मूलप्रमाण या उद्गम-स्थान श्रुति है और उन सिद्धान्तों की उपपत्ति तथा साथ ही विपक्षी सिद्धान्तों की अनुपपत्ति दिखाने का प्रमाण युक्ति है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का स्वरूप मूलतः स्वतन्त्रदर्शनात्मक नहीं, अपितु श्रुति-मीमांसात्मक है, जो कि उन्हें अन्य दर्शनसूत्रों से पृथक् स्थान देता है।

अन्य श्रुतिप्रामाण्यवादी दर्शनसूत्रकारों ने श्रुति के प्रामाण्य को अवश्य माना है, किन्तु उन्होंने ब्रह्मसूत्रकार के समान श्रुतियों के परतंत्र होकर तत्प्रतिपादित तत्त्वों के स्वरूप की मीमांसा नहीं की, अपितु स्वतंत्र रूप से स्वोद्भावित तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने यत्र-तत्र अपने युक्तिसाधित सिद्धान्तों की मान्यता प्रदर्शित करने के लिए उनका श्रुतियों से समर्थन करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनका मुख्य आधार है अपना स्वतन्त्र चिन्तन और उसके फलस्वरूप स्वोद्भावित सिद्धान्तों का युक्तियों के बल पर प्रतिपादन।

श्रुतिपरतन्त्रता और मीमांसात्मक स्वरूप की दृष्टि से ब्रह्मसूत्रों की तुलना केवल पूर्वमीमांसासूत्रों से की जा सकती है। उक्त दोनों सूत्र-ग्रन्थों में अन्तर इतना ही है कि उनके द्वारा मीमांस्य श्रुतियाँ और फलस्वरूप उनके प्रतिपाद्य-विषय एक दूसरे से भिन्न हैं। पूर्वमीमांसा श्रुतियों के कर्म-प्रतिपादक भाग की मीमांसा कर श्रौत कर्म के स्वरूप पर विचार करती है, और ब्रह्मसूत्र उनके ब्रह्मप्रतिपादक भाग की मीमांसा कर श्रौत जगत्कारण-तत्त्व के स्वरूप पर विचार करते हैं। श्रुतिमीमांसात्मक सामान्यस्वरूप की दृष्टि से ही ये दोनों परम्परा से मीमांसा के रूप में स्वीकृत होकर केवल अपने मीमांस्य प्रकरणों की दृष्टि से 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा' तथा अपने प्रतिपाद्य की दृष्टि से 'कर्म-मीमांसा' और 'ब्रह्म-मीमांसा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रुतिपरतन्त्रता और मीमांसात्मक स्वरूप की दृष्टि से समान होते हुए भी उक्त प्रतिपाद्य की दृष्टि से उक्त दोनों सूत्र-ग्रन्थों में बहुत तारतम्य है और

यह ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय का ही गौरव है कि दार्शनिक दृष्टि से उन्हें जो महत्त्व प्राप्त हो सका, वह पूर्वमीमांसासूत्रों को प्राप्त नहीं हुआ।

ब्रह्मसूत्रों द्वारा प्रस्तुत मीमांसा का स्वरूप, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा,[1] समन्वयात्मक है। श्रुतियाँ, जिनकी कि सूत्रों में मीमांसा प्रस्तुत की गई है, परम्परा से नित्य तथा इस रूप में मानी गई हैं कि उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है और इसी रूप में श्रुतिपरम्परावादी सूत्रकार ने भी उन्हें माना है, किन्तु उनमें विरोध प्रतीत होता है, अतः उस विरोध को दूर करने के लिए, उनमें एकवाक्यता स्थापित करने के लिए, उनकी मीमांसा करने की परम्परा रही है और उसी परम्परा में ब्रह्मसूत्र भी अन्यतम है। इनमें भी 'तत्तु समन्वयात्' (सू० १।१।४) के द्वारा अपने आधारभूत मीमांस्यप्रकरणों की मीमांसा के समन्वयात्मक स्वरूप को स्पष्ट कर दिया गया है और तदनुसार ही समन्वयाध्याय में तत्त्वप्रतिपादक प्रकरणों की मीमांसा करके उनमें एकवाक्यता स्थापित की गई है तथा अध्याय के अन्त में 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (सू० १।४।२६) के द्वारा उपसंहार किया गया है। इसी प्रकार आगे भी सर्वत्र तत्तद्विषयों के प्रतिपादक वाक्यों की मीमांसा के द्वारा उनमें समन्वय या एकवाक्यता स्थापित कर श्रुतिप्रतिपादित सिद्धान्तों को निर्धारित किया गया है। उक्त प्रकार से समन्वयात्मक होने के कारण ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत श्रुतिमीमांसा कोई व्याख्यामात्र नहीं है, अपितु विविध तात्पर्यनिर्णायक उपायों के द्वारा किसी एक समान विषय के प्रतिपादक विभिन्न श्रुतिप्रकरणों पर विचार कर, उनमें यदि कोई विरोध प्रतीत होता हो तो उसे दूर कर, उनका परस्परसमन्वय प्रदर्शित करते हुए, उनके प्रतिपाद्य-विषय के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण है और उक्त निर्धारण में ही सूत्रकार का मीमांसकत्व निहित है।

(आ) **दर्शनात्मक**—यद्यपि ब्रह्मसूत्रों का स्वरूप मुख्यतः मीमांसात्मक है, किन्तु फिर भी वे एक मीमांसामात्र ही नहीं, अपितु उससे कुछ अधिक हैं। सूत्रकार ने श्रुतियों की मीमांसा के फलस्वरूप जो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं, उनके निर्धारण में उनके मीमांसकत्व की पूर्ति हो जाती है; किन्तु इससे आगे भी वे बढ़े हैं। उन सिद्धान्तों को उन्होंने एक दार्शनिक की भाँति अपना बना लिया है और उनका उपपत्तिसहित उपपादन करने का दार्शनिक उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर लिया है, और उक्त उत्तरदायित्व को उन्होंने अपने शास्त्र

१. 'श्रुति-वाक्य-समन्वय' शीर्षक अध्याय (चतुर्थ)।

की सीमा और स्वरूप के अनुसार पूर्णरूप से निभाया है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों की युक्तियुक्तता दिखाते हुए उन पर होने वाले सभी संभावित आक्षेपों का निराकरण किया है।

वस्तुतः सूत्रकार का मुख्य ध्येय श्रुतियों में प्रतिपादित ब्रह्मकारणवाद की प्रतिष्ठा करना है, और इसके लिए अनिवार्य साधन श्रुतियों की मीमांसा है। इस प्रकार साधन रूप में ही श्रुति-मीमांसा प्रस्तुत की गई है और इसीलिए, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है,[1] उन्होंने प्रस्तावना-सूत्र में "ब्रह्म-जिज्ञासा" के द्वारा अपना मुख्य ध्येय ही निर्दिष्ट किया है। द्वितीय सूत्र के द्वारा जहाँ उन्होंने 'ब्रह्म' शब्द के स्वाभिमत अभिधेय को प्रकट किया, वहाँ साथ ही उन्होंने अपने इस जिज्ञास्य तत्त्व—ब्रह्म—के जगत्कारणत्व की प्रतिज्ञा भी की, जिसको आगे श्रुतियों के बल पर उनकी मीमांसा कर सिद्ध किया; और फिर इस ब्रह्मकारणवाद को विपक्षियों के समक्ष स्थिर बनाये रखने के लिए संभावित आक्षेपों का निराकरण कर उसकी उपपन्नता दिखाते हुए यह सिद्ध किया कि ब्रह्मकारणवाद श्रुतिमूलक होने से ही नहीं, अपितु उपपन्न होने से भी एक मान्य सिद्धान्त है। इसके बाद अपने समय में प्रचलित सांख्य आदि मतों के जगत्कारणवादी विभिन्न सिद्धान्तों की तर्कपाद (अ० २।२) में अनुपपन्नता दिखाकर उनका प्रतिवाद किया। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्मसूत्रों का मुख्य भाग 'तर्कपाद' की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाता है, जिसमें उनका दर्शनात्मक स्वरूप स्पष्ट है, उक्त पाद के आगे भी सूत्रकार श्रुतिप्रतिपादित सिद्धान्तों को यथासंभव उपपन्न रूप में प्रदर्शित करते गए हैं और साथ ही तत्सम्बन्धी पूर्वपक्षों का निराकरण करते गए हैं। उक्त प्रकार से यद्यपि ब्रह्म-सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत दर्शन उनका अपना स्वतन्त्र दर्शन नहीं और उनके मुख्यतः मीमांसात्मक होने के कारण उनमें दार्शनिक दृष्टि से एक पूर्ण, व्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध विचारधारा नहीं, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि उनका स्वरूप मीमांसात्मक होने के साथ-साथ दर्शनात्मक भी है। सूत्रकार का भी एक दार्शनिक दृष्टिकोण रहा है, जो कि, जैसा कि नीचे प्रदर्शित है, सूत्रों की मुख्यतया निराकरणात्मक प्रवृत्ति से और भी स्पष्टतः सूचित होता है।

(इ) **निराकरणात्मक**—ब्रह्मसूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनकी प्रवृत्ति मुख्यतया निराकरणात्मक है। चाहे उनके द्वारा प्रस्तुत मीमांसा पर ध्यान दिया जावे, और चाहे स्वसिद्धान्त-स्थापन पर, सर्वत्र सूत्रों में निरा-

---

१. पृष्ठ ४।

करणात्मक प्रवृत्ति का दर्शन होगा। यद्यपि ब्रह्मसूत्रों के समान एक मीमांसा-ग्रन्थ से यही संभावना की जा सकती है कि उसमें प्रत्यक्षविधानात्मक पद्धति पर श्रुतियों की मीमांसा प्रस्तुत की गई होगी और इसी पद्धति पर स्वसिद्धान्त-स्थापन किया गया होगा, और परमत-निराकरण संभवतः ब्रह्मसूत्रों की प्रवृत्ति या उनके मौलिक उद्देश्य के अनुकूल नहीं,[1] किन्तु वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। स्वाभिमत सिद्धान्तों का स्थापन प्रत्येक ग्रंथ में होता है, और ब्रह्म-सूत्रों में भी है, किन्तु साथ ही यहाँ तो पद-पद पर पूर्वपक्षियों के निराकरण पर मुख्य दृष्टि रक्खी गई है। किसी भी सिद्धान्त का सूत्रकार स्थापन करना चाहते हैं, तो उसके पूर्वपक्ष का निराकरण उनकी दृष्टि में मुख्यतया रहता है, और कभी-कभी तो वे पूर्वपक्ष का निराकरण जितने स्पष्ट रूप में कर देते हैं, उसके बाद सिद्धान्त का स्थापन उतनी स्पष्टता से नहीं करते (सू० १।१।५–१२)। सूत्रों के द्वारा निराकृत पूर्वपक्ष कहीं तो सूत्रों के द्वारा स्पष्टतः वाच्य हैं, और कहीं गम्यमान हैं, जो स्वसिद्धान्तस्थापनपरक सूत्रों के 'तु' शब्द से सूचित होते हैं। यद्यपि सूत्रों में ऐसे भी पूर्वपक्ष हैं, जो कि एक मीमांसा-ग्रंथ के मीमांस्यप्रकरणों में प्रतीत होने वाले परस्परविरोध आदि के कारण अनिवार्य रूप से हुआ करते हैं, किन्तु उनकी यहाँ चर्चा नहीं है। यहाँ तो ऐसे पूर्वपक्षों से तात्पर्य है, जिनको सूत्रकार ने अपने समय में वस्तुतः वर्तमान विपक्षी मतों का निराकरण करने के लिए सूत्रों में स्पष्टतः उपन्यस्त किया है या दृष्टि में रक्खा है। उदाहरणार्थ, सूत्रकार ने अपने शास्त्र के प्रथम तीन सूत्रों में एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि उनके द्वारा जिज्ञास्य ब्रह्म श्रुतियों में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित है, किन्तु उक्त सिद्धान्त का प्रतिवाद करने के लिए उनके समक्ष निरीश्वर सांख्यदर्शन है, जो कहता है कि श्रुतियों में जगत्-कारण रूप से प्रतिपादित तत्त्व तदभिमत अचेतन प्रधान है और तद्व्यतिरिक्त 'ब्रह्म' के जगत्कारणत्व में श्रुतिप्रामाण्य नहीं। सांख्य के उक्त वाद का वे 'तत्तु समन्वयात्' (१।१।४) के द्वारा निराकरण करते हैं और तदनुसार श्रुतियों के समन्वय में प्रवृत्त होते हैं। सर्वप्रथम वे 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१।१।५) के द्वारा निराकरण ही प्रस्तुत करते हैं और सूत्र १।१।१२ तक करते जाते हैं, और उक्त निराकरण से ही वे परिशेषतः अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन मान लेते हैं। इसी प्रकार, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा[2], वे प्रथम अध्याय के

---

१. डा० बेलवलकर—Brahma-Sutras of Badrayana with the Commentary of Shankar (सू० २।२।१)।

२. 'श्रुति-वाक्य-समन्वय' शीर्षक अध्याय (चतुर्थ)।

प्रारम्भिक तीनों पादों में श्रुति-वाक्य-समन्वय करते हुए मुख्य रूप से सांख्य तथा अन्य पक्षों का निराकरण करते जाते हैं। प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में वे विशुद्ध रूप से सांख्य के निराकरण पर ही मुख्य दृष्टि रखते हैं और तब अध्याय के अन्त में पूर्वप्रस्तावित सिद्धान्त का पूर्णतया स्थापन कर संतुष्ट होते हैं। उक्त प्रकार से सम्पूर्ण श्रुति-वाक्य-समन्वय में निराकरणात्मक प्रवृत्ति ही मुख्य है। आगे, यह सुविदित है कि द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य आदि विपक्षी मतों के आक्षेपों का पूर्णतया निराकरण ही है और उक्त अध्याय के द्वितीय पाद में तो परमत निराकरण के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस प्रकार प्रारम्भ से तर्कपाद की समाप्ति तक निराकरणात्मक प्रवृत्ति पूर्णतया स्पष्ट है और यही भाग मीमांसा और दर्शन, दोनों दृष्टियों से ब्रह्म-सूत्रों का प्रमुख भाग है।

तर्कपाद की समाप्ति के साथ ब्रह्मकारणवाद की पूर्णतया स्थापना होने से आगे स्वतः विपक्षियों के निराकरण की आवश्यकता नहीं रही, किन्तु फिर भी सूत्रों में जहाँ कहीं दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रसंग आया है और यदि किसी विपक्षी का मत स्वाभिमत सिद्धान्त के विरुद्ध है, तो उसके निराकरण पर सूत्रकार की दृष्टि अवश्य रही है। विपक्षियों के अतिरिक्त श्रुतिपरम्परा-वादी विभिन्न मीमांसकों के मतों के निराकरण में भी सूत्रकार ने कोई कमी नहीं की है, यह सूत्रों से स्पष्ट है। इस प्रकार सूत्रों में सर्वत्र निराकरणात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं और उसे देखते हुए इस संभावना का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता कि तर्कपाद का परमत-निराकरण सम्भवतः सूत्रों की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं। तर्कपाद का परमत-निराकरण सूत्रों की निराकरणात्मक प्रवृत्ति के पूर्णतया अनुकूल है और यदि निराकरणात्मक तत्त्व को सूत्रों में न माना जावे, तो, जैसा कि अभी देखा जा चुका है, ब्रह्मसूत्रों के मुख्य भाग (प्रारम्भ से तर्कपाद तक) में तो कुछ ही नहीं बचेगा, आगे का भी विषय-निरूपण पूर्णतया शिथिल एवं असम्बद्ध हो जावेगा।

उक्त प्रकार से संक्षेप में ब्रह्म सूत्रों का स्वरूप मीमांसात्मक होने के साथ-साथ दर्शनात्मक है और उनकी विषय-प्रतिपादन-पद्धति परमतनिरा-करणपूर्वक स्वसिद्धान्तस्थापनात्मक है।

ब्रह्मसूत्रों की श्रुतिपरतन्त्रता के कारण भले ही इन्हें एक स्वतन्त्र दर्शन का स्थान न मिले, किन्तु यही इनकी अन्य दर्शनों की अपेक्षा एक ऐसी असाधारण विशेषता है, जिसके कारण ये श्रुतिपरम्परावादी भारतीयों के कण्ठहार बन सके। इन्होंने अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को श्रुतियों के प्रति

समर्पित कर उसके प्रतिफल में अनन्तगुण सम्मान और महत्त्व प्राप्त किया है, जो अन्य स्वतन्त्र दर्शनों को प्राप्त न हो सका। श्रुतियों में प्रतिपादित 'वेदान्तदर्शन' सदा से भारतीयों का अपना एक राष्ट्रीय दर्शन रहा है। यह दर्शन एक ऐसे उद्गम से प्रसूत है, जो परम्परा से अपौरुषेय या ईश्वर के निःश्वास के रूप में सनातन माना गया और जिसका एक एक अक्षर परम-पावन और सर्वोपरि प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। ऐसे उद्गम से प्रसूत 'वेदान्तदर्शन' को ब्रह्मसूत्रों ने एक समन्वित रूप में जब इस घोषणा के साथ उपस्थित किया कि वे अपना कुछ नहीं कह रहे हैं, अपितु जो श्रुतियों ने कहा है, उसे ही कह रहे हैं, उनका तो एकमात्र आधार श्रुतियाँ ही हैं, तो श्रुति-परम्परावादी भारतीयों का उनके उक्त कथन और वास्तविक श्रुतिपरतंत्रता पर मुग्ध होना स्वाभाविक है; और ब्रह्मसूत्रों ने जो श्रुतियों के सिद्धान्तों को एक समन्वित एवं उपपन्न दर्शन का रूप दिया, उसी का फल है कि ये अपना कुछ न रखते हुए भी स्वयं ही 'वेदान्तदर्शन' के रूप में मान्य हुए, और उनकी यह मान्यता अविचल है।

सूत्रकार ने 'प्रतिपाद्यपुष्प' श्रुतियों से ग्रहण किए, किन्तु उन्हें अपने दृढ़ सूत्रों में ग्रथित कर एक 'दर्शनमाला' का रूप उन्होंने स्वयं दिया और इस प्रकार 'पुष्पों' पर ध्यान दें तो सूत्रकार का अपना कुछ नहीं और उनके 'माला' रूप पर ध्यान दें तो उनका सब कुछ है। श्रुतिपरम्परावादी भारतीय उक्त 'पुष्पों' की दिव्यता, अमृतत्व और अमल सौगन्ध्य के कारण इनके सदा से उपासक रहे हैं, किन्तु इनके मोहक और साथ ही दृढ़ 'माला' रूप पर तो वे ऐसे मुग्ध हैं कि अब इसी रूप में वे इनका अनुभव करना चाहते हैं और इस रूप को देने वाले 'मालाकार' के प्रति कृतज्ञता से सर्वदा नतमस्तक हैं।

३. ब्रह्मसूत्र-पाठ

यद्यपि ब्रह्मसूत्रों के विषय परस्परसंगत और सुसम्बद्ध हैं, उनमें किसी स्वतन्त्र विषय के प्रतिपादक सूत्रों का प्रक्षेप नहीं है। विषयों की परस्परसंगति, प्रतिपादन-शैली एवं भाषा से वे एक ही रचयिता की कृति प्रतीत होते हैं। पूर्वपरम्पराप्राप्त मीमांसा-पद्धति से लाभ उठाते हुए भी, जहाँ तक ब्रह्मसूत्रों की रचना का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे मूलरूप में संक्षिप्त रहे हों, उनमें परम्परा से परिवर्तन होता आया हो, और अन्त में किसी ने उनका वर्तमान रूप में सम्पादन कर दिया हो; तथापि खेद का विषय है कि उनमें पाठ-भेद की समस्या अवश्य उपस्थित हो गई है। प्रत्येक भाष्यकार

द्वारा स्वीकृत पाठ अन्य भाष्यकारों के पाठ से किसी न किसी रूप में भिन्नता रखता है। यद्यपि दो चार सूत्रों के न्यूनाधिक्य को छोड़कर सामान्य रूप से सब भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत पाठ एक ही है, फिर भी सूत्रों के स्वरूप में पर्याप्त भेद हो गया है और उक्त भेद, जैसा कि ब्रह्मसूत्रों के शांकरभाष्य के संकेतों से ज्ञात है, शंकर से पूर्व भी न्यूनाधिक रूप में वर्तमान था।[1]

उक्त पाठ-भेद की निम्नलिखित मुख्य समस्याएँ हैं :—

१—अधिकरण-भेद।

२—सूत्रों का स्वरूपतः न्यूनाधिक्य।

३—सूत्रों के क्रम में भेद।

४—सूत्रों के स्वरूप-विभाजन में भेद।

५—सूत्रों में शब्दों का न्यूनाधिक्य।

६—सूत्रों के किसी अंश का पाठ-भेद।

उक्त समस्याओं में प्रथम तो पाठ-भेद की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती, अर्थ-भेद की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखती है। यह भाष्यकारों द्वारा सूत्रों में स्वानुकूल प्रतिपाद्य-विषय मानने के लिए उत्पन्न की गई है और इसलिये सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के निर्धारण के साथ समाहित हो जाती है, जिसका कि एक प्रयत्न प्रस्तुत अध्ययन में भी आगे किया गया है।[2] अन्य समस्याएँ भी सम्भवतः बहुत कुछ भाष्यकारों द्वारा ही उत्पन्न की गई हैं, जिनके समाधान के लिए उपलब्ध सभी ब्रह्मसूत्र-भाष्यों एवं अन्य तदुपयुक्त सामग्री के आधार पर व्यापक रूप से स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता है, जो कि वर्तमान अवसर पर असंभव है।[3] प्रस्तुत अध्ययन में यथाप्रसंग केवल उन्हीं पाठ-भेदों पर विचार किया गया है, जिनका सैद्धातिक दृष्टि से विशेष महत्त्व होने के कारण अध्ययन के प्रतिपाद्य-विषय से विशिष्ट सम्बन्ध प्रतीत हुआ है।

४. ब्रह्मसूत्र-रचना का उद्देश्य

ब्रह्मसूत्रों के स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के साथ उनकी रचना का उद्देश्य बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। श्रुतिप्रतिपादित जगत्कारणतत्त्व ब्रह्म

---

१. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, सू० १।२।२६ आदि।

२. 'ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय' शीर्षक अध्याय (प्रथम)।

३. उक्त अध्ययन लेखक के द्वारा 'ब्रह्मसूत्र-समालोचन' शीर्षक प्रबन्ध के अन्तर्गत किया जा रहा है।

की जिज्ञासा या मीमांसा की परम्परा प्राचीन काल से ही रही है, उक्त परम्परा का परिचय 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्डक ३।२।६) आदि वाक्यों के द्वारा स्वयं श्रुतियों से ही प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार ब्रह्मसूत्रकार की भी ब्रह्म-मीमांसा में प्रवृत्ति उक्त परम्परा के अनुसार मानी जा सकती है; किन्तु, जैसा कि पूर्व में ब्रह्मसूत्रों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट है, उनकी रचना का उद्देश्य केवल श्रुति-मीमांसा ही नहीं, अपितु साथ में श्रुतिप्रतिपादित सिद्धान्तों को एक समन्वित 'वेदान्तदर्शन' के रूप में प्रतिष्ठापित करने का भी एक विशिष्ट उद्देश्य है। ब्रह्मसूत्रों की समन्वयात्मक तथा सांख्यनिराकरणात्मक मीमांसा के स्वरूप से स्पष्ट है कि सूत्रकार के समय में निरीश्वर सांख्यदर्शन ने सम्भवतः यह घोषणा कर दी थी कि श्रुतियों में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित मूलतत्त्व तदभिमत अचेतन प्रधान है। उक्त घोषणा के परिणामस्वरूप, श्रुतियों के बने रहने पर भी उनके द्वारा प्रतिपादित वास्तविक दर्शन—ब्रह्मकारणवाद—के ही लुप्त होने की आशंका हो गई थी, क्योंकि सांख्य ने जगत्कारणप्रतिपादक श्रुतिवाक्यों की स्वानुकूल व्याख्या कर उनका प्रधानपरक समन्वय कर लिया था।[1] ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि श्रौत परम्परा के ब्रह्ममीमांसक क्षुब्ध होते और सांख्यदर्शन के उक्त वाद का प्रतिवाद करते। उक्त उद्देश्य से प्रेरित होकर श्रुतिपरम्परावादी ब्रह्म-मीमांसकों में अन्यतम ब्रह्मसूत्रकार सूत्र-रचना में प्रवृत्त हुए। सूत्रों के समन्वयाध्याय से स्पष्ट है कि विभिन्न श्रुति-प्रकरणों के समन्वय में सूत्रकार की मुख्य दृष्टि इस तथ्य को स्पष्ट करने पर रही है कि तत्तत्प्रकरणों में सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन नहीं, अपितु तद्व्यतिरिक्त वेदान्ताभिमत 'ब्रह्मतत्त्व' का प्रतिपादन है।[2] उक्त समन्वय के फलस्वरूप उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रुतिप्रतिपाद्य दर्शन 'प्रधानकारणवाद' नहीं, अपितु 'ब्रह्मकारणवाद' है, पुनः उन्होंने अपने प्रमुख विपक्षी सांख्य की ओर से होने वाले आक्षेपों का निराकरण कर ब्रह्मकारणवाद को पूर्णतया उपपन्न सिद्ध किया है। उक्त प्रकार से सूत्रों की रचना का एक प्रमुख उद्देश्य तो श्रुतिप्रतिपाद्य 'वेदान्त-दर्शन' को सांख्यदर्शन के द्वारा ग्रस्त होने से बचा कर सांख्य के श्रुतिमूलकत्व-दम्भ का निरास कर देना है, और इससे आगे प्रमुखतर उद्देश्य है—विपक्षी मतों के विरोध के समक्ष श्रौत सिद्धान्तों की रक्षा। सूत्रों के परमत-निराकरण

१, २. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र—१।१।५—१२; १।१।१९—२०; १।२।२०; १।२।२३; १।३।४३; १।४।१—१५ आदि।

से स्पष्ट है कि सूत्रकार के समय सांख्य के साथ अन्य अनेक मत प्रचलित थे, जिनमें से कई तो स्पष्टतः श्रुतिविरोधी थे और अवशिष्ट सम्भवतः श्रुतियों का प्रामाण्य मानते हुए भी अपने स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्तों का ही समर्थन करते थे। उक्त मतों के प्रबल आन्दोलन चल रहे थे, उनके युक्तिपूर्ण उपपादन और उसके विपरीत इधर श्रौत सिद्धान्तों के व्यवस्थित न होने से परम्परावादी समाज के बहुत कुछ विचलित होने की सम्भावना थी; अतः यह आवश्यक था कि श्रौत सिद्धान्तों को एक व्यवस्थित रूप देकर उनकी उपपन्नता सिद्ध करने के साथ ही विपक्षी मतों के सिद्धान्तों की अनुपपन्नता प्रदर्शित कर श्रुतिपरम्परावादी समाज की श्रुतियों में अविचल श्रद्धा रक्खी जावे।

ब्रह्मसूत्र अपने स्वरूप की असाधारण विशेषताओं के कारण अपने उद्देश्य में सफल हुए। उनके द्वारा किए हुए निराकरण का विपक्षियों पर कोई प्रभाव पड़ा हो या नहीं, किन्तु उनका जो प्रमुख उद्देश्य था—श्रुति-परम्परावादी समाज को श्रुतियों का अनुगामी बनाए रखना, उसमें, निःसन्देह, वे पूर्णतया सफल हुए हैं।

५. ब्रह्मसूत्रों के रचयिता

ब्रह्मसूत्रों के रचयिता सर्वसम्मति से आचार्य बादरायण माने जाते हैं, किन्तु ये बादरायण कौन हैं? कब और कहाँ हुए? इस सम्बन्ध में इनका कोई भी परिचय प्राप्त नहीं है। परम्परा के अनुसार वेदों का व्यसन या विभाजन करने वाले, महाभारत के रचयिता वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ही ब्रह्मसूत्रकार माने जाते हैं और उन्हीं का एक नाम 'बादरायण' बताया जाता है। यद्यपि आधुनिक अन्वेषणकर्ता विद्वानों का बहुमत उक्त मत के पक्ष में नहीं है, फिर भी कुछ विद्वान् उसका ही समर्थन करते हैं,[१] किन्तु विचार करने पर उक्त परम्परानुकूल मत निम्न कारणों से ग्राह्य प्रतीत नहीं होता :—

१—(अ) वेदव्यास को सूत्रकार मानने पर स्वयं परम्परा के अनुसार विरोध पड़ता है, क्योंकि सूत्रकार ने बृहदारण्यकोपनिषद् में संकलित याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचारों की मीमांसा की है और परम्परा के अनुसार उक्त

---

१. श्री भगवद्दत्त—वैदिक कोष, प्रथम भाग, भूमिका पृ० २५ तथा उसमें निर्दिष्ट पं० अभयकुमार गुह का मत।

याज्ञवल्क्य वेदव्यास की शिष्य परम्परा में तीसरी या चौथी पीढ़ी में आते हैं।[1]

(आ) यदि बृहदारण्यक को परम्परा के अनुसार नित्य माना जावे, तब भी विष्णुपुराण से स्पष्ट है कि उक्त उपनिषद् क्या, उसका मूल वेद—शुक्लयजुर्वेद—भी वेदव्यास को उपलब्ध नहीं था, उसे सर्वप्रथम इस भूतल पर याज्ञवल्क्य ने ही सूर्य से प्राप्त किया था।[2]

(इ) यदि याज्ञवल्क्य के समय भी वेदव्यास की स्थिति मान ली जावे, तो भी बृहदारण्यकोपनिषद् के जिन दो प्रमुख शाखा-भेदों का सू० १।२।२९ में निर्देश है, उनकी संगति नहीं लग सकती, क्योंकि वे याज्ञवल्क्य के भी बहुत बाद अध्ययन-कर्त्ताओं के भेद से अस्तित्व में आए हैं।

(ई) यह कथमपि सम्भव नहीं कि याज्ञवल्क्य के द्वारा उक्त उपनिषद् को प्राप्त करते ही निरीश्वर सांख्यदर्शन ने उसके प्रकरणों को स्वानुकूल लगा लिया हो, जिसका कि निराकरण सूत्रकार ने सू० १।२।२०; १।४।११; १।४।१९ आदि में किया है। इसके लिए उक्त उपनिषद् के प्रकाशक याज्ञवल्क्य के बहुत बाद सूत्रकार की स्थिति अनिवार्य रूप से माननी होगी, जो कि वेदव्यास के लिए असम्भव है।

२—(अ) प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदव्यास का ब्रह्मसूत्रकर्तृत्व सिद्ध भी नहीं होता, क्योंकि महाभारत तथा विष्णुपुराण आदि में जिस प्रकार वेदव्यास के द्वारा वेद-विभाजन, महाभारतादि-प्रणयन और उक्त ग्रन्थों के विभिन्न शिष्यों को अध्यापन का निर्देश है,[3] उस प्रकार उनके द्वारा ब्रह्मसूत्र-प्रणयन या उसके अध्यापन का कोई निर्देश नहीं। (महाभारत के समान प्राचीन और स्वयं वेदव्यासप्रणीत माने जाने वाले परम्परा-ग्रन्थ में उक्त निर्देश के न होने से अपेक्षाकृत अर्वाचीन किसी परम्परा-ग्रन्थ के उक्त निर्देश को प्रामाणिक मानना उचित नहीं।)

(आ) यदि 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' (गीता १३।४) के द्वारा वर्तमान ब्रह्मसूत्रों का निर्देश माना जाता है, तो स्पष्ट है कि महाभारत के वर्तमान रूप में आने तक यह मान्यता प्रवृत्त नहीं हो सकी थी कि ये वेदव्यासप्रणीत हैं;

---

१. विष्णुपुराण, तृतीय अंश, तृतीय अध्याय।

२. विष्णुपुराण, तृतीय अंश, तृतीय अध्याय।

३. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय ६३, श्लोक ८८-९०, तथा विष्णुपुराण, तृतीय अंश, चतुर्थ अध्याय।

अन्यथा जब महाभारत इनसे परिचित है, तो उसमें इनके वेदव्यासप्रणीतत्व की चर्चा अवश्य होती, और यदि उक्त श्लोक में इन ब्रह्मसूत्रों का निर्देश नहीं माना जाता है, तब भी स्पष्ट है कि महाभारत को इनका कोई परिचय नहीं, उक्त मान्यता की बात तो बहुत दूर है !

(इ) शंकर ने सूत्र ४।४।२२ में बादरायण को सूत्रकार माना है और महाभारतकार वेदव्यास को 'स्मरन्ति च' (शांकरभाष्य २।३।४७) आदि सूत्रों में सूत्रकार के द्वारा प्रामाणिक रूप में निर्दिष्ट माना है, जिससे, जैसा कि विद्वानों का विचार है,[१] यह स्पष्ट है कि वे सूत्रकार को वेदव्यास से पृथक् और परवर्ती मानते हैं। उन्होंने जो गीता के उक्त श्लोक में 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से वर्तमान ब्रह्मसूत्रों का निर्देश नहीं माना, उससे भी यही प्रतीत होता है कि वे ब्रह्मसूत्रों की स्थिति महाभारत-कर्त्ता वेदव्यास के समय में मानने के पक्ष में नहीं।

३—(अ) प्राचीन परम्परा से वेदव्यास कृष्णद्वैपायन का 'बादरायण' नाम भी वस्तुतः समर्थित नहीं होता। महाभारत में वेदव्यास की उत्पत्ति के समय उनके नामों की व्युत्पत्ति बताने के प्रसंग में यही कहा गया है कि—

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात्।
न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः॥

(आदि पर्व, अ० ६३, श्लोक ८६)

ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया।
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः॥

(आदि पर्व, अ० ६३, श्लो० ८८)

यदि वेदव्यास का 'बादरायण' नाम भी मूलतः होता, तो उसका भी निर्देश उक्त प्रकार से व्युत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वक किया जाता।

(आ) पराशरपुत्र वेदव्यास के लिए 'बादरायण' नाम किसी प्रकार उपपन्न भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि, जैसा कि उक्त श्लोक से स्पष्ट है, वे अपने 'अयन' के कारण तो 'द्वैपायन' कहे ही गए हैं, परिशेषतः पाणिनि के अनुसार नडादिगण (पा० सू० ४।१।९९) में परिगणित 'बदर' शब्द से

---

१. डा० बेलवलकर—Brahma-Sutras of **बादरायण** with the Commentary of **शंकर** (सू० २।१।१२);
डा० दत्ता—वेदान्त, पृ० ७० तथा उसमें निर्दिष्ट विंडिसमैन का मत।

गोत्रापत्य में 'फक्' प्रत्यय से इसकी निष्पत्ति माननी पड़ेगी, किन्तु परम्परा के अनुसार वेदव्यास के कोई पूर्वज 'वदर' नहीं हुए हैं, उनके पूर्वज केवल ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति और पराशर हैं।[1]

४—ब्रह्मसूत्रों के स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि ये वेदव्यास की कृति नहीं हो सकते, उनके द्वारा प्रस्तुत मीमांसा का स्वरूप बहुत कुछ विशुद्ध विधानात्मक होता, इतना निराकरणात्मक नहीं, जैसा कि ब्रह्मसूत्रों में है; ब्रह्मकारणवाद-स्थापना का स्वरूप भी इतना आक्षेपनिराकरणात्मक नहीं होता, परमत-निराकरण में भी इतना अभिनिवेश न होता, इसके अतिरिक्त शैली भी 'इति चेन्न' आदि के समान अर्वाचीन प्रयोगों से इतनी व्याप्त नहीं होती।

५—सूत्रों के द्वारा 'तर्कपाद' (अ० २।२) में निराकृत मतों के निराकरण को देखकर ब्रह्मसूत्रों के वेदव्यासप्रणीतत्व की संभावना बिल्कुल समाप्त हो जाती है। उक्त पाद में निराकृत अन्य मतों तथा बौद्धों की जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा के निराकरण को, चाहे, यह कह कर टाल दिया जावे कि उक्त मत अनादि प्रवाह से चले आरहे हैं, किन्तु बौद्धों की जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा के निराकरण की संगति किसी प्रकार भी नहीं लग सकती। सूत्रों में 'इतरेतरप्रत्ययत्व' (सू० २।२।१८), 'पूर्वनिरोध' (सू० २।२।१९), 'प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोध' (सू० २।२।२१) आदि असाधारण पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग, वह भी उन्हीं अर्थों तथा भावों में, जो एकमात्र बौद्धमत में परिगृहीत हैं, और उनके साथ 'संघातवाद', 'प्रतीत्यसमुत्पाद', 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध', 'क्षणिकत्ववाद', असंस्कृतत्रयवाद' आदि एकमात्र बौद्धमत के विशिष्ट एवं असाधारण सिद्धान्तों के निराकरण से पूर्णतया स्पष्ट है कि यह महात्मा गौतमबुद्ध के मूल से प्रवर्तित परम्परा में विकसित प्रसिद्ध ऐतिहासिक बौद्धमतविशेष का निराकरण है, जो कि महात्मा गौतमबुद्ध से दीर्घकाल के व्यवधान से पूर्ववर्ती वेदव्यास के लिए कथमपि संभव नहीं; और इसको प्रक्षिप्त न तो भाष्यकारों की परम्परा मानती है और सूत्रों के निराकरणात्मक स्वरूप, विषयों की परस्परसंगति और प्रतिपादन-शैली आदि की दृष्टि से न ऐसा मानना उचित ही है। सूत्रों का वर्तमान रूप ही उनका मौलिक रूप है और वे एक ही कर्त्ता की कृति हैं।

---

१. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ३४९ श्लोक ४–७।

उक्त बाधक कारणों की उपस्थिति में 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (पा० सू० ४।३।११०) में निर्दिष्ट 'भिक्षुसूत्रों' को वर्तमान ब्रह्मसूत्र मानना उचित प्रतीत नहीं होता। यद्यपि 'पराशर' शब्द गर्गादिगण (पा० सू० ४।१।१०५) में पठित है और इसलिए किसी भी पराशरगोत्रोत्पन्न को 'पाराशर्य' कहा जा सकता है तथा साथ ही किसी भी महाभारतादि ग्रन्थ में 'भिक्षुसूत्रों' के वेदव्यासप्रणीतत्व की चर्चा नहीं है, फिर भी यदि यह माना जाता है कि उक्त भिक्षुसूत्र वेदव्यासप्रणीत हैं, तो यह निश्चित है कि वे पाणिनि-सूत्र (४।३।१११) में निर्दिष्ट कर्मन्दप्रणीत भिक्षुसूत्र और ऐसे ही पाणिनि तथा पतञ्जलि आदि के द्वारा निर्दिष्ट अन्य अनेक ग्रन्थों के समान आज प्राप्त नहीं हैं। उक्त 'भिक्षुसूत्रों' का स्वरूप, जैसा कि इनके नाम से स्पष्ट है, भिक्षुओं के नियमों को विधानात्मक रीति से प्रतिपादित करने का होगा, ब्रह्मसूत्रों के समान निराकरणात्मक रीति से नहीं। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन पुराण आदि ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्रों का निर्देश है, वहाँ भी इन्हें कहीं भिक्षुसूत्र नहीं कहा गया है।

उक्त प्रकार से यही मानना उचित प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्रों के रचयिता बादरायण महाभारतकर्त्ता वेदव्यास कृष्णद्वैपायन से भिन्न हैं और महात्मा गौतमबुद्ध के परवर्ती हैं। अपने समय की परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार वेदव्यास ने वेदों की व्यवस्था की, उसी प्रकार बुद्धोत्तरकाल में परिस्थिति के अनुसार श्रौतदर्शन को व्यवस्थित करने के लिए बादरायण को बाध्य होना पड़ा। श्रुतियों की व्यस्था की दृष्टि से उनका कार्य भी वेदव्यास के ही समान था और उनका व्यक्तित्व भी वेदव्यास के समान ही महान् था। ऐसा प्रतीत होता कि शंकरोत्तरकाल में ही दीर्घकाल के व्यवधान होने और साथ ही उक्त प्रकार से समानकर्मा होने के कारण परम्परा ने उनको वेदव्यास ही समझकर दोनों को अभिन्न मान लिया और वेदव्यास के कृष्णद्वैपायन आदि नामों के साथ 'बादरायण' नाम को भी जोड़कर ब्रह्मसूत्रों को वेदव्यासप्रणीत मान लिया। उक्त मान्यता में सूत्रकार के समकालीन पूर्वमीमांसाकार 'जैमिनि' का नाम भी संभवतः बहुत कुछ सहायक रहा है, क्योंकि वेदव्यास के भी एक शिष्य उक्त नाम को धारण करते थे।

६. ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल

जैसा कि पूर्व शीर्षक के अन्तर्गत देखा जा चुका है, ब्रह्मसूत्रों के रचना-काल की पूर्वसीमा गौतमबुद्ध (षष्ठ शताब्दी ई० पू०) से पूर्व नहीं जा

सकती और, जैसा कि प्रस्तुत अध्ययन के 'परमत-निराकरण' शीर्षक अध्याय में बौद्धमतनिराकरण के प्रसंग में किए हुए विचार से स्पष्ट है कि सूत्रों में बौद्धमत की जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण होते हुए भी नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण नहीं है, इनकी उत्तरसीमा नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी ई०) के बाद नहीं मानी जा सकती। उक्त दोनों सीमाओं के बीच में सूत्रों की रचना कब हुई है, यह निश्चित करना अभी कठिन है, किन्तु फिर भी सूत्रों में निराकृत बौद्धमत के स्वरूप पर विचार किया जावे तो उक्त दोनों सीमाओं का निर्धारण और भी कुछ अधिक निश्चित रूप से किया जा सकता है।

बौद्धमतनिराकरणपरक सूत्रों (२।२।१७–३०) में बौद्धमत की दो विचारधाराओं—जगदस्तित्ववादिनी एवं जगन्नास्तित्ववादिनी—का निराकरण किया गया है और यह स्पष्ट है कि प्रथम विचारधारा के निराकरण पर जितना बल सूत्रकार ने दिया है, उतना द्वितीय धारा के निराकरण पर नहीं दिया। प्रथम विचारधारा के लिए उन्होंने दस सूत्रों (२।२।१७–२६) का उपयोग कर उसके विशिष्ट सिद्धान्तों को पारिभाषिक शब्दों के साथ उद्धृत करते हुए दार्शनिक दृष्टि से बड़े व्यवस्थित रूप में उनका निराकरण किया है; किन्तु द्वितीय धारा के लिए केवल तीन या कुछ भाष्यकारों के अनुसार चार सूत्रों (२।२।२७–२९) का उपयोग किया गया है और उनमें भी न तो उक्त धारा के किसी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग है और न किसी विशिष्ट सिद्धान्त का उपन्यास है, केवल इतना प्रदर्शित किया गया है कि उक्त धारा जगत् का अभाव मानती है और साथ ही किसी वस्तु का भाव भी किसी न किसी रूप में मानती है। सूत्रकार ने उक्त 'अभाव' और 'भाव' का निराकरण करने के लिए किन्हीं प्रबल युक्तियों का प्रयोग न कर क्रमशः 'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' हेतुओं को ही पूर्णतः पर्याप्त समझा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नागार्जुन, वसुबन्धु आदि प्रबल तार्किकों के समक्ष उक्त हेतु या प्रमाण कितना महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत बौद्धमत-निराकरण के स्वरूप से स्पष्ट है कि सूत्रकार के समय में जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा का जितना प्राबल्य है, उतना जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का नहीं। दार्शनिक दृष्टि से द्वितीय धारा के सिद्धान्तों में न तो प्रबलता आ पाई है और न उसका विशेष प्रभाव है। इसीलिए सूत्रकार ने उसका निराकरण एक चलते रूप में साथ-साथ कर दिया है और मुख्य दृष्टि उन्होंने जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा के निराकरण पर रक्खी है।

सूत्रों में निराकृत उक्त दोनों विचारधाराएँ यद्यपि महात्मा गौतमबुद्ध के द्वारा प्रवर्तित मत के मूल से ही प्रसूत हुई हैं, किन्तु फिर भी सूत्रों में उनका जैसा स्वरूप है, वह स्पष्टतः बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट आचारप्रधान रूप नहीं, अपितु कालक्रमानुसार भिन्न-भिन्न रूप से विकसित होने वाला दार्शनिक रूप है। उक्त रूप के प्राप्त होने और प्रचारित होने पर ही उसको दार्शनिक दृष्टि से निराकरणीय समझा गया होगा। यह रूप इन्हें कब प्राप्त हुआ, यह यद्यपि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी इतना स्पष्ट है कि उक्त दोनों धाराओं को कोई न कोई दार्शनिक रूप अशोक (तृतीय शताब्दी ई० पू०) के समय प्राप्त हो चुका था। अशोककालीन रचना 'कथावत्थु' से ज्ञात होता है कि उस समय बौद्धमत विभिन्न अठारह शाखाओं में विभक्त हो चुका था।[1] उक्त शाखाओं के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का क्या रूप था, यह यद्यपि पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं है, फिर भी उक्त शाखा-भेद उनमें पर्याप्त विचारविभिन्नता का आभास देता है, जिससे उनके दार्शनिक विकास की सूचना मिलती है। उक्त शाखाओं में एक 'सर्वास्तिवादी' हैं, जिनका उक्त नाम स्पष्टतः सूचना दे रहा है कि ये अपना एक दार्शनिक वाद रखते थे, जिसके अनुसार सब पदार्थों का अस्तित्व है। साथ ही उक्त नाम यह भी व्यक्त कर देता है कि अन्य शाखाएँ ऐसी भी थीं, जिनके अनुयायी सब का अस्तित्व न मानते हों और वस्तुतः, जैसा कि आज ज्ञात है, सौत्रान्तिक, जो कि उक्त अठारह शाखाओं में अन्यतम हैं, सर्वास्तिवादियों के द्वारा स्वीकृत सब पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानते। इसके अतिरिक्त उक्त शाखाओं में एक 'प्रज्ञप्तिवादी' भी हैं, जो, जैसा कि इनके नाम से स्पष्ट है, बहुत सम्भव है, बाह्य पदार्थों की सत्ता को न मानकर केवल 'प्रज्ञप्ति' को ही मानते हों। वसुमित्र के 'अष्टादशनिकायशास्त्र' से उक्त सम्भावना की पुष्टि भी होती है, जिसमें कहा गया है कि 'प्रज्ञप्तिवाद' महासांघिकों से बुद्धनिर्वाण के द्वितीय शतक में उद्भूत हुआ, जिसका सिद्धान्त था कि द्वादशायतनों की वास्तविक सत्ता नहीं हैं।[2]

उक्त प्रकार से तृतीय शताब्दी ईसापूर्व में बौद्धमत की उक्त दोनों विचारधाराओं के अस्तित्व का संकेत मिलता है। इनके इतने विकास के लिए

---

१. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन—बौद्ध-दर्शन पृ० ७७, ७८।

२. श्री के० चटोपाध्याय— शाबरभाष्य के वृत्तिकार-ग्रंथ में बौद्धमत के निर्देश, —(Jha Commemoration Volume, पृ० १२६)।

कि ये दार्शनिक क्षेत्र में निराकरणीय प्रतीत होने लगें, अधिक से अधिक एक शतक पर्याप्त है, क्योंकि द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के प्रारम्भ में सर्वास्तिवादियों के महान् आचार्य आर्यकात्यायनीपुत्र की प्रौढ़ रचना 'अभिधर्मज्ञान-प्रस्थानशास्त्र' दार्शनिक क्षेत्र में आ जाती है और यद्यपि सौत्रान्तिकों के ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं हैं, किन्तु फिर भी यह देखते हुए कि वे अभिधर्म को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं थे, सूत्रों में ही विश्वास करते थे और सर्वास्तिवादियों द्वारा स्वीकृत असंस्कृतत्रय तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में अपने विशिष्ट सिद्धान्त रखते हुए विशिष्ट वचन—सूत्र आदि—प्रस्तुत करते थे, यह कहा जा सकता है कि सूत्रों के आधार पर उनके भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उक्त शास्त्र के साथ ही प्रस्तुत हुए होंगे, जो उनके विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते होंगे। इस प्रकार जगदस्तित्ववादिनी दोनों शाखाएँ—सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिक—निश्चित रूप से द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के प्रारम्भ में इतनी प्रबल मानी जा सकती है कि वे निराकरण के योग्य समझी जावें और अशोककालीन 'प्रज्ञप्तिवाद' तथा पूर्व नहीं तो कम से कम प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व की जगदभाववादी विचारों की स्पष्टतः प्रतिपादक रचना 'अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता' को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा को भी इस समय (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) में कम से कम इतना महत्त्व तो प्राप्त हो ही चुका होगा कि सामान्यतः केवल 'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' के बल पर उसका भी एक चलता सा निराकरण कर दिया जावे, इस प्रकार यदि, जैसा कि डा० दासगुप्ता का विचार है,[१] ब्रह्मसूत्रों का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व में किसी समय माना जावे, तो तथ्य से बहुत दूर न होगा। उक्त काल वैदिक धर्मावलम्बी शुंग-वंशीय राजाओं के संरक्षण में श्रौतसिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करने वाले मीमांसा-सूत्रों की रचना के लिए वैसे भी पूर्णतया अनुकूल एवं प्रेरक हो सकता है। उक्त काल में ब्रह्मसूत्रों की रचना मानते हुए भी, जैसा कि प्रस्तुत अध्ययन के निर्देशक डा० मंगलदेव शास्त्री का विचार है,[२] महाभाष्य (सू० ४।१।१४; ४।१।६३; ४।३।१५४) में 'काशकृत्स्नी मीमांसा' की अध्ययन-परिपाटी के सम्बन्ध में प्राप्त पुनरावृत्त संकेत के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार के समय जैमिनि और बादरायण के मीमांसासूत्रों—वर्तमान पूर्वमीमांसासूत्रों और ब्रह्मसूत्रों के—अध्ययन-अध्यापन का संभवतः

---

१. History of Indian Philosophy, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ४१८।
२. निर्देशन के प्रसंग में मौखिक रूप से व्यक्त।

प्रचार नहीं था और यह भी संभव है कि महाभाष्यकार के कुछ बाद द्वितीय शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग में उक्त दोनों मीमांसासूत्र अस्तित्व में आ पाए हों।

उक्त काल में जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा के द्वारा प्राप्त तत्कालीन महत्त्व के अनुरूप ही उसका सूत्रों में उक्त प्रकार से उपेक्षात्मक निराकरण होने के कारण डा० जैकोबी की इस धारणा का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता कि यद्यपि नागार्जुन से पूर्व भी जगदभाववादिनी विचारधारा है, किन्तु किसी विपक्षी मत का निराकरण तभी किया जाता है, जब कि वह दार्शनिक क्षेत्र में महत्त्व प्राप्त करले और इसलिये नागार्जुन से पूर्ववर्ती विचारधारा का नहीं, अपितु उनके ही शून्यवाद का निराकरण ब्रह्मसूत्रों में मानना चाहिये[1]।

यदि नागार्जुन से पूर्व उक्त विचारधारा के महत्त्व का ही संकेत प्राप्त करना है, तो यह जानकर प्राप्त किया जा सकता है कि उनके पूर्व ही उक्त विचारधारा के प्रतिपादक ग्रन्थों में अन्यतम 'अष्टसाहस्त्रिका-प्रज्ञापारमिता' की कीर्ति भारत में कितनी हो गई होगी, जब कि वह सन् १७२ ई० से पूर्व ही चीन जैसे सुदूर एवं उस समय की यातायातसम्बन्धिनी कठिनाइयों के कारण कष्ट-प्राप्य देश में व्याप्त हो गई थी, जिसके परिणामस्वरूप उक्त वर्ष में एक चीनी विद्वान् ने भारत में आकर उक्त ग्रंथ का अपनी भाषा में अनुवाद किया[2]।

दूसरी ओर यह भी तो ध्यान देना चाहिये कि सूत्रकार यदि नागार्जुन के प्रौढ़ दार्शनिक विचारों और उनकी सर्वग्रासिनी सूक्ष्म तर्कपद्धति से परिचित होते और यह जान लेते कि उनके द्वारा उपन्यस्त 'उपलब्धि' सदृश सामान्य कोटि के प्रमाणों का नागार्जुन के सिद्धान्तों के निराकरण में कितना उपयोग है, तो क्या वे इतने से ही संतुष्ट हो जाते जितना कि उन्होंने सूत्रों (२।२।२७–३०) में कहा है! इसके अतिरिक्त उक्त सूत्रों में निराकृत सिद्धान्तों पर भी ध्यान देना चाहिये और, जैसा कि आगे स्पष्ट है[3], सूत्रकार की नागार्जुन के सिद्धान्तों पर कोई दृष्टि ही नहीं है, सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत निराकरण स्पष्टतः नागार्जुन से पूर्ववर्ती है।

---

१. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, अंक ३१, पृ० १–२९।
२. डा० मूर्ति—The central Philosophy of Buddhism, पृ० ८४।
३ 'परमत-निराकरण' शीर्षक अध्याय (सप्तम), बौद्धमत-निराकरण।

७. ब्रह्मसूत्र–भाष्य

(अ) शंकरपूर्वकाल :—यद्यपि आज शंकरभाष्य से पूर्ववर्ती कोई भी ब्रह्मसूत्रसम्बन्धी भाष्य आदि ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं, फिर भी स्वयं शंकर एवं अन्य आचार्यों के साक्ष्य पर यह ज्ञात है कि शंकर से पूर्व भी ब्रह्मसूत्रों पर ग्रंथ लिखे गए थे। शांकरभाष्य (शा० भा० सू० ३।३।५३) के निर्देश से स्पष्ट है कि शंकर से पूर्व ही भगवान् उपवर्ष ने दोनों मीमांसाओं पर अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये थे। इसके अतिरिक्त रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रारम्भ (सू० १।१।१) में भगवान् बोधायन की विस्तीर्ण ब्रह्मसूत्र-वृत्ति का स्मरण किया है और साथ ही अपने भाष्य में यत्र-तत्र उक्त वृत्ति से वाक्य भी उद्धृत किए हैं (सू० १।१।१। आदि), उन्होंने यह भी कहा है कि उक्त वृत्ति को पूर्वाचार्यों ने संक्षिप्त किया था, जिससे यह ज्ञात होता है कि उक्त वृत्ति बहुत विशाल थी और उसके आधार पर पूर्ववर्ती आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र-व्याख्यान-सम्बन्धी साहित्य प्रस्तुत किया था। रामानुज ने अपने भाष्य (सू० २।१।१४) में द्रमिडभाष्यकार का भी निर्देश एक उद्धरण के साथ किया है, जिससे स्पष्ट है कि द्रमिडाचार्य भी ब्रह्मसूत्रों के एक भाष्यकार हो गए हैं। रामानुज-सम्प्रदाय में सम्मानित उक्त श्री द्रमिडाचार्य और शांकरसम्प्रदाय में मान्य श्री द्रविडाचार्य एक ही व्यक्ति थे, या भिन्न, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं हो सका है। उक्त आचार्यों के अतिरिक्त विभिन्न ग्रन्थों में टंक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, भर्तृ भर्तृहरि, प्रपंच, ब्रह्मानन्दी, ब्रह्मदत्त और सुन्दर-पाण्ड्य आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के नाम और इनमें से किसी किसी के उद्धरण तथा सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। सम्भवतः इनमें से कुछ ने ब्रह्मसूत्रों पर वृत्ति, वाक्य, भाष्य आदि प्रस्तुत किये हों।[1] शांकरभाष्य में अधिकरण-विभाजन के संबंध में जो अपने पूर्ववर्तियों से मतभेद प्रदर्शित किया गया है, उससे भी स्पष्ट है कि शंकर से पूर्व भी ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार हो चुके हैं[2]।

---

१. द्रष्टव्य :—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य (हिन्दी), भूमिका (महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज)। उक्त भूमिका जो अपने स्वरूप में एक छोटा सा ग्रन्थ ही है, अनुसंधानपूर्ण तथ्यों से भरी हुई है और दार्शनिक तथा ऐतिहासिक, दोनों प्रकार के संकेतों की दृष्टि से उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन वेदान्ताचार्य और उनके सिद्धान्तों का बहुत कुछ परिचय उक्त भूमिका से प्राप्त हो सकता है।

२. शांकरभाष्य, सू० ३।२।२१।

(आ) शंकरोत्तरकाल:—आज जो शंकरोत्तरकालीन ब्रह्मसूत्र-भाष्य उपलब्ध होते हैं, उनमें निम्न दस प्रमुख हैं :—

	भाष्यकार	भाष्य	सिद्धान्त
१.	शंकर	शांकरभाष्य	अद्वैत
२.	भास्कर	भास्करभाष्य	औपाधिकभेदाभेद
३.	रामानुज	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४.	निम्बार्क	वेदान्तपरिजातसौरभ	स्वाभाविकभेदाभेद
५.	मध्व	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
६.	श्रीकण्ठ	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७.	श्रीपति	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशेषाद्वैत
८.	वल्लभ	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९.	विज्ञानभिक्षु	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैत
१०.	बलदेव	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

उक्त भाष्यकारों के स्थिति-काल के सम्बन्ध में भी कुछ मतभेद है। शंकर के स्थिति-काल में मतभेद होते हुए भी विद्वानों का बहुमत उनकी स्थिति सन् ७८८-८२० ई० में मानता है। भास्कर का समय बहुत से विद्वान् दशम शताब्दी मानते हैं और कुछ नवम शताब्दी में वाचस्पति मिश्र से पूर्व मानते हैं।[1] रामानुज का समय सन् १०१७–११३७ ई० प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकृत है। निम्बार्क के समय में मतभेद है। अन्वेषण-कर्ताओं के अनुसार ये रामानुज के परवर्ती माने जाते हैं,[2] किन्तु इनके सम्बन्ध में मतभेद यह है कि ये मध्व के पूर्ववर्ती हैं या परवर्ती। मध्व का समय प्रायः सर्वसम्मति से ११९७–१२७६ ई० माना जाता है और निम्बार्क का परमपद डा० भाण्डारकर के अनुसार द्वादश शताब्दी के मध्य में सन् ११६२ के आस-पास हुआ, किन्तु डा० दासगुप्ता स्थूल रूप से इनकी स्थिति अनुमानतः चतुर्दश शताब्दी के मध्य में मानते हैं।[3] श्रीकण्ठ का स्थितिकाल ईसा की त्रयोदश शताब्दी

---

१. महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, भूमिका, पृ० १००

२. डा० भाण्डारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म०, पृ० ८८ तथा डा० दासगुप्ता— History of Indian Philosaphy, तृतीय पुस्तक, पृ० ३९९-४०४ एवं चतुर्थ पुस्तक, पृ० ५२।

३. वही वही

के उत्तर भाग में प्रायः माना जाता है। श्रीपति का समय प्रायः सर्वसम्मति से चतुर्दश शताब्दी की समाप्ति के आसपास स्वीकृत है। वल्लभ का जन्म सम्वत् १५३५ वि० या सन् १४७९ ई० में निश्चित रूप से माना जाता है। डा० दासगुप्ता के अनुसार इनका परमपद सन् १५३३ में हुआ है।[1] विज्ञान-भिक्षु का समय प्रायः ईसा की सप्तदश शताब्दी के प्रारम्भ में माना जाता है। बलदेव का स्थितिकाल अष्टादश शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश तक प्रायः माना जाता है, उन्होंने श्री रूप गोस्वामी की 'स्तवमाला' पर टीका शक १६८६ या सन् १७६४ ई० में लिखी थी।[2]

उक्त भाष्यों के अतिरिक्त अन्य भी भाष्य उपलब्ध होते हैं। एक शुकभाष्य (सन् १५५०) का परिचय श्रीकरभाष्य की भूमिका में श्री हयवदन राव ने दिया है। श्री रामानन्दसम्प्रदाय के दो ब्रह्मसूत्र-भाष्य—आनन्दभाष्य और जानकीभाष्य—मुद्रित रूप में उपलब्ध हैं। आर्यसमाज-सिद्धान्त के अनुकूल श्री आर्यमुनि द्वारा लिखित वेदान्तदर्शनभाष्य एवं श्री स्वामी हरप्रसाद वैदिकमुनि द्वारा लिखित वेदान्तसूत्र-वैदिकवृत्ति कुछ काल पूर्व प्रकाशित हो चुके हैं। अभी हाल ही में श्री पंचानन तर्करत्न ने शक्तिभाष्य और श्री भगवदाचार्य ने वैदिकभाष्य (केवल प्रथमाध्याय) प्रस्तुत किए हैं। अन्य भी अनेक भाष्यों की सूचना विभिन्न ग्रन्थों से मिलती है, किन्तु वे सम्भवतः उपलब्ध नहीं। वैष्णवसम्प्रदायाचार्य श्री विष्णुस्वामी तथा भेदाभेदवादी श्री यादवप्रकाश द्वारा प्रणीत ब्रह्मसूत्र-भाष्यों को भी बताया जाता है, किन्तु सम्भवतः वे भी उपलब्ध नहीं हैं।

उक्त सब भाष्य, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, विभिन्न मतों के आचार्यों के द्वारा अपने सिद्धान्तों की सूत्रानुकूलता प्रदर्शित करने की दृष्टि से लिखे गए हैं। प्राचीन काल की भगवान् बोधायन और उपवर्ष द्वारा प्रणीत ब्रह्मसूत्र-वृत्तियों का तो वही सर्वमान्य रूप होगा, जो कि आर्षग्रन्थों का होता है, किन्तु खेद है कि वे आज उपलब्ध नहीं हैं। अपने सिद्धान्तों को सूत्रों में देखने और उन्हें इनके द्वारा प्रतिपादित रूप में प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति से लिखे गए भाष्यों की परम्परा श्री शंकराचार्य से ही आज प्राप्त

---

१. डा० दास गुप्ता—History of Indian Philosophy, चतुर्थ पुस्तक, पृ० ३७२।

२. महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज—सिद्धान्तरत्न (बलदेव विद्या-भूषण) भाग २, भूमिका, पृ० ३।

होती है, इन्होंने अपने विशिष्ट सिद्धान्तों को ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में प्रस्तुत कर एक ऐसी परम्परा ही प्रवर्तित करदी कि फिर विभिन्न मतों को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उसका पालन करना पड़ा। विभिन्न ब्रह्मसूत्र-भाष्यों में से सूत्रों को निकाल देने से वे एक स्वतन्त्र दार्शनिक प्रौढ़ ग्रन्थ के रूप में उपस्थित हो जाते हैं और उक्त रूप में ही उन्हें देखा जावे तो उनका दार्शनिक महत्त्व बहुत है, किन्तु भाष्यों के रूप में देखा जावे तो उनका महत्त्व बहुत कम हो जाता है, क्योंकि भाष्य का जो मुख्य रूप है—'सूत्रार्थोवर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः', वह किसी भी भाष्य में पूर्ण रूप से नहीं आ पाया है और इसीलिए वे शाबरभाष्य आदि भाष्यों के समान सर्वमान्य न हो सके, अपितु स्वस्वसम्प्रदायानुकूल होने के कारण तत्तन्मतावलम्बियों के द्वारा ही स्वीकृत हैं।

८. प्रमुख ब्रह्मसूत्र-भाष्यकारों के सम्प्रदाय

पूर्वोक्त प्रमुख दस भाष्यकारों में से भास्कर और विज्ञानभिक्षु को छोड़कर अन्य आठ के सम्प्रदाय आज वर्तमान हैं। सम्प्रदाय का प्रधान तत्त्व है—परम्परागत सिद्धान्त की मान्यता और तदनुकूल आचार का परिपालन। यद्यपि उक्त सब सम्प्रदाय श्रुतिपरम्परा को ही मानते हैं, फिर भी उनके वर्तमान स्वरूप में तत्त्वनिष्ठा और आचारनिष्ठा, इन दोनों दृष्टियों से परस्पर पर्याप्त भेद है और उक्त भेद की दृष्टि से उक्त आठ सम्प्रदायों को प्रथमतः दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) शांकरसम्प्रदाय
(२) अन्य सम्प्रदाय

तत्त्वनिष्ठा की दृष्टि से शांकरसम्प्रदाय परमोच्च सत्ता को पारिमार्थिक रूप में निर्विशेष मानता है और अन्य सात सम्प्रदाय उस सत्ता को सविशेष मानते हैं। आचारनिष्ठा की दृष्टि से जहाँ शांकरसम्प्रदाय केवल श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित सामान्य आचार को ही पर्याप्त समझता है, वहाँ अन्य सम्प्रदाय उक्त आचार को मानते हुए भी अपने आगमों में प्रतिपादित विशिष्ट आचार का प्रमुखतः अनुगमन करते हैं, क्योंकि वे अपने परमतत्त्व को सविशेष मानने के साथ उसके विशिष्टव्यक्तित्वसम्पन्न देवाधिदेव रूप में परमार्थतः निष्ठा रखते हैं और फलस्वरूप उसकी भक्ति एवं विविध रूप से उपासना करने के लिए एक विशिष्ट आचारपद्धति का पालन करना उनके लिए स्वाभाविक हो जाता है। उक्त प्रकार से तत्त्वनिष्ठा और आचारनिष्ठा की दृष्टि से उक्त दो वर्गों को निम्न प्रकार से अभिहित किया जा सकता है :—

१—निर्विशेषवाद—सामान्य स्मार्तमत—शंकर

२—सविशेषवाद—विशिष्ट आगमिकमत—रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, बलदेव, श्रीकण्ठ, श्रीपति।

द्वितीय वर्ग के सम्प्रदायों में सविशेषवाद की समानता होने पर भी, विशिष्टव्यक्तित्वसम्पन्नदेववाद और उसके फलस्वरूप आगमाचार की दृष्टि से पर्याप्त भेद है। एक विष्णु को परमतत्त्व मानता है और तदनुसार वैष्णवागमों में प्रतिपादित वैष्णवाचार का अनुगमन करता है, उसके विपरीत दूसरा शिव को परमतत्त्व मान कर शैवागमों में प्रतिपादित शैवाचार का का पालन करता है, अतः उक्त वर्ग पुनः निम्न दो उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

१—वैष्णवमत—रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, बलदेव

२—शैवमत—श्रीकण्ठ, श्रीपति

उक्त दोनों मतों के सम्प्रदायों में भी तत्त्वनिष्ठा और आचारनिष्ठा की दृष्टि से परस्पर पर्याप्तभेद है। प्रत्येक की अपनी व्यक्तिगत अनेक असाधारण विशेषताएँ हैं।

उक्त सभी सम्प्रदायों के भाष्यकारों ने स्वानुकूल तत्त्व और आचार का सूत्रों से समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और फलस्वरूप उनके द्वारा प्रणीत भाष्यों में इतनी विभिन्नता आ गई है कि सूत्रार्थ-निर्णय की समस्या सुलझने के स्थान पर और उलझ गई है।

९. वैष्णवमत और उसके प्रमुख सम्प्रदाय

प्रस्तुत अध्ययन के विषयीभूत भाष्य उक्त वर्गों में से वैष्णवमत के अन्तर्गत आते हैं। उक्त मत देश के प्रमुख मतों में से एक है। विभिन्न सम्प्रदायों के द्वारा इसका प्रचार गुरु-शिष्य-परम्परा के द्वारा बड़े व्यवस्थित रूप में चल रहा है। सामान्य रूप से भी देश की जनता पर इसका व्यापक प्रभाव रहा है और अब भी हैं। यद्यपि इसके वर्तमान विभिन्न सम्प्रदाय बहुत प्राचीन नहीं हैं, किन्तु अपने मूल 'भागवतधर्म' के रूप में यह निश्चित रूप से महात्मा गौतमबुद्ध से पूर्ववर्ती है। महात्मा गौतमबुद्ध ने वैदिक यज्ञों में होने वाली हिंसा के विरुद्ध घोषणा कर जो क्रांति की थी, वह कोई नवीन नहीं थी, उससे पूर्व ही भागवतधर्म ने उक्त सुधार प्रस्तुत कर दिया था। राजा उपरिचर वसु ने, जो भागवतधर्म का अनुयायी था, हिंसारहित ही

यज्ञ किया था।[१] विद्वानों का विचार है और वह ठीक ही प्रतीत होता है कि महाभारत-काल में आविर्भूत भगवान् वासुदेवकृष्ण ने भागवतधर्म का उपदेश दिया था।[२] महाभारत-काल परम्परा के अनुसार आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व माना जाता है, किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धानकर्त्ताओं के अनुसार भी वह कम से कम ईसा से लगभग १४०० वर्ष पूर्व माना गया है। महाभारत और उसके अंशभूत 'गीता' को वर्त्तमान रूप किसी भी काल में प्राप्त हुआ हो, किन्तु यह निश्चित है कि भगवान् वासुदेवकृष्ण के द्वारा १४०० वर्ष ई० पू० में उपदिष्ट 'भागवतधर्म' ही गीता मे प्रतिपादित है। भागवतधर्म ने बौद्धधर्म के समान वैदिकयज्ञों में हिंसा को दूर करने का सुधार प्रस्तुत करते हुए भी, उसके विपरीत उपनिषद् एवं तन्मूलभूत वेदों की सर्वदा अपेक्षा रक्खी और इसलिए, जो उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान था, उससे तो उसने साभार लाभ उठाया ही, साथ ही वैदिक क्षेत्र में विकास-क्रम से 'नारायण' के रूप में जो जगदन्तरात्मा और जगत्कारणपुरुष तथा 'विष्णु' के रूप में जो सर्वोच्चदेव का स्वरूप स्वीकृत हो चुका था, उसे भी स्वीकार किया और अपने प्रवर्त्तक भगवान वासुदेव को नारायण और विष्णु मानकर अपने उपास्य को एक विशिष्टव्यक्तित्वसम्पन्न देवाधिदेव 'विष्णु' के रूप में स्वीकृत किया तथा उसकी उपासना के अनुरूप एक विशिष्ट आचारपद्धति को अपनाया। उक्त पद्धति महाभारत में 'सात्वतविधि' के नाम से अभिहित की गई है[३] और उसका प्रतिपादक शास्त्र या आगम 'पंचरात्र' के नाम से प्रसिद्ध है।[४] भागवतधर्म के द्वारा स्वीकृत एक विशिष्ट 'सात्वत या पांचरात्रिक पद्धति' के अनुसार उपास्य होने के कारण वैदिक 'विष्णु' अपने विशिष्ट रूप में अनन्यता के साथ एकमात्र उक्त धर्म के ही उपास्य देव हो गए और फलस्वरूप उक्त धर्म 'वैष्णवमत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ एवं उसके अनुयायी 'भागवत' के साथ वैष्णव' भी कहे जाने लगे।

वैष्णवों के 'विष्णु' परात्पर और सर्वव्यापक होते हुए अपने दिव्यरूप के साथ अप्राकृत दिव्यलोक—वैकुण्ठलोक—में अपने नित्य परिकर और मुक्त

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६ श्लोक १०, ११।
२. लोकमान्य बालगंगाधर तिलक—गीतारहस्य (हिन्दी), पृ० ५४८।
३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३५, श्लोक १९, २४ आदि तथा भीष्मपर्व, अ० ६६, श्लोक ४०।
४. वही, शान्तिपर्व अध्याय ३३५–३४९।

जीवों के द्वारा सेव्य हैं। उनका उक्त रूप में यद्यपि 'वासुदेव' या 'परवासुदेव' नाम भी स्वीकृत है, किन्तु 'भागवतधर्म' के संस्थापक वासुदेवकृष्ण उनके अवतार माने गए और इसी प्रकार अन्य अवतारों के साथ राम भी विष्णु के के एक प्रमुख अवतार के रूप में स्वीकृत हुए। उक्त अवतारों के चरित्रों का भक्तों के द्वारा दिव्यलीला के रूप में अनुभव किया जाने लगा। फलतः प्रमुख रूप से राम और कृष्ण के बालचरित्रों का विकास हुआ। कृष्ण के बाल्यकाल का रूप 'गोपाल' और 'गोपीजनवल्लभ' के रूप से स्वीकृत हुआ। उक्त रूपों को न्यूनाधिक महत्त्व देने के कारण वैष्णवमत में विभिन्न भेद हो गए। एक वर्ग ने 'विष्णु' रूप को ही परात्पर और विभिन्न अवतारों का मूल माना। अन्य वर्गों ने राम या कृष्ण को अवतार न मान कर इन्हें ही मूल माना और विष्णु को भी इनका एक द्वितीय रूप या अंश मान कर इनका विशिष्ट स्थल विष्णु के वैकुण्ठलोक से भी पर या अतीत क्रमशः साकेतलोक और गोलोक को स्वीकार किया। पुनः उक्त वर्गों के भी कई अवान्तरभेद हो गए, जिसके फलस्वरूप वैष्णवमत के वर्तमान विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ। उक्त सभी सम्प्रदायों के तत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त तथा भक्तिभाव, दीक्षा, मन्त्र, वेश, क्रिया और पूजापद्धति आदि आचार एक दूसरे से पर्याप्त भेद रखते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन के विषयीभूत भाष्यों में से चार वैष्णवमत के प्रमुख चार स्वतन्त्र सम्प्रदायों—श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय, सनक-सम्प्रदाय—से सम्बद्ध हैं। उक्त चार सम्प्रदाय अपने भाष्यकारों—क्रमशः रामानुज, मध्व, वल्लभ और निम्बार्क—के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अवशिष्ट एक भाष्य—बलदेव का गोविन्दभाष्य—मध्वसम्प्रदाय की परम्परा में महाप्रभु चैतन्य के द्वारा प्रवर्तित एक सम्प्रदाय से सम्बद्ध है, जो माध्वगौडेश्वर-सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया जाता है। वैसे तो उक्त पाँचों सम्प्रदाय अपना मूलप्रवर्तन भगवान् या अन्य किसी दिव्यविभूति—देव या देवर्षि आदि से मानते हैं, किन्तु जहाँ तक इस भूतल पर उनके प्रवर्तन का सम्बन्ध हैं, वे उक्त भाष्यकारों या उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा ही प्रवर्तित किए गए हैं। श्रीसम्प्रदाय में रामानुज से पूर्ववर्ती आचार्यों और आलवारों की भी एक ऐतिहासिक परम्परा है। ब्रह्मसम्प्रदाय के इस भूतल पर प्रमुख प्रवर्तक भाष्यकार मध्व ही प्रतीत होते हैं। रुद्रसम्प्रदाय में वल्लभ से पूर्ववर्ती आचार्य श्री विष्णुस्वामी का नाम भी प्रसिद्ध है, किन्तु वल्लभसम्प्रदाय अपना प्रमुख आचार्य वल्लभ को ही मानता है। सनकसम्प्रदाय के इस भूतल पर प्रवर्तक

निम्बार्क ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने को सनक के शिष्य देवर्षि नारद का शिष्य बताया है (ब्रह्मसूत्र-निम्बार्कभाष्य सू० १।३।८)। माध्व-गौडेश्वरसम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य हैं, जो कि मध्वसम्प्रदाय के एक आचार्य ईश्वरपुरी के शिष्य कहे जाते हैं,[1] किन्तु उक्त सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुए भी महाप्रभु चैतन्य की तत्त्वनिष्ठा और आचारनिष्ठा में उससे भेद हो गया था, अतः फलस्वरूप उनसे मध्वान्तर्गत एक नवीन सम्प्रदाय—माध्व-गौड़ेश्वरसम्प्रदाय—का प्रवर्तन हुआ। रामानुजसम्प्रदाय और मध्वसम्प्रदाय में 'विष्णु' रूप को परममूल माना जाता है। अवशिष्ट तीन सम्प्रदायों में भगवान् कृष्ण के 'गोपाल' या 'गोपीजनवल्लभ' रूप को सर्वोपरि माना गया है। रामानुजसम्प्रदाय के अनुयायी प्रमुख रूप से दक्षिण भारत में है, किन्तु सामान्यतः सम्पूर्ण देश में फैले हुए हैं। मध्वसम्प्रदाय के अनुयायी उत्तरभारत में बहुत कम है, किन्तु दक्षिण भारत का कनारी प्रदेश और मैसूर तथा गोआ से लेकर दक्षिण कनारा तक का पश्चिमी समुद्र तट उनसे व्याप्त है। निम्बार्कसम्प्रदाय के अनुयायी प्रमुखतः ब्रजमण्डल तथा बंगाल एवं सामान्यतः सम्पूर्ण उत्तर भारत में मिलते हैं। वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या गुजरात, राजपूताना और मथुरा के आस पास बहुत है। माध्वगौड़ेश्वर-सम्प्रदाय के अनुयायी प्रधान रूप से बंगाल और ब्रजमण्डल में हैं, वैसे सामान्यतः सम्पूर्ण उत्तर भारत में मिलते हैं।

१०. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्य

ब्रह्मसूत्रों के उपलब्ध वैष्णव-भाष्यों में सबसे प्राचीन रामानुज द्वारा प्रणीत 'श्रीभाष्य' है, जिसके रचना-काल (सन् १११७-११२७ ई०) से वैष्णव-भाष्यों की परम्परा का प्रवर्तन होता है। श्रीभाष्य के द्वारा उक्त परम्परा के प्रवर्तन का कारण स्पष्ट है। ब्रह्मसूत्रों के ऊपर भगवान् उपवर्ष, बोधायन आदि आचार्यों के द्वारा प्राचीन काल में लिखे गए आर्ष व्याख्यानों का प्रायः सभी आचार्यों ने ससम्मान स्मरण किया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे किसी विशिष्ट सिद्धान्त को सूत्रों पर आरोपित करने की दृष्टि से नहीं लिखे गए थे, अपितु केवल सूत्रार्थ को प्रकाशित करने की भावना से उनका सृजन हुआ था और इसीलिए वे सर्वमान्य थे, उनकी उपस्थित से किसी श्रुति-परम्परावादी मत के प्रचार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती थी। शंकर ने

---

१. बलदेव विद्याभूषण—प्रमेयरत्नावली, पृष्ठ ६।

उक्त व्याख्यानों की उपस्थिति में भी स्वयं ब्रह्मसूत्रों का एक अभिनव व्याख्यान प्रस्तुत किया और किसी भी परिस्थिति से वाध्य होकर उन्होंने अपने सिद्धान्तों को स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित न कर ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में उपस्थित किया हो, किन्तु इतना स्पष्ट है कि उनके भाष्य में ऐसे तत्त्व थे, जो प्राचीन व्याख्यानों से भिन्नता रखते थे, जिनके कारण श्रुतिपरम्परावादी विभिन्न मतों के सिद्धान्त श्रुति और ब्रह्मसूत्रों से प्रतिकूल प्रतीत हो सकते थे, अतः शंकर के उक्त व्याख्यान के प्रस्तुत होने के कुछ ही बाद उसका प्रतिवाद भी श्रुतिपरम्परावादी विभिन्न मतों के द्वारा स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ हो गया। फलस्वरूप ब्रह्मसूत्र-भाष्य-रचना की नवीन परम्परा प्रवर्तित हुई, जो ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य के प्रतिवाद के साथ अपने सिद्धान्तों को सूत्रानुकूल रूप में प्रदर्शित करती थी। जहाँ तक ज्ञात है, उक्त परम्परा के अनुसार शांकरभाष्य का सर्वप्रथम प्रतिवाद भास्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में उपस्थित किया। जहाँ तक जीव और ब्रह्म के परस्परसम्बन्ध का प्रश्न है, वहाँ तक भास्कर भी शंकर के समान दोनों में औपाधिक भेद और स्वाभाविक अभेद मानते थे, किन्तु उन्होंने शंकर के समान 'ब्रह्म' को निर्विशेष नहीं, अपितु सविशेष माना और जगत् को सत्य मानते हुए उसे ब्रह्म का शक्ति-विक्षेपलक्षण वास्तविक परिणाम माना तथा साथ ही शंकर ने जो ज्ञानक्षेत्र में कर्म की महत्ता घटा दी थी, उसका प्रतिवाद कर उन्होंने ब्रह्मप्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म को समान महत्त्व देकर 'ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद 'स्वीकार किया। भास्कर के बाद यादवप्रकाश ने शंकर का प्रतिवाद करने के लिए एक भाष्य प्रस्तुत किया, जो सम्भवतः अब उपलब्ध नहीं है। इनका सिद्धान्त भी भेदाभेदवाद है। इनके और भास्कर के सिद्धान्त में इतना अन्तर है कि भास्कर ब्रह्म और जीव का औपाधिक भेद और स्वाभिक अभेद मानते हैं और जड़-जगत् का ब्रह्म से स्वाभाविक भेदाभेद मानते हैं, किन्तु यादव प्रकाश उपाधि को न मान कर ब्रह्म से जीव और जड़-जगत् दोनों का एक समान स्वाभाविक भेदाभेद मानते हैं। इनके अनुसार सन्मात्र-द्रव्य 'ब्रह्म' ही अपनी परिणामशक्ति से अपने को नियन्ता (ईश्वर), भोक्ता (जीव) और भोग्य (जड़) रूप में परिणत करता है। भास्कर के समान ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को इन्होंने भी स्वीकार किया है।

उक्त प्रकार से यद्यपि रामानुज से पूर्ववर्ती भास्कर और यादवप्रकाश शंकर का प्रतिवाद कर चुके थे, किन्तु वैष्णवमत के भक्तिमार्गीय सिद्धान्तों की दृष्टि से उक्त दोनों भाष्यकार भी शंकर के ही समान थे, अतः वैष्णवों

के लिए एक ऐसे ब्रह्मसूत्र-भाष्य की रचना करना आवश्यक हो गया, जिसमें शांकरभाष्य के प्रबल प्रतिवाद और साथ ही भास्कर और यादव प्रकाश के मतों की आलोचना के साथ स्वाभिमत सिद्धान्तों की सूत्रानुकूलता और फलतः श्रुत्यनुकूलता प्रदर्शित की जावे। उक्त उद्देश्य से प्रेरित होकर रामानुज के परमगुरु श्री यामुनाचार्य ने 'सिद्धित्रय', 'आगमप्रामाण्य' और 'गीतार्थसंग्रह-रक्षा' आदि स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की, किन्तु ब्रह्मसूत्र-भाष्य-रचना के बिना उक्त अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती थी, अतः यामुनाचार्य की यह प्रबल इच्छा थी कि उक्तरूप एक ब्रह्मसूत्र-वैष्णवभाष्य किसी प्रकार प्रस्तुत होना चाहिए, किन्तु उनका उक्त मनोरथ उनके साथ ही गया। उनके परमपद के समय (सन् १०३८ के आसपास) उनके एकविंशतिवर्षीय प्रशिष्य (शिष्य के शिष्य) रामानुज ने यह प्रतिज्ञा की कि वे अपने परमगुरु के उक्त मनोरथ को पूर्ण करेंगे और तदनुसार उन्होंने अपने जीवन के चतुर्थांश में एक ब्रह्मसूत्र-भाष्य की रचना की, जो 'श्रीभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। रामानुज अपने भाष्य की रचना के कारण अपने सम्प्रदाय में 'भाष्यकार' के नाम से सम्मानित हुए। रामानुज ने अपने भाष्य में यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' आदि ग्रन्थों का पूर्ण उपयोग किया, 'बोधायनवृत्ति' और 'द्रमिडभाष्य' से पथप्रदर्शन प्राप्त किया। उन्होंने अपने भाष्य में शंकर, भास्कर और यादव-प्रकाश के सिद्धान्तों का निराकरण करते हुए अपने परम्परागत सिद्धान्तों को सूत्रानुकूल रूप में प्रदर्शित किया। इस प्रकार उक्त कारण से रामानुज के 'श्रीभाष्य' से ब्रह्मसूत्र-वैष्णवभाष्यों की परम्परा का प्रवर्तन होता है। उक्त परम्परा के प्रवर्तक रामानुज का जन्म दक्षिण देश के 'भूतपुरी' नामक स्थान में हुआ था।

रामानुज के द्वारा शंकर का प्रबल प्रतिवाद हो जाने के कारण उनके बाद प्रस्तुत होने वाले वैष्णव-भाष्यों पर शांकरभाष्य के निराकरण का कोई भार नहीं रहा और फलस्वरूप उनमें शांकर-सिद्धान्तों के निराकरण के प्रति कोई विशेष अभिनिवेश भी नहीं है। उनमें प्रमुख दृष्टि अपने विशिष्टसिद्धान्तों के प्रतिपादन के प्रति ही रक्खी गई है। रामानुज के बाद निम्बार्क ने ब्रह्मसूत्रों की लघुवृत्ति के रूप में अपना भाष्य—वेदान्तपारिजातसौरभ—प्रस्तुत किया, जो ब्रह्मसूत्र-वाक्यार्थ माना जाता है। उक्त भाष्य के अनुगमन पर निम्बार्क के साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने अपना 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक भाष्य प्रस्तुत किया। उक्त दोनों भाष्यों में कोई खण्डन-मण्डन नहीं है, प्रमुखतः केवल अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन है। निम्बार्क के जन्म या निवास का

सम्बन्ध 'निम्ब-ग्राम' से माना जाता है, जो सम्भवतः दक्षिण में बेलारी जिले का वर्त्तमान 'निम्बापुर' है।

निम्बार्क के बाद मध्व ने भी एक लघुकाय ब्रह्मसूत्र-भाष्य प्रस्तुत किया, जो 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। मध्व की शांकर-सिद्धान्तों के निराकरण में जो अभिरुचि है, उसे उन्होंने अपने भाष्य में केवल 'नचाप्रामाणिकं कल्प्यम्' (मध्वभाष्य सू० १।२।६) 'नचाशब्दमितरसिद्धम्' (मध्वभाष्य सू० १।१।५) आदि वाक्यों के रूप में ही प्रदर्शित कर संतोष किया है। मध्व-भाष्य में शैवों के प्रति विरोध सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनके भाष्य की पृष्ठभूमि में श्रीकण्ठ आदि शैवों के द्वारा प्रस्तुत ब्रह्मसूत्र-भाष्य हैं। मध्व का जन्म-स्थान दक्षिण कनारा जिले के 'उदिपी' ताल्लुका में बताया जाता है।

मध्व के बाद वल्लभ ने अपना ब्रह्मसूत्र-भाष्य 'अणुभाष्य' के नाम से प्रस्तुत किया, इनकी दृष्टि में सर्वत्र शंकर रहे हैं, तथापि इनके द्वारा प्रस्तुत निराकरण रामानुज के समान प्रौढ़, विस्तृत और मौलिक नहीं है। व्यंग्य वाक्यों का ही अधिक प्रयोग है। इनके सम्प्रदाय की मान्यता है कि इन्होंने 'बुद्धचर्थः पादवत्' (वल्लभभाष्य सू० ३।२।३३) तक ही भाष्य किया है और इससे आगे उनके पुत्र श्रीविट्ठलेश ने समाप्ति पर्यन्त भाष्य की पूर्ति की है और इसी प्रकार उक्त भाष्य के 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (सू० १।१।१२) का द्वितीय वर्णक भी श्री विट्ठलेश का है।[1] वल्लभ का पितृस्थान तैलगू प्रदेश में कांकरव है।

वल्लभ के बाद बलदेव ने एक ब्रह्मसूत्र-भाष्य प्रस्तुत किया जो 'गोविन्दभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। बलदेव महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के विशिष्ट पण्डित माने जाते है। महाप्रभु की कोई रचना प्राप्त नहीं है, उनके शिष्यों ने ही विभिन्न ग्रन्थ प्रस्तुत किए हैं। महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्तों को उनके एक दाक्षिणात्य शिष्य गोपालभट्ट ने एक ग्रन्थ के रूप में निवद्ध किया। उस ग्रन्थ के खण्डित होने पर उसे एक संकलित तथा परिवर्द्धित रूप में जीव गोस्वामी ने षट्सन्दर्भ के नाम से प्रस्तुत किया।[2] इतना होने पर भी कोई ब्रह्मसूत्र-भाष्य नहीं था। उक्त सम्प्रदाय 'भागवतपुराण'

---

१. अणुभाष्य, भाग २, बालबोधिनी टीका, उपोद्घात, पृ० ४७-४८।
२. षट्सन्दर्भ, तत्त्वसन्दर्भ, पृ० ४, श्लोक ३–५।

को ही ब्रह्मसूत्रों का अकृत्रिमभाष्य मानता रहा,[1] किन्तु विना भाष्य के सम्प्रदाय का स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना नहीं जा सकता था, अतः उक्त सम्प्रदाय के विशिष्ट पण्डित बलदेव विद्याभूषण ने उस कमी की भी पूर्ति कर दी।[2] इन्होंने अपने भाष्य में मध्व का भी अनुसरण किया है और रामानुज का भी। इन्होंने शांकर-सिद्धान्तों का भी निराकरण किया है, किन्तु वह केवल रामानुज का अनुकरण और परिपाटी का पालनमात्र है। इनका जन्म उड़ीसा राज्य के किसी ग्राम में हुआ था।

उक्त सभी भाष्य शंकर के निर्विशेषाद्वैत और जगन्मिथ्यात्व का विरोध करते हुए जगत्सत्यत्व मानने के साथ भक्तिमार्ग के अनुकूल उपास्य और उपासक के स्वरूप की वास्तविक व्यवस्था स्थापित करते हैं।

११. वैष्णववेदान्त-वाद

(अ) वैष्णववेदान्त के सर्वमान्य सामान्य सिद्धान्त निम्न हैं :—

२—जगत् का सत्यत्व, सत्योपादानकत्व।

२—जीव का स्वाभाविक रूप से ज्ञानस्वरूपत्व, नित्यत्व, अणुत्व, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्रह्मवश्यत्व एवं संख्या में बहुत्व।

३—ब्रह्म का परमार्थतः सविशेषत्व, निर्दोषत्व, सर्वकल्याणगुण-सम्पन्नत्व, परमेश्वरत्व, जगत्कर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वान्तर्यामित्व, मोक्षप्रदत्व, उपास्यत्व, मुक्तप्राप्यत्व, विशिष्टदिव्यरूपसम्पन्नत्व और उक्त रूप के साथ उसका कार्यजगदतीतदिव्यलोकाधिष्ठितत्व।

४—दिव्यलोक में भगवान् के नित्यकैंकर्य की प्राप्ति ही सर्वोत्तम मोक्ष।

५—भक्ति या शरणागति ही उक्त मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय।

६—कर्म, ज्ञान और योग आदि भक्ति के अंग।

७—किसी भी प्रकार की उपाधि का अस्वीकार।

८—ब्रह्म की पारमैश्वर्यशक्ति के रूप में माया का स्वीकार।

९—कार्यकारणसम्बन्ध में परिणामवाद का स्वीकार, विवर्तवाद का नहीं।

(आ) मध्य को छोड़कर अन्य भाष्यकारों का समान सिद्धान्त :—

१—ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व।

---

१. षट्सन्दर्भ, तत्वसन्दर्भ, पृ० ४८।

२. गोविन्दभाष्य, भूमिका, पृ० ५, ६।

(इ) वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों का समान सिद्वात :—

१—ब्रह्म, जीव और जड़तत्त्व का परस्पर स्वरूपतः भेद ।

(ई) वैष्णव भाष्यकारों द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के अन्तर्गत पाँच विभिन्न वाद हैं, जिनके विशिष्ट सिद्धान्त निम्न प्रकार से हैं :—

(१) **रामानुजवेदान्त**—रामानुजवेदान्त का वाद "विशिष्टाद्वैत" के नाम से प्रसिद्ध है। इसका शाब्दिक अर्थ है—'विशिष्टयोरद्वैतम्" अर्थात् विशिष्ट कारण और विशिष्ट कार्य की एकता। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। सत्कार्यवाद सिद्धान्त को उक्त वेदान्त स्वीकृत करता है और तदनुसार कारणावस्थ ब्रह्म और कार्यावस्थ ब्रह्म के अद्वैत का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म, जीव और जड़ स्वरूपतः परस्पर पृथक् हैं, किन्तु जड़चेतनात्मक वस्तु का अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं, उसकी सत्ता सर्वदा ब्रह्मायत्त है। वह ब्रह्म से पृथक् स्थित नहीं, अपितु सर्वदा उससे अपृथक्-सिद्ध है। वह ब्रह्म के द्वारा नियम्य, धार्य और उसका शेष होने के कारण उसका शरीर है और ब्रह्म उसका नियन्ता, धारयिता और शेषी होने के कारण आत्मा है। इस प्रकार सम्पूर्ण चिदचिदात्मक वस्तु ब्रह्मात्मक या ब्रह्म का शरीर है और इस शरीरात्मभाव से ब्रह्म के प्रकार या विशेषण रूप में ही उसके स्वरूप का परिचय है। भेदपरक श्रुतियाँ परस्पर स्वरूप-भेद का प्रतिपादन करती हैं और अभेदपरक श्रुतियाँ सम्पूर्ण चिदचिदात्मक वस्तु के ब्रह्मात्मक होने के कारण उसे ब्रह्म बताती हैं, क्योंकि वह वस्तु ब्रह्म का केवल एक प्रकार या विशेषण मात्र है और इसलिए विशेष्य ब्रह्म के साथ ही उसका निर्देश हो जाता है। उक्त रूप से विशिष्ट ब्रह्म केवल अकेला ही है, अतः श्रुतियों में नानात्व का निषेध है। विशिष्ट ब्रह्म के जगद्रूप में परिणत होने पर उसके विशेषणस्थानीय जड़ और चेतन में विकार आता है। जड़ में स्वरूपतः विकार होता है और चेतन में स्वरूपतः नहीं, अपितु केवल गुणतः, किन्तु उनके विशेष्य या आत्मा ब्रह्म में न स्वरूपतः विकार आता है और न गुणतः। यतः अपृथक्-सिद्ध शरीर या विशेषण का विकार तदेकाश्रय आत्मा या विशेष्य की ही अवस्थान्तरापत्ति है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न कार्य-कारण अवस्थाओं को धारण करने वाला ब्रह्म ही, जो कि सर्वदा चिदचिद्विशिष्ट है, कारण और कार्य है और फलतः दोनों अवस्थाओं में एक है, अतः विशिष्टाद्वैत है। कारणावस्थ ब्रह्म स्वयं ही अपनी इच्छा से कार्यावस्था को प्राप्त करता है, अतः वह अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

(२) **निम्बार्कवेदान्त**—उक्त वेदान्त का वाद 'स्वाभाविकभेदाभेद' या

'स्वाभाविकद्वैताद्वैत' है। इसके अनुसार ब्रह्म, जीव और जड़ परस्पर स्वरूपतः भिन्न हैं और साथ ही जीव और जड़ अपने स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति में ब्रह्मायत्त होने से ब्रह्म से अभिन्न हैं। इस प्रकार ब्रह्म से जड़ और जीव का भेद और अभेद स्वाभाविक है, जो कि समान स्तर पर मान्य है। उक्त दृष्टि से स्वाभाविकभेदाभेद रामानुज को भी मान्य है, किन्तु, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, रामानुज के 'विशिष्टाद्वैत' में अद्वैत शब्द का प्रयोग कार्यकारण के अद्वैत की दृष्टि से किया गया है, उसकी तुलना में यहाँ निम्बार्क के 'स्वाभाविकभेदाभेद' की दृष्टि यह है कि कारण और कार्य का अद्वैत नहीं, अपितु स्वाभाविकद्वैताद्वैत है। कारण से कार्य भिन्न है, किन्तु साथ ही कार्य के कारण से अपृथक्सिद्ध और तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिक होने से वह कारण से अभिन्न भी है, इस प्रकार कार्य-कारण का स्वाभाविक-भेदाभेद समान स्तर पर मान्य है। ब्रह्म कारण है और चिदचिदात्मक जगत् कार्य है, दोनों का स्वाभाविकभेदाभेद है। ब्रह्म अनन्तशक्तियुक्त है, चित् और अचित् भी उसकी शक्तियाँ हैं। ब्रह्म अपने से स्वाभाविकतया भिन्नाभिन्न उक्त स्वात्मक और स्वाधिष्ठित चित् और अचित् शक्तियों का विक्षेप या प्रसार कर अपने को चिदचिदात्मक जगत् के रूप में परिणत करता है और इस प्रकार वह जगत् का निमित्तकारण होने के साथ उपादानकारण भी है। उक्त शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम को करते हुए भी वह स्वरूपतः निर्विकार रहता है। शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम के फलस्वरूप जो चिदचिदात्मक जगत्रूप कार्य निष्पन्न होता है, वह अपने उपादानकारण ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, अतः स्वाभाविकभेदाभेद है।

भेदाभेदवाद, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[1] भास्कर ने भी प्रस्तुत किया था। उसमें भी ब्रह्म का शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम माना गया है तथा जड़ का ब्रह्म से स्वाभाविकभेदाभेद स्वीकृत किया गया है। भास्कर और निम्बार्क के सिद्धान्त में अन्तर इतना है कि भास्कर ब्रह्म और जीव का औपाधिक भेद मानते हैं, किन्तु निम्बार्क जड़ के समान जीव का भी ब्रह्म से स्वाभाविकभेदाभेद मानते हैं।

(३) **मध्ववेदान्त**—उक्त वेदान्त का वाद 'द्वैत' है। इसके अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं, अपितु केवल निमित्तकारण है, अतः स्वभावतः ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अद्वैत उक्त सिद्धान्त

---

१. पृष्ठ ३०।

में मान्य नहीं। जड़जगत् का उपदानकारण 'प्रकृति' या प्रधान को स्वीकृत किया गया है और प्रकृति तथा जड़जगत् में भेदाभेद स्वीकृत किया गया है,[1] किन्तु उक्त वेदान्त में 'द्वैत' शब्द कार्यकारणसम्बन्ध की दृष्टि से नहीं रक्खा गया है, अपितु इस दृष्टि से कि ब्रह्म, जीव और जड़ परस्पर भिन्न हैं, इनमें विशुद्ध द्वैत है।

मध्ववेदान्त में पाँच भेद माने गए हैं :—

(१) ब्रह्म और जीव का भेद, (२) ब्रह्म और जड़ का भेद, (३) जीव और जड़ का भेद, (४) जीवों का परस्पर भेद, (५) जड़ पदार्थों का परस्पर भेद।

उक्त भेद मध्ववेदान्त के द्वारा ही असाधारण रूप से स्वीकृत नहीं हैं, अपितु वल्लभवेदान्त को छोड़ कर सभी वैष्णववेदान्त-वादों में स्वीकृत हैं, किन्तु अन्य वैष्णववादों के अनुसार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से अभेद भी स्थापित किया गया है, किन्तु वह दृष्टियाँ मध्व को स्वीकृत नहीं। मध्व-वेदान्त का एक विशिष्ट सिद्धान्त यह है कि मोक्ष में भी जीवों में परस्पर तारतम्य रहता है, क्योंकि साधनतारतम्य से मोक्षानन्द के अनुभव में तारतम्य आवश्यक है।

(४) **वल्लभवेदान्त**—उक्त वेदान्त का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' है, जिसका अर्थ यह माना गया है कि 'शुद्धं च तदद्वैतम्'—अर्थात् मायासम्बन्धरहित ब्रह्म का अद्वैत, दूसरा अर्थ यह किया गया है कि 'शुद्धयोरद्वैतम्'—अर्थात् माया-सम्बन्धरहित ब्रह्म और जगत् का अद्वैत।[2] उक्त वेदान्त के अनुसार एकमात्र तत्त्व ब्रह्म है और यावत् जड़जीवात्मक जगद्रूप कार्य भी ब्रह्म है, अतः दोनों का सीधा अद्वैत है। ब्रह्म जीवभाव को किसी अविद्या या उपाधि के कारण प्राप्त नहीं हुआ, अपितु अपनी इच्छा से हुआ है, अपनी इच्छा से वह जड़ जगत् के रूप में है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, ब्रह्म के उक्त तीन गुण—सत्, चित् और आनन्द—अपने तारतम्य से ब्रह्म के नाना रूपों में परिणत होने के लिए सहायक हैं, उक्त गुणों का आविर्भाव और तिरोभाव ही नाना रूपों का हेतु हैं। ब्रह्म ने अपने जिस अंश में आनन्द का तिरोभाव कर दिया है, वही अंश जीवसमष्टि या जीव है और जिस अंश में आनन्द के साथ चित् का भी तिरोभाव कर दिया है, वह जड़तत्त्व है। ब्रह्म जब चाहे तब जीव और जड़ में

---

१. वनमालिमिश्र, वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः, पृ० ९२, श्लोक ५।१४।
२. गोस्वामी श्रीगिरिधरजी महाराज—शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड, श्लोक २७, पृ० २३।

तिरोहित गुणों का आविर्भाव कर सकता है और इस प्रकार चिदंश और सदंश पुनः सच्चिदानन्द हो जाते हैं। उक्त प्रकार से एकमात्र तत्त्व सच्चिदानन्द ब्रह्म ही आविर्भाव दशा में कारण और तिरोभाव दशा में कार्य है, अतः कारण और कार्य का शुद्धाद्वैत है। यदि एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही जड़ और जीव के रूप में परिणत होगा, तो उसमें विकार आवेगा, इसके लिए वल्लभ ने 'अविकृतपरिणामवाद' स्वीकृत किया है। जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[1] वल्लभ के सिद्धान्त—शुद्धाद्वैत—का पूर्वरूप यादवप्रकाश के सिद्धान्त में निहित है। वल्लभवेदान्त के विशिष्ट सिद्धान्त निम्न हैं :—

१—ब्रह्म सर्वधर्माश्रय है और परस्परविरुद्धधर्माश्रय भी है।

२—ब्रह्म के कई रूप-भेद :—

(अ) आधिदैविक रूप—परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम, पूर्णप्रकटसच्चिदानन्द, साकार, केवलभक्तिलभ्य, भक्तसेव्य।

(आ) आध्यात्मिक रूप—अक्षरब्रह्मस्वरूप, पुरुषोत्तम से न्यून, किंचित्तिरोहितानन्द, ज्ञानलभ्य, ज्ञानिप्राप्य।

उक्त अक्षरब्रह्म वैकुण्ठ आदि दिव्य लोकों का उपादानतत्त्व है और पुरुषोत्तम का चरणस्थानीय है। ज्ञानी को मोक्ष मिलता है तो इसी चरणस्थानीय ब्रह्म की प्राप्ति होती है। पुरुषोत्तम की जगत्सिसृक्षा मात्र से कुछ आनन्द तिरोहित हो जाता है, जिससे उक्त रूप आविर्भूत होता है। फिर जगत्कार्य का भार इसी पर है।

(इ) अन्तर्यामी ब्रह्म—जिस प्रकार सदंश से जड़ और चिदंश से जीव हैं, उसी प्रकार आनन्दांश से अनन्त अन्तर्यामी स्वरूप होते हैं, जो प्रत्येक जीव का अन्तर्यमन करते हैं।

इसी प्रकार अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी वल्लभवेदान्त के अपने विशिष्ट सिद्धान्त है।

(५) **बलदेववेदान्त (माध्वगौड़ेश्वरवेदान्त)**—उक्त वेदान्त का वाद 'अचिन्त्यभेदाभेद' है। जहाँ तक कार्य कारण का सम्बन्ध है, उक्त वेदान्त को विशिष्टाद्वैत के समान केवल अभेद स्वीकार है, निम्बार्कवेदान्त के समान भेदाभेद नहीं। चित् और अचित् दोनों ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। उक्त शक्तियों से युक्त ब्रह्म कारण है और उन्हीं से युक्त वह कार्य है। ब्रह्म कारणावस्था में

---

१. पृ० ३०।

सूक्ष्मशक्तिक और कार्यावस्था में स्थूलशक्तिक है और इस प्रकार दोनों का अनन्यत्व विशिष्टाद्वैत के समान स्वीकृत है। जीव और जड़ का ब्रह्म के साथ भेदाभेद सम्बन्ध माना गया है। चित् और अचित् ये शक्तियाँ ब्रह्म से स्वरूपतः भिन्न हैं, किन्तु फिर भी शक्ति और शक्तिमान् के समान दोनों में अभेद है। उक्त भेद में भी अभेद या अभेद में भी भेद कैसे सम्भव हो सका, इसकी उपपति के लिए 'अचिन्त्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रभु के अचिन्त्यशक्तियोग से ही ऐसा सम्भव हो सका है। अचिन्त्यत्व दुर्घटघटकत्व है। उक्त उपपत्ति बलदेव से पूर्व के भक्त गोस्वामियों ने प्रस्तुत की थी।[1] बलदेव ने उक्त प्रकार से अचिन्त्यत्व मानते हुए भी एक दार्शनिक उपपत्ति भी प्रस्तुत की है। उन्होंने मध्व द्वारा स्वीकृत विशेष पदार्थ को माना है, जो अभेद में भी भेद का प्रतिनिधि है (बल०भा० सू० ३।२।३१)। बलदेव का कहना है कि उक्तरूप विशेष अवश्य स्वीकार करना चाहिए, नहीं तो 'सत्ता सती', 'कालः सर्वदाऽस्ति', 'देशः सर्वत्र' आदि अबाधित व्यवहार अनुपपन्न हो जावेंगे। उक्त विशेष वस्त्वभिन्न तथा स्वनिर्वाहक है, अतः अनवस्था नहीं होगी। इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् का अभेद होने पर भी दोनों का भेद रहेगा। शक्तिमद् ब्रह्म के उपादानकारण होने पर भी उसके स्वरूप में परिणाम नहीं होता, उसकी चिदचिद् शक्तियों में ही होता है। ब्रह्म अपनी स्वरूपशक्ति से निमित्तकारण है और चित् और अचित् शक्तियों से युक्त रूप में वह उपादानकारण है। इस प्रकार शक्तिमद् ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण और वही कार्य है।

१२. प्रस्तुत अध्ययन की समस्याएँ

उक्त विभिन्न वादों एवं मान्यताओं को लेकर भाष्यकार ब्रह्मसूत्र-भाष्य-रचना में प्रवृत्त हो ब्रह्मसूत्रों की स्वानुकूल व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, जिनका कि स्वभावतः परस्पर-भिन्न होना स्वाभाविक है। यदि उक्त भाष्यों को भाष्य के रूप में न देख कर वेदान्तदर्शन के प्रतिपादक एक स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में देखा जावे, तो उनके विभिन्न रूपों के कारण कोई समस्या उपस्थित नहीं होती, क्योंकि श्रुतियों में भी विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ रही हैं। श्रुतियों के आधार पर समन्वित रूप में प्रस्तुत ब्रह्मसूत्र-दर्शन की भी एक विचारधारा है और उन्हीं श्रुतियों के आधार पर विभिन्न भाष्यों के द्वारा प्रस्तुत भाष्य-दर्शन भी स्वतन्त्र विचारधाराओं के समन्वित एवं सुसंबद्ध विभिन्न रूप

---

१. जीव गोस्वामी—षट्सम्दर्भ, पृष्ठ ६५ तथा सर्वसम्वादिनी, पृष्ठ २२।

माने जा सकते हैं और एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्रों ने विभिन्न औपनिषद विचारधाराओं को एक समन्वित दर्शन के रूप में लीन कर उनकी जो विभिन्नता तिरोहित कर दी थी, वह तिरोहित न रह सकी, अपितु सूत्रों के प्रभाव से ऊपर उठ कर और भी अधिकता के साथ अपने मौलिक रूप में तो नहीं, किन्तु एक विशिष्ट रूप में आविर्भूत हुई, जिसके फलस्वरूप अन्तिम रूप से विकसित एवं सर्वांगपूर्ण विभिन्न वेदान्तदर्शन अपने विशिष्ट स्वरूप के साथ भाष्यों के द्वारा प्रतिष्ठापित हुए, जिनका कि अपना-अपना स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण स्थान है और फलतः उनके कारण कोई समस्या नहीं।

समस्या तो तब उपस्थित होती है, जब परस्पर-भिन्न सभी भाष्य यह घोषित करते हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत व्याख्या ही सूत्रों की वास्तविक व्याख्या है। एक ही व्याख्येय ग्रन्थ की इतनी परस्पर-भिन्न व्याख्याओं को देख कर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि किस या किन भाष्यों की उक्त घोषणा अधिक सत्य हो सकती है। उक्त जिज्ञासा से प्रेरित होकर किए गए अध्ययन में जो समस्याएँ सूत्रों के प्रत्येक तथ्य के सम्बन्ध में भाष्यों के द्वारा प्रस्तुत विविध मतभेदों के कारण उपस्थित हो सकती हैं, वही प्रस्तुत अध्ययन की समस्याएँ हैं, जिनका कि एक संक्षिप्त परिचय पूर्व में दिया जा चुका है[1] और आगे भी यथाप्रसंग प्रस्तुत किया गया है, यहाँ उसे पुनरावृत्त करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, किन्तु फिर भी उक्त समस्याओं का निम्न प्रकार से नाम-निर्देश करना अनुचित न होगा :—

(१) सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के निर्धारण की समस्या।

(२) सूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों और मीमांस्य श्रुतिवाक्यों को निर्धारित करने की समस्या।

(३) समन्वयाध्याय में मीमांस्य श्रुतिवाक्यों के समवन्य-प्रकार से सम्बद्ध समस्या।

(४) सूत्रों के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों को निर्धारित करने की समस्या।

(५) अन्य विविध सूत्रप्रतिपादित विषयों के सम्बन्ध में सूत्रकार की वास्तविक सम्मति को जानने की समस्या।

---

१. प्राक्कथन।

(६) सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत परमत-निराकरण के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करने की समस्या।

जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, उक्त सभी तथ्यों के सम्बन्ध में भाष्यकारों ने पर्याप्त मतभेद प्रस्तुत किया है, जिससे उक्त समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं। प्रस्तुत अध्ययन के अगले पृष्ठों में उन्हीं के समाधान की ओर अग्रसर होने का एक लघु प्रयास है।

अध्याय १

ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय

प्रस्तुत समस्या

यह तथ्य सुविदित है कि भाष्यकारों ने व्याख्या-भेद से ब्रह्मसूत्रों के द्वारा परस्पर-भिन्न सिद्धान्तों को स्थापित किया है। सूत्र वही हैं, पर उनसे एक दूसरे के विपरीत निष्कर्ष निकाले गए हैं। इन निष्कर्षों की भिन्नता होते हुए भी यह सम्भावना की जा सकती है कि सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय, जिनके सम्बन्ध में ये परस्पर-भिन्न निष्कर्ष या सिद्धान्त सूत्रों में प्रस्तुत किए हैं, भाष्यकारों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत होंगे और वस्तुतः बहुत से स्थलों पर हैं भी, किन्तु भाष्यों के अध्ययन से यह भी पूर्णतया स्पष्ट है कि उनमें सूत्रों के सिद्धान्तों के बारे में ही भिन्नता नहीं है, अपितु, जैसा कि अगले पृष्ठों से स्पष्ट होगा, उनके प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। जिन सूत्रों के द्वारा कुछ भाष्यकार किसी एक विशिष्ट विषय का प्रतिपादन मानते हैं, उन्हीं सूत्रों को दूसरे भाष्यकार एक भिन्न ही विषय के प्रतिपादक के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जिन सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय कुछ भाष्यकारों के अनुसार केवल एक है, उन्हीं सूत्रों में दूसरों के अनुसार एक से अधिक परस्पर-भिन्न विषयों का प्रतिपादन है, ऐसे ही अनेक मतभेद सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम सूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों को ज्ञात किया जावे, जिससे उनके सम्बन्ध में भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत परस्पर-भिन्न सिद्धान्तों का इस रूप में परीक्षण किया जा सके कि कहाँ तक वे सूत्रसम्मत हैं। विषयों के निर्द्धारण के विना तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के परीक्षण का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

यदि सौभाग्य से सूत्रों का अधिकरणों में विभाजन और उन अधिकरणों के विषयसूचक नाम सर्वसम्मत परम्परा के रूप में प्राप्त होते, तो भाष्यकारों को सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद उपस्थित

करने का अवसर प्राप्त नहीं होता और साथ ही सूत्रकार के सिद्धान्त इतने दुर्बोध न हो पाते, जितने वे आज हो सके हैं। किन्तु खेद का विषय है कि आज जो विभिन्न भाष्यों में अधिकरण-विभाजन प्राप्त होता है, उसमें एक-रूपता नही है। एक भाष्यकार यदि किसी अधिकरण में पाँच सूत्र मानते हैं, तो दूसरे उसमें चार या छः मानकर उस अधिकरण की सीमा में संकोच या विस्तार कर देते हैं और फलस्वरूप जो सूत्र एक भाष्यकार के अनुसार किसी एक विषय का प्रतिपादन करते हैं, वही दूसरों के अनुसार एक भिन्न ही विषय के प्रतिपादक हो जाते हैं और कभी-कभी स्थिति यह हो जाती है कि पूर्वपक्ष-सूत्र सिद्धान्त-सूत्रों और सिद्धान्त-सूत्र पूर्वपक्ष-सूत्रों के रूप में सरलता से परिवर्तित हो जाते हैं। अधिकरण-विभाजन की इस अनेकरूपता से स्पष्ट है कि भाष्यकारों ने किसी परम्पराप्राप्त विभाजन के आधार पर सूत्रों के प्रतिपाद्यविषयों को नहीं माना है, अपितु अपने अपने सिद्धान्तों के अनुकूल उनका निर्द्धारण कर तदनुसार सूत्रों को अधिकरणों में विभक्त कर दिया है और इसलिए भाष्यों में उपलब्ध इस विमत अधिकरण-विभाजन का सूत्रों के के प्रतिपाद्य-विषयों के निर्धारण में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं, इसके लिए उक्त अधिकरण-विभाजन की उपेक्षा कर स्वयं सूत्रों की ही शरण लेना आवश्यक है।

यद्यपि सूत्रों की संक्षिप्त और दुरूह शैली के कारण अनेक स्थलों पर उनके वास्तविक प्रतिपाद्य का निश्चय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, फिर भी भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषयों की सूत्रानुकूलता का सूत्रों की शब्दावली, रचना एवं पूर्वापर-संगति आदि के आधार पर परीक्षण करते हुए उनके वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों को निर्द्धारित करने का एक सफल प्रयत्न किया जा सकता है और यही प्रयत्न करना प्रस्तुत अध्याय का ध्येय है।

२. सूत्रों के विषयों का निर्द्धारण

अध्याय १ पाद १–३

सूत्र १।१।१—भिन्न-भिन्न प्रकार से शब्दार्थ प्रस्तुत करते हुए भी सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र के द्वारा प्रस्तूयमान शास्त्र की विषयप्रयोजनादि-सूचक प्रस्तावना मानी है, जो कि स्वयं सूत्राक्षरों से भी स्पष्ट प्रकट है ।।१।।

सूत्र १।१।२—सर्व-सम्मति से उक्त सूत्र का विषय जिज्ञास्य ब्रह्म के लक्षण का इस रूप में प्रतिपादन है कि वह जगज्जन्मादिकारण है ।।२।।

सूत्र १।१।३—किंचित् प्रकारभेद से सभी भष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादित हो जाता है कि सूत्रकार द्वारा जिज्ञास्य ब्रह्म तथा उसके जगत्कारणत्व में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है ।।३।।

सूत्र १।१।४—पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी किंचित् शब्दार्थभेद के साथ वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि ब्रह्म में शास्त्र का पूर्णतया एवं मुख्य रूप से समन्वय होने के कारण उसका शास्त्रप्रमाणकत्व सुतरां सिद्ध है। इसके विपरीत वल्लभ इस सूत्र के द्वारा ब्रह्म के समवायिकारणत्व का प्रतिपादन मानते हैं, किन्तु इसके लिए उन्हें 'समन्वय' शब्द का मुख्यार्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थ 'समवाय' करना पड़ता है, जो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि एक तो यहाँ मुख्यार्थ को ग्रहण करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है, अपितु उसके विपरीत पूर्वसूत्र के द्वारा ब्रह्म के शास्त्रयोनित्व का निर्देश और आगे सूत्रों में शास्त्र का ब्रह्म में समन्वय प्रदर्शित किए जाने के कारण यहाँ मुख्यार्थ ही अधिक पूर्वापर-संगत है। अपरंच, यदि वल्लभ के अनुसार यहाँ ब्रह्म के समवायिकारणत्व का प्रतिपादन मान लिया जावे, तो सूत्रों में पुनरावृत्तिदोष आता है, क्योंकि स्वयं वल्लभ के भी अनुसार (सू० १।४।२३-२८) में इसी विषय का प्रतिपादन है। इस प्रकार अन्य भाष्यकारों और विशेष रूप से मध्व और बलदेव द्वारा स्वीकृत 'समन्वय' शब्द का अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है। मध्व को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने उक्त सूत्र के पूर्वपक्ष में पूर्वमीमांसा और मध्व ने (प्रमुख टीकाकार जयतीर्थ के अनुसार) शैव आदि सम्प्रदायों को रक्खा है।[1] उक्त दोनों पूर्वपक्षों में से कोई पूर्वापरसंगत प्रतीत नहीं होता। आगे समन्वय करने में सूत्रकार की यह दृष्टि रही है कि अमुक मीमांस्य श्रुति-प्रकरण में सांख्याभिमत प्रधान का नहीं, अपितु वेदान्ताभिमत ब्रह्म का प्रतिपादन है और तदनुसार प्रधानकारणवाद के श्रुतिप्रतिपाद्यत्व का ही निराकरण किया गया है, अतः यही उचित प्रतीत होता है कि सांख्य को पूर्वपक्ष में रखते हुए इस सूत्र का यह विषय माना जावे कि क्या पूर्वसूत्रों में प्रस्तुत ब्रह्म के जगत्कारणत्व में शास्त्रप्रामाण्य संभव है? वैसे भी पूर्वमीमांसा आम्नाय के द्वारा सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन का विरोध नहीं करती, केवल यह कहती है कि उक्त प्रतिपादन अर्थवाद हैं और विधि के अंग हैं, अतः कर्म ही

---

१. मध्वभाष्य, तत्वप्रकाशिका, सूत्र १।१।४।

प्रधान है और विद्या उसका अंग है ।[१] उक्त वाद का निराकरण सूत्रकार ने (सू० ३।४।१-२५) में विस्तार पूर्वक किया ही है । शिव या विष्णु आदि के प्रतिपाद्यत्व या भेद पर सूत्रकार की कोई दृष्टि नहीं रही है, अतः मध्व का यह पूर्वपक्ष कि विष्णु से अतिरिक्त अन्य कोई देव शास्त्रगम्य है, पूर्णतः सूत्र-प्रतिकूल प्रतीत होता है ॥४॥

सूत्र १।१।५-१२—किंचित् प्रकार-भेद से रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय यह है कि छान्दोग्योपनिषद् (६।१।३) में जिस 'सत्' को जगत्कारण बताया गया है, वह सांख्याभिमत प्रधान नहीं, अपितु उससे भिन्न वेदान्ताभिमत ब्रह्म है । इस प्रकार उक्त दोनों भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तुत सूत्रों में सूत्रकार ने सांख्याभिमत प्रधान का निराकरण करते हुए उक्त श्रुतिप्रकरण का ब्रह्मपरक समन्वय किया है । इसके विपरीत मध्व, वल्लभ और बलदेव इन सूत्रों में किंचित् प्रकार-भेद से ब्रह्म के अवाच्यत्व का निराकरण मानते हैं । सूत्र १।१।५ में प्रयुक्त 'अशब्दम्' शब्द से रामानुज और निम्बार्क ने किंचित् प्रकार-भेद से सांख्याभिमत प्रधान का निर्देश माना है, जो कि सूत्रकार के द्वारा सांख्याभिमत प्रधान को विलक्षण रीति से निर्दिष्ट करने की प्रकृति के अनुकूल है, क्योंकि उन्होंने उसे सांख्यवादियों द्वारा स्वीकृत प्रधान, प्रकृति आदि शब्दों से अभिहित न कर, अपनी इस मान्यता को प्रकट करने के लिए कि वह केवल स्मृतिप्रतिपादित है, श्रुतिप्रतिपादित नहीं, स्मार्त, आनुमान, आनुमानिक आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया हैं (सू० १।१।१६, २०; १।३।३; १।४।१; २।२।१), अतः उसे वे 'अश्रौत या 'अशब्द' भी कह सकते हैं, 'शब्द' को सूत्रकार ने 'श्रुति' के पर्यायरूप में प्रयुक्त किया है (सू० २।१।२६-२७; ३।३।३२ आदि) । दूसरे, उक्त अर्थ को लेने पर सू० १।१।५ के 'ईक्षतेः', इस हेतु की अपने मुख्यार्थ के साथ ही जितनी सरल, स्पष्ट और साक्षात् संगति प्रधान का निराकरण करते हुए उक्त श्रुति के ब्रह्मपरक समन्वय में हो जाती है, उतनी मध्व, वल्लभ और बलदेव के अनुसार 'अशब्दम्' का 'अवाच्य' या 'शब्दाप्रतिपाद्य' अर्थ करके 'ईक्षतेः' में भिन्न-भिन्न प्रकार से क्लिष्टार्थकल्पना करने पर भी नहीं होती । इसी प्रकार जैसा कि आगे स्पष्ट होगा,[२] अन्य सूत्रों तथा उनमें प्रयुक्त 'आत्मशब्द' 'मोक्षोपदेश', स्वाप्यय आदि शब्दों की उक्त श्रुति के समन्वय में स्पष्ट और सरल संगति होने से यही

१. पू० मी० सू० १।२।१-१८ आदि ।
२. 'श्रुति-वाक्य-समन्वय' शीर्षक अध्याय, सू० १।१।५-१२ ।

प्रतीत होता है कि रामानुज और निम्बार्क का उक्त सूत्रों में श्रुतिवाक्य-समन्वय मानना अधिक सूत्रानुकूल है ॥५॥

सूत्र १।१।१३—१।३।४४—सभी भाष्यकारों के अनुसार सू० १।१।१३ से लेकर प्रस्तुत अध्याय के तृतीय पाद की समाप्ति (सू० १।३।४४) तक के सूत्रों का विषय विभिन्न श्रुति-प्रकरणों का ब्रह्मपरक समन्वय है। उक्त सूत्रों में किन-किन श्रुति-प्रकरणों का समन्वय सूत्रकार ने प्रस्तुत किया है, इस पर विचार करने के लिये आगे तृतीय अध्याय सुरक्षित है।

सू० १।३।२३-२४ के द्वारा एक श्रुति-प्रकरण के समन्वय के प्रसंग से सू० १।३।२५-३९ में सूत्रकार ने सभी भाष्यकारों की सम्मति में इस विषय पर विचार किया है कि देवों और शूद्रों का ब्रह्मोपासना में अधिकार है या नहीं, इनमें सू० १।३।२५-३२ देवों के उपासनाधिकार और सू० १।३।३३-३९ शूद्रों के उपासनाधिकार के निरूपण से सम्बद्ध हैं। उक्त विषय का प्रतिपादन इन सूत्रों में मुख्यतः उद्दिष्ट नहीं, अपितु प्रासंगिक रूप से ही किया गया है। इस प्रकार सू० १।१।१३–१।३।३४ का प्रतिपाद्य-विषय सर्वसम्मति से विभिन्न श्रुतियों का ब्रह्मपरक समन्वय है ॥६॥

अध्याय १ पाद ४

सूत्र १।४।१-२२—मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सभी सूत्रों के द्वारा ऐसी श्रुतियों का समन्वय किया गया है, जिनमें सांख्य-प्रक्रिया के अनुसार तदभिमत प्रधान, पुरुष आदि तत्त्वों का प्रतिपादन प्रतीत होता है। इन सूत्रों के द्वारा सांख्य का निराकरण कर उक्त श्रुतियों के वास्तविक प्रतिपाद्य को व्यक्त किया गया है। मध्व ने सू० १।४।१-१३ में एक भिन्न ही प्रकार से श्रुतिवाक्यसमन्वय माना है और अवशिष्ट सूत्रों में निम्न दो विषयों को स्वीकृत किया है :—

१—सू० १।४।१४—अवान्तरकारण रूप से प्रतिपादित आकाश आदि शब्दों का वाच्य भी परमात्मा है।

२—सू० १।४।१५-२२—जब सब शब्द परमात्मावाचक हैं, तो उनका अन्यत्र व्यवहार कैसे होता है, इस विषय पर विचार।

मध्व द्वारा स्वीकृत उक्त दोनों विषयों की प्रस्तुत पाद के प्रारम्भ में प्रस्तुत विषय और सूत्रों से कोई संगति नहीं बैठती। इन विषयों का प्रतिपादन मानने के लिए मध्व को क्लिष्ट और नितान्त असम्बद्ध अर्थों की कल्पना

करनी पड़ी है, जबकि, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा,[1] अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय—श्रुतिवाक्य-समन्वय—अध्याय और पाद से संगत होने के साथ-साथ सूत्रों के द्वारा स्पष्टतया संगत रूप में प्रतिपादित होता है। सू० १।४।१ में जो यह शंका उपस्थित की गई है कि कुछ श्रुतियों में सांख्याभिमत तत्त्वों का प्रतिपादन है और जिसे अन्य भाष्यकारों के साथ मध्व ने भी माना है, उसका समाधान करने के लिए श्रुतियों का समन्वय करना ही अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है। उक्त सूत्रों में किन-किन श्रुतियों का समन्वय है, इस पर विचार आगे तृतीय अध्याय में किया गया है ॥१॥

सूत्र १।४। २३-२८—मध्व को छोड़कर सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्री में इस विषय का प्रतिपादन है कि ब्रह्म जगत् की प्रकृति अर्थात् उपादानकारण भी है, मध्व के अनुसार इनका विषय है कि प्रकृति आदि स्त्रीलिंग शब्द भी ब्रह्म के वाचक हैं। मध्व द्वारा स्वीकृत विषय में इन सूत्रों द्वारा प्रस्तुत 'प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' आदि हेतुओं की किंचिन्मात्र भी संगति नहीं बैठती, जबकि अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय में उक्त हेतु सरलता से साध्य का साधन करते हुए संगत हो जाते हैं। अपरंच, मध्व के अनुसार इन सूत्रों का विषय मानने पर यह समझ में नहीं आता कि जब उनके अनुसार पूर्वसूत्रों में यह प्रतिपादित हो चुका है कि सभी शब्दों का वाच्य ब्रह्म है, तो विशिष्ट रूप से केवल 'प्रकृति' और 'अभिध्या' आदि शब्दों का वाच्य ब्रह्म को बताने के लिए सूत्रकार को पाँच सूत्रों का उपयोग क्यों करना पड़ा, इन शब्दों में ऐसी क्या विशिष्ट बात थी!

ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य—ब्रह्म के उपादानकारणत्व से बचने के लिये सम्भवतः मध्व को पूर्वसूत्रों के व्याख्यान में अन्य भाष्यकारों से भिन्न पद्धति अपनानी पड़ी है कि सब शब्दों का वाच्य ब्रह्म है, अमुक शब्द का वाच्य ब्रह्म है, जिससे वे यहाँ सरलता से यह कह सकें कि 'प्रकृति' शब्द का भी वाच्य ब्रह्म है, किन्तु इसके लिए उन्हें पूर्वसूत्रों की भाँति इन सूत्रों के व्याख्यान में जो असंगत क्लिष्टार्थकल्पना करनी पड़ी है, वह किसी निष्पक्ष पाठक को सन्तोष नहीं दे सकती।

प्रस्तुत सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय के सम्बन्ध में उक्त मतभेद सूत्रकार के एक दार्शनिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में ही मतभेद उपस्थित कर देता है, जिस पर विचार करने का यहाँ उपयुक्त अवसर नहीं, यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि,

---

१. 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' शीर्षक अध्याय, सू० १।४।१-२२।

जैसा कि आगे स्पष्ट होगा,[1] मध्व की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही अधिक सूत्रानुकूल और पूर्वापरसंगत प्रतीत होता है ।।२।।

सूत्र १।४।२६—'सर्वे' शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थों का निर्देश मानते हुए भी सभी भाष्यकार उक्त सूत्र के द्वारा प्रस्तुत अध्याय और पाद के पूर्ववर्णित विषय का उपसंहार मानते हैं, जैसा कि इसकी स्थिति और स्वरूप से भी स्पष्ट प्रकट है ।।३।।

अध्याय २ पाद १

सूत्र २।१।१-२—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय इस आक्षेप का समाधान है कि प्रथम अर्थात् समन्वयाध्याय में प्रस्तुत प्रकार से श्रुतिवाक्यसमन्वय करने पर स्मृत्यनवकाश दोष आता है। मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त आक्षेप को सांख्य और मध्व शैवों की ओर से मानते हैं। श्रुतिवाक्यसमन्वय में शैवों का प्रसंग न होने, अपितु उसके विपरीत सांख्याभिमित प्रधान का पद-पद पर निराकरण होने के कारण उक्त आक्षेप का सांख्य की ओर से ही उठना अधिक युक्तिसंगत एवं सूत्रानुकूल प्रतीत होता है ।।१।।

सूत्र २।१।३—उक्त सूत्र में मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार सांख्य के समानतन्त्र योग की ओर से उठे हुए उक्त आक्षेप का अतिदेश से निराकरण मानते हैं। मध्व इसके द्वारा शैवों के योग का प्रत्याख्यान मानते हैं। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, शैवों का प्रसंग न होने के कारण, अन्य भाष्यकारों का पक्ष ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।।२।।

सूत्र २।१।४-१२—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सभी सूत्रों का विषय कार्यकारणवैलक्षण्य के कारण ब्रह्म के जगदुपादानकारणत्व के ऊपर सांख्य की ओर से किए हुए आक्षेप का निराकरण है। वल्लभ सू० ४–६ में तो उक्त विषय का प्रतिपादन मानते ही हैं, साथ ही सू० ७ से अर्थभेद और अधिकरणभेद करते हुए भी अन्य सूत्रों का सम्बन्ध उक्त विषय से विच्छिन्न नहीं कर पाते। बलदेव भी इसी विषय का प्रतिपादन सू० ६-१२ में मानते हैं, किन्तु सू० ४–५ को एक भिन्न विषय—वेदप्रामाण्य—का प्रतिपादक मानते हैं, किन्तु उन्होंने अन्य भाष्यकारों की तरह सू० ६ के द्वारा निराकरणीय जिस

---

१. **'ब्रह्मसूत्रों के दार्शनिक सिद्धान्त' शीर्षक अध्याय (ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व)।**

पूर्वपक्ष को अवतरणिका में स्थापित किया है, वह सू० ४–५ में स्पष्टतः वाच्य है, जो सिद्ध करता है कि उक्त दोनों सूत्र उन्हें भी अन्य भाष्यकारों की तरह उक्त विषय से सम्बद्ध मानने चाहिए, दूसरे, वेदप्रामाण्य के प्रतिपादन का न यहाँ कोई प्रसंग है और न सूत्र ४–५ उसमें संगत होते हैं। इस प्रकार उक्त चारों भाष्यकारों का कम से कम इस सम्बन्ध में एकमत्य है कि यहाँ सूत्रकार ने उक्त आक्षेप का निराकरण किया है, किन्तु साथ ही सूत्रों की परस्परसंगति से यह भी स्पष्ट है कि ये सभी सूत्र उक्त एक ही विषय से सम्बद्ध हैं, जैसा कि रामानुज और निम्बार्क ने माना भी है।

मध्व ब्रह्म के जगदुपादानत्व को मानते नहीं, अतः स्वभावतः उनके अनुसार सूत्रों में उक्त आक्षेप और उसके निराकरण का प्रश्न नहीं उठ सकता, किन्तु तीन अधिकरणों में विभक्त कर जो विषय उन्होंने उक्त सूत्रों में माने हैं, उनका सूत्रों से किंचिन्मात्र भी समर्थन नहीं होता और न वे प्रसंग-प्राप्त हैं ॥३॥

सूत्र २।१।१३—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र में पूर्वातिदेश से अन्य आक्षेपक मतों का भी सामान्यतः प्रत्याख्यान है ॥४॥

सूत्र २।१।१४—'भोक्त्रापत्तेः', इस शब्द में अर्थभेद करते हुए भी मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्र के द्वारा इस आक्षेप का निराकरण मानते हैं कि ब्रह्म को उपादानकारण मानने पर जगत् के तत्त्वों का परस्पर-विभाग या अन्तर नहीं रहेगा। मध्व के अनुसार इस सूत्र में इस आक्षेप का निराकरण है कि मोक्षावस्था में श्रुतियाँ जीव का ब्रह्म के साथ ऐक्य बताती हैं, अतः इन दोनों में विभाग या अन्तर नहीं है। मध्य के द्वारा स्वीकृत विषय की अप्रसंगिकता स्पष्ट है, इसका उपयुक्त स्थान यहाँ नहीं, अपितु मोक्ष-निरूपणपरक चतुर्थ अध्याय में ही हो सकता है। दूसरी ओर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय पूर्वापर-प्रसंग के पूर्णतया अनुकूल है ॥५॥

सूत्र २।१।१५–२०—मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय कारण (ब्रह्म) और कार्य (जगत्) के सम्बन्ध-प्रतिपादन के द्वारा असत्कार्यवाद का निराकरण है। इसके विपरीत मध्व ने इन सूत्रों में इस विषय का प्रतिपादन माना है कि ब्रह्म अन्यसाधननिरपेक्ष होकर केवल अपनी निजी सामर्थ्य से सृष्टि करता है। भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत उक्त विषय-भेद सू० २।१।१५ के 'तदनन्यत्वम्' शब्द के अर्थभेद पर आश्रित है। मध्व ने उक्त शब्द से जो भाव ग्रहण किया है, उसकी अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा गृहीत भाव अधिक सरल, प्रत्यक्ष एवं प्रसंगानुकूल है।

फिर भी यदि मध्व का ही भाव स्वीकार कर लिया जावे, तो उसमें 'आरम्भण-शब्दादिभ्यः' आदि हेतु संगत नहीं होते, जब कि अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत अर्थ के अनुसार सभी हेतुओं की संगति एक साध्य का साधन करते हुए सरलता से हो जाती है ॥६॥

सूत्र २।१।२१-२३—मध्व और बलदेव को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में इस आक्षेप का निराकरण है कि ब्रह्म को ही जड़जीवात्मक जगत् का उपादानकारण मानने पर उसे ही जीव-भाव से स्थित मानना होगा और इस प्रकार उसमें स्वहिताकरण और अहितकरण ये दोष लगेंगे। मध्व और बलदेव ने इनका विषय सूत्रकार की ओर से जीवकर्तृत्ववाद पर आक्षेप माना है; किन्तु प्रतिपक्षी सिद्धान्तों पर सूत्रकार के द्वारा आक्षेप करना तर्कपाद अर्थात् अगले पाद (अ० २।२) का विषय है, यहाँ वह अप्रासंगिक है। प्रस्तुत पाद में सूत्रकार अपने सिद्धान्त पर प्रतिपक्षियों के द्वारा किए हुए आक्षेपों का निराकरण कर रहे हैं और तदनुसार मध्व और बलदेव द्वारा स्वीकृत विषय प्रस्तुत पाद के प्रतिपाद्य से संगत नही, साथ ही सूत्रों से भी उसका समर्थन नहीं होता। सू० २।१।२२ को अन्य भाष्यकारों की तरह मध्व और बलदेव भी सिद्धान्त-सूत्र मान कर उसका प्रतिपाद्य यही मानते हैं कि उसमें सूत्रकार अपने ब्रह्मकारणवाद पर किए हुए आक्षेप का निराकरण कर रहे हैं, किन्तु जब उक्त सूत्र के द्वारा निराकरणीय आक्षेप का स्थापन उसके पूर्वसूत्र (२।१।२१) में स्पष्टतः है, तो फिर उसे वहाँ क्यों न माना जावे। अन्य भाष्यकारों के अनुसार सू० २।१।२१ में सूत्रकार के सिद्धान्त पर प्रतिपक्ष की ओर से उक्त आक्षेप का स्थापन और सू० २।१।२२-२३ के द्वारा उसका निराकरण अधिक युक्तिसंगत, सूत्रानुकूल एवं प्रस्तुत पाद के प्रतिपाद्य-विषय के अनुकूल है ॥७॥

सूत्र २।१।२४-२५—मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य भाष्यकार उक्त सूत्रों का विषय ब्रह्मकारणवाद पर किए हुए इस आक्षेप का समाधान मानते हैं कि बाह्योपकरणरहित ब्रह्म जगद्रूप कार्य में कैसे परिणत हो सकता है। मध्व और बलदेव उक्त सूत्रों को अपने द्वारा स्वीकृत पूर्वसूत्रों के विषय से सम्बद्ध मानकर उनका विषय सूत्रकार की ओर से जीवकर्तृत्ववाद पर आक्षेप मानते हैं, जिसकी अप्रासंगिकता ऊपर निर्दिष्ट की जा चुकी है। अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही पूर्वापरप्रसंग और सूत्रों के अनुकूल है ॥८॥

सूत्र २।१।२६-२९—मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के

अनुसार उक्त सूत्रों में ब्रह्म के उपादानकारणत्व पर किए हुए इस आक्षेप का निराकरण है कि यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप में परिणत होता है, तो वह मूल रूप में न रह कर जगत् ही रह जावेगा और यदि किसी एक ही अंश से परिणत होता है तो उसके निरवयवत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का विरोध होगा। मध्व और बलदेव सू० २।१।२६ के द्वारा जीवकर्तृत्वाद पर सूत्रकार की ओर से आक्षेप मानते हैं और इस प्रकार वे अपने द्वारा सू० २।१।२१ से प्रस्तुत किए हुए विषय को यहाँ समाप्त करते हैं। फिर सू० २।१।२७ से पृथक् अधिकरण मानकर इस विषय का प्रस्तावन मानते हैं कि सू० २।१।२६ में जीवकर्तृत्ववाद पर किया हुआ आक्षेप ब्रह्मकारणवाद पर नहीं किया जा सकता, किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सू० २।१२७ में प्रयुक्त 'तु' शब्द स्पष्ट सूचित कर रहा है कि सूत्रकार किसी आक्षेप का निराकरण कर रहे हैं और वह आक्षेप सू० २।१।२६ में स्पष्टतः वाच्य है, तो उक्त दोनों सूत्रों का आक्षेपस्थापक और तन्निराकारक रूप में परस्पर-सम्बन्ध स्पष्ट है, इसे विच्छिन्न कर सू० २।१।२६ को सूत्रकार की ओर से प्रतिपक्षी सिद्धान्त पर आक्षेपपरक लगाना और फिर वैसे ही आक्षेप को ब्रह्मकारणवाद पर किया हुआ गम्यमान मान कर सू० २।१।२७ के द्वारा उसका निराकरण करना कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, साथ ही उक्त दोनों भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत आक्षेप का स्वरूप सूत्रानुकूल और पाद के प्रतिपाद्य से संगत नहीं। उक्त सूत्रों का अन्य भाष्यकारों द्वारा स्थापित सम्बन्ध अधिक युक्तियुक्त और उनके द्वारा स्वीकृत विषय अधिक सूत्रानुकूल और पूर्वापर-संगत प्रतीत होता है ॥६॥

सूत्र २।१।३०-३१—यद्यपि सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्रों का शब्दार्थ समान ही किया है, फिर भी रामानुज, निम्बार्क और मध्व ने इनको पूर्व-सूत्रों के विषय से सम्बद्ध माना हैं और वल्लभ और बलदेव ने उससे पृथक्। इनमें सू० २।१।३१ का विषय तो स्पष्ट ही पूर्वसूत्रों के विषय से भिन्न है, क्योंकि इसमें एक ऐसे आक्षेप का निराकरण किया है, जो एक कर्त्ता या निमित्तकारण के सम्बन्ध में उठ सकता है और पूर्वसूत्रों का आक्षेप उपादान-कारण के सम्बन्ध में है। इसी के आधार पर सू० २।१।३०, जो पूर्वसूत्रों से सम्बद्ध करने पर व्यर्थ या अधिक हो जाता है, सू० २।१।३१ से अधिक संगत रूप में सम्बद्ध प्रतीत होता है और इस प्रकार उक्त सूत्रों का वास्तविक प्रति-पाद्य ब्रह्म को जगत्कर्तृत्व के लिए अपेक्षित सभी साधनों से सम्पन्न बताकर उसके जगत्कर्तृत्व का समर्थन है।

सूत्र २।१।३२-३३—उक्त सूत्रों का विषय सभी भाष्यकारों के अनुसार ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व पर किए हुए इस आक्षेप का निराकरण है कि जगत् की सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन सिद्ध होता हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह आप्तकाम है और इसलिए वह जगत्कर्ता नहीं माना जा सकता ।।११।।

सूत्र २।१।३४-३५—उक्त सूत्रों का सर्वसम्मत विषय इस आक्षेप का निराकरण है कि विषम और दुःखपूर्ण जगत् का कर्त्ता ब्रह्म को मानने से उस पर वैषम्य और निर्दयत्व दोषों का आरोपण होगा। अन्य भाष्यकारों के साथ उक्त विषय को मानते हुए बलदेव ने सू० २।१।३५ के 'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च', इतने अंश से यह एक विशेष विषय और निकाला है कि भक्त-पक्षपातरूप वैषम्य तो ब्रह्म में उपपन्न है, किन्तु यह उनकी भक्तिभावना से उद्भूत कल्पना है, सूत्र का इस विषय से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता ।।१२।।

सूत्र २।१।३६—उक्त सूत्र पाद का उपसंहार-सूत्र है। किंचिद् भेद से सभी भाष्यकारों के अनुसार इसका प्रतिपाद्य-विषय ब्रह्म में सब धर्मों की उपपत्ति का प्रतिपादन है, जो सूत्राक्षरों से भी स्पष्ट प्रकट है ।।१३।।

अध्याय २ पाद २

सूत्र २।२।२-९—मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में सांख्यमत का निराकरण है, मध्व उक्त सूत्रों में पाँच मतों का निराकरण मानते हैं, जो क्रमशः निम्न प्रकार से हैं :—

१—अचेतनप्रवृत्तिमत या निरीश्वर सांख्य का निराकरण।

२—सेश्वर सांख्यमत का निराकरण।

३—लोकायतसिद्धान्त का निराकरण।

४—पुरुषोपसर्जनप्रकृतिकर्तृत्ववाद का निराकरण।

५—प्रकृत्युपसर्जनकर्तृत्ववाद का निराकरण।

सूत्र २।२।१ के द्वारा सांख्यमत का निराकरण प्रस्तुत किया गया है, इसे अन्य सभी भाष्यकारों के साथ मध्व भी मानते है और स्वयं सूत्र से भी स्पष्ट प्रकट है। सूत्र २।२।९ में पूर्वसूत्रों में निराकृत मत की सामान्यनिन्दा करते हुए उसी प्रकार पूर्वसूत्रों के विषय का उपसंहार किया गया है, जिस प्रकार आगे सूत्र २।२।१६ में किया है और इसलिए जिस प्रकार सूत्र २।२।१०–१६ सभी भाष्यकारों के अनुसार एक ही मत के निराकरण से

सम्बद्ध माने जाते हैं, उसी प्रकार सूत्र २।२।१–६ को एक मत के निराकरण से सम्बद्ध मानना प्रस्तुत पाद में सूत्रकार द्वारा अपनाई हुई विशिष्ट सूत्र-रचना-शैली के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है। सूत्राक्षरों पर ध्यान देने से भी उक्त सूत्रों में एक से अधिक मतों का निराकरण प्रतीत नहीं होता, सब सूत्र एक ही मत—सांख्य—के निराकरण में परस्पर-सम्बद्ध रूप से संगत हैं। मध्व द्वारा स्वीकृत अन्य विषयों का प्रतिपादन सूत्रों से समर्थित नहीं होता। इस प्रकार सभी दृष्टियों से अन्य भाष्यकारों द्वारा उक्त सभी सूत्रों में एकमात्र सांख्यमत का निराकरण मानना ही उचित प्रतीत होता है ॥१॥

सूत्र २।२।१०-१६—सर्वसम्मति से उक्त सूत्रों का विषय परमाणु-कारणवाद या वैशेषिकमत का निराकरण है ॥२॥

सूत्र २।२। १७-३०—सर्वसम्मति से उक्त सूत्रों का विषय बौद्धमत का निराकरण है। सभी भाष्यकारों ने इनमें बौद्धमत की एक से अधिक शाखाओं का निराकरण माना है, किन्तु किन सूत्रों में किस शाखा का निराकरण है, इस सम्बन्ध में उन्होंने मतभेद उपस्थित किया है, जिस पर विस्तार से विचार यथास्थान किया जा सकेगा।[1] यहाँ इतने से ही संतोष किया जा सकता है कि किसी भाष्यकार को यह मानने में विप्रतिपत्ति नहीं है कि उक्त सभी सूत्रों में बौद्धमत का निराकरण है और सू० २।१।१६ में सामान्यनिन्दा के द्वारा एक मत के निराकरण का उपसंहार करके सूत्रकार ने सू० २।२।१७ के द्वारा उससे भिन्न बौद्धमत के निराकरण को प्रस्तुत कर सू० २।२।३० में सामान्यनिन्दा करते हुए उसका जो उपसंहार किया है, उससे भी इसकी पुष्टि होती है कि सू० २।२।१७–३० एक ही मत—बौद्धमत—के निराकरण से सम्बद्ध हैं ॥३॥

सूत्र २।२।३१-३४—सर्वसम्मति से उक्त सूत्रों का विषय जैनमत का निराकरण है ॥४॥

सूत्र २।५।३२-३८—वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय पाशुपतमत का निराकरण है। वल्लभ ने इन सूत्रों को सामान्यतः तार्किकादिमत के निराकरण से सम्बद्ध माना है, किन्तु इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उक्त दोनों प्रकारों से ही आनुमानि-

---

१. 'परमत–निराकरण' शीर्षक अध्याय, बौद्धमत–निराकरण, सूत्र २।२।१७–३०।

केश्वरवाद का निराकरण हो जाता है; किन्तु यतः तर्कपाद में सूत्रकार की दृष्टि विशिष्ट मतों के निराकरण पर रही है और सू० २।२।३५ के 'पत्युः' शब्द से 'पशुपति' का विशिष्ट निर्देश प्राप्त होता है, अतः वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में पाशुपतमत का निराकरण मानना अधिक उचित प्रतीत होता है ।।५।।

सूत्र २।२।३६-४२—रामानुज के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय पांचरात्रमत के ऊपर सम्भावित आक्षेपों का निराकरण करके उसके प्रामाण्य का समर्थन है । वल्लभ इन सूत्रों में तर्कपाद में निराकृत अन्य मतों की तरह पांचरात्रमत का भी निराकरण मानते है । इसके विपरीत मध्व, निम्बार्क और बलदेव इन में शाक्तमत का निराकरण मानते हैं । यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि इन सूत्रों में वस्तुतः किस मत का निर्देश है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि इनमें किसी भी मत का निर्देश हो, उसका मण्डन या समर्थन मानना न तो सूत्रानुकूल है और न पाद के विषय से संगत । प्रस्तुत पाद में सूत्रकार ने प्रतिपक्षी मतों का निराकरण ही किया है, तो केवल उक्त सूत्रों में ही किसी मत का समर्थन करने के लिए वे प्रवृत्त हुए होंगे, यह समझ में नहीं आता ! दूसरे जिस प्रकार सू० २।२।९,१६,३० में उन्होंने निराकृत मतों की सामान्यनिन्दा करते हुए उनके निराकरण का उपसंहार किया है, उसी प्रकार उन्होंने सू० २।२।४२ में सामान्यनिन्दा के द्वारा उपसंहार किया है, जिससे यही प्रतीत होता है कि वे पूर्वसूत्रों (२।२।३६–४१) में किसी मत का निराकरण कर चुके हैं । सू० २।२।९ में उन्होंने जिस हेतु (विप्रतिषेधाच्च) के द्वारा तत्पूर्वसूत्रों में निराकृत मत का असामंजस्य बतलाया है, उसी हेतु का उन्होंने सू० २।२।४२ में प्रयोग किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे यहाँ भी निराकृत मत का असामंजस्य बतला कर उसकी सामान्यतः निन्दा कर रहे हैं । रामानुज ने इस सूत्र का जो अर्थ किया है, वह यथाकथंचित् तभी सम्भव हो सकता था, जब उक्त सूत्र का पाठ 'विप्रतिषेधाच्च' न होकर 'प्रतिषेधाच्च' होता । इस प्रकार उक्त सूत्रों में किसी मत का निराकरण मानना ही सूत्रसम्मत प्रतीत होता है । इन सूत्रों में किस मत का निराकरण है, इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार आगे के लिए सुरक्षित रख कर[1] संक्षेप में यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि मध्व, निम्बार्क और बलदेव इन सूत्रों में शाक्तमत का निराकरण मानते हुए भी इस मत के किसी विशिष्ट सिद्धान्त का सूत्रों के द्वारा निर्देश

---

१. 'परमत-निराकरण' शीर्षक अध्याय, सूत्र २।२।३६–४२ ।

प्रदर्शित नहीं कर सके हैं, जबकि जैसा कि आगे स्पष्ट होगा,[1] पांचरात्रमत के सिद्धान्तों का निर्देश सूत्रों में प्रतीत होता है और उस निर्देश के साथ सूत्र संगत भी हो जाते हैं और इस प्रकार रामानुज और वल्लभ का ही यह पक्ष अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि उक्त सूत्रों में पांचरात्रमत का निर्देश है, साथ ही, जैसा कि अभी पूर्व में कहा जा चुका है, रामानुज की अपेक्षा वल्लभ का यह पक्ष सूत्रों और प्रस्तुत पाद से अधिक संगत प्रतीत होता है कि उक्त सूत्रों में पांचरात्रमत का समर्थन नहीं, अपितु अन्य निराकृत मतों के समान इसका भी निराकरण ही है ।।६।।

अध्याय २ पाद ३

सूत्र २।३।१–७—उक्त सूत्रों का विषय सभी भाष्यकारों के अनुसार आकाश की उत्पत्ति पर विचार है ।।१।।

सूत्र २।३।८—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र का विषय वायु की उत्पत्ति पर विचार है ।।२।।

सूत्र २।३।९—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र का विषय आकाश और वायु की उत्पत्ति के प्रतिपादन के प्रसंग से आक्षिप्त सत् अर्थात् जगत्कारण ब्रह्म की उत्पत्ति का निराकरण है ।।३।।

सूत्र २।३।१०—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र का विषय अग्नि की उत्पत्ति का प्रतिपादन है ।।४।।

सूत्र २।३।११—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र का विषय जल की उत्पत्ति का प्रतिपादन है ।।५।।

सूत्र ३।३।१२–१३—सर्वसम्मति से उक्त सूत्रों का विषय पृथ्वी की उत्पत्ति का प्रतिपादन है ।।६।।

सूत्र २।३।१४–१७—रामानुज और बलदेव उक्त सभी सूत्रों के द्वारा इस विषय पर विचार मानते हैं कि सभी तत्त्वों की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है या अपने-अपने पूर्ववर्ती तत्त्व से । निम्बार्क और वल्लभ उक्त विषय का प्रतिपादन सू० २।३।१४ तक ही सीमित रख कर अवशिष्ट सूत्रों में अन्य विषयों का प्रतिपादन मानते हैं । मध्व सू० १४ में विष्णु ही संहारकर्त्ता हैं, इस विषय का प्रतिपादन मान कर अवशिष्ट सूत्रों में अन्य विषयों का प्रतिपादन मानते हैं । सू० १४ का मध्व द्वारा स्वीकृत अर्थ सूत्राक्षरानुकूल

---

१. **'परमत-निराकरण' शीर्षक अध्याय, सूत्र २।२।३९–४२ ।**

प्रतीत नहीं होता, इन्हें छोड़ कर अन्य चारों भाष्यकार सू० २।३।१४ में ऐकमत्य से जिस उक्त विषय का प्रतिपादन मानते हैं, वह सूत्र और प्रसंग के अनुकूल हैं। अवशिष्ट सूत्र भी जितनी सरलता और प्रसंगानुकूलता के साथ पूर्वापरसम्बन्ध के निर्वाह और अपने में निहित उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उक्त विषय में संगत होते हैं, उतने अन्य विषयों में नहीं और इसलिए रामानुज और बलदेव का उक्त सभी सूत्रों को उक्त एक ही विषय—सभी तत्त्वों की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है या अपने-अपने पूर्ववर्ती तत्त्व से—सम्बद्ध मानना उचित प्रतीत होता है ।।७।।

सूत्र २।३।१८—मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र का विषय जीवात्मा की उत्पत्ति का निषेध कर उसके नित्यत्व का प्रतिपादन है। मध्व इसके विपरीत इस सूत्र में परमात्मा के लयाभाव के प्रतिपादन के द्वारा नित्यत्व का प्रतिपादन मानते हैं, जो कि यहाँ पूर्णतः असंगत है। दूसरे आकाश की उत्पत्ति के प्रतिपादन के प्रसंग में 'सत्' के अनुत्पन्नत्व का प्रतिपादन सू० २।३।९ में हो ही चुका है, जिससे उसके लयाभाव का प्रतिपादन स्वतः हो जाता है। अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही उक्त सूत्र और पूर्वापर-प्रसंग के अनुकूल प्रतीत होता है ।।८।।

सूत्र २।३।१९-३२—मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार किंचित् अर्थभेद और अधिकरणभेद के साथ उक्त सभी सूत्रों का विषय जीव के तत्त्वगत (ज्ञानानन्दादि) और परिमाणगत (अणुत्वविभुत्वादि) स्वरूप का निरूपण है। मध्व ने सूत्र २।३।१९ का विषय परमात्मा से जीव की उत्पत्ति का प्रतिपादन, सूत्र २।३।२०–२६ तक का विषय जीव के परिमाण का निरूपण, सूत्र २।३।२७ में जीव एक रूप है या अनेक रूप, इस विषय का प्रतिपादन, सूत्र २।३।२८–२९ में परमात्मा से जीव के भिन्नत्व, सूत्र २।३।३० में जीव के नित्यत्व और सूत्र २।३।३१–३२ में उसके तत्त्वगत (ज्ञानानन्दादि) स्वरूप का निरूपण माना है। सूत्र २।३।१९ का मध्व द्वारा स्वीकृत विषय स्पष्टतः उन्हीं के द्वारा स्वीकृत सूत्र २।३।३० के विषय से विरुद्ध है। वस्तुतः जीव की उत्पत्ति का निषेध कर उसके नित्यत्व का प्रतिपादन सूत्र २।३।१८ का विषय है, जैसा कि अन्य भाष्यकारों ने माना है। सूत्र २।३।२७, २८, २९ में मध्व द्वारा स्वीकृत विषयों का सूत्रों से समर्थन होता हुआ प्रतीत नहीं होता, अन्य सूत्रों के विषय के सम्बन्ध में वे भी अन्य भाष्यकारों के साथ है। वस्तुतः उक्त सभी सूत्र जीव के स्वरूप-निरूपण से सम्बद्ध हैं और उनमें उसके दोनों—तत्त्वगत और परिमाणगत—स्वरूपों का निरूपण परस्पर

अविच्छेद्य रूप से किया गया है, अतः उक्त सभी सूत्रों का एक अधिकरण और उसमें उक्त एक ही विषय का निरूपण मानना अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है ॥९॥

सूत्र २।३।३३-३९—उक्त सूत्रों का विषय सभी भाष्यकारों के अनुसार जीव के कर्त्तृत्व का प्रतिपादन है ॥१०॥

सूत्र २।३।४०-४१—उक्त सूत्रों में सभी भाष्यकारों के अनुसार इस विषय पर विचार किया गया है कि जीव का कर्त्तृत्व स्वाधीन है या परमात्माधीन ॥११॥

सूत्र २।३।४२–५२—मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने उक्त सभी सूत्रों में किंचित् अर्थभेद के साथ ब्रह्मांशत्व अर्थात् जीव और ब्रह्म के परस्पर-सम्बन्ध का निरूपण माना है, मध्व और बलदेव इनमें उक्त विषय को मानते हुए भी साथ में सूत्र २।३।४५–४९ में इस विषय का भी प्रासंगिक निरूपण मानते हैं कि जीव और मत्स्याद्यवतारों में ब्रह्म के अंशत्व की दृष्टि से क्या अन्तर है, किन्तु यह विषय न तो ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि के अन्तर्गत है और न सूत्रों द्वारा समर्थित। वस्तुतः यही उचित प्रतीत होता है कि उक्त सभी सूत्रों का एक ही विषय—जीव के ब्रह्मांशत्व का निरूपण—माना जावे जैसा कि अन्य भाष्यकारों ने माना है ॥१२॥

अध्याय २ पाद ४

सूत्र २।४।१–३—वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय इन्द्रियों की उत्पत्ति पर विचार है। वल्लभ इन सूत्रों के द्वारा सामान्यरूप से पूर्वपाद में प्रतिपादित जीवसम्बन्धी सभी धर्मों का अतिदेश इन्द्रियों में मानते हैं, किन्तु यतः इन्द्रियों के परिमाण आदि का पृथक् रूप से विचार आगे सूत्रों में किया गया है, जिसे वल्लभ भी मानते हैं, अतः उक्त सूत्रों में इन्द्रियों का केवल उत्पत्तिविषयक विचार मानना अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है ॥१॥

सूत्र २।३।४-५—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय इन्द्रियों की संख्या का निर्धारण है ॥२॥

सूत्र २।४।६—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र का विषय इन्द्रियों के परिमाण का निरूपण है ॥३॥

सूत्र २।४।७—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र का विषय प्राण की उत्पत्ति पर विचार है ॥४॥

सूत्र २।४।८-१०––सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय प्राण के स्वरूप का निरूपण है ।।५।।

सूत्र २।४।११––उक्त सूत्र में सभी भाष्यकारों के अनुसार प्राण के संख्या-भेद पर विचार है ।।६।।

सूत्र २।४।१२—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र का विषय प्राण के परिमाण का निरूपण है ।।७।।

सूत्र २।४।१३-१४—किंचिद् रूपभिन्नता के साथ सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्रों के द्वारा प्राणसहित इन्द्रियों के अधिष्ठान के विषय में विचार माना है ।।८।।

सूत्र २।४।१५-१६––सर्वसम्मति से उक्त सूत्रों में इस विषय पर विचार किया गया है कि मुख्य प्राण भी अन्य प्राण या इन्द्रियों के समान इन्द्रिय है या नहीं ।।९।।

सूत्र २।४।१७-१९—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में इस विषय का निरूपण है कि क्या नामरूप की सृष्टि करने वाला भी वही है, जो भूतों को त्रिवृत् करता है अर्थात् समष्टि-सृष्टि के समान व्यष्टि-सृष्टि का करने वाला भी ब्रह्म है या अन्य कोई। अन्य भाष्यकार उक्त विषय को स्वीकार करते हुए भी उसे सू० २।४।१७ तक ही सीमित रखने के पक्ष में हैं। वे अवशिष्ट सू० २।४।१८-१९ में पृथक् अधिकरण की कल्पना करते हैं, किन्तु ऐसा करने पर भी वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय में रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय से कोई उल्लेखनीय अन्तर प्रतीत नहीं होता है, वल्लभ उक्त सूत्रों में इस विषय पर भी विचार करते हैं कि मन, वाणी, और प्राण भौतिक हैं या तत्त्वान्तर, किन्तु वल्लभ के उक्त विषय का सूत्रों में कोई निर्देश नहीं है, इनमें 'मांसादि' शब्द के द्वारा शरीर के ही उपादानभूत मांस, अस्थि आदि पदार्थों का स्पष्ट संकेत प्रतीत होता है, जैसा कि अन्य भाष्यकारों ने माना है, और यतः उक्त पदार्थों का विचार सू० २।४।१७ के 'मूर्ति' और 'त्रिवृत्' से सम्बद्ध है, अतः उक्त सभी सूत्रों का एक ही अधिकरण और विषय सूत्रानुकूल प्रतीत होता है, जैसा कि रामानुज और निम्बार्क ने माना है ।।१०।।

अध्याय ३ पाद १

सूत्र ३।१।१-७—सभी भाष्वकार अर्थ और प्रसंगसम्बन्धी किंचित् मतभेद के साथ उक्त सूत्रों में इस विषय का निरूपण मानते हैं कि मरणोपरान्त

पितृयाण मार्ग के द्वारा चन्द्रलोक को गमन करने वाले इष्टापूर्तकारी अर्थात् पुण्यकृत् जीव शरीरान्तर के आरम्भक सूक्ष्मशरीर या भूत-सूक्ष्मों से युक्त जाते हैं या उनसे विरहित ॥१॥

सूत्र ३।१।८-११—किंचित् अर्थभेद के साथ सभी भाष्यकार उक्त सूत्रों में इस विषय का निरूपण स्वीकार करते हैं कि पुण्यात्मा जीव चन्द्रलोक में सुकृत-फल भोगने के बाद कर्मावशेष के साथ लौटते हैं या सम्पूर्ण कर्मों को निरवशेष रूप से वहीं समाप्त कर आते हैं ॥२॥

सूत्र ३।१।१२-२१—रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में इस विषय पर विचार किया गया है पापकृत् जीव भी चन्द्रलोक को जाते हैं या नहीं, वल्लभ किंचित् भेद के साथ इस विषय को सू० ३।१।२० तक ही सीमित रखने के पक्ष में हैं। मध्व उक्त सूत्रों में से कुछ में प्रकार-भेद से उक्त विषय का संकेत देते हुए साथ-साथ अन्य विषयों का प्रतिपादन भी मानते हैं, किन्तु उनके द्वारा स्वीकृत सूत्र-योजना का प्रकार सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः मध्व और वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत प्रकार से उक्त विषय का प्रतिपादन प्रसंग और सूत्रों के अधिक अनुकूल है ॥३॥

सूत्र ३।१।२२—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा इस विषय पर विचार किया गया है कि चन्द्रलोक से इस लोक के लिए अवरोहण करते हुए जीव की जो आकाश-वायु-धूमादि-भाव की प्राप्ति श्रुति में प्रतिपादित की गई है, उसके अनुसार जीव देवमनुष्यादिभाव के समान आकाशादिभाव को प्राप्त करता है या केवल समानरूपता आदि किसी दूसरे ही प्रकार से उक्त भावापत्ति होती है ॥४॥

सूत्र ३।१।२३—किंचित् प्रकार-भेद से सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा इस विषय का निरूपण किया गया है कि चन्द्रलोक से लौटने वाले जीव की उक्त आकाशादिभावापत्ति चिरकाल तक रहती या केवल कुछ काल तक ही ॥५॥

सूत्र ३।१।२४-२७—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में इस विषय का निर्णय किया गया है कि चन्द्रलोक से लौटने वाला जीव व्रीहि, यव आदि जिन रूपों में होकर आता है, वे अन्य जीवों के द्वारा स्वकर्म-फल-भोग के लिए अधिष्ठित हैं या लौटने वाले जीव के ही कर्म-फल-भोग के लिए उसे दिए जाते हैं। मध्व और वल्लभ किंचित् प्रकार–भेद से उक्त विषय को सू० ३।१।२५ तक सीमित मानते हैं,

किन्तु ऐसा करने पर सू० ३।१।२६-२७ का कोई अपूर्व प्रतिपाद्य नहीं रहता, जब कि उक्त सूत्रों को सू० ३।१।२४-२५ के विषय के साथ सम्बद्ध करने से उनकी सोद्देश्यता सुरक्षित रहती है और इस प्रकार यही उचित प्रतीत होता है कि उक्त सभी सूत्रों को उक्त एक ही विषय से सम्बद्ध माना जावे, जैसा कि रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने माना है ॥६॥

अध्याय ३ पाद २

सूत्र ३।२।१-६––मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सभी सूत्रों का विषय जीव की स्वप्नदशा का निरूपण है। मध्व और बलदेव उक्त विषय को सू० ३।२।५ तक ही सीमित रखते हैं, और सू० ३।२।६ को जागरणदशा से सम्बद्ध करते हैं, जो कि सूत्राक्षरों से समर्थित होता हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उक्त सूत्र के 'वा' और 'सोऽपि' शब्द स्पष्टतः इसे पूर्वसूत्रों से सम्बद्ध करने के अधिक अनुकूल हैं ॥१॥

सूत्र ३।२।७-८––मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकार उक्त दोनों सूत्रों का विषय जीव की सुषुप्तिदशा का निरूपण मानते हैं। मध्व और वल्लभ उक्त विषय को केवल सूत्र ३।२।७ में सीमित रखने के पक्ष में हैं, किन्तु सूत्र ३।२।८ का हेत्वर्थक 'अतः' इसे पूर्वसूत्र के विषय से स्पष्टतः सम्बद्ध कर रहा है और इस प्रकार अन्य भाष्यकारों का पक्ष ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है ॥२॥

सूत्र ३।२।९––मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र में इस विषय का निरूपण है कि जो जीव सोता है, वही उठता है या दूसरा। मध्व इस विषय का निरूपण मानते हैं कि सभी जीवों का स्वनादि-कर्त्ता ईश्वर है या केवल कुछ जीवों का, किन्तु इस विषय का सूत्र से समर्थन नहीं होता और न कोई औचित्य प्रतीत होता है, जब कि अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय का सूत्र में स्पष्ट प्रतिपादन प्रतीत हो रहा है ॥३॥

सूत्र ३।२।१०—वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्र में मूर्च्छा या मोहावस्था का निरूपण मानते हैं, वल्लभ इसे पूर्वसूत्र में निरूपित जागरणदशा से सम्बद्ध करते हैं, जो कि सूत्र के पूर्णतया प्रतिकूल है। सूत्र के 'मुग्धे' शब्द से अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय का स्पष्टतः समर्थन हो रहा है ॥४॥

सूत्र ३।२।११-२९—सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्रों को एक से अधिक अधिकरणों में विभक्त किया है। रामानुज ने इन्हें दो अधिकरणों में विभक्त

कर उनमें क्रमशः (१) ब्रह्म में जीव की विविध अवस्थाओं के दोष आते हैं या नहीं, यह निर्णीत करने के उद्देश्य से उसके उभयलिंगत्व—निर्दोषत्व और समस्तकल्याणगुणात्मकत्व—का प्रतिपादन एवं (२) अचिद् या जड़वस्तु के ब्रह्मरूपत्वप्रकार का प्रतिपादन, ये दो विषय माने हैं। निम्बार्क ने भी इन्हें दो अधिकरणों में विभक्त कर इनमें किंचिद् भेद से इन्हीं विषयों का प्रतिपादन माना है। वल्लभ ने उक्त सूत्रों को छः अधिकरणों में विभक्त करते हुए भी उन सब का विषय ब्रह्म में प्रतीत होने वाले जड़ और जीव के धर्मों के विरोध के परिहार के उद्देश्य से उसके उभयलिंगत्व—परस्परविरुद्धधर्माश्रयत्व—का प्रतिपादन माना है। इस प्रकार उक्त तीनों भाष्यकारों के अनुसार उक्त सभी सूत्रों का विषय किसी न किसी रूप में जड़ और जीव के सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है। मध्व ने उक्त सूत्रों को आठ अधिकरणों में विभक्त कर उनमें क्रमशः (१) स्थानापेक्षया परमात्मा भिन्न है या अभिन्न, (२) ब्रह्म का रूप, (३) जीव-ब्रह्म-भेद, (४) भक्ति की उपयोगिता, (५) भक्ति, ज्ञान आदि का वृद्धिह्रासभाक्त्व, (६) ब्रह्म का जगत्पालकत्व, (७) ब्रह्मसाक्षात्कार का उपाय, (८) ब्रह्म का आनन्दादि-गुणयुक्तत्व, ये विषय माने हैं। बलदेव ने उक्त सूत्रों को छः अधिकरणों में विभक्त किया है, जिनके विषय मध्व द्वारा स्वीकृत ऊपर दिए हुए १, २, ३, ७, ८ संख्या वाले पांच विषयों में ही किंचिद् भेद से समाविष्ट हो जाते हैं, जिनमें से कई विषयों का पूर्वापर-प्रसंग और सूत्रों से किंचिन्मात्र भी समर्थन नहीं होता।

अस्तु ! उक्त प्रकार से यद्यपि उक्त सूत्रों के अधिकरण-विभाजन और प्रतिपाद्य-विषय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है, तथापि इतना स्पष्ट है कि सभी भाष्यकार उक्त सूत्रों में से सब में या कुछ में किसी न किसी रूप में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण मानते हैं और मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य भाष्यकार उक्त सभी सूत्रों में उक्त विषय को प्रकार-भेद से स्पष्टतः स्वीकार करते हैं, साथ ही मध्व तथा बलदेव भी इनमें से कुछ न कुछ सूत्रों में उक्त विषय को मानते हैं, जैसा कि मध्व द्वारा स्वीकृत उक्त विषयों से स्पष्ट होता है, किन्तु उक्त सभी सूत्र एक ही विषय—ब्रह्मस्वरूप—निरूपण—से सम्बद्ध हैं और इसलिए उनमें अधिकरण भेद और विषयान्तर की कल्पना करना उचित नहीं, जैसा कि थोड़ा बहुत सभी भाष्यकारों ने की है। यद्यपि यहाँ भाष्यकारों ने उक्त विषय के निरूपण के विभिन्न प्रसंग माने हैं, किन्तु सू० ३।२। ११ से उसका प्रसंग यही प्रतीत होता है कि पूर्ववर्णित विविध जन्म, मरण, जाग्रत्,

स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के भेद से जिस प्रकार जीव में अनेक दोष आजाते हैं, उसी प्रकार वे जड़जीवात्मक जगत् में अन्तर्यामी रूप से रहने वाले ब्रह्म में भी आते हैं या नहीं, अर्थात् ब्रह्म विश्वरूप रहते हुए विश्वातीत बना रहता है या नहीं ॥५॥

सूत्र ३।२।३०-३६—मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त सभी सूत्रों का विषय इस तथ्य का निर्णय करना है कि ब्रह्म से भी कोई परतर तत्त्व है या नहीं, मध्व इन सूत्रों में चार विषय मानते हैं, जिसका समर्थन सूत्रों से नहीं होता। बलदेव केवल सू० ३।२।३५ में ही उक्त विषय को मानने के पक्ष में हैं, अन्य सूत्रों में वे विभिन्न विषयों का प्रतिपादन मानते हैं, किन्तु सूत्रों से पूर्णतया स्पष्ट है कि उक्त सभी सूत्रों का केवल उक्त एक ही विषय—ब्रह्म के परात्परत्व या सर्वपरत्व का निर्णय—है, जैसा कि मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने माना है ॥६॥

सूत्र ३।२।३७-४०—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय किंचिद् भेद से ब्रह्म के फलप्रदत्व का प्रतिपादन है ॥७॥

अध्याय ३ पाद ३

सूत्र ३।३।१-४—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्रों के द्वारा इस विषय का निर्णय किया गया है कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो समान विद्याएँ पठित हैं, वे प्रकरणभेद आदि की दृष्टि से परस्पर-भिन्न हैं या सर्वशाखाप्रत्यय न्याय से एक हैं। मध्व और बलदेव ने उक्त विषय को इस रूप से माना है कि अपनी शाखा के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए या वेदों की सभी शाखाओं के अध्ययन से। वल्लभ ने उक्त विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि सभी वेदान्त-वाक्यों से एक ही ब्रह्म का बोध होता है या अनेक का। मध्व, वल्लभ और बलदेव ने जिस रूप से विषय को यहाँ प्रस्तुत किया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सूत्रकार समन्वयाध्याय में सभी शाखाओं के वेदान्त-वाक्यों के ब्रह्मपरक समन्वय के द्वारा उक्त विषय को उस रूप में सिद्ध कर चुके हैं और अब उस प्रकार के संशय की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। उसके विपरीत सू० ३।३।१ के 'चोदनाद्यविशेषात्' हेतु से यही प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मीमांसासूत्रों में सर्वशाखाप्रत्यय न्याय से चोदना, संयोग, रूप, आख्या आदि के आधार पर कर्मैक्य या कर्मभेद का निर्णय किया गया है,[1] उसी प्रकार उक्त सूत्रों के आधार पर सर्ववेदान्त-

---

१. पूर्वमीमांसा—सूत्र २।४।८–३२।

प्रत्यय न्याय से यहाँ विद्यैक्य या विद्याभेद का निर्णय किया गया है और इस प्रकार रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय-प्रस्तावन का रूप अधिक सूत्रानुकूल और प्रस्तुत पाद के विषय से संगत है ॥१॥

सूत्र ३।३।५-६—सू० ३।३।५ में रामानुज और निम्बार्क इस विषय का निर्णय मानते हैं कि भिन्न-भिन्न वेदान्त-प्रकरणों में पठित समान विद्याओं में प्रतिपादित विषयों का परस्पर उपसंहार या आदान-प्रदान करना चाहिए या नहीं, अन्य भाष्यकार किंचित् भेद से उक्त सूत्र में उक्त विषय का ही प्रस्तावन स्वीकार करते हैं। रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त विषय उक्त सूत्र तक सीमित रहता है, अन्य भाष्यकार परस्पर-भिन्न सूत्रार्थ प्रस्तुत करते हुए भिन्न-भिन्न रूप में उक्त विषय के अवान्तरभेदों को अवशिष्ट सूत्रों में प्रतिपादित मानते हैं। सूत्रों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त सभी सूत्र उक्त एक ही विषय से सम्बद्ध हैं, सू० ३।३।५ में उक्त विषय का प्रस्तावन कर सू० ३।३।६, ७, ८ के द्वारा उसके सम्बन्ध में आक्षेप और उनके समाधान किए गए हैं और सूत्र ३।३।९ में पूर्वसूत्रवर्णित विषय का उपसंहार स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार सभी भाष्यकारों का उक्त सूत्रों में विषयभेद या विषय के अवान्तरभेद कल्पित करना उचित प्रतीत नहीं होता ॥२॥

सूत्र ३।३।१०-१७—सू० ३।३।१० में भाष्यकारों ने जिन परस्पर-भिन्न विषयों की कल्पना की है, उनमें से कोई भी सूत्र द्वारा समर्थित प्रतीत नहीं होता, अवशिष्ट सूत्रों में वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने इस विषय का निर्णय माना है कि ब्रह्म के किन गुणों का यावद्ब्रह्मविद्याओं में उपसंहार करना चाहिए, वल्लभ उक्त विषय को सू० ३।३।१५ तक ही सीमित रख सू० ३।३।१६-१७ में एक श्रुति-प्रकरण का ब्रह्मपरक समन्वय मानते हैं, जो कि यहाँ अप्रासंगिक है। वस्तुतः उक्त सभी सूत्र इस एक ही विषय के प्रतिपादक रूप में परस्पर सम्बद्ध हैं कि अनिवार्य रूप से सभी उपासनाओं में उपसंहरणीय ब्रह्म के स्वरूप निरूपक गुण कौन कौन हैं ॥३॥

सूत्र ३।३।१८—रामानुज सौर निम्बार्क उक्त सूत्र के द्वारा एक श्रुति-वाक्य और वल्लभ उससे भिन्न एक वाक्य के वास्तविक प्रतिपाद्य पर विचार करते हैं। मध्व यह प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्म के अपूर्व या अलौकिक गुणों का अनुसन्धान करना चाहिए। बलदेव इस विषय का निर्णय मानते हैं कि पितृत्व, पुत्रत्व, सखित्व आदि गुणों का भगवान् में चिन्तन करना चाहिए या

नहीं। उक्त विषयों में से किसी का प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादन प्रतीत नहीं होता, सूत्राक्षरों और पूर्वप्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः यहाँ इस विषय पर विचार किया गया है कि कर्मविधि के समान उपासनाविधि भी किसी प्रमाणान्तराप्राप्त अपूर्व विषय का विधान करती है या नहीं ।।४।।

सूत्र ३।३।१९—उक्त सूत्र में भी भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत परस्पर-भिन्न विषयों का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। इसमें पूर्वसूत्र (३।३।१८) के प्रसंग से इस विषय का वर्णन प्रतीत होता है कि एक उपासना में प्रतिपादित अपूर्वविधि का तत्समान उपासनाओं में उपसंहार करना आवश्यक है या नहीं ।।५।।

सूत्र ३।३।२०-२२—उक्त सूत्रों में भी जिन भिन्न-भिन्न विषयों की भाष्यकारों ने कल्पना की है, उनका कोई निर्देश प्रतीत नहीं होता। यहाँ पर यह विचार प्रसंगप्राप्त और सूत्रानुकूल प्रतीत होता है कि समान उपासनाओं में जिस प्रकार ब्रह्मगुण आदि का परस्पर उपसंहार प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार 'अन्यत्र' अर्थात् असमान या भिन्न उपासनाओं में भी उपसंहार करना चाहिए या नहीं ।।६।।

सूत्र ३।३।२३—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्र का विषय यह है कि 'ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्या संभृतानि' इत्यादि वाक्य में प्रतिपादित ब्रह्म के संभृति, द्युव्याप्ति आदि गुणों का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिए या नहीं। मध्व भी कुछ प्रकार-भेद से इस विषय का प्रतिपादन मानते हैं कि उक्त गुणों का देवादिकों को उपसंहार करना चाहिए या सब को। वल्लभ और बलदेव उक्त विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि जीवों में होने वाले भगवान् के आवेशावतार में उक्त गुणों का उपसंहार करना चाहिए या नहीं। उक्त प्रकारों में रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत प्रकार अधिक उपयुक्त एवं सूत्रानुकूल प्रतीत होता है। वल्लभ और बलदेव का विषय तो स्पष्टतः ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि से बहिर्गत है ।।७।।

सूत्र ३।३।२४—रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्र के द्वारा इस विषय का निर्णय करते हैं कि तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् में पठित पुरुषविद्याएँ एक हैं या परस्पर-भिन्न। मध्व इसके द्वारा गुणोपसंहार के औचित्य का समर्थन करने के लिए एक और हेतु का उपन्यास मानते हैं। वल्लभ इस के द्वारा यह निर्णीत करते हैं कि पुरुषसूक्तोक्त पुरुषविद्या में सूचित लिंगों का उपसंहार 'स वा एष पुरुषः अन्नरसमयः' आदि में करना

चाहिए या नहीं। बलदेव इसमें जीवों में होने वाले भगवान के आवेशावतार में ब्रह्मवत् अनुसन्धान के समर्थन के लिए एक और हेतु का उपन्यास मानते हैं। आवेशावतार की मान्यता से तो ब्रह्मसूत्रों का परिचय कहीं भी प्रतीत नहीं होता और न इसी सूत्र में उनका कोई निर्देश मिलता है। मध्व द्वारा स्वीकृत विषय 'सामान्यतः उपसंहार का औचित्य' व्यवहित हो चुका और साथ ही उक्त सूत्र पूर्वसूत्रों से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता। अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत पुरुषविद्याओं में से कौन सी उक्त सूत्र में अभिप्रेत है, यह निर्णय करना कठिन है। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि यहाँ प्रकरणविशेष में विहित किसी विशिष्ट पुरुषविद्या का निर्देश न होकर सामान्यतः उन सभी विद्याओं का निर्देश हो, जिनमें ब्रह्म का अनुसन्धान पुरुष रूप से विहित है और सामान्यतः उन सभी के सम्बन्ध से गुणोपसंहार पर विचार उक्त सूत्र में किया गया हो कि पुरुषविद्याओं में प्रतिपादित गुणों का परस्पर उपसंहार करना चाहिए या नहीं ॥८॥

सूत्र ३।३।२५--रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा यह विचार किया गया है कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों के आरम्भ में पठित शान्तिमन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म विद्यांग रूप में सभी उपासनाओं में उपसंहृत करने चाहिये या नहीं। मध्व और बलदेव के अनुसार उक्त सूत्र का विषय है कि एक आथर्वण श्रुति में प्रतिपादित वेधादि गुणों का सबको या सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए या नहीं। वल्लभ यहाँ यह मानते हैं कि बृहदारण्यक में प्रतिपादित वाक्, प्राण आदि का पाप्मवेध भगवत्सम्बन्धाभाव के कारण है। उक्त विषयों में से वल्लभ के विषय का तो सूत्र से समर्थन नहीं होता। मध्व और बलदेव द्वारा उद्धृत मन्त्रभागीय श्रुति में सन्देह है कि उसमें ब्रह्म का ही निर्देश है। रामानुज और निम्बार्क का पक्ष अधिक समीचीन होने के साथ शंकर आदि भाष्यकारों की पूर्वपरम्परा से समर्थित भी है ॥९॥

सूत्र ३।३।२६—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा किंचिद् भेद से इस विषय का निर्णय किया गया है कि किसी शाखा में विद्वान् जीव के पुण्य-पापों की हानि और किसी में उसके सुहृद् और दुर्हृदों में उनका उपायन या प्राप्ति प्रतिपादित है, तो जिसमें केवल हानि प्रतिपादित है, उसमें उपायन का भी उपसंहार होगा या नहीं। मध्व और बलदेव के अनुसार इस सूत्र में किंचित् भेद से इस विषय का निर्णय है कि मुक्त जीव को ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये या नहीं। वल्लभ यह निर्णीत करते हैं कि ब्रह्मसाम्य प्राप्त होने पर जीव में किन गुणों का आविर्भाव हो जाता है। यद्यपि उक्त

सभी विषय चतुर्थाध्याय में निर्णीत होने चाहिए, फिर भी अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषयों की अपेक्षा रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय सूत्राक्षरों के अधिक अनुकूल होने के साथ-साथ प्रस्तुत पाद के विषय से अधिक संगत और पूर्वपरम्परा से समर्थित है ।।१०।।

सूत्र ३।३।२७-३०—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में किंचिद् भेद से इस विषय का निर्णय किया गया है कि विद्वान् के पाप-पुण्य की उक्त हानि और प्राप्ति किस अवसर पर होती है। मध्व सू० ३।३।२७ को उसके पूर्वसूत्र (३।३।२६) से सम्बद्ध कर अवशिष्ट सूत्रों में यह निर्णय करते हैं कि मुक्त जीव कर्म करते हैं या नहीं, बलदेव भी सू० ३।३।२७ को पूर्वसूत्र से सम्बद्ध कर अवशिष्ट सूत्रों में इस विषय पर विचार करते हैं कि माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता रुचिभक्ति और ऐश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता विधिभक्ति में से भगवत्प्राप्ति का हेतु कौन है। वल्लभ उक्त सूत्रों में, भक्ति मार्ग में पापनाश की अपेक्षा नहीं रहती, मर्यादा-पुष्टि-भेद से ज्ञान फलजनक है, मुमुक्षु की अपेक्षा रहस्य-भजनकर्त्ता श्रेष्ठ है, इन विषयों का प्रतिपादन मानते हैं। उक्त विषयों में मध्व, वल्लभ और बलदेव के द्वारा स्वीकृत उक्त भक्तिशास्त्रीय साम्प्रदायिक विषयों से सूत्रकार का परिचय प्रतीत नहीं होता और न उक्त सूत्रों में इनका निर्देश मिलता है। जबकि रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य के अनुकूल होने के साथ-साथ सू० ३।३।२७ में स्पष्टतः प्रस्तुत होता हुआ प्रतीत होता है और पूर्वपरम्परा से समर्थित भी है ॥११॥

सूत्र ३।३।३१—रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार उक्त सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि आधिकारिक पुरुषों की विद्या-प्राप्ति होने पर भी संसार में स्थिति अपने अधिकार की समाप्ति पर्यन्त रहती है। वल्लभ भी प्रकार-भेद से इसी विषय का प्रतिपादन उक्त सूत्र में मानते हैं। किन्तु इसके विपरीत मध्व इस विषय का प्रतिपादन स्वीकार करते हैं कि जीवों के अधिकार के अनुसार उनके मोक्षानन्द में भी तारतम्य रहता है। मध्व द्वारा स्वीकृत विषय की सूत्राक्षरों से संगति नहीं बैठती, उनके द्वारा प्रस्तुत अर्थ के अनुसार सूत्र में 'यावदधिकारम्' के स्थान पर 'यथाधिकारम्' होना चाहिए था, दूसरें, उनके अर्थ के अनुसार सूत्र के 'अवस्थिति' और 'आधिकारिक' पदों का कोई उपयोग प्रतीत नहीं होता। तीसरे, वह विषय यहाँ की अपेक्षा फलाध्याय (चतुर्थाध्याय) में अधिक उपयुक्त रहता। अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय में सूत्र की सरल संगति हो जाती है ।।१२।।

सूत्र ३।३।३२—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा यह निर्णय किया गया है कि अर्चिरादिगति-वर्णन का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिये या केवल उन्हीं उपासनाओं से उसे सम्बद्ध मानना चाहिए, जिनमें वह पठित है। मध्व कुछ प्रकार-भेद से उक्त विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि सभी ज्ञानियों की मुक्ति हो जाती है या उनमें से कुछ ही की। वल्लभ और बलदेव उक्त सूत्र के द्वारा यह निर्णीत करते हैं कि गोपालतापनी उपनिषद् में वर्णित ध्यान, रसन आदि सभी समुदित रूप में मोक्ष-साधन हैं या उनमें से केवल एक एक ही। सूत्र में उक्त विषयों में से किसी का साक्षात् निर्देश नहीं है, साथ ही उसके शब्द इतने सामान्य हैं कि किसी भी विषय में वे संगत हो सकते हैं, किन्तु यदि पूर्वप्रसंग पर ध्यान दिया जावे तो रामानुज और निम्बार्क का विषय अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि सू० ३।३।२९ में 'गतेरर्थवत्त्वम्' के द्वारा अर्चिरादिगति का स्पष्ट निर्देश प्रतीत होता है और इसलिए यह बहुत सम्भव है कि उसके सम्बन्ध से प्रस्तुत सूत्र में अर्चिरादिगति पर ही उक्त रूप में विचार किया गया हो ॥१३॥

सूत्र ३।३।३३-३७—मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार सू० ३।३।३३–३४ में इस विषय पर विचार किया गया है कि अक्षरोपासना में वर्णित दृष्टियों का उपसंहार सभी उपासनाओं में करना चाहिए या नहीं। मध्व सू० ३।३।३३ को अपने पूर्वाधिकरण से सम्बद्ध कर सू० ३।३।३४ का एक भिन्न विषय मानते हैं। वल्लभ सू० ३।३।३३–३४ के द्वारा यह निर्णीत करते हैं कि अक्षरविषयक उपासनाएँ साक्षात् मोक्षसाधक हैं या नहीं। सू० ३।३।३५–३७ में सभी भाष्यकार परस्पर-भिन्न विषयों का प्रतिपादन मानते हैं। सू० ३।३।३३–३४ में वस्तुतः इसी विषय का प्रस्तावन प्रतीत होता है कि अक्षरसम्बन्धिनी धी या दृष्टियों का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिए या नहीं। मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार इसे मानते भी हैं। यहाँ मध्व और वल्लभ द्वारा स्वीकृत विषय सूत्र पर केवल अपने सिद्धान्तों का आरोपणमात्र है। अन्य अवशिष्ट सूत्रों में भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषयों में से कोई भी सूत्रसंगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः वे भी उक्त विषय के प्रतिपादक के रूप में अपने पूर्वसूत्रों से ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, जैसा कि सू० ३।३।३५ में प्रस्तुत शंका और उसके समाधान से स्पष्ट है। उक्त शंका अक्षरसम्बन्धिनी 'अनन्तरमबाह्यम्' (बृहदा० ३।८।८) दृष्टि के सम्बन्ध में प्रतीत होती है ॥१४॥

सूत्र ३।३।३८-४०--उक्त सूत्रों में सभी भाष्यकारों ने जिन अनेक परस्पर-भिन्न विषयों का प्रतिपादन माना है, उनमें से किसी का भी सूत्रों में संकेत प्रतीत नहीं होता। उनमें से बहुत से विषय तो केवल साम्प्रदायिक महत्त्व के हैं, जिनसे स्यात् ही ब्रह्मसूत्रों का परिचय हो। सू० ३।३।३८ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें इस विषय का प्रस्तावन किया गया है कि ब्रह्म के काम या सत्यकाम आदि गुणों का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिए या नहीं, अन्य अवशिष्ट सूत्र भी उक्त एक ही विषय के प्रतिपादक के रूप में परस्पर-सम्बद्ध प्रतीत होते हैं ॥१५॥

सूत्र ३।३।४१-४३--उक्त सूत्रों में भी भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विभिन्न विषयों का निर्देश प्राप्त नहीं होता, सूत्रों की शब्दावली से ऐसा प्रतीत होता है है कि उनमें साधनकालीन दृष्टि या दर्शन और उसके फलस्वरूप सिद्धिकालीन दर्शन के पस्पर स्वरूप-भेद पर विचार किया गया है, जैसा कि सू० ३।३।४१ के 'तद्दृष्टेः पृथग् ह्यप्रतिबन्धः फलम्' से प्रकट हो रहा है ॥१६॥

सूत्र ३।३।४४-५०—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्रों का विषय यह निर्णय करना है कि वाजसनेयक अग्निरहस्य में पठित मनश्चित आदि अग्नि क्रियारूप हैं या विद्यारूप। मध्व के अनुसार इन सूत्रों में, पूर्व-प्राप्त गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए या दूसरे भी उत्तम गुरु को स्वीकार करना चाहिए, उपासकों को मोक्ष-साधन ज्ञान एक प्रकार का प्राप्त होता है, या उसमें तारतम्य रहता है, आदि विषयों पर विचार है। बलदेव भी सू० ३।३।४४-४५ में एक भिन्न विषय मान कर अन्य सूत्रों में प्रकार-भेद से मध्व के समान ही विषयों को स्वीकृत करते हैं। वल्लभ उक्त सभी सूत्रों में सर्वात्मभाव के स्वरूप, परमात्मा के वरण अर्थात् कृपापूर्ण स्वीकृति से उसकी प्राप्ति और उक्त वरण की काल और अदृष्ट आदि सभी प्रतिबन्धकों की अपेक्षा अधिक बलवत्ता का प्रतिपादन मानते हैं।

यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि उक्त सूत्रों में वस्तुतः किस विषय का प्रतिपादन है, किन्तु इतना निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि रामानुज और निम्बार्क को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने जिन भक्तिशास्त्रीय साम्प्रदायिक विषयों को माना है, उनका समर्थन सूत्रों से नहीं होता। दूसरी ओर सूत्रों के 'प्रकरण', 'अतिदेश', 'श्रुत्यादिबलीयस्त्व' आदि शब्दों से यह प्रतीत होता है कि उनमें किसी विशिष्ट श्रुति-प्रकरण के सम्बन्ध से विचार हो रहा है और रामानुज एवं निम्बार्क द्वारा संकेतित प्रकरण में सूत्र सरलता

से संगत हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है और पूर्वपरम्परा से भी समर्थित है ॥१७॥

सूत्र ३।३।५१-५२——रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्रों में यह विचार किया गया है कि उपासक को ब्रह्मोपासना करते हुए अपने आत्म-स्वरूप का किस रूप में अनुसन्धान करना चाहिए। मध्व यह निर्णय करते हैं कि उपासना उपासक की किसी अनादि योग्यता की अपेक्षा रखती है या नहीं। वल्लभ सू० ३।३।५१ को पूर्वसूत्रों से सम्बद्ध कर सू० ३।३।५२ में यह विचार करते हैं कि इतरसाधनसापेक्ष ब्रह्मज्ञान से परमात्म-प्राप्ति होती है या तन्निरपेक्ष से। बलदेव सू० ३।३।५१ का विषय, शरीरस्थित हृदय या ब्रह्मरन्ध्र में विष्णु की उपासना करनी चाहिए या नहीं और सू० ३।३।५२ का विषय, ब्रह्म यद्गुणक ध्यात है, तद्गुणक ही प्राप्त होता है या उससे अधिक, यह मानते हैं। सू० ३।३।५१ में 'एके' पद का प्रयोग यह सूचित कर रहा है कि इसमें सूत्रकार अपने सिद्धान्त का नहीं, अपितु किन्हीं दूसरों के सिद्धान्त का उपन्यास कर रहे हैं और अपना मत उन्होंने सू० ३।३।५२ में ही व्यक्त किया है, अतः वल्लभ और बलदेव का इनको परस्पर पृथक् कर इनमें भिन्न-भिन्न विषयों को मानना उचित प्रतीत नहीं होता। मध्व द्वारा स्वीकृत विषय का भी सूत्रों से समर्थन नहीं होता। उक्त विषयों में रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय ही अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है और यह संभव भी प्रतीत होता है कि मुख्य ब्रह्मोपासन की चर्चा कर अब सूत्रकार उपासक के स्वरूपानुसन्धान के प्रकार का भी प्रतिपादन कर दें॥१८॥

सूत्र ३।३।५३-५४——रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्रों में यह निर्णीत किया गया है कि अंगावबद्ध उपासनाएँ सब शाखाओं में उपसंहरणीय हैं या केवल उन्हीं में व्यवस्थापनीय हैं, जिनमें वे पठित हैं। मध्व यहाँ यह विचार करते हैं कि भगवदुपासन तदंगदेवतोपासन के साथ करना चाहिए या केवल। वल्लभ और बलदेव इन्हें अपने द्वारा स्वीकृत पूर्वसूत्रों के विषय से सम्बद्ध करते है।

इनमें रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय सूत्रों के द्वारा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता हुआ प्रतीत हो रहा है और साथ ही मध्व की अपेक्षा ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि और वातावरण के अधिक अनुकूल है, इसके अतिरिक्त वह पूर्वपरपरा से समर्थित भी है ॥१९॥

सूत्र ३।३।५५—रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्रों में वैश्वानरविद्या के सम्बन्ध में यह निर्णीत करते हैं कि उसके द्वारा उपास्य की समस्त रूप में

उपासना करनी चाहिए या व्यस्त रूप में। मध्व और बलदेव यहाँ यह मानते हैं कि ब्रह्म का भूमत्व गुण सभी उपासकों के द्वारा या सभी उपासनाओं में उपास्य है या नहीं। वल्लभ के अनुसार उक्त सूत्र में सर्वात्मभाव के सर्वोत्कृष्टत्व का प्रतिपादन है। सू० ३।३।५३ के 'अंगावबद्धा': से प्रस्तुत प्रसंग और प्रस्तुत सूत्र का 'ऋतुवत्' शब्द, ये इसके अधिक अनुकूल हैं कि प्रस्तुत सूत्र के 'भूम्न:' शब्द का समस्त अर्थात् सम्पूर्ण अंगों समेत अर्थ किया जावे और इस प्रकार यही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि रामानुज और निम्बार्क के समान केवल वैश्वनारविद्या के ही सम्बन्ध में नहीं, अपितु सभी ऐसी सांग उपासनाओं के सम्बन्ध में, जिनमें समस्त और व्यस्त दोनों प्रकार हैं, प्रस्तुत सूत्र के द्वारा यह विचार माना जावे कि उक्त दोनों प्रकारों में अधिक उत्तम कौन है ॥२०॥

सूत्र ३।३।५६—रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्र में यह विचार मानते हैं कि विभिन्न उपासनाएँ एक हैं या परस्पर-पृथक् रूप से अनेक। किंचिद् भेद से बलदेव भी उनका अनुगमन करते हैं। मध्व इस सूत्र में यह निर्णीत करते हैं कि ब्रह्म का भूमत्व गुण सब उपासकों को एक समान प्रतीत होता है या नाना प्रकार से। वल्लभ यहाँ यह मानते हैं कि अवतारों की समस्त रूप में उपासना करनी चाहिए या पृथक्-पृथक्। यहाँ स्पष्टत: रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय पूर्वापर-प्रसंग और सूत्राक्षरों के अधिक अनुकूल है और साथ ही सूत्रों की विषय-परिधि के अन्तर्गत है ॥२१॥

सूत्र ३।३।५७—सभी भाष्यकार उक्त सूत्र के द्वारा किंचित् प्रकार-भेद से यह निर्णीत करते हैं कि ब्रह्मोपासनाओं का विकल्प होना चाहिए या समुच्चय ॥२२॥

सूत्र ३।३।५८—उक्त सूत्र के द्वारा सभी भाष्यकार किंचित् प्रकार-भेद से इस विषय का निर्णय करते हैं कि काम्य उपासनाओं का समुच्चय करना चाहिए या नहीं ॥२३॥

सूत्र ३।३।५९-६४—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में इस विषय पर विचार किया गया है कि अंगाश्रय उपासनाओं का अंगी में नियमपूर्वक उपादान करना चाहिए या नहीं। वल्लभ इस विषय को सू० ३।३।६० तक ही सीमित रखते हैं। मध्व यह निर्णय करते हैं कि भगवदंगाश्रित देवताओं की उपासना करनी चाहिए या नहीं। बलदेव इन सूत्रों के द्वारा यह निर्णीत करते हैं कि भगवान् के मुखारविन्द आदि अंगों के मन्दस्मितादि गुणों का पृथक् चिन्तन करना चाहिए या नहीं।

मध्व और बलदेव द्वारा स्वीकृत विषयों का सूत्रों में कोई निर्देश नहीं प्रतीत होता और वैसे भी ये विषय स्यात् ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि से से बाहर ही हैं। वस्तुतः अंगाश्रय उपासनाओं के उपादान या समुच्चय पर विचार करना ही उक्त सभी सूत्रों का वास्तविक प्रतिपाद्य प्रतीत होता है, जैसा कि रामानुज और निम्बार्क ने माना है, साथ ही उसे पूर्वपरम्परा ने भी स्वीकृत किया है ॥२४॥

अध्याय ३ पाद ४

सूत्र ३।४।१-२५—रामानुज और निम्बार्क ने उक्त सूत्रों में सू० ३।४।१-२० के द्वारा इस विषय पर विचार माना है कि पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति विद्या से होती है या कर्म से और अवशिष्ट सूत्रों में भिन्न विषयों का प्रतिपादन माना है। वल्लभ उक्त सभी सूत्रों में किंचित् भेद से उक्त विषय को सू० ३।४।१४ तक ही सीमित रख कर अवशिष्ट सूत्रों में एक भिन्न विषय का प्रतिपादन मानते हैं। मध्व सू० ३।४।१-६ के द्वारा उक्त विषय को इस रूप में प्रस्तुत हुआ मानते हैं कि विद्या से केवल मोक्ष की प्राप्ति होती है या अन्य सभी पुरुषार्थों की भी और अवशिष्ट सूत्रों में भिन्न विषयों का प्रतिपादन मानते हैं।

मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने सू० ३।४।१ के द्वारा किसी न किसी रूप में इसी विषय का प्रस्तावन माना है कि पुरुषार्थ की प्राप्ति विद्या से होती है या कर्म से और यह स्वयं सूत्राक्षरों से भी स्पष्ट प्रकट है। मध्व ने विषय में जो विकल्प स्वीकार किया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता, उसके अनुसार सूत्र को 'पुरुषार्थोऽतः' के स्थान पर 'पुरुषार्था अतः' होना चाहिए। वैसे भी यहाँ सूत्र के द्वारा अभिप्रेत एक मात्र 'पुरुषार्थ' क्या हो सकता है, यह सुनिश्चित है और सूत्रकार ने भी प्रस्तुत पाद के उपसंहार में उसे स्पष्टतः प्रकट कर दिया है। इस प्रकार उसके सम्बन्ध में विकल्प नहीं, विकल्प तो केवल इसमें है कि उस पुरुषार्थ की प्राप्ति विद्या से होती है या कर्म से। सू० ३।४।२ से प्रस्तुत जैमिनि के पक्ष से भी उक्त विकल्प की ही पुष्टि होती है। इस प्रकार अन्य भाष्यकारों द्वारा सूत्र ३।४।१ में प्रस्तुत विषय ही उचित है। इस विषय का उपसंहार सूत्र ३।४।२५ में स्पष्ट प्रकट हो रहा है और मध्यवर्ती सभी सूत्र इसी एक विषय के प्रतिपादक के रूप में परस्पर-सम्बद्ध हैं। इस प्रकार सूत्रार्थ-भेद और विषयप्रतिपादन-प्रकार-भेद होने पर भी वल्लभ का यह पक्ष अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि उक्त सभी सूत्र उक्त विषय के प्रतिपादक रूप में एक ही अधिकरण के अन्तर्गत रक्खे जावें ॥१॥

सूत्र ३।४।२६—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र में यह विचार किया गया है कि विद्या को अपनी स्वरूप-सिद्धि के लिए कर्मों की अपेक्षा है या नहीं १॥२॥

सूत्र ३।४।२७—सर्वसम्मति से उक्त सूत्र के द्वारा यह निर्णीत किया गया है कि विद्योत्पत्ति के लिए शम, दम आदि साधनों की आवश्यकता है या नहीं ॥३॥

सूत्र ३।४।२८-३१—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में यह विचार किया गया है कि विद्वान् सर्वान्नभक्षण आदि स्वेच्छाचार कर सकता है या नहीं ॥४॥

सूत्र ३।४।३२-३५—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में इस विषय पर विचार किया गया है कि यज्ञादि कर्म आश्रम और विद्या, इन दोनों के अंग रूप में अनुष्ठेय हैं या इनमें से केवल किसी एक के ही अंगरूप में। अन्य भाष्यकार इसी विषय को एक दूसरे प्रकार से केवल सूत्र ३।४।३२–३३ में मान कर अवशिष्ट सूत्रों में भिन्न विषयों का प्रतिपादन मानते हैं। सूत्र ३।४।३४ की शब्दावली से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त सूत्र अपने पूर्वसूत्रों (३।४।३२–३३) के विषय से ही सम्बद्ध है और उसके अनुसार उक्त सूत्रों के विषय का रूप ऐसा ही होना चाहिए, जैसा कि रामानुज और निम्बार्क ने माना है ॥५॥

सूत्र ३।४।३६-३९—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्रों में इस विषय का निर्णय मानते है कि विधुर आदि आश्रमविहीन व्यक्तियों का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं। मध्व इन सूत्रों को अपने पूर्वाधिकरण से सम्बद्ध करते हुए इनका भिन्न ही अर्थ प्रस्तुत करते हैं कि मानवों में भी देवत्व और असुरत्व भावों का दृढ़त्व है, आदि। वल्लभ भी इन सूत्रों को अपने पूर्वाधिकरण से सम्बद्ध करते हुए इनके द्वारा आश्रमधर्मों से भगवद्धर्मों की श्रेष्ठता का समर्थन करते हैं।

मध्व और वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ और सूत्र-योजना-प्रकार सूत्राक्षरों के अनुकूल प्रतीत नहीं होता, जबकि अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय में सूत्रों की संगति सरलता से हो जाती है। वस्तुतः उक्त सूत्रों का विषय यही प्रतीत होता है कि अनाश्रमी का विद्या में अधिकार है या नहीं ॥६॥

सूत्र ३।४।४०-४३—रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सूत्रों में यह निर्णीत किया गया है कि नैष्ठिक, वैखानस आदि आश्रमों से प्रच्युत व्यक्तियों का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं। मध्व सू० ३।४।४० को

अपने पूर्वाधिकरण से सम्बद्ध करते हुए अवशिष्ट सूत्रों में यह विचार करते हैं कि उपासक को ब्रह्मादि देवों के पद की आकांक्षा करनी चाहिए या नहीं। बलदेव भी मध्व का ही अनुगमन करते हैं। वल्लभ उक्त सूत्रों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन मानते हैं, जैसे, तदीय (भगवत्कृपापात्र) का कभी सायुज्य होता है या नहीं, आदि।

रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि के अन्तर्गत होने के साथ पूर्वप्रसंग और प्रस्तुत सूत्रों के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है, जैसा कि सूत्र ३।४।३२ से प्रस्तुत आश्रम-प्रसंग के साथ देखने पर सू० ३।४।४० के 'तद्भूतस्य तु नातद्भावः' से स्पष्ट है ॥७॥

सूत्र ३।४।४४।४५—रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्रों में इस विषय पर विचार करते हैं कि कर्मांगाश्रय उपासनाएँ यजमानकर्त्तृक हैं या ऋत्विक्कर्त्तृक। मध्व यह निर्णीत करते हैं कि मानवों के ब्रह्मज्ञान का फल उनके इन्द्रियाधिष्ठाता देवों को प्राप्त होता है या प्रजा अर्थात् मानवों को। वल्लभ यह निर्णय करते हैं कि पुष्टिमार्गीय भक्तों को गृहत्याग करना चाहिए या नहीं। बलदेव के अनुसार इस विषय पर विचार है कि निरपेक्ष भक्तों की देहयात्रा अपने प्रयत्न से होती है या ईश के प्रयत्न से।

रामानुज और निम्बार्क को छोड़कर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत साम्प्रदायिक विषय सूत्रों पर केवल आरोपित प्रतीत होते हैं। सूत्रों से उनका समर्थन नहीं होता। सूत्रों में यजमानकर्त्तृक और ऋत्विक्कर्त्तृक का विकल्प स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। उक्त विकल्प किसी कर्म या कर्मांगाश्रय उपासना के सम्बन्ध में ही हो सकता है, किन्तु वस्तुतः वह किसी भी प्रकार की उपासना की अपेक्षा कर्म के सम्बन्ध में अधिक संगत प्रतीत होता है और इस प्रकार विद्या के सहकारी यज्ञ आदि कर्मों के सम्बन्ध में ही उसे मानना उचित है कि सहकारी कर्म यजमानकर्त्तृक हैं या ऋत्विक्कर्त्तृक ॥८॥

सूत्र ३।४।४६–४८—उक्त सूत्रों के द्वारा रामानुज और निम्बार्क ने एक श्रुतिवाक्य (बृहदा० ३।५।१) के वास्तविक प्रतिपाद्य पर विचार किया है। मध्व सू० ३।४।४७–४८ में यह विचार करते हैं कि ज्ञानाधिकारी मनुष्यों में किस आश्रम का पालन करने वाला उत्तम है। वल्लभ सूत्र ३।४।४६ में मर्यादा-पुष्टि-भेद से विद्या के सहकारी साधनों की अपेक्षा पर विचार करते हैं और अवशिष्ट सूत्रों में भिन्न विषय का प्रतिपादन मानते हैं। बलदेव भी किंचित् प्रकार-भेद से वल्लभ का अनुगमन करते हैं।

उक्त सूत्रों में भिन्न-भिन्न विषयों को स्वीकार करते हुए भी, भाष्यकारों ने सूत्र ३।४।४७ में एक आक्षेप का समाधान करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि ब्रह्मविद्या सभी आश्रमों के लिए है, जो कि उचित एवं सूत्रानुकूल है। उक्त सिद्धान्त के साथ इस तथ्य को ध्यान में रखकर कि सब आश्रमों में विद्या के सहकारी यज्ञ आदि कर्मों की विधि का पालन नहीं हो सकता, जब सू० ३।४।४६ की शब्दावली पर विचार किया जाता है, तो यह बहुत संभव प्रतीत होता है कि उक्त सूत्र में इस विषय का प्रस्तावन किया गया है कि किसी भी आश्रम में रहने वाले सभी उपासक सभी सहकारी साधनों का अनुष्ठान नियमतः करें या विकल्प से, जैसा कि सूत्र ३।४।४६ के 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण' से स्पष्ट भी है। अन्य सभी सूत्र उक्त एक ही विषय के प्रतिपादक के रूप में परस्पर-सम्बद्ध हैं और भाष्यकारों द्वारा सूत्रों में संकेतित विभिन्न श्रुतियों का उपयोग भी उसी विषय के प्रतिपादन में अधिक संगत रूप से हो सकता है ॥९॥

सूत्र ३।३।४९—उक्त सूत्र में सभी भाष्यकार प्रकार-भेद से इस विषय का निर्णय मानते हैं कि विद्वान् को अपने विद्यामाहात्म्य का आविष्कार करना चाहिए या नहीं ॥१०॥

सूत्र ३।४।५०—रामानुज और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्र में यह विचार करते है कि ब्रह्मविद्या की सिद्धि इसी जन्म में होतीं है या जन्मान्तर में। रामानुज इसी विषय को अग्रिम सूत्र ३।४।५१ में मानते हैं और प्रस्तुत सूत्र में यह निर्णीत करते हैं कि अभ्युदयफलक उपासना की सिद्धि कब होती है। वल्लभ इसमें यह निर्णय करते हैं कि गृही भक्त कैसी दशा में लौकिक कर्म कर सकते हैं।

वल्लभ का पक्ष सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता, रामानुज द्वारा स्वीकृत विषय में यद्यपि सूत्र संगत हो जाता है, किन्तु, जैसा कि आगे स्पष्ट है, सू० ३।४।५१ से संगति मिलाने पर उनकी अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है ॥११॥

सूत्र ३।४।५१—रामानुज और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र में इस विषय का निर्णय है कि ब्रह्मोपासक को अपनी उपासना का मुक्तिरूप फल इसी शरीर को छोड़ने के बाद प्राप्त हो जाता है या नहीं। रामानुज मुक्तिफलक उपासना के सम्बन्ध में यह विचार करते हैं कि वह इसी जन्म में सिद्ध हो जाती हैं या जन्मान्तर में। वल्लभ अपने मर्यादापुष्टिभेद के अनुसार मुक्ति के फल भक्तिरसानुभव के सम्बन्ध में

विचार करते हैं कि वह गृही भक्त को प्राप्त होता है या नहीं। वल्लभ के भक्तिशास्त्रीय साम्प्रदायिक विषय का प्रतिपादन सूत्रसम्मत नहीं, वह सूत्रों की विषय-परिधि से बहिर्गत है। रामानुज द्वारा स्वीकृत विषय के अनुसार सूत्र के कई शब्दों की सार्थकता प्रतीत नहीं होती, उनके प्रतिपाद्य को प्रकट करने के लिए 'तथैव मुक्तिफलकम्' या इसके समान किसी अतिदेशात्मक रूप में ही सूत्र पर्याप्त था। दूसरी ओर अन्य भाष्यकारों के अनुसार पूर्वसूत्र (३।४।५०) में ब्रह्मोपासना की सिद्धि और प्रस्तुत सूत्र (३।४।५१) में उसके आधार पर उपासना के साध्य मुक्तिरूप फल की सिद्धि पर विचार मानने से प्रस्तुत सूत्र (३।४।५१) के 'एवम्' 'अनियमः' और 'तदवस्थावधृतेः' शब्दों की संगति सार्थकता के साथ उपयुक्त रीति से हो जाती है और साथ ही पुरुषार्थ-प्राप्ति के नियम पर विचार करने के कारण प्रस्तुत पाद के प्रथम सूत्र में प्रस्तुत विषय—विद्या से पुरुषार्थ-प्राप्ति—का इस अन्तिम सूत्र में तदनुकूल उचित उपसंहार हो जाता है। उक्त दृष्टि से विचार करने पर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है ॥१२॥

अध्याय ४ पाद १

सूत्र ४।४।१-२—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में यह निर्णय किया गया है कि पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए ब्रह्मोपासना की आवृत्ति करनी चाहिए या कर्मों के समान उसका एक बार अनुष्ठान ही पर्याप्त है ॥१॥

सूत्र ४।१।३—सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र के द्वारा किंचित् प्रकार-भेद से यह विचार किया है कि उपासक को अपने सम्बन्ध से ब्रह्म का अनुसन्धान किस रूप में करना चाहिये ॥२॥

सूत्र ४।१।४—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र में किंचित् प्रकार-भेद से ब्रह्मोपासन से प्रतीकोपासन के भेद पर विचार किया गया है ॥३॥

सूत्र ४।१।५—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र में इस विषय पर विचार माना है कि प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए या ब्रह्म में प्रतीकदृष्टि। मध्व ने इसके द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि परमेश्वर (विष्णु) में ब्रह्मदृष्टि करनी ही चाहिए। वल्लभ ने इसमें यह निर्णीत किया है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि श्रुतियों में प्रतिपादित सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि प्रतीकात्मिका है या नहीं। मध्व और वल्लभ की अपेक्षा अन्य

भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय में सूत्र अधिक प्रत्यक्ष और सरल रूप से संगत होता है ॥४॥

सूत्र ४।१।६—रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्र में यह विचार मानते हैं कि कर्माङ्ग में आदित्य आदि की दृष्टि करनी चाहिए या इसके विपरीत आदित्य आदि में कर्माङ्ग की। मध्व और बलदेव के अनुसार इसमें यह निर्णय किया गया है कि अंगाश्रित देवों का उपासन प्रतीकोपासन है या नहीं। इनमें रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय सूत्र में अधिक स्पष्ट रीति से प्रतिपादित होता हुआ प्रतीत हो रहा है ॥५॥

सूत्र ४।१।७-१०—वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्रों में इस विषय पर विचार मानते हैं कि उपासना में शरीर की स्थिति कैसी रहनी चाहिए। वल्लभ इनके द्वारा यह प्रतिपादित करते हैं कि उत्कट-स्नेहात्मक साधन से भगवान् भक्त के आगे आसीन हो जाते हैं। वल्लभ द्वारा स्वीकृत विषय सूत्रों पर भक्तिभावना से आरोपित किया हुआ प्रतीत होता है। सू० ४।१।७ का 'आसीनः' शब्द ब्रह्म की अपेक्षा उपासक के लिए स्पष्टतः अधिक उपयुक्त है और इस प्रकार अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही अधिक सूत्रसम्मत है ॥६॥

सूत्र ४।१।११—वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्र के द्वारा यह विचार मानते है कि उपासना करने के लिए उपयुक्त देशकाल क्या हो सकता है। वल्लभ इस सूत्र में यह निर्णय करते हैं कि जिन भक्तों के लिए भगवान् बाहर प्रकट होते हैं और जिनके लिए हृदय में प्रकट होते हैं, इन द्विविध भक्तों में कोई तारतम्य है या नहीं। वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय स्पष्टतः सूत्राक्षरों के अधिक अनुकूल है ॥७॥

सूत्र ४।१।१२—वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र में यह विचार किया गया है कि उपासना आजीवन करनी चाहिए या जीवन में केवल कुछ काल तक। वल्लभ इसमें एक भिन्न ही भक्तिशास्त्रीय विषय का प्रतिपादन मानते हैं, जो सूत्रसमर्थित नहीं, अपितु उस पर आरोपित किया हुआ ही प्रतीत होता है ॥८॥

सूत्र ४।१।१३-१९—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में किसी न किसी रूप में यह विचार किया गया है कि विद्या की प्राप्ति के बाद जीव के संचित, आरब्ध एवं क्रियमाण आदि विविध पुण्यपापात्मक कर्मों की क्या स्थिति होती है ॥९॥

अध्याय ४ पाद २

सूत्र ४।२।१-६—मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में इस विषय का निरूपण है कि मृत्युकाल में इन्द्रिय, मन, प्राण और भूत-सूक्ष्म आदि किस क्रम से एक दूसरे में सम्पन्न (संयुक्त या लीन) होते हैं, मध्व इन सूत्रों में यह निरूपित करते हैं कि मुक्त होने वाले देव किस में लीन होते हैं। वल्लभ सू० ४।२।१–४ में यह विचार करते हैं कि जीवनकाल में हृदय में भगवदाविर्भाव होने पर इन्द्रिय, मन आदि उपकरण किस क्रम से एक दूसरे में सम्पन्न होकर भगवदानन्द से युक्त होते हैं और अवशिष्ट सूत्रों में वे मर्यादाभक्तों की इन्द्रियों के लय पर विचार करते हैं।

मध्व और वल्लभ द्वारा स्वीकृत विषयों का सूत्रों में कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता, न इनमें मध्व द्वारा स्वीकृत देवों के मोक्ष का कोई संकेत है और न वल्लभ द्वारा स्वीकृत पुष्टि-मर्यादा-भेद का। अन्य भाष्यकारों को कोई सूत्रबाह्य कल्पना नहीं करनी पड़ी है। उनके द्वारा स्वीकृत विषय प्रसंगानुकूल होने के साथ-साथ सूत्रों में स्पष्टतः प्रतिपादित होता हुआ प्रतीत हो रहा है ॥१॥

सूत्र ४।२।७-१३—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में इस विषय का निर्णय किया गया है कि सर्वसाधारण के समान विद्वान् की भी उत्क्रान्ति होती है या नहीं। मध्व इन सूत्रों में यह विचार करते हैं कि अन्य देवों के समान प्रकृति (लक्ष्मी) का विष्णु में लय होता है या नहीं। वल्लभ इनमें साधन और फल आदि की दृष्टि से मर्यादामार्ग की अपेक्षा पुष्टिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं।

मध्व ने यद्यपि सू० ४।२।७ के 'समाना' पद के स्थान पर अन्य सभी भाष्यकारों से भिन्न 'समना' पाठ मान कर उसका 'समो ना यस्याः सा' यह विलक्षण विग्रह करते हुए 'प्रकृति' अर्थ किया है और इसी प्रकार अन्य शब्दों में अर्थान्तर-कल्पनाएँ की हैं, फिर भी उनके द्वारा स्वीकृत विषय का सूत्रों से प्रतिपादन होता हुआ प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार वल्लभ द्वारा स्वीकृत साम्प्रदायिक विषय भी सूत्रों पर केवल आरोपित ही प्रतीत होता है। वस्तुतः अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय ही अधिक प्रसंगानुकूल और सूत्रसंगत है ॥२॥

सूत्र ४।२।१४—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्र में यह प्रतिपादित करते हैं कि पूर्वसूत्रों (४।२।१-६) में निर्दिष्ट

प्रकार से इन्द्रिय आदि एक दूसरे में सम्पन्न होते हुए अन्तिम रूप से परतत्त्व में सम्पन्न हो जाते हैं। मध्व इसका यह प्रतिपाद्य मानते हैं कि मुक्त होकर सभी देवता परमात्मा में लीन हो जाते हैं। वल्लभ इसमें यह प्रतिपादित करते हैं कि श्री गोकुल में पूर्णस्वरूप, आनन्ददान आदि सभी दिव्य वस्तुएँ हैं।

वल्लभ का विषय प्रस्तुत सूत्र से किंचिन्मात्र भी समर्थित नहीं होता। अन्य भाष्यकार इस सूत्र के विषय को सू० ४।२।१-६ के विषय से ही सम्बद्ध करते हैं, जो उचित प्रतीत होता है, किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन सूत्रों में देवों के मोक्ष का प्रतिपादन नहीं, अपितु इन्द्रिय आदि की सम्पत्ति पर विचार है, अतः मध्व की अपेक्षा अन्य अवशिष्ट भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय अधिक सूत्रानुकूल है ॥३॥

सूत्र ४।२।१५—मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्र के द्वारा परमात्मा में तत्त्वों की पूर्वसूत्रोक्त 'सम्पत्ति' के स्वरूप पर विचार करते हैं कि इसका तात्पर्य 'संयोग' से है या 'लय' से। मध्व इसमें यह प्रतिपादित करते हैं कि मुक्त देवों का सत्यकामत्वादि परमात्मा के अधीन है। वल्लभ इसमें यह विचार करते हैं कि नित्यलीला में प्रविष्ट भक्त को भगवान् सर्वदा उसमें बनाए रखते हैं या वहाँ से पृथक् कर देते हैं। यहाँ भी मध्व और वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय प्रसंग और सूत्र के अधिक अनुकूल है ॥४॥

सूत्र ४।२।१६—सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र में सर्व-साधारण की अपेक्षा विद्वान् की उत्क्रान्ति की विशेषता का प्रतिपादन है ॥५॥

सूत्र ४।२।१७—सभी भाष्यकार उक्त सूत्र में इस विषय का निरूपण मानते हैं कि शरीर से उत्क्रान्त विद्वान् किस साधन के सहारे ऊर्ध्वगमन करता है ॥६॥

सूत्र ४।२।१८-२०—सभी भाष्यकार उक्त सूत्रों में किंचित् भेद से यह निर्णीत करते हैं कि रात्रि या दक्षिणायन में मृत विद्वान् को ऊर्ध्व-गति (देवयान मार्ग) और उसके फलस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है या नहीं ॥७॥

अध्याय ४ पाद ३

सूत्र ४।३।१-५—सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र में किंचित् भेद के साथ इस विषय पर विचार माना है कि मुक्ति को प्राप्त करने वाले जीव शरीर

से उत्क्रान्त होकर जिस मार्ग से गमन करते हैं, वह कौन-सा है और उसका स्वरूप कैसा है ।।१।।

सूत्र ४।३।६-१५—उक्त सूत्रों में सभी भाष्यकार किंचित् भेद से इस विषय को निर्णीत करते हैं कि उक्त मार्ग कार्यब्रह्म तक ले जाता है या पर-ब्रह्म की प्राति कराता है, और साथ ही, किस प्रकार के उपासक इसके द्वारा गमन करते हैं ।।२।।

अध्याय ४ पाद ४

सूत्र ४।४।१-३—रामानुज और निम्बार्क उक्त सभी सूत्रों में यह निर्णीत करते हैं कि ब्रह्मसम्पन्न होने पर मुक्त जीव अपने स्वाभाविक रूप से आविर्भूत होता है या किसी आगन्तुक साध्य रूप को प्राप्त करता है। बलदेव उक्त विषय को सू० ४।४।२ तक ही सीमित रखने के पक्ष में हैं। मध्व इन सूत्रों में यह प्रतिपादित करते हैं कि मुक्त जीव ब्रह्म के साथ ही भोगों का अनुभव करता है। वल्लभ यह प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्म में सम्पन्न मुक्त जीव तत्कृपाप्राप्त विग्रह को धारण कर उसके साथ भोगों का अनुभव करता है।

प्रस्तुत सूत्रों में भोगानुभव का कोई संकेत न होने के कारण मध्व और वल्लभ द्वारा स्वीकृत विषय उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। सू० ४।४।१ के 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन' शब्द स्पष्टतः यह सूचित कर रहे हैं कि उसमें ब्रह्म-सम्पत्ति के बाद जीव के स्वरूपाविर्भाव का विषय प्रस्तुत है। अवशिष्ट सूत्र भी इसी एक विषय के प्रतिपादक रूप में परस्पर-सम्बद्ध हैं। इस प्रकार रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उक्त सभी सूत्रों में मुक्त जीव के स्वरूपा-विर्भाव या मुक्ति पर विचार मानना अधिक उपयुक्त एवं सूत्रसंगत प्रतीत होता है ।।१।।

सूत्र ४।४।४—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार किंचित् भेद से उक्त सूत्र में यह यिचार करते हैं कि ब्रह्मसम्पन्न मुक्त जीव अपने को ब्रह्म से अविभक्त रूप में अनुभूत करता है या विभक्त रूप में। मध्व इसमें यह प्रतिपादित करते हैं कि जिन भोगों को परमात्मा भोगता है, उन्हीं को मुक्त भोगते हैं। वल्लभ इसे अपने पूर्वाधिकरण से सम्बद्ध कर इसका भिन्न अर्थ प्रस्तुत करते हैं। सूत्र से मध्व और वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थों का समर्थन नहीं होता। सूत्र में केवल 'अविभागेन' पद है। उसमें भोग आदि

का निर्देश नहीं। अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय प्रसंग और सूत्र के अधिक अनुकूल होने के साथ क्रमप्राप्त भी है ॥२॥

सूत्र ४।४।५-७—मध्व और वल्लभ कौ छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्रों में यह विचार करते है कि मुक्त जीव अपने जिस स्वरूप से आविर्भूत होता है, वह कैसा हैं, अर्थात् वह किन्हीं गुणों से युक्त है या चिन्मात्र है, आदि। मध्व और वल्लभ इनमें यह निर्णीत करते हैं कि मुक्त जीव किस प्रकार के शरीर से ब्रह्म के साथ भोगों का अनुभव करता है।

सूत्रों में शरीर या भोगों का कोई निर्देश नहीं। वस्तुतः इन विषयों पर विचार तो सूत्रकार आगे (सू० ४।४।८-१६,२१) करने वाले हैं। सूत्र ४।४।५ का 'ब्राह्मेण' तृतीयान्त पद सू० ४।४।१ के 'स्वेन' से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है और यह 'स्वेन' छान्दोग्य के 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (८।१२।३) का संकेत करता है। इस प्रकार यहाँ 'ब्राह्मेण' को 'स्वेन रूपेण' का विशेषण मानना अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है और इस प्रकार उक्त सूत्रों में मुक्त जीव के निजी स्वरूप की विशेषताओं पर विचार मानना अधिक युक्तियुक्त एवं सूत्रसंगत है, जैसा कि मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने माना है ॥३॥

सूत्र ४।४।८-९—वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्रों में किंचित् भेद से यह निर्णीत करते हैं कि छन्दोग्य (८।१२।३) में जो ब्रह्म-सम्पन्न मुक्त जीव के विषय में क्रीड़ा, रमण आदि वर्णित हैं, वे उसे संकल्प-मात्र से ही प्राप्त होते हैं या उनके लिए कोई प्रयत्न करना पड़ता है। वल्लभ इन सूत्रों को अपने पूर्वाधिकरण से सम्बद्ध कर इनका भिन्न अर्थ प्रस्तुत करते हैं, जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता ॥४॥

सूत्र ४।४।१०-१५—वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार किंचित् अर्थभेद के साथ उक्त सभी सूत्रों में इस विषय का निर्णय मानते हैं कि मुक्त को शरीर प्राप्त होता है या नहीं, वल्लभ उक्त विषय को सू० ४।४।१२ तक सीमित रख अवशिष्ट सूत्रों में भिन्न विषयों का प्रतिपादन मानते हैं, किन्तु सु० ४।४।१२ में सूत्रकार ने शरीर के भाव और अभाव दोनों को स्वीकृत कर जो अपना मत व्यक्त किया है, उसी की उपपत्ति उन्होंने सू० ४।४।१३ से प्रस्तुत की है, जैसा कि 'तन्वभावे सन्ध्यवत्' (४।४।१३) और 'भावे जाग्रद्वत्' (४।४।१४) से प्रत्यक्षतः स्पष्ट है और यही विषय सू० ४।४।१६ तक चल रहा है, अतः ४।४।१३-१६ भी उक्त विषय से ही सम्बद्ध मानने चाहिए, जैसा कि अन्य सभी भाष्यकारों ने माना है ॥५॥

सूत्र ४।४।१७-२१—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सभी सूत्रों में इस विषय को निर्णीत करते है कि मुक्तों को जगद्-व्यापार का भी अधिकार प्राप्त होता है या नहीं। मध्व उक्त विषय को सू० ४।४।१६ तक ही सीमित रख कर अवशिष्ट सूत्रों में भिन्न प्रकार से विषय-निरूपण करते हैं। वल्लभ उक्त सूत्रों में यह विचार करते हैं कि मुक्तों का ब्रह्म के साथ भोग लौकिक व्यापार से युक्त है या नहीं, सू० ४।४।१७ का 'जगद्व्यापार' शब्द वल्लभ के अर्थ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ को अधिक प्रत्यक्षतः अभिहित करता हुआ प्रतीत होता है। साथ ही उक्त अर्थ के अनुसार सूत्र अधिक उपयुक्त रीति से संगत हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त सूत्र से मुक्तों के जगत्सृष्टयादिव्यापार के सम्बन्ध में विचार का प्रस्तावन मानना उचित है, जैसा कि अन्य सभी भाष्यकारों ने माना है, और अवशिष्ट सूत्र उक्त एक ही विषय के प्रतिपादक के रूप में स्पष्टतः परस्पर-सम्बद्ध प्रतीत होते हैं ॥६॥

सूत्र ४।४।२२—उक्त सूत्र में सभी भाष्यकार इस विषय पर विचार मानते हैं कि मुक्तों की इस संसार में पुनरावृत्ति होती है या नहीं ॥७॥

उपसंहार—पूर्वपृष्ठों में ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों को जानने का प्रयत्न किया गया और वह भी इस रूप में कि भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत अधिकरण, सूत्रों के विशिष्ट अर्थ, विषयप्रतिपादनप्रकार और सिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में परस्पर-मतभेद की उपेक्षा कर केवल यह देखा गया कि उन्होंने सूत्रों में किन प्रतिपाद्य-विषयों को स्वीकृत किया है, किन्तु इतने से भी स्पष्ट है कि सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर ऐकमत्य रखने पर भी भाष्यकारों ने अन्यत्र पर्याप्त मतभेद प्रदर्शित किया है। इस मतभेद का कारण कहीं-कहीं तो पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है और वह है अपने सिद्धान्तों को सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित कराने और अपने विरुद्ध सिद्धान्तों को उनसे प्रतिपादित न होने देने की प्रवृत्ति; किन्तु अनेक स्थलों पर यह समझ में नहीं आता कि उन्होंने विषयभेदकल्पना क्यों की ! कहीं-कहीं कुछ भाष्यकारों ने ऐसा भी किया है कि किसी विशिष्ट विषय को उसके वास्तविक प्रतिपादक सूत्रों में न मानकर अन्य सूत्रों में माना है और वास्तविक प्रतिपादक सूत्रों को विषयान्तर का प्रतिपादन करने के लिए सुरक्षित कर दिया है। अनेक स्थल ऐसे हैं, जहाँ सूत्रों से उनका वास्तविक प्रतिपाद्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता, ऐसे स्थलों से कुछ भाष्यकारों ने यह लाभ उठाया है कि सूत्रों पर स्वच्छन्दता से अपने सिद्धान्तानुकूल विषयों का आरोपण कर उनमें सूत्रों की

यथाकथंचित् संगति लगा दी है। सूत्रों पर विषयों को बलात् आरोपित करते हुए उन्होंने यह भी ध्यान नहीं दिया है कि कहीं उन्होंने उन्हीं विषयों का प्रतिपादन करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थलों पर कई स्वतन्त्र अधिकरण तो नहीं मान लिए हैं और इस प्रकार व्यर्थ की पुनरावृत्ति तो नहीं हो रही है। न उन्होंने यही विचार किया है कि ये आरोपणीय विषय ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि के अन्तर्गत भी आते हैं या नहीं। अस्तु! इस प्रकार सूत्रों का स्वच्छन्द उपयोग करने के कारण प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में परस्पर-भिन्नता का होना स्वाभाविक था; किन्तु जहाँ उन्होंने ऐसा नहीं किया है, वहाँ उनमें ऐकमत्य भी रह सका है।

भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषयों का परीक्षण करने से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट है कि सौभाग्य से जहाँ कहीं भी उनमें ऐकमत्य है, वहाँ अनिवार्य रूप से सूत्रानुकूलता भी है। ऐसा कहीं प्रतीत नहीं हुआ कि उनके द्वारा सर्व-सम्मति से स्वीकृत कोई विषय सूत्रप्रतिकूल हो। यत्र-तत्र यत्-किंचित् भेद के साथ निम्न सूत्रों के विषय सर्वसम्मति से स्वीकृत हैं और सूत्रानुकूल भी प्रतीत होते हैं :—

सूत्र १।१।१-३; १।१।१३ से १।४।१३ तक[1]; २।१।१३; २।१।३२-३४; २।२।१-३; २।२।१०-३८[2]; २।३।१-१३; २।३।३३-४४; २।४।४-१७; ३।१।२२,२४,२५; ३।२।७; ३।२।३७-४०; ३।३।५; ३।३।११-१५; ३।३।५७, ५८; ३।४।२६-३१; ३।४।४७; ४।१।१-३; ४।१।१३-१९; ४।२।१६; ४।२।२७; ४।३।२-१३; ४।४।१०-१२; ४।४।२२।

उक्त सूत्रों के अतिरिक्त निम्न सूत्रों के भी विषय सर्वसम्मत हैं, किन्तु भाष्यकारों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तावित किए गए हैं :—

---

१. सू० १।१।१३-१।४।१३ में केवल इतने अंश में सर्वसम्मति है कि उक्त सूत्रों में श्रुति-वाक्य-समन्वय किया गया है, किन्तु किन विशिष्ट सूत्रों में किन विशिष्ट श्रुति-वाक्यों का समन्वय किया गया है और किस प्रकार किया गया है, इसके सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है।

२. सूत्र २।२।१७-३० में केवल इतने अंश में सर्वसम्मति है कि उक्त सूत्रों में बौद्धमत का निराकरण है, किन्तु किन सूत्रों में उक्त मत की किस शाखा का निराकरण है, इसके सम्बन्ध में मतभेद है।

सूत्र २।१।३०, ३१; २।३।५०-५२; २।४।१-३; ३।१।१-१७, २३, २६, २७; ३।२।८; ३।३।१-४; ३।४।१-९, ३२-३५, ४८, ४९; ४।१।४; ४।२।१८-२०; ४।३।१, १४, १५।

उक्त दोनों प्रकार के स्थलों को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद के स्थलों में से कुछ ऐसे हैं, जहाँ किसी भी भाष्यकार के द्वारा स्वीकृत विषय सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होते, ये स्थल निम्न हैं :—

सूत्र १।१।४; ३।३।१०; ३।३।१८-२२; ३।३।२४; ३।३।३५-४३; ३।४।४४-४६।

इनके अतिरिक्त सूत्र ३।२।११-२९ में आंशिक रूप से सभी भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत प्रतिपाद्यों के अल्पाधिक स्वीकरणीय होने पर भी पूर्णतया किसी के विषय सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होते।

मतभेद के अन्य अवशिष्ट स्थलों पर निम्नलिखित सूत्रों में भिन्न-भिन्न भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषयों का उन सूत्रों से समर्थन नहीं होता, जिनमें ये प्रतिपादित माने गए हैं :—

रामानुज—सूत्र २।२।४१-४२; ३।३।६-९; ३।४।२१-२२; ३।४।५०; ३।४।५१।

निम्बार्क—सूत्र २।२।३९-४२; २।३।१५; २।३।१६; ३।३।६-९; ३।४।२१-२२।

मध्व—सूत्र १।१।५-१२; १।४।७-२९; २।१।१-१२; २।१।१४-२९; २।२।४-९; २।२।३९-४२; २।३।१४-१९; २।३।२७-३०; २।३।४५-४९; ३।१।१८-२१; ३।२।६; ३।२।९; ३।२।३०-३६; ३।३।२३; ३।३।२५-३४; ३।३।४४-५४; ३।३।५६; ३।३।५९-६४; ३।४।१०-२५; ३।४।३६-४५; ४।१।५-६; ४।२।१-१५; ४।४।१-७; ४।४।२०-२१।

वल्लभ—सूत्र १।१।५-१२; २।३।१५-१६; २।४।१८-१९; ३।१।२१; ३।२।१०; ३।३।६-९; ३।३।१६-१७; ३।३।२३; ३।३।२५-३०; ३।३।३२-३४; ३।३।४४-५४; ३।३।५६; ३।३।६१-६४; ३।४।३६-४५; ३।४।५०; ३।४।५१; ४।१।५-१२; ४।२।१-१५; ४।४।१-९; ४।४।१३-२१।

बलदेव—सूत्र १।१।५-१२; २।१।४-५; २।१।२१-२९; २।१।३५-३६; २।२।३९-४२; २।३।४५-४९; ३।२।६; ३।२।३०-३४; ३।२।३६; ३।३।७-९; ३।३।२३; ३।३।२५-३०; ३।३।३२; ३।३।४४-५४; ३।३।५९-६४; ३।४।१५-२५; ३।४।४०-४५।

उक्त सूत्रों में से १।४।७-२६; २।१।१-३; २।१।६-१२; २।१।१४-२०; २।२।४-६; २।३।१४; २।३।१८-१६; २।३।२७-३०; ३।१।१८-२०; ३।२।६; ३।२।३५; ३।३।३१ और ३।४।१०-१४ में केवल मध्व ने सूत्र-प्रतिकूल विषय की कल्पना की है, अन्यथा इनमें अन्य भाष्यकारों ने सर्वसम्मत रूप से सूत्रानुकूल विषय स्वीकृत किया है।

सूत्र ३।१।२१; ३।३।५६; ३।४।३६-३६; ४।१।५-६; ४।२।१-१५; ४।४।१-७ और ४।४।२०-२१ में मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय सूत्रानुकूल हैं।

सूत्र २।१।४-५; २।१।२१-२६; २।३।४५-४६; ३।२।६; ३।२।३०-३४; ३।२।३६; ३।३।५६-६० और ३।४।१५-२५ में मध्व और बलदेव को छोड़कर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय सूत्रानुकूल हैं।

सूत्र २।४।१८-१६; ३।२।१०; ३।३।१६।१७; ४।१।७-१२; ४।४।८-६ और ४।४।१३-१६ में केवल वल्लभ ने सूत्रप्रतिकूल विषय स्वीकृत किए हैं, अन्यथा अन्य भाष्यकारों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत विषय सूत्रानुकूल हैं।

सूत्र २।१।३५–३६ में केवल बलदेव को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों ने सर्वसम्मति से सूत्रानुकूल विषय स्वीकृत किया है।

सूत्र ३।३।५० और ३।३।५१ में केवल रामानुज और वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय सूत्रानुकूल हैं।

सूत्र ३।३।७–६ में केवल मध्व द्वारा स्वीकृत और ३।३।६ में केवल मध्व और बलदेव द्वारा स्वीकृत विषय अधिक सूत्रानुकूल हैं।

सूत्र २।२।४१–४२ और ३।४।२१-२२ में केवल वल्लभ द्वारा स्वीकृत विषय अधिक उपयुक्त हैं और सूत्र २।२।३६-४० में केवल रामानुज और वल्लभ द्वारा स्वीकृत विषय अधिक सम्भव है।

सूत्र २।३।१५-१६ में केवल रामानुज और बलदेव द्वारा स्वीकृत विषय अधिक सूत्रसम्मत है।

सूत्र १।१।५-१२; ३।३।२३; ३।३।२५-३०; ३।३।३२; ३।३।४४-५४; २।३।६१-६४ और ३।४।४०-४५ में केवल रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत विषय अधिक सूत्रसम्मत हैं।

उक्त सभी स्थलों में केवल विषय की ही सूत्रानुकूलता पर ध्यान दिया गया है, किन्तु यह भी सम्भव है कि किसी भाष्यकार के द्वारा स्वीकृत

विषय के सूत्रानुकूल होने पर भी उसके द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट अर्थ सूत्राक्षरों के अनुकूल न हो।

३. सूत्र-क्रम से संक्षिप्त विषय-विश्लेषण

प्रस्तुत अध्याय में अब तक किए हुए अध्ययन के परिणामस्वरूप ब्रह्मसूत्रों के अधिक सम्भव और सूत्रानुकूल प्रतीत होने वाले वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों को सूत्र-क्रम से निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

अध्याय १ पाद १

सूत्र १—शास्त्र-प्रस्तावना।

सूत्र २—ब्रह्म के जगत्कारणत्वरूप लक्षण का प्रतिपादन।

सूत्र ३—ब्रह्म और उसके जगत्कारणत्व में शास्त्रप्रामाण्य का प्रतिपादन।

सूत्र ४—उक्त शास्त्रप्रमाण्य के सम्बन्ध में विपक्षी (सांख्य आदि) के द्वारा उठाए हुए आक्षेप का निराकरण करते हुए शास्त्र-समन्वय के आधार पर पूर्वप्रस्तुत प्रतिज्ञा—ब्रह्मकारणवाद—का समर्थन।

सूत्र ५-३२—श्रुतिवाक्य-समन्वय।

अध्याय १ पाद २

सूत्र १-३३—श्रुतिवाक्य-समम्वय।

अध्याय १ पाद ३

सूत्र १-४४—श्रुतिवाक्य-समन्वय।

अवान्तर विषय—

१. सूत्र २५-३२—ब्रह्मोपासना में देवों के अधिकार पर विचार।
२. सूत्र ३३-३९—ब्रह्मोपासना में शूद्रों के अधिकार पर विचार।

अध्याय १ पाद ४

सूत्र १-२२—श्रुतिवाक्य-समन्वय।

सूत्र २३-२८—ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन।

सूत्र २९—प्रस्तुत अध्याय के पूर्ववर्णित विषय—श्रुतिवाक्य-समन्वय—का उपसंहार।

अध्याय २ पाद १

सूत्र १-३—पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य-समन्वय के सम्बन्ध में आक्षिप्त स्मृति-विरोध का परिहार।

सूत्र ४-३५—ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व पर किए हुए भिन्न-भिन्न आक्षेपों का परिहार ।

सूत्र ३६—प्रस्तुत पाद के विषय—उक्त आक्षेपपरिहार—का उपसंहार कर अन्तिम रूप से ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का स्थापन ।

अध्याय २ पाद २

सूत्र १-९—सांख्यमत-निराकरण ।

सूत्र १०-१६—वैशेषिकमत-निराकरण ।

सूत्र १७-३०—बौद्धमत-निराकरण ।

सूत्र ३१-३४—जैनमत-निराकरण ।

सूत्र ३५-३८—पाशुपतमत-निराकरण ।

सूत्र ३९-४२—पांचरात्रमत-निराकरण ।

अध्याय २ पाद ३

सूत्र १-१७—आकाश आदि पंच महाभूतों की उत्पत्ति पर विचार ।

सूत्र १८—जीव की उत्पत्ति पर विचार ।

सूत्र १९-३२—जीव के स्वरूप और परिमाण पर विचार ।

सूत्र ३३-४१—जीव के कर्तृत्व पर विचार ।

सूत्र ४२-५२—जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार ।

अध्याय २ पाद ४

सूत्र १-६—इन्द्रियों की उत्पत्ति, संख्या और परिमाण पर विचार ।

सूत्र ७-१२—मुख्यप्राण की उत्पत्ति, स्वरूप, कार्य, संख्या और परिमाण पर विचार ।

सूत्र १३-१४—इन्द्रियसहित मुख्यप्राण के अधिष्ठान पर विचार ।

सूत्र १५-१६—मुख्यप्राण और इन्द्रियों के भेद पर विचार ।

सूत्र १७-१९—ब्रह्म के नामरूपकर्तृत्व का प्रतिपादन ।

अध्याय ३ पाद १

सूत्र १-७—देहपरित्याग करने पर पुण्यकृत् जीव के लोकान्तर-गमन पर विचार ।

सूत्र ८-११—पुण्यकृत् जीव के लोकान्तर से आगमन पर कर्मसंसर्ग के सम्बन्ध में विचार ।

सूत्र १२-२१—पापकृत् जीव के लोकान्तर-गमनागमन पर विचार ।

सूत्र २२-२७—पुण्यकृत् जीव के लोकान्तर से प्रस्थित होने से लेकर उसके पुनर्जन्म तक की अवस्था पर विचार ।

अध्याय ३ पाद २

सूत्र १-१०—जीव की स्वप्न, सुषुप्ति, जागरण और मूर्च्छा आदि दशाओं का निरूपण।

सूत्र ११-२६—जड़जीवात्मक जगत् के सम्बन्ध से ब्रह्मस्वरूपनिरूपण।

सूत्र ३०-३६—ब्रह्म के परात्परत्व पर विचार।

सूत्र ३७-४०—ब्रह्म के फलप्रदत्व का प्रतिपादन।

अध्याय ३ पाद ३

सूत्र १-४—उपासनाओं के सर्ववेदान्तप्रत्ययत्व पर विचार।

सूत्र ५-९—समान उपासनाओं में ब्रह्मगुण आदि के परस्पर उपसंहार पर विचार।

सूत्र १०-१७—सभी उपासनाओं में उपसंहरणीय ब्रह्मगुणों पर विचार।

सूत्र १८—उपासना में भी कर्मवत् अपूर्वविधि का विचार।

सूत्र १९—समान उपासनाओं में उक्त अपूर्वविधि के उपसंहार पर विचार।

सूत्र २०-२२—असमान उपासनाओं में परस्पर उपसंहार पर विचार।

सूत्र २३—संभृति, द्युव्याप्ति आदि गुणों के सर्वत्र उपसंहार पर विचार।

सूत्र २४—पुरुषविद्याओं के सम्बन्ध से परस्पर उपसंहार पर विचार।

सूत्र २५—'शुक्रं प्रविध्य' आदि शान्तिमन्त्रों के सर्वत्र उपसंहार पर विचार।

सूत्र २६-३०—विद्वान् के कर्मों की हानि और उनके सुहृद-दुर्हृदों में उपायन (प्राप्ति) सम्बन्धी वर्णन के सर्वत्र उपसंहार पर विचार।

सूत्र ३१-३२—अर्चिरादिगति-वर्णन के सर्वत्र उपसंहार पर विचार।

सूत्र ३३-३७—अक्षरसम्बन्धिनी दृष्टियों के उपसंहार पर विचार।

सूत्र ३८-४०—ब्रह्म के सत्यकामत्व आदि गुणों के सर्वत्र उपसंहार पर विचार।

सूत्र ४१-४३—साधनकालीन दृष्टि और सिद्धिकालीन दृष्टि के तारतम्य पर विचार।

सूत्र ४४-५०—मनश्चित आदि अग्नियों के स्वरूप पर विचार।

सूत्र ५१-५२—उपासक के द्वारा अपने स्वरूप के अनुसंधान पर विचार।

सूत्र ५३-५४—अंगावबद्ध उपासनाओं पर विचार।

सूत्र ५५—सांग उपासनाओं के समस्त और व्यस्त प्रकारों के तारतम्य पर विचार।

सूत्र ५६—उपासनाओं के परस्पर एकत्व या नानात्व पर विचार।

सूत्र ५७-६४—विभिन्न उपासनाओं के परस्पर विकल्प या समुच्चय पर विचार।

अध्याय ३ पाद ४

सूत्र १-२५—पुरुषार्थ (मुक्ति) का साधन विद्या है या कर्म, यह विचार।

सूत्र २६-३५—विद्या की स्वरूप सिद्धि में सहकारी कर्मों की अपेक्षा पर विचार।

सूत्र ३६-४८—उपासनाधिकार के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से विचार।

सूत्र ४९—उपासक के द्वारा अपने स्वभाव या सिद्धि के अनाविष्कार पर विचार।

सूत्र ५०—ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के काल पर विचार।

सूत्र ५१—ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के आधार पर तज्जन्य मुक्तिरूप फल की सिद्धि के काल पर विचार।

अध्याय ४ पाद १

सूत्र १-१२—उपासना के प्रकार पर विविध रूप से विचार।

सूत्र १३-१९—विद्या की सिद्धि पर विद्वान् के विविध कर्मों की स्थिति पर विचार।

अध्याय ४ पाद २

सूत्र १-६—देह से उत्क्रान्त होने पर जीव के उपकरणों की स्थिति पर विचार।

सूत्र ७-१३—विद्वान् की उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में विचार।

सूत्र १४—उत्क्रान्त होने पर शरीर के उपादान भूत-सूक्ष्मों की सम्पत्ति पर विचार।

सूत्र १५—उक्त सम्पत्ति के स्वरूप पर विचार।

सूत्र १६—सर्वसाधारण से विद्वान् की उत्क्रान्ति की विशेषता का प्रतिपादन।

सूत्र १७—शरीर से उत्क्रान्त विद्वान् के ऊर्ध्वगमन का साधन।

सूत्र १८-२०—उत्क्रान्ति या मरण के कालभेद से विद्वान् के ऊर्ध्व-गमन पर विचार।

अध्याय ४ पाद ३

सूत्र १-५—शरीर से उत्क्रान्त विद्वान् को लक्ष्य तक पहुंचाने वाला मार्ग और उसका स्वरूप।

सूत्र ६-१५—उक्त मार्ग के द्वारा गमन करने वाले विद्वानों का प्राप्तव्य लक्ष्य।

अध्याय ४ पाद ४

सूत्र १-३—ब्रह्मप्राप्ति पर जीव के स्वरूप (मुक्ति) पर विचार।

सूत्र ४—ब्रह्म के साथ मुक्त जीव की स्थिति पर विचार।

सूत्र ५-७—मुक्त जीव के आविर्भूत स्वरूप की विशेषता पर विचार।

सूत्र ८-२१—मुक्त जीव की शक्ति, साधन, भोग (फल) और ऐश्वर्य आदि पर विचार।

सूत्र २२—मुक्त जीव की संसार में पुनरावृत्ति पर विचार।

अध्याय २

ब्रह्मसूत्रों के प्रमुख अध्येतव्य विषय

सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों पर सामान्य दृष्टि

विगत अध्याय में प्रस्तुत अध्ययन के फलस्वरूप ब्रह्मसूत्रों के जो वास्तविक प्रतिपाद्य-विषय प्रतीत हुए हैं, उन्हें देखने से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि सूत्रकार ने अपने सूत्रों में प्रस्तुत 'ब्रह्ममीमांसा' को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में, जिसमें कि सूत्रों के प्रारम्भिक दो अध्याय आते हैं, उन्होंने श्रौत 'तत्त्वमीमांसा' प्रस्तुत की है, और द्वितीय भाग में, जिसमें कि सूत्रों के अन्तिम दो अध्याय हैं, उन्होंने श्रौत 'आचारमीमांसा' को प्रस्तुत किया है। प्रथम भाग में उनके द्वारा प्रस्तुत तत्त्वमीमांसा का एक ही मुख्य प्रतिपाद्य-विषय है और वह है—ब्रह्मकारणवाद, जिसके अनुसार जगत् का मूलकारण एकमात्र ब्रह्म है, और द्वितीय भाग में प्रस्तुत आचारमीमांसा का मुख्य विषय है—ब्रह्मपरत्ववाद, जिसके अनुसार चेतनों का परम-निःश्रेयस एकमात्र ब्रह्म की ही प्राप्ति है। इस प्रकार सूत्रकार ने श्रुतियों में प्रतिपादित 'वेदान्तदर्शन' के अनुसार एकमात्र ब्रह्म को ही परमकारण और परमप्राप्य प्रतिपादित करने की दृष्टि से विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया है, किन्तु उन सबका सम्बन्ध एक ही मुख्य विषय—ब्रह्मनिरूपण—से है और इसीलिए उन्होंने उनको 'ब्रह्मजिज्ञासा' या 'ब्रह्ममीमांसा' के अन्तर्गत लिया है एवं तत्त्व और आचार दोनों ही दृष्टियों से उक्त मीमांसा को क्रमशः तत्त्व-मीमांसा और आचारमीमांसा के रूप में प्रस्तुत किया है।

(अ) तत्त्वमीमांसा—जैसा कि अभी कहा जा चुका है, सूत्रों के प्रथम दो अध्यायों में तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की गई है और उसका मुख्य प्रतिपाद्य-विषय 'ब्रह्मकारणवाद' है।

प्रथम सूत्र में सूत्रकार ने जिस तत्त्व 'ब्रह्म' को प्रस्तूयमान शास्त्र के द्वारा जिज्ञास्य या निरूपणीय रूप में प्रस्तुत किया, उसके सम्बन्ध में कुछ भी

कहने से पूर्व उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा की कि वह जगज्जन्मादिकारण है और तृतीय सूत्र में उक्त प्रतिज्ञा के आधारभूत प्रमाण 'शास्त्र' को प्रस्तुत किया, किन्तु जो शास्त्र (श्रुति) उनकी दृष्टि में था, उसके सम्बन्ध में कई विवाद थे। उस शास्त्र में परस्पर-विरोध प्रतीत होता था। उस में जगत्कारणतत्त्व को एक ही शब्द से निर्दिष्ट नहीं किया है, कहीं उसे ब्रह्म कहा गया है, कहीं सत्, कहीं अक्षर, कहीं आकाश, और कहीं प्राण, और इसी प्रकार विभिन्न प्रकरणों में उसे आनन्दमय, ज्योति, अदिति, दहर, भूमा आदि विभिन्न शब्दों से अभिहित किया गया है, तो यह शंका होना स्वाभाविक था कि क्या विभिन्न प्रकरणों में विभिन्न शब्दों से निर्दिष्ट जगत्कारणतत्त्व एक ही है या उक्त तत्त्व परस्पर-भिन्न हैं? यदि एक ही तत्त्व माना जावे तो विभिन्न प्रकरणों में प्रतिपादित परस्पर-भिन्न ही नहीं, अपितु परस्पर-विरुद्ध विशेषताओं का उस एक ही तत्त्व में होना कैसे संभव है? और यदि किसी प्रकार संभव भी है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वह तत्त्व वेदान्ताभिमत ब्रह्म ही है? संभव है कि वह सांख्याभिमत अचेतन प्रधान हो, और जैसा कि सूत्रों से स्पष्ट है, वस्तुतः सूत्रकार के समय में सांख्यवादियों का ऐसा वाद भी था। उक्त विवादों की उपस्थिति में जिज्ञास्य ब्रह्म के जगत्कारणत्व को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार के द्वारा प्रस्तुत उक्त प्रमाण कैसे समर्थ माना जा सकता था? उक्त विवाद सूत्रकार की दृष्टि में थे, इसलिए उन्होंने चतुर्थ सूत्र के द्वारा बड़े आत्मविश्वास के साथ घोषणा की—'तत्तु समन्वयात्', ब्रह्म के जगत्कारणत्व में शास्त्रप्रामाण्य है, आपातप्रतीति से भले ही उक्त शास्त्र (श्रुति) में विरोध प्रतीत होता हो या भले ही यह माना जा सके कि उसमें किसी ब्रह्मव्यतिरिक्त तत्त्व को जगत् कारण बताया गया है, किन्तु यदि उसका समन्वय किया जावे तो यही निष्कर्ष प्राप्त होगा कि जिज्ञास्य ब्रह्म को ही उसमें सर्वत्र जगत्कारण बताया गया है और विभिन्न प्रकरणों में वर्णित विशेषताएँ उक्त एक ही तत्त्व में सम्भव हैं। उक्त घोषणा के अनुसार सूत्रकार श्रुतियों के समन्वय में प्रवृत्त हुए और सर्वप्रथम सू० १।१।५-१२ के द्वारा उन्होंने एक विशिष्ट श्रुति-प्रकरण में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित 'सत्' के सम्बन्ध में कहा कि वह सांख्याभिमत अचेतन प्रधान नहीं, अपितु वेदान्ताभिमत चेतन ब्रह्म है। इसी प्रकार उन्होंने सू० १।४।२२ तक विभिन्न श्रुति-प्रकरणों का समन्वय कर यह सिद्ध कर दिया कि सभी प्रकरणों में एक ही तत्त्व—जिज्ञास्य ब्रह्म—का प्रतिपादन है और उसके फलस्वरूप अन्त में सू० १।४।२३-२८ के द्वारा यह सिद्धान्त अन्तिम रूप से स्थापित किया कि जिज्ञास्य ब्रह्म जगत् का

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है तथा सू० १।४।२६ के द्वारा यह जयघोष किया कि वे सभी विभिन्न श्रुति-प्रकरणों की व्याख्या कर चुके और अब इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारणत्व में शास्त्र का प्रामाण्य है। इस प्रकार उन्होंने प्रथम तीन सूत्रों (१।१।१-३) के द्वारा जो प्रतिज्ञा की थी, उसे अन्तिम रूप से सिद्ध कर दिया। उक्त रूप से विभिन्न श्रुति-प्रकरणों का समन्वय करने के कारण ही प्रथम अध्याय 'समन्वयाध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त प्रकार से प्रथम अध्याय में श्रुतियों के बल पर ब्रह्मकारणवाद की स्थापना तो सूत्रकार ने कर दी, किन्तु अभी विरोध उपस्थित थे। उनके दर्शन का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मत—सांख्य, जो श्रुतियों का समन्वय स्वाभिमत अचेतन प्रधान में करता था, कहता था कि सूत्रकार ने जिस प्रकार समन्वय उपस्थित किया है, वह मान्य नहीं, क्योंकि वह स्मृति के प्रतिकूल हैं, स्मृतियों के अनुसार ही श्रुतियों का अर्थ लगाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका कहना था कि सूत्रकार के प्रकार से किसी चेतन तत्त्व 'ब्रह्म' को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण किसी प्रकार मान भी लिया जावे, तब भी वह उपपन्न सिद्ध नहीं होता, अतः यही मानना चाहिए कि सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत व्याख्या ठीक नहीं है। इसी प्रकार अन्य मतावलम्बियों के द्वारा उपस्थित किए हुए विरोध थे। उक्त विरोधों को दूर किए विना ब्रह्मकारणवाद अविचल रूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता था। अतः द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में सर्वप्रथम उन्होंने स्मृतिविरोध को दूर किया और वह भी स्मृतियों के ही बल पर, और सिद्ध किया कि जहाँ तक स्मृतियों का सम्बन्ध है, वे उनके द्वारा प्रस्तुत श्रुति-वाक्य-समन्वय का समर्थन करती हैं। इसी प्रकार युक्तियों के बल पर उठाए गए विरोधों को युक्तियों के बल पर ही निराकृत किया और अन्त में यह घोषणा की—'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' (सू० २।१।३६) अर्थात् ब्रह्म में एक अभिन्ननिमित्तोपादानकारण में अपेक्षित सभी धर्मों या विशेषताओं की उपपत्ति है, ब्रह्मकारणवाद सभी प्रतिबन्धों को पूर्ण करता है और फलस्वरूप सब प्रकार से उपपन्न है। उक्त सूत्र के द्वारा प्रस्तुत अध्याय के प्रथमपाद का उपसंहार करते हुए उन्होंने यह विजय-घोषणा की कि श्रौत ब्रह्मकारणवाद केवल श्रद्धामात्रविजृम्भित नहीं, अपितु प्रबल युक्तियों से भी समर्थित है। वह कोई बालुका की ऐसी भित्ति नहीं, जो एक छोटा सा आघात लगते ही ढह जावे, अपितु एक परिपुष्ट आधार पर स्थापित सुदृढ़ विजय-स्तम्भ है।

उक्त सूत्र के द्वारा ब्रह्मकारणवाद को सर्वधर्मोपपन्न बताने के साथ ही सूत्रकार ने 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (सूत्र २।२।१) के द्वारा प्रस्तुत

अध्याय के द्वितीय पाद का आरम्भ करते हुए अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी सांख्य पर, जिसके कि साथ वे अब तक के सूत्रों में संघर्ष लेते रहे हैं, आक्रमण कर विपक्षी मतों के निराकरण का श्रीगणेश कर दिया। ब्रह्मकारणवाद-समर्थन के उपसंहार-सूत्र 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' (सू० २।१।३६) के साथ परमत-निराकरण के प्रस्तावक-सूत्र 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (सू० २।२।१) के स्वरूप पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने किस नाटकीय शैली और अभिनिवेश के साथ स्वसिद्धान्त-स्थापन करने के बाद ही परमत-निराकरण प्रस्तुत किया है। एक ओर 'सर्वधर्मोपपत्ति' है, और दूसरी ओर उसके विपरीत 'रचनानुपपत्ति' है। उनकी इस शैली में प्रभाव तो है ही, साथ ही उनके स्वसिद्धान्त-स्थापन और परमत-निराकरण के अभिनिवेश से उनका दार्शनिक रूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है और इतना ही नहीं, उक्त दोनों सूत्रों की परस्पर-संगति से इस आशंका की भी कोई सम्भावना नहीं रहती कि परमत-निराकरण कहीं सूत्रों के विषय से असंगत तो नहीं है। अस्तु ! उन्होंने निराकरण के लिए अपने समय में प्रचलित स्वसिद्धान्त-प्रतिकूल प्रायः सभी प्रमुख मतों को लिया और उनमें जितना विरुद्ध अंश था, उसका निराकरण कर सिद्ध किया कि उक्त सभी मत न्यूनाधिक रूप में सदोष एवं अनुपपन्न है और एक मात्र श्रुतिप्रतिपादित 'वेदान्तदर्शन' ही श्रुतिमूलक, निर्दोष एवं उपपन्न होने के कारण ग्राह्य है।

इतना होने पर भी अभी एक दूसरी ही दृष्टि से ब्रह्म के जगतकारणत्व पर बाधा पहुँच सकती थी, और वह दृष्टि यह थी कि जब तक सम्पूर्ण जगत् के सभी तथाकथित मूलतत्त्वों को ब्रह्मसृज्य न सिद्ध कर दिया जावे, तब तक ब्रह्म को अखिलजगत्कारण या परमकारण कैसे माना जा सकता है ? श्रुतियों में अनेक तत्त्वों की उत्पत्ति का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है। उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकरणों में विरोध है। किसी प्रकरण में ब्रह्म से सर्वप्रथम अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति बताई गई है और इस प्रकार उसमें अग्नि से पूर्ववर्ती तत्त्व आकाश और वायु का कोई निर्देश ही नहीं है। दूसरे प्रकरण में उक्त दोनों तत्त्वों की भी उत्पत्ति का प्रतिपादन है। तीसरे प्रकरण में वायु और आकाश को अमृत बताया गया है। इस प्रकार विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति तथा उनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में श्रुतियों में परस्पर-विरोध प्रतीत होता है और साथ ही विभिन्न तत्त्वों के सम्बन्ध में विपक्षी मतों की दृष्टि सूत्रकार के दर्शन के प्रतिकूल है। उक्त कारणों से यह आवश्यक था कि उक्त श्रुति-विरोध को दूर करते हुए विभिन्न तत्त्वों के सम्बन्ध में सूत्रकार श्रुतियों का वास्तविक

सिद्धान्त प्रकट करते और उनके सम्बन्ध से ब्रह्म के जगत्कारणत्व पर विचार करते। अतः सूत्रकार ने 'न वियदश्रुतेः' (सू० २।३।१) के द्वारा प्रस्तुत अध्याय के तीसरे पाद का प्रारम्भ करते हुए आकाश की उत्पत्ति का निषेध करने वाले पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर सम्पूर्ण जगत् के ब्रह्मकार्यत्वप्रतिपादन को प्रस्तुत किया और तदनुसार सू० २।३।१-१७ में सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् के आकाशादि तत्त्वों का ब्रह्मकार्यत्व प्रतिपादित किया तथा सू० २।३।१८-५२ में जीव को नित्य मानते हुए भी उसके कर्तृत्व को ब्रह्माधीन और स्वयं उसे ब्रह्मांश बता कर, प्रस्तुत अध्याय के चतुर्थ पाद में इन्द्रिय, मन, प्राण की भी उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए उक्त पाद के अन्त में सू० २।४।१७-१९ के द्वारा व्यष्टिगत नामरूपकर्तृत्व भी ब्रह्म में सिद्ध किया। उक्त प्रकार से ब्रह्मकारणवाद में पूर्णतया अविरोध-स्थापन करने के कारण ही उक्त अध्याय 'अविरोधाध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के प्रथम दो अध्यायों में उनके मुख्य प्रतिपाद्य-विषय 'ब्रह्मकारणवाद' के प्रतिपादन की पूर्णता के साथ उनके द्वारा स्थापित 'वेदान्तदर्शन' की तत्त्वमीमांसा समाप्त होती है।

(आ) आचारमीमांसा—प्रत्येक भारतीय दर्शन को अपनी तत्त्वमीमांसा के साथ अपनी आचारमीमांसा का भी परिचय देना पड़ता है। उसे अपने तत्त्व-ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग बताना पड़ता है। उसे यह निर्दिष्ट करना पड़ता है कि उसके अनुसार परमनिःश्रेयस क्या है? क्या वह इस समय प्राप्त है? यदि नहीं, तो उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? उसे परमनिः श्रेयस की प्राप्ति के लिए आचारसम्बन्धी विशिष्ट निर्देश स्पष्ट रूप से देने पड़ते हैं। ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। इतना ही नहीं, यह कहना चाहिए कि उक्त दर्शन ने जितने स्पष्ट रूप में आचारमीमांसासम्बन्धी निर्देश दिए हैं, उतने स्पष्ट रूप में अन्य दर्शन-सूत्र नहीं दे सके हैं। वेदान्त-दर्शन में उक्त पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया है, जितना कि उसका सैद्धान्तिक पक्ष, और इसीलिए सूत्रकार ने अपने सूत्रों के आधे भाग (अध्याय ३ एवं ४) को आचारमीमांसा के लिए ही समर्पित कर दिया है। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत आचारमीमांसा का स्वरूप आधुनिक आचारमीमांसा के समान नहीं है। उसकी विषय-परिधि अपेक्षाकृत व्यापक है। उसके द्वारा स्वीकृत परमनिःश्रेयस अपना असाधारण महत्त्व रखता है और इसीलिए उसके आचार असाधारण हैं, साथ ही विषय को देखने और उसे प्रतिपादन करने का दृष्टिकोण भी भिन्न है, किन्तु यह सब

होते हुए भी वह है आचारमीमांसा ही, यद्यपि वह एक अपना विशिष्ट स्वरूप रखती है।

सूत्रकार अपनी तत्त्वमीमांसा में ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बता चुके हैं और फलस्वरूप जगत् को ब्रह्म ही बता चुके हैं, और इस प्रकार जब ब्रह्मव्यतिरिक्त कोई तत्त्व है ही नहीं, तो किसी प्रकार की आचारमीमांसा का प्रश्न ही नहीं उठता है; किन्तु, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य-विषय ब्रह्मपरत्ववाद है। अब सूत्रकार यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ब्रह्म जगद्रूप होते हुए भी जगदतीत है। वह एक परतत्त्व है और इसलिए चेतनों का परमप्राप्य है। उसकी प्राप्ति ही चेतनों का परमनिःश्रेयस है। ब्रह्म का परत्व तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता, जब तक कि किसी अन्य तत्त्व का अपरत्व स्पष्टतः प्रदर्शित न कर दिया जावे, अतः वे सर्वप्रथम चेतन की वर्तमान दशाओं का वर्णन कर उसके अपरत्व को प्रदर्शित करते हैं।

तृतीयाध्याय के प्रथम पाद में सूत्रकार ने सर्वप्रथम जीव की अनादि संसारदशा का वर्णन प्रस्तुत किया, जिसमें रहते हुए संसरण (गमनागमन) बना ही रहता है, मरने पर भी पंचभूतों से छुटकारा नहीं, भूत-सूक्ष्म साथ ही बने रहते हैं (३।१।१-७) और कर्म का सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हो पाता (सू० ३।१।८-११), जिसके फलस्वरूप जन्म-मरण-चक्र निरन्तर चला ही करता है तथा अनेक स्थितियों को पार कर उसे पुनः शरीर प्राप्त होता है। कहीं यह आशंका न रहे कि उक्त दयनीय संसारदशा अनिष्टकर्मकर्त्ता जीवों को ही भोगनी पड़ती होगी, पुण्यकृत् जीवों को नहीं, वे तो सम्भवतः अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से इस नश्वर शरीर को छोड़ कर अनन्त सुख के भागी बनते होंगे; अतः सूत्रकार ने मुख्यतः पुण्यकृत् जीवों की ही संसारदशा का वर्णन किया और संकेत कर दिया कि जब उनकी यह दशा होती है, तो अनिष्टकर्मकारी जीवों के विषय में कहना ही क्या है? उनका संसरण तो और भी तीव्रगति से चलता रहता है। इस प्रकार उक्त पाद में सूत्रकार ने यह स्पष्टतः वर्णित कर दिया कि जीव कर्मपरतन्त्र है, वह बन्धन में पड़ा हुआ है, साथ ही यह भी बता दिया कि वह अपने पुण्यकर्मों से जिस फल को प्राप्त करता है, वह वेदान्तदर्शन की आचारमीमांसा के अनुसार परमनिःश्रेयस नहीं है और फलतः उसके लिए किए गए साधन भी वास्तविक परमनिःश्रेयस की प्राप्ति कराने के लिए असमर्थ हैं। इसके पश्चात् उक्त अध्याय के द्वितीय पाद में सूत्रकार ने जीव की स्वप्नदशा का वर्णन किया

कि वह कितनी दयनीय दशा में है कि क्षणिक स्वाप्निक अनुभवों में ही लीन हो जाता है और उस दशा के बाद अपने भ्रम पर क्षुब्ध होता है। सू० ३।२।४ में उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि जीव का बन्धन और मोक्ष परमात्मा के अधीन है और उसकी स्वप्नदशा का दिखाने वाला तथा सुषुप्ति का आधार भी एक मात्र परतत्त्व है। जीव की विविध दुःखमय दशाओं का वर्णन सूत्रकार ने सू० ३।२।१० में उपसंहृत कर दिया। अब उन्होंने ब्रह्म के परत्व-प्रतिपादन को सू० ३।२।११ के द्वारा प्रस्तुत किया और उक्त सूत्र के द्वारा स्पष्ट कर दिया कि जगद्रूप में स्थित रहने तथा जीव का अन्तर्यामी रहने पर भी वह जगत् तथा जीव की विविध दशाओं से निर्लिप्त है और यही उसका परत्व है। उक्त सूत्र से प्रारम्भ कर सूत्र० ३।२।२९ तक सूत्रकार ने ब्रह्म के उक्त परत्व का प्रतिपादन कर यह स्पष्ट कर दिया कि वह जगद्रूप होते हुए भी जगदतीत है और जीव को उसके समान जगदतीत होने के लिए उसी की प्राप्ति आवश्यक है। सूत्र ३।२।३०-३६ में उन्होंने इस विषय पर विचार किया कि क्या ब्रह्म से भी परतर कोई अन्य तत्त्व है? और सू० ३।२।३७-४० में उस परतत्त्व के ही फलप्रदत्व पर विचार किया। इस प्रकार उक्त अध्याय के प्रथम दो पादों में सूत्रकार ने जगत् में रहते हुए भी चेतन और ब्रह्म की परस्पर भिन्न स्थितियों को स्पष्ट करते हुए ब्रह्म के परत्व-प्रतिपादन द्वारा उसकी प्राप्ति के परमनिःश्रेयसत्व का संकेत देते हुए उसके उपास्यत्व को निर्दिष्ट किया।

उक्त अध्याय के तृतीय पाद में सूत्रकार ने उक्त परमनिःश्रेयस की प्राप्ति की साधनभूत उपासनाओं पर विविध दृष्टियों से विचार किया और चतुर्थ पाद में स्पष्ट रूप से इस विषय पर विचार किया कि क्या एकमात्र ब्रह्मोपासना ही परमनिःश्रेयस की प्राप्ति का साधन है या अन्य कोई भी उपाय है (सू० ३।४।१-२५)। आगे फिर सहकारी विविध साधनों की उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए उपासक की योग्यता या उपासनाधिकार पर विचार किया और अन्त में विद्या की उत्पत्ति के काल और विद्या के फल की प्राप्ति पर अपना निर्णय देकर तृतीयाध्याय को समाप्त किया। इस प्रकार मुख्य रूप से परमनिःश्रेयस की प्राप्ति की साधनभूत उपासनाओं और उनके स्वरूप की निष्पत्ति के लिए जीव और ब्रह्म के क्रमशः उपासकत्व और उपास्यत्व को सिद्ध करने के कारण उक्त अध्याय 'साधनाध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है।

चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में उपासना करने के प्रकार पर किंचित् प्रकाश डालते हुए सूत्रकार ने यह विचार किया कि विद्या की सिद्धि होने पर उन

कर्मों की, जिनके कारण जीवों की संसारदशा का चक्र अनवरत रूप से चला करता है, क्या स्थिति होती है ? और द्वितीय पाद में विद्वान् के विशिष्ट उत्क्रमण पर विचार कर, तृतीय पाद में विद्वानों के उत्क्रान्त होने पर उनके मार्ग और प्राप्तव्य का स्पष्टतः निर्देश किया। इसके बाद उक्त अध्याय के चतुर्थ पाद में सूत्रकार ने परमनिःश्रेयसस्वरूप ब्रह्मप्राप्ति के होने पर जीव की बन्धनमुक्त दशा का वर्णन किया। उक्त स्थिति पर पहुँच कर जीव ही तो कहीं जगत्कर्त्ता नहीं हो जाता है, इस आशंका का निराकरण उन्होंने 'जगद्व्यापारवर्जम्—(सू० ४।४।१७) के द्वारा कर दिया और इस प्रकार ब्रह्मकारणवाद को तो ध्यान में रक्खा ही, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्म बद्ध जीव से ही पर नहीं, अपितु मुक्तों से भी परतर तत्त्व है, मुक्तों को केवल भोगसाम्य प्राप्त हो सकता है (सू० ४।४।२१)। अन्त में उन्होंने वेदान्तदर्शन के द्वारा स्वीकृत परमनिःश्रेयस की इस रूप में महत्ता का प्रतिपादन किया कि उसकी प्राप्ति होने पर जीव पुनः कभी संसार-चक्र में नहीं पड़ता हैं। उक्त प्रकार से ब्रह्मज्ञान के फल और उसकी प्राप्ति के प्रकार आदि का मुख्यतः वर्णन करने के कारण चतुर्थाध्याय 'फलाध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त अध्याय की समाप्ति के साथ सूत्रों की आचार-मीमांसा समाप्त होती है।

सूत्रकार ने अपनी आचारमीमांसा का प्रारम्भ जीव की आवृत्तिदशा से किया और उपसंहार उस की अनावृत्तिदशा (मुक्ति) से किया। उक्त अभावात्मक अनावृत्तिदशा अपने भावात्मक रूप में परतत्त्वप्राप्तिदशा ही है, वही दशा वेदान्तदर्शन के अनुसार परमनिःश्रेयस है और उसी के वर्णन के साथ शास्त्र की समाप्ति होती है। सूत्रकार ने दोनों मीमांसाओं को अपने प्रथम और अन्तिम सूत्रों में सम्पुटित कर दिया है। यदि प्रथम सूत्र (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) ब्रह्मसूत्रों के मुख्य प्रतिपाद्य-विषय—ब्रह्मतत्त्वनिरूपण—की सूचना देता है, तो अन्तिम सूत्र (अनावृत्तिःशब्दात्०) ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होने वाले फल की। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० १) श्रुतिवाक्य के 'ब्रह्मविद्' की व्याख्या ब्रह्मसूत्रों के तत्त्वमीमांसापरक प्रारम्भिक दो अध्यायों में है और 'आप्नोति परम्' की व्याख्या उनके आचारमीमांसापरक अन्तिम दो अध्यायों में है। प्रथम सूत्र 'ब्रह्मविद्' होने के लिए ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तुत करता है और अन्तिम सूत्र 'आप्नोति परम्' की स्थिति में पहुँचने पर 'ब्रह्मविद्' की दशा का परिचय देता है। अस्तु ! उक्त प्रकार से ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों पर एक सामान्य दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि उनको दो भागों और चार अध्यायों

में विभक्त करते हुए उनके प्रतिपादन का जो क्रम सूत्रकार ने अपनाया है, वह परस्पर-संगत एवं उपयुक्त होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी है।

२. सूत्रों के प्रमुख विषय और उनका वर्गीकरण

विगत अध्याय में प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सूत्रों के प्रतिपाद्यविषयों के सम्बन्ध में भाष्यकार सूत्रकार का पूरा साथ नहीं दे सके हैं। उन्होंने विभिन्न स्थलों पर सूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य के स्थान पर अपना विशिष्ट विषय आरोपित कर दिया है, और इस प्रकार एक ओर तो उनके द्वारा स्वीकृत किए हुए सूत्रबहिर्गत विषय का अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा से बाहर चला जाता है और दूसरी ओर सूत्रप्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में उनका कोई सिद्धान्त नहीं रह जाता, जिसका कि अध्ययन किया जावे।

इसी प्रकार विभिन्न स्थलों पर कुछ भाष्यकारों ने सूत्रानुकूल प्रतिपाद्यविषय माने हैं, किन्तु दूसरों ने साथ नहीं दिया है और इस प्रकार स्वभावतः उक्त प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में भाष्यकारों के विभिन्न सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के अवसर पर कुछ भाष्यकार चुप ही बैठे रहते हैं, जबकि अन्य अपनी विशिष्ट सम्मति प्रस्तुत करते हैं। सौभाग्य का विषय यह है कि भाष्यकारों के बहुमत ने सूत्रों के प्रायः सभी प्रमुख विषयों को स्वीकार कर लिया है और उन पर अपनी विशिष्ट सम्मतियाँ प्रस्तुत की हैं।

सूत्रों के ऐसे प्रमुख अध्येतव्य विषय, जिन पर विभिन्न भाष्यकारों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, अपने प्रतिपादकसूत्रों की सामान्य सीमा के साथ निम्न प्रकार से निर्दिष्ट किए जा सकते हैं:—

१—श्रुतिवाक्य-समन्वय के साथ प्रमुखतः ब्रह्मस्वरूपनिरूपण तथा सामान्यतः अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में विचार (सू० १।१।५-१।४।२२)।

२—ब्रह्मपरत्वनिरूपण (सू० ३।२।११-४०)।

३—ब्रह्मकारणवाद (सू० १।१।२; १।४।२३—२।१।१६; २।४।१७-१९)।

४—जड़तत्त्वनिरूपण (सू० २।३।१-१७)।

५—जीवतत्त्वनिरूपण (सू० २।३।१८-५२)।

६—जीवोपकरणनिरूपण (सू० २।४।१-१६)।

७—जीवसंसारनिरूपण (सू० ३।१।१—३।२।१०)।

८—उपासना तथा तत्सहकारी साधनों का निरूपण (सू० ३।३।१-४।१।१२)।

९—विद्याप्राप्ति के अनन्तर कर्मों की स्थिति का विचार (सू० ४।१।१३-१९)।

१०—विद्वान् की उत्क्रान्ति का निरूपण (सू० ४।२।१-२०)।

११—उत्क्रान्त विद्वान् के मार्ग का निरूपण (सू० ४।३।१-५)।

१२—उक्त मार्ग द्वारा प्राप्तव्य का निरूपण (सू० ४।३।६-१५)।

१३—परमनिःश्रेयसनिरूपण (सू० ४।४।१-२२)।

१४—परमत-निराकरण (सू० २।२।१-४२)।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उक्त विषयों को सर्वप्रथम मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१—स्वसिद्धान्त-स्थापन।

२—परमत-निराकरण।

उक्त वर्गों में से प्रथम को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—मुख्य दार्शनिक विषय।

२—अन्य विविध विषय।

उक्त दो भागों में से प्रथम में ब्रह्मसूत्रों का वास्तविक सम्पूर्ण दर्शन आ जाता है, जिसका अध्ययन दो उपशीर्षकों—तत्त्वमीमांसा और आचार-मीमांसा—के अन्तर्गत किया जा सकता है, द्वितीय भाग में अन्य गौण एवं अवान्तर विषय आ जाते हैं।

इस प्रकार उक्त विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत निम्न विषय आवेंगे :—

(१) मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त—

(अ) **तत्त्वमीमांसा**—१—ब्रह्मकारणवाद।
२—ब्रह्म।
३—जीव।
४—जड़तत्त्व।
५—जीव और जड़तत्त्व का ब्रह्म से सम्बन्ध।

(आ) **आचारमीमांसा**—१—परमनिःश्रेयस (मोक्ष)।
२—परमनिःश्रेयसप्राप्ति के प्रतिबन्धक।
३—परमनिःश्रेयसप्राप्ति के साधन तथा प्रकार।

(२) सूत्रसम्मत अन्य विविध विषय—

प्रासंगिक तथा अन्य विविध अवान्तर विषय।

(३) परमत-निराकरण—

(अ) सांख्यमत-निराकरण।
(आ) वैशेषिकमत-निराकरण।
(इ) बौद्धमत-निराकरण।
(ई) जैनमत-निराकरण।
(उ) पाशुपतमत निराकरण।
(ऊ) पांचरात्रमत-निराकरण।

उक्त शीर्षकों के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्रों के सम्पूर्ण प्रमुख प्रतिपाद्य का अध्ययन किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उनके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र शीर्षक की आवश्यकता है, जिसके बिना सूत्रों के प्रमुख मीमांसात्मक स्वरूप का परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। सूत्रों का उक्त स्वरूप प्रमुख रूप से 'समन्वयाध्याय' में उनके द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय के रूप में प्रकट हुआ है। यद्यपि सूत्रों में परमत-निराकरण को छोड़कर सर्वत्र ही स्वसिद्धान्त-स्थापन श्रुतियों की मीमांसा के आधार पर ही किया गया है, किन्तु मीमांसा का सर्वप्रमुख स्थल 'समन्वयाध्याय' का श्रुतिवाक्य-समन्वय है, जो सूत्रों में अपना एक विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि श्रुतिवाक्य-समन्वय का विषय स्वसिद्धान्त-स्थापन के ही अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि उक्त समन्वय के द्वारा सूत्रकार ने श्रुति-प्रतिपाद्य ब्रह्म एवं अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में ही सिद्धान्त स्थापित किए हैं और इसलिए उक्त शीर्षकों के अन्तर्गत तत्तत्सिद्धान्तों के अध्ययन में समन्वय-सूत्रों का उपयोग करना अनिवार्य है, किन्तु फिर भी, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, समन्वय के स्वरूप का परिचय और भाष्यकारों के समन्वय-प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि श्रुतिवाक्य-समन्वय का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जावे और उक्त अध्ययन के लिए उससे पूर्व यह देखना आवश्यक है कि किन विशिष्टि सूत्रों में किन विशिष्ट श्रुति-प्रकरणों को मीमांसा के लिए सूत्रकार ने ग्रहण किया है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में भी भाष्यकारों में परस्पर मतभेद हैं। समन्वयाध्याय के मीमांस्य श्रुति-प्रकरणों के निर्धारण के फलस्वरूप साथ में यह भी स्वतः निर्धारित हो जावेगा कि ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुतिग्रन्थ कौन हैं?

इस प्रकार अगले पृष्ठों में ब्रह्मसूत्रों के उक्त विभिन्न विषयों का अध्ययन निम्न स्वतन्त्र शीर्षकों के अन्तर्गत यथाक्रम किया जावे, तो अनुपयुक्त न होगा :—

१—मीमांस्य श्रुतिवाक्य और उनकी मीमांसा का क्रम तथा पद्धति ।

२—श्रुतिवाक्य-समन्वय ।

३—ब्रह्मसूत्रों के दार्शनिक सिद्धान्त ।

४—सूत्रसम्मत अन्य विविध विषय ।

५—परमत-निराकरण ।

अध्याय ३

मीमांस्य श्रुतिवाक्य और उनकी मीमांसा का क्रम तथा पद्धति

प्रस्तुत समस्या

सभी भाष्यकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मसूत्रों में श्रुतिवाक्यों की मीमांसा की गई है और स्वयं सूत्रों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि तर्कपाद (अध्याय २ पाद २) को छोड़कर सूत्रों में सर्वत्र श्रुतियों की मीमांसा कर उन्हीं के बल पर प्रतिपाद्य-विषयों का प्रतिपादन किया गया है। तर्कपाद में यतः विपक्षी मतों का निराकरण किया गया है, अतः वहाँ श्रुतियों का आधार छोड़ कर केवल युक्तियों का ही आश्रय लिया गया है, जो कि उचित एवं स्वाभाविक ही था। ब्रह्मसूत्रों में श्रुतियों की मीमांसा और उसके आधार पर विषय-प्रतिपादन है, इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी भाष्यकारों का इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है कि किन सूत्रों में किन विशिष्ट श्रुतिवाक्यों की मीमांसा या प्रमाण रूप से निर्देश है। जिन सूत्रों में एक भाष्यकार किसी एक विशिष्ट श्रुतिवाक्य की मीमांसा या प्रमाण रूप से निर्देश मानते हैं, दूसरे भाष्यकार उन्हीं सूत्रों में एक भिन्न प्रकरण के श्रुतिवाक्य को प्रस्तुत कर देते हैं। उक्त मतभेद वाक्यभेद या प्रकरणभेद तक ही सीमित नहीं है, ग्रन्थभेद तक पहुँच गया है। ऋग्वेद से लेकर अर्वाचीनतम उपनिषदों तक के विशाल वाङ्मय से कोई भी वाक्य 'श्रुति' के नाम से उद्धृत कर दिया जाता है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि भाष्यकारों द्वारा उद्धृत अनेक श्रुतिवाक्यों के आकर-ग्रन्थों का आज तक पता नहीं लग सका है। सूत्रों की संक्षिप्त एवं दुरूह शैली है, भाष्यकार उनसे अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कराना चाहते हैं, उनकी स्वसिन्द्धान्तानुकूल व्याख्या प्रस्तुत कर दी गई और उनमें जो 'श्रुतेः' या 'शब्दात्' आदि के रूप में सामान्यतः श्रुति का निर्देश किया गया है, उसकी पूर्ति करने के लिए श्रुतिसाहित्यमहोदधि में से

स्वसिद्धान्तानुकूल कोई वाक्यरत्न निकाल कर प्रस्तुत कर दिया गया और यदि उक्त वाक्य कुछ विपरीत या असंगत प्रतीत हुआ तो उसकी भी स्वानुकूल व्याख्या प्रस्तुत कर दी गई। विभिन्न भाष्यों में भाष्यकारों की उक्त प्रवृत्ति का दर्शन करना दुर्लभ नहीं है। ऐसी दशा में सूत्रों के वास्तविक सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुतिग्रन्थों की सीमा को निर्धारित कर लेना परमावश्यक होगा।

उक्त उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र उपाय यह है कि श्रुतिमीमांसा के विशिष्ट स्थल 'समन्वयाध्याय' के मीमांस्यप्रकरणों को जानने का प्रयत्न किया जावे। उक्त अध्याय में सभी भाष्यकार ऐकमत्य से श्रुतिवाक्य-समन्वय मानते हैं, जो उचित ही है, किन्तु सूत्रकार ने 'तत्तु समन्वयात्' (सू० १।१।४) के द्वारा उक्त समन्वय की प्रतिज्ञा कर सम्पूर्ण अध्याय में श्रुतिवाक्य-समन्वय करने के बाद अन्त में जो 'एतेन सर्वे व्याख्याताः (सू० १।४।२९) के रूप में उपसंहार किया है, उससे साथ में यह भी स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में प्रमुख रूप से केवल वही श्रुतिग्रन्थ हैं, जिनके प्रकरण उक्त अध्याय में व्याख्यात किए गए हैं। सू० १।१।३ में ब्रह्म के जगत्कारणत्व में शास्त्रप्रामाण्य प्रस्तुत करने के बाद जब उनकी दृष्टि उक्त शास्त्र के विषय में इस विवाद पर गई कि उक्त शास्त्र के द्वारा ब्रह्म के जगत्कारणत्व का प्रतिपादन होना असम्भव है, तो उन्होंने उक्त शास्त्र के समन्वय की प्रतिज्ञा की और तदनुसार समन्वय कर जो उन्होंने 'सर्वे व्याख्याताः' कहकर आश्वस्तता का अनुभव किया है, उससे स्पष्ट है कि उक्त सूत्र (१।१।३) में उनके द्वारा प्रमाण रूप से प्रस्तुत शास्त्र वही शास्त्र था, जिसकी कि उन्हें मीमांसा करनी पड़ी और फलतः वही शास्त्र उनके सूत्रों का आधारभूत शास्त्र है। इस प्रकार समन्वयाध्याय के मीमांस्य श्रुतिग्रन्थों को जानने के बाद ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुतिग्रन्थों को जानने की कोई समस्या अवशिष्ट नहीं रहती। यद्यपि समन्वयाध्याय के मीमांस्य श्रुतिग्रन्थों के सम्बन्ध में अधिक विवाद नहीं है, किन्तु इस रूप में पर्याप्त विवाद है कि किन विशिष्ट सूत्रों में किन विशिष्ट श्रुति-प्रकरणों को मीमांसित किया गया है, अतः सर्वप्रथम उक्त प्रकरणसम्बन्धी विवाद के समाधान के लिए प्रयत्न करना ही प्रस्तुत अध्याय का विशिष्ट उद्देश्य है। उक्त प्रयत्न से ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुतिग्रन्थों को जानने की समस्या का समाधान तो सामान्यतः होगा ही, साथ ही 'समन्वयाध्याय' के मीमांस्यप्रकरणों का परिचय प्राप्त करने से अग्रिम 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' शीर्षक' अध्याय के लिए विशिष्ट रूप से आधारभूत सामग्री प्रस्तुत हो सकेगी।

२. समन्वय-सूत्रों के मीमांस्य श्रुतिवाक्य

समन्वयाध्याय के प्रथम चार सूत्रों (१।१।१-४) में शास्त्रप्रस्तावना-सम्बन्धी विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है और अन्तिम सात सूत्रों (१।४।२३-२९) में ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन तथा अध्याय का उपसंहार है। सू० १।१।५-१२ में रामानुज और निम्बार्क ही केवल श्रुति-वाक्य-समन्वय मानते हैं, किन्तु अन्य भाष्यकार उक्त सूत्रों में अन्य विषय का प्रतिपादन स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार उक्त अध्याय के चतुर्थ पाद के कुछ सूत्रों में मध्व श्रुतिवाक्यसमन्वय नहीं मानते, किन्तु अन्य भाष्यकार मानते हैं। उक्त दोनों विवादास्पद स्थलों पर विचार बाद में ही करना उचित होगा। अवशिष्ट सूत्र १।१।१३ से सू० १।३।४४ अर्थात् उक्त अध्याय के तृतीय पाद की समाप्ति तक सभी भाष्यकार ऐकमत्य से विभिन्न श्रुति-प्रकरणों की मीमांसा मानते हैं, अतः सर्वप्रथम उक्त सूत्रों के द्वारा मीमांस्य श्रुतिप्रकरणों को निर्धारित करने का प्रयत्न करना उचित है।

उक्त सूत्रों (१।१।१३—१।३।४४) में से जो सूत्र भिन्न-भिन्न श्रुति-प्रकरणों की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं, उन्हें 'मीमांसा-प्रस्तावक सूत्र' या संक्षेप में 'प्रस्तावकसूत्र' कहा जा सकता है। एक श्रुति-प्रकरण की मीमांसा कहीं तो उसके प्रस्तावकसूत्र में ही समाप्त हो गई है और कहीं उसके परवर्ती सूत्रों में पूर्ण हो पाई है। एक प्रस्तावकसूत्र के द्वारा प्रस्तुत मीमांसा से सम्बद्ध परवर्ती सूत्रों को 'सम्बद्धसूत्र' कहा जा सकता है। उक्त सूत्रों में कुछ प्रस्तावक-सूत्र सर्वसम्मति से स्वीकृत हैं और कुछ के सम्बन्ध में विवाद है। जो प्रस्तावकसूत्र सर्वसम्मत हैं, उनके सम्बन्ध में भी कहीं-कहीं यह विवाद है कि उनके द्वारा प्रस्तुत मीमांसा से कितने सूत्र सम्बद्ध हैं, साथ ही उक्त दोनों विवादों के साथ यह भी विवाद है कि अमुक प्रस्तावकसूत्र ने किस विशिष्ट श्रुति-प्रकरण की मीमांसा प्रस्तुत की है।

अ. सर्वसम्मत स्थल

ऐसे स्थल, जहाँ प्रस्तावकसूत्र, उनसे सम्बद्ध सूत्र और उनके द्वारा मीमांस्य श्रुति-प्रकरण सर्वसम्मति से भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत है, निम्नलिखित ९ हैं, जिन पर ध्यान देने से विमत स्थलों का समाधान सरलता से किया जा सकेगा :—

(१) **प्रस्तावकसूत्र**—सू० १।१।१३ (आनन्दमयोऽभ्यासात्)।

सम्बद्धसूत्र—सू० १।१।१४-२०।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' (तै० उप०, ब्रह्मानन्दवल्ली ५)।

(२) प्रस्तावकसूत्र—सू० १।१।२३ (आकाशस्तल्लिगात्)।
सम्बद्धसूत्र— —
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते···' (छान्दोग्य० १।६।१)।

(३) प्रस्तावकसूत्र—सू० १।२।१३ (अन्तर उपपत्तेः)।
सम्बद्धसूत्र—सू० १।२।१४-२८।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एव आत्मेति होवाच···' (छान्दोग्य० ४।१५।१)।

(४) प्रस्तावकसूत्र—सू० १।१।१६ (अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्)।
सम्बद्धसूत्र—सू० १।१।२०-२१।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो·········
एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः', आदि।
(बृह० ३।७।३-१२)

(५) प्रस्तावकसूत्र—सू० १।२।२२ (अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः)।
सबद्धसूत्र—सू० १।२।२३-२४।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रम्·······
तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।' (मुण्डक० १।१।६)।

(६) प्रस्तावकसूत्र—सू० १।२।२५ (वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्)।
सम्बद्धसूत्र—सू० १।२।२६-३३।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम्······वैश्वानरमुपास्ते।'
(छान्दोग्य ५।१८।१)

(७) प्रस्तावकसूत्र—सू० १।३।१ (द्युम्वाद्यायतनं स्वशब्दात्)।
सम्बद्धसूत्र—सू० १।३।२-६।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्···तमेवैकं जानथ······'(मूण्डक० २।२।५)।

(८) प्रस्तावकसूत्र—सू० १।३।७ (भूमा संम्प्रसादादध्युपदेशात्)।
सम्बद्धसूत्र—सू० १।३।८।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'यत्र नान्यत् पश्यति·········स भूमा···यो वै भूमा तदमृतम्···' (छान्दोग्य० ७।२४।१)।

(९) **प्रस्तावकसूत्र**—सू० १।३।९ (अक्षरमम्बरान्तधृतेः)।

सम्बद्धसूत्र—सू० १।३।१०-११।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु···' (बृहदा० ३।८।८)।

उक्त ९ स्थल सर्वभाष्यकारसम्मत होने के साथ-साथ वस्तुतः प्रत्येक दृष्टि से स्वीकरणीय भी हैं। उक्त स्थलों में स्वीकृत प्रस्तावकसूत्र, सम्बद्धसूत्र और मीमांस्य श्रुतिवाक्यों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं :—

प्रस्तावकसूत्र—

(१) प्रत्येक प्रस्तावकसूत्र में अनिवार्य रूप से केवल दो अवयव हैं—प्रतिज्ञा और हेतु। प्रतिज्ञा अवयव में केवल पक्ष का प्रयोग किया गया है और साध्य को अनिवार्य रूप से छोड़ दिया गया है। वह साध्य एकमात्र ब्रह्म है, जोकि सभी प्रस्तावकसूत्रों में केवल अनुवृत्त या गम्यमान है। इस प्रकार सर्वत्र पक्ष के एकमात्र ब्रह्मसाध्यक होने से उसका निर्देशक पद प्रथमैकवचनान्त रक्खा गया है।

(ऊपर प्रस्तावकसूत्रों में उक्त पक्षनिर्देशक पदों को रेखांकित कर दिया गया है।)

२—प्रत्येक प्रस्तावकसूत्र में उक्त ब्रह्मसाध्यक पक्षपद सूत्र के द्वारा मीमांसा के लिए प्रस्तुत श्रुतिवाक्य को सूचित करता है, क्योंकि वह या तो मीमांस्य श्रुतिवाक्य से ज्यों का त्यों ले लिया गया है या वाक्य के अर्थ के आधार पर बना दिया गया है।

(ऊपर मीमांस्य श्रुतिवाक्यों के उन अंशों को रेखांकित कर दिया गया है, जिनके आधार पर प्रस्तावकसूत्रों में पक्षपद का विन्यास किया गया है।)

इस प्रकार प्रस्तावकसूत्रों का उक्त पक्षपद ही यह सूचना दे देता है कि अब एक भिन्न श्रुतिवाक्य की मीमांसा प्रस्तुत हो रही है।

३—प्रत्येक प्रस्तावकसूत्र अनिवार्यरूप से विशुद्ध सिद्धान्तसूत्र है, इसमें न तो किसी शंका या पूर्वपक्ष को शब्दों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है और

न 'च', 'हि', 'तु' आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनसे उसका अपने पूर्वसूत्रों से सम्बन्ध प्रकट हो।

४—सभी प्रस्तावकसूत्र विधिमुख से इस रूप में मीमांसा प्रस्तुत करते हैं कि अमुक श्रुति में प्रतिपादित 'आनन्दमय' आदि ब्रह्म है।

सम्बद्धसूत्र—

दो प्रस्तावकसूत्रों के मध्यवर्ती सभी सूत्र अपने से पूर्ववर्ती प्रस्तावकसूत्र से सम्बद्ध है, जैसा कि ऊपर के ४,५,६ संख्या वाले स्थलों से स्पष्ट है।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—

१—मीमांस्य श्रुतिवाक्य प्रस्तावकसूत्र के पक्षपद से निर्दिष्ट है।

२—प्रत्येक श्रुतिवाक्य केवल उन्हीं श्रुति-ग्रन्थों से लिया गया है, जिनका परम्परा से 'उपनिषद् के नाम से स्वतन्त्र रूप में व्यक्तित्व मान्य है। उक्त सर्वसम्मत स्थलों की उक्त विशेषताओं से विमत स्थलों के निर्णय में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

आ. विमत स्थल

सू० १।१।१३—१।३।४४ के अन्तर्गत जो विमत स्थल हैं, उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

१—वे स्थल, जिनमें प्रस्तावकसूत्र, सम्बद्धसूत्र और मीमांस्य श्रुतिवाक्य, इनमें से किसी के सम्बन्ध में विवाद हो, किन्तु जिनमें सभी भाष्यकारों ने केवल उपनिषदों के ही वाक्य स्वीकृत किए हैं, किसी अन्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि श्रुति-ग्रन्थों के नहीं।

२—वे स्थल, जिनमें किसी या किन्हीं भाष्यकारों ने संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक के वाक्य स्वीकृत किए हैं।

प्रथम वर्ग में निम्नलिखित स्थल आते हैं :—

१—सू० १।२।६-१२।

२—सू० १।३।१२।

३—सू० १।३।१३-२२।

४—सू० १।३।२३-४०।

५—सू० १।३।४१।

६—सू० १।३।४२-४४।

द्वितीय वर्ग में निम्नलिखित स्थल आते हैं :—

१—सू० १।१।२१-२२।

२—सू० १।१।२४।

३—सू० १।१।२५-२८।

४—१।१।२९-३२।

५—सू० १।२।१-८।

१. **प्रथम वर्ग के विमत स्थल—**

१—सू० १।२।९-१२—उक्त सूत्रों में रामानुज ने केवल एक ही प्रस्तावकसूत्र १।२।९ (अत्ता चराचरग्रहणात्) मानकर अवशिष्ट सूत्रों को उसी से सम्बद्ध माना है, अन्य भाष्यकार उसके अतिरिक्त सू० १।२।११ (गुहां प्रविष्टावात्मानौ०) को भी प्रस्तावकसूत्र मानते हैं। मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार सू० १।२।९ से 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च···' (कठ० १।२।२४) की मीमांसा को प्रस्तुत मानते हैं। मध्व उक्त सूत्र में 'स यद् यदेवासृजत तत्······सर्वं वा अत्तीति···'(बृहदा०१।२।५) की मीमांसा मानते हैं। सू० १।२।११ में सभी भाष्यकार 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके······' (कठ० १।३।१) की मीमांसा मानते हैं।

इस प्रकार जहाँ तक मीमांस्य श्रुतिवाक्य का सम्बन्ध है, केवल सू० १।२।९-१० के सम्बन्ध में विवाद है। उक्त सूत्रों में मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार सू० १।२।११-१२ के द्वारा मीमांस्य श्रुतिवाक्य के प्रकरण के ही अव्यवहित रूप से पूर्ववर्ती एक अन्य वाक्य की मीमांसा मानते हैं, जो कि अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है, क्योंकि सू० १।२।११ का पूर्ववृत्तहेतुबोधक 'हि' पद स्पष्ट रूप से यह सूचित कर रहा है कि उक्त सूत्र में निर्दिष्ट श्रुति-वाक्य के प्रकरण के ही किसी वाक्य की मीमांसा सू० १।२।९ से प्रस्तुत हो चुकी है, जिसके सम्बन्ध से किसी बात का समर्थन करने या शंका के निवारण के लिए सू० १।२।११ में 'गुहां प्रविष्टौ' श्रुति की व्याख्या कर उसके प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर दिया गया है, अन्यथा सू० १।२।११ में भिन्न प्रकरण की मीमांसा मानने पर 'हि' के प्रयोग की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सू० १।२।१० (प्रकरणाच्च) से भी उक्त तथ्य का समर्थन होता है कि सू० १।२।९ में जिस श्रुतिवाक्य का ब्रह्मपरक समन्वय प्रस्तुत किया गया है, उसका सू० १।२।१० से प्रकरण के बल पर समर्थन कर दिया गया है और उस के सम्बन्ध से ही प्रस्तुत प्रकरण के एक वाक्य के प्रतिपाद्य को

सू० १।२।११ में स्पष्ट कर दिया गया है। उक्त प्रकार से विचार करने पर सू० १।२।९ के द्वारा 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' (कठ० १।२।२४) को मीमांस्य मानना अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है और फलतः उक्त चारों सूत्रों (१।२।९-१२) के अव्यवहित रूप से एक ही प्रकरण से सम्बद्ध होने के कारण उनमें एक ही सूत्र (१।२।९) को प्रस्तावकसूत्र मानना अधिक युक्तियुक्त है, जैसा कि रामानुज ने माना भी है। वैसे भी 'हि' तथा साध्यपद का प्रयोग और एकमात्र 'ब्रह्म' का साध्य न होना, ये बातें सू० १।२।११ के प्रस्तावकसूत्रत्व के विपरीत ही प्रतीत होती हैं।

२—सू० १।३।१२—उक्त सूत्र में मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार 'स एतस्माद् परात्परं पुरुषमीक्षते' (प्रश्नोपनिषद् ५।५) वाक्य या उससे पूर्ववर्ती 'परं पुरुषमभिध्यायीत' वाक्य को मीमांस्य मानते हैं। मध्व इसमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्··· तदैक्षत' (छान्दोग्य० ६।२।१-३) को मीमांस्य मानते हैं।

इनमें मध्व की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का पक्ष अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त सूत्र (ईक्षतिकर्म व्यपदेशात् सः) में 'ईक्षति' यह पद केवल धातुनिर्देशक है, अतः इसका 'ईक्षण' की अपेक्षा 'ईक्ष्' धातु अर्थ करना और उसके आधार पर 'कर्म' का 'व्यापार' की अपेक्षा 'कर्मकारक' अर्थ करना अधिक शब्दानुकूल है। इसके विपरीत यदि 'ईक्षति' का 'ईक्षण' अर्थ किया जावे तो 'कर्म' शब्द की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि तब तो 'ईक्षतिव्यपदेशात्' या स्पष्टतः 'ईक्षणव्यपदेशात्' ही पर्याप्त था। उक्त प्रकार से 'ईक्षति धातु का कर्मकारक' यह अर्थ मानने पर स्पष्टतः उक्त सूत्र के द्वारा 'पुरुषमीक्षते' के 'पुरुष' का निर्देश मिलता है। 'तदैक्षत' का 'तत्' तो 'ईक्षति' का कर्ता है। वैसे वस्तुतः, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा,[1] मध्व द्वारा स्वीकृत उक्त श्रुतिवाक्य की मीमांसा सूत्रकार ने सू० १।१।५-१२ में की है, अतः उक्त सूत्र में प्रश्नोपनिषद् के ही उक्त वाक्यों के प्रकरण की मीमांसा मानना अधिक सूत्रानुकूल है। मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त सूत्र में प्रश्नोपनिषद् के उक्त प्रकरण (प्रश्न ५।५) को मीमांस्य मानते हुए भी, केवल इतना विवाद उपस्थित करते हैं कि जहाँ रामानुज, निम्बार्क और बलदेव उक्त सूत्र के द्वारा प्रश्नोपनिषद् के 'स एतस्मात्··· परात्परं···पुरुषमीक्षते' (प्रश्नोप० ५।५) को निर्दिष्ट मानते हैं, वहाँ केवल

१—प्रस्तुत अध्याय, सू० १।१।५-१२, पृष्ठ ११९।

वल्लभ 'परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्रश्नोप० ५।५) को निर्दिष्ट मानकर तदनुसार सूत्र का स्वरूप 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः' मानते हैं। यद्यपि उक्त दोनों प्रकारों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है, फिर भी वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत सूत्र-स्वरूप 'ईक्षतिकर्म व्यपदेशात् सः' के अनुसार सूत्र में अन्य विधिमुख प्रस्तावकसूत्रों के समान मीमांस्यश्रुतिसूचक पक्षपद बना रहता है, अतः वही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है और तदनुसार उक्त पक्षपद 'ईक्षतिकर्म' से सूचित होने के कारण उक्त सूत्र के द्वारा 'पुरुष-मीक्षते' वाक्य को मुख्य रूप से निर्दिष्ट मानना अधिक उचित प्रतीत होता है, जैसा कि रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने माना है।

३—सू० १।३।१३-२२—उक्त सूत्रों में से १।३।१३-२० में सभी भाष्यकार 'दहरोऽस्मिन् अन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्...'(छान्दोग्य० ८।१।१) की मीमांसा मानते हैं। मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार सू० १।३।२१-२२ को भी उक्त वाक्य की ही मीमांसा से सम्बद्ध करते हैं, किन्तु मध्व और वल्लभ सू० १।३।२१ से एक भिन्न प्रकरण की मीमांसा को प्रस्तुत मानते हैं।

सू० १।३।२१ (अनुकृतेस्तस्य च) के स्वरूप से उसके प्रस्तावकसूत्रत्व का समर्थन नहीं होता, क्योंकि उक्त सूत्र में मीमांस्यश्रुतिसूचक किसी पक्षपद का प्रयोग नहीं, अपितु उसके विपरीत इसका 'च' स्पष्टतः यही सूचित कर रहा है कि इसका सम्बन्ध पूर्वसूत्रों से ही है, अतः रामानुज, निम्बार्क और बलदेव का उक्त सभी सूत्रों (१।३।१३-२२) में केवल छान्दोग्य० के उक्त प्रकरण का समन्वय मानना अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

४—सू० १।३।२३-४०—उक्त सूत्रों में से सू० १।३।२३ (शब्दादेव प्रमितः) को सब भाष्यकार ऐकमत्य के साथ प्रस्तावकसूत्र मानते हैं और उसके द्वारा मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः...' (कठोप० २।४।१२) वाक्य की मीमांसा को प्रस्तुत मानते हैं। मध्व उक्त वाक्य के प्रकरण के ही अन्य वाक्य 'मध्ये वामनमासीनम्...' (कठ० २।५।३) को उक्त प्रस्तावकसूत्र के द्वारा निर्दिष्ट मानते हैं। यद्यपि उक्त दोनों वाक्यों के एक ही प्रकरण का होने के कारण कोई अन्तर नहीं पड़ता है, फिर भी मध्व की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत वाक्य अधिक सूत्रसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त सूत्र का 'प्रमितः' शब्द 'वामन' की अपेक्षा 'अंगुष्ठमात्र' का अधिक स्पष्टतया निर्देश कर रहा है और सू० १।३।२४ का 'हृद्यपेक्षया' पद

भी 'अंगुष्ठमात्रः' के अधिक अनुकूल है, क्योंकि हृदय के अंगुष्ठप्रमाणत्व की प्रायः परम्परागत मान्यता है।

इसके बाद उक्त सूत्रों में से सू० १।३।४० (कम्पनात्) में सब भाष्यकार उक्त प्रस्तावकसूत्र (१।३।२३) के द्वारा निर्दिष्ट उक्त वाक्य के ही प्रकरण के एक अन्य वाक्य (कठ० २।६।२) की मीमांसा मानते हैं। इस प्रकार सू० १।३।२३-४० के द्वारा मीमांस्य श्रुति-प्रकरण के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं रह जाता। विवाद का विषय केवल इतना है कि सू० १।३।४० को भी प्रस्तावकसूत्र माना जावे या नहीं, रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्र को प्रस्तावकसूत्र न मान कर पूर्व प्रस्तावकसूत्र १।३।२३ का ही सम्बद्धसूत्र मानते हैं और अन्य भाष्यकार इसे पृथक् प्रस्तावकसूत्र मानते हैं। दोनों ही प्रकारों से कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु रामानुज और निम्बार्क का पक्ष अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि सू० १।३।४० में सर्वसम्मत प्रस्तावकसूत्रों की मुख्य विशेषता—मीमांस्यश्रुतिसूचक पक्षपद—का अभाव है और उक्त सूत्र तथा उससे पूर्व प्रस्तावक सू० १।३।२३ में मीमांस्य श्रुतिवाक्यों का प्रकरणैक्य है तथा मध्यवर्ती सूत्रों में किसी अन्य प्रकरण की मीमांसा का व्यवधान भी नहीं है। मध्यवर्ती सूत्रों में जो उपासनाधिकार की चर्चा आई है, वह पूर्व प्रस्तावकसूत्र १।३।२३ से सम्बद्ध सूत्र १।३।२४ के 'मनुष्याधिकारत्वात्' के प्रसंग से आई है। इस प्रकार उक्त सभी सूत्रों में एक प्रस्तावकसूत्र और उसके द्वारा 'अंगुष्ठमात्रः' (कठ० २।४।१२) वाक्य की मीमांसा को प्रस्तुत मानना उचित है।

(५) सू० १।३।४१—उक्त सूत्र (ज्योतिर्दर्शनात्) को रामानुज, निम्बार्क और बलदेव प्रस्तावकसूत्र न मान कर इसे पूर्वसूत्र १।३।४० से सम्बद्ध करने के पक्ष में हैं। इसके विपरीत मध्व और वल्लभ इसे प्रस्तावक-सूत्र मानकर इससे एक भिन्न प्रकरण की मीमांसा को प्रस्तुत मानते हैं। सूत्र के स्वरूप से दोनों पक्षों का समर्थन होता है, क्योंकि उसका 'ज्योतिः' पद प्रथमान्त भी माना जा सकता है और समस्त पद का लुप्तषष्ठीक अवयव भी, किन्तु यदि उक्त सूत्र केवल एक समस्त हेतुपद के रूप में सूत्रकाराभिमत होता, तो समानसाध्यक पूर्वसूत्र 'कम्पनात्' (सू० १।३।४०) से समुच्चित होने के साथ विषयोपसंहारक होने से उसमें 'च' का प्रयोग अवश्य किया जाता, अतः मध्व और वल्लभ के अनुसार 'ज्योतिः' को प्रथमान्त तथा मीमांस्यश्रुतिसूचक पक्षपद मानना उचित प्रतीत होता है। उक्त दोनों भाष्यकारों में भी मीमांस्य-श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में मतभेद है। मध्व उक्त सूत्र में 'योऽयं विज्ञानमयः

प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः···' (बृहदा० ३।३।७) की मीमांसा मानते हैं और वल्लभ 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरभिसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छान्दोग्य० ८।१२।३) की मीमांसा मानते हैं।

उक्त दोनों पक्षों में वल्लभ का पक्ष अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है, क्योंकि मध्व द्वारा स्वीकृत श्रुति में 'ज्योतिः' नहीं, अपितु 'अन्तर्ज्योतिः' यह समस्त पद 'पुरुषः' का विशेषण है, जब कि वल्लभ द्वारा स्वीकृत श्रुति में 'ज्योतिः' स्वतन्त्र' व्यस्त पद है। दूसरे, सूत्र में केवल 'दर्शनात्' यह हेतु दिया गया है, जो कि 'श्रुतेः' का ही सूत्रकार द्वारा स्वीकृत एक पर्यायवाची शब्द है, अन्य हेतुओं से रहित सामान्यतः एकमात्र श्रुति के निर्देश को सूत्रकार उक्त दोनों श्रुतियों में से उसी के ब्रह्मपरक समन्वय के लिए सम्भवतः पर्याप्त समझ सकते थे, जिसमें 'ज्योतिः' शब्द अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टतः ब्रह्मवाचक प्रतीत होता हो। इस दृष्टि से विचार करने पर वल्लभ द्वारा स्वीकृत श्रुति में उक्त हेतु अधिक संगत होता है। इसके विपरीत यदि मध्व द्वारा स्वीकृत श्रुति का यहाँ समन्वय माना जावे तो यह हेतु पर्याप्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसी 'अन्तर्ज्योतिः पुरुषः' के लिए आगे कहा गया है—'स वा अयं पुरुषो जायमानः··· स उत्क्रामन् म्रियमाणः···' (बृहदा० ३।३।८), जिससे स्पष्ट है कि उक्त 'अन्तर्ज्योतिः पुरुषः:' ब्रह्म नहीं और फिर भी यदि सूत्रकार इसे ब्रह्म बताना चाहते, तो इसके लिए वे केवल 'दर्शनात्' हेतु को कथमपि पर्याप्त नहीं समझते, कुछ अन्य लिंग आदि प्रबल प्रमाण उपस्थित करते।

६—सू० १।३।४२-४४—उक्त सूत्रों में से सू० १।३।४२ को सभी भाष्यकार प्रस्तावकसूत्र मान कर उसके द्वारा 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता···' (छान्दोग्य० ८।१४।१) की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार सू० १।३।४३-४४ को भी सू० १।३।४२ से सम्बद्ध करते हैं, किन्तु वल्लभ उक्त दोनों सूत्रों में एक भिन्न प्रकरण की मीमांसा मानते हैं और मध्व दो भिन्न-भिन्न प्रकरणों की।

सूत्र १।३।४३ (सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन) तथा सू० १।३।४४ (पत्यादिशब्देभ्यः) के स्वरूप पर ध्यान देने से उक्त सूत्रों में से किसी के भी प्रस्तावकसूत्रत्व का समर्थन नहीं होता। इनमें से किसी में भी मीमांस्य-श्रुति-सूचक पक्षपद का प्रयोग नहीं है, केवल हेतुओं का प्रयोग है, जो कि पूर्वसूत्र १।३।४२ के विषय में ही संगत हो जाते हैं। इस प्रकार रामानुज, निम्बार्क और बलदेव का उक्त सूत्रों में एक ही प्रस्तावकसूत्र और उसके द्वारा केवल छान्दोग्य० के उक्त वाक्य की मीमांसा को प्रस्तुत मानना उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त ६ सर्वसम्मत स्थल और ६ विमत स्थल, कुल १५ स्थलों में सूत्रकार ने उपनिषदों के ही वाक्यों की मीमांसा की है।

२. द्वितीय वर्ग के विमत स्थल—

उक्त वर्ग के विमत स्थलों में बहुमत से उपनिषदों के ही वाक्य मीमांस्य माने गए हैं, किन्तु अकेले मध्व इनमें अन्य श्रुति-ग्रन्थों के वाक्यों को मीमांस्य मानते हैं और एक स्थल पर वल्लभ भी उपनिषदों को छोड़ देते हैं।

(१) सू० १।१।२१-२२—उक्त सूत्रों में मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते······' (छान्दोग्य० १।६।६-७) को मीमांस्य मानते हैं और मध्व अन्तः प्रविष्टं कर्तारम्······' (तैत्तिरीय आरण्यक ३।११) को मीमांस्य मानते हैं।

प्रस्तावकसूत्र १।२।२१ (अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्) में प्रयुक्त 'अन्तः' उक्त दोनों श्रुतिवाक्यों में है, अतः यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि वस्तुतः इनमें कौनसा वाक्य उक्त सूत्रों के द्वारा मीमांस्य है, किन्तु फिर भी निम्न कारणों से मध्व की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का पक्ष अधिक समीचीन प्रतीत होता है :—

(अ) पूर्वोक्त सर्वसम्मत स्थलों में से क्रमांक २ के स्थल में सू० १।१।२३ के द्वारा छान्दोग्य० के एक प्रकरण की मीमांसा सर्वसम्मति से मानी गई है,[1] ऐसी दशा में यह संभव प्रतीत नहीं होता कि सूत्रकार ने छान्दोग्य के उक्त प्रकरण (१।६।१) को उक्त सूत्र (१।२।२३) में मीमांसित करते हुए उससे पूर्व के मीमांसनीय प्रकरण (१।६।६) को अमीमांसित छोड़ दिया हो।

(आ) जैसा कि आगे स्पष्ट होगा,[2] समन्वयाध्याय में सूत्रकार ने मीमांसा के लिए उपनिषदों के प्रकरणों को उसी क्रम से लिया है, जिस क्रम से वे तत्तत् उपनिषदों में प्राप्त होते हैं, और सू० १।१।२३ में सर्वसम्मति से मीमांसित माने जाने वाले प्रकरण से सू० १।१।२१-२२ में मध्व को छोड़कर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत प्रकरण छान्दोग्य० में अव्यवहित रूप से पूर्ववर्ती है, अतः उक्त नियम के अनुसार यह संभव प्रतीत होता है कि सू० १।१।२१-२२ में छान्दोग्य० के ही उक्त प्रकरण की मीमांसा कर उससे परवर्ती प्रकरण की परवर्ती सू० १।१।२३ में मीमांसा की गई है।

---

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ १०४।

२. प्रस्तुत अध्याय, 'मीमांस्य श्रुतिवाक्यों की मीमांसा का क्रम' शीर्षक विषय।

(इ) वैसे भी जब पूर्वोक्त १५ स्थलों में उपनिषदों के ही वाक्य सूत्रकार ने मीमांसित किए हैं और जब उक्त सूत्रों (१।१।२१-२२) से उपनिषद् का ही उक्त वाक्य संगत है, तो उसे छोड़कर आरण्यक के वाक्य की मीमांस्यत्वकल्पना का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

(२) सूत्र १।१।२४—उक्त सूत्र में मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति···' (छान्दोग्य १।११।५) की मीमांसा मानते हैं, किन्तु मध्व उसमें 'तद् वै त्वं प्राणोऽभवः महान् भोगः प्रजापतेः···' (तै० आर० ३।१४) को मीमांस्य मानते हैं।

यहाँ भी पूर्वोक्त स्थल के सम्बन्ध में निर्दिष्ट कारणों के आधार पर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत उपनिषद्-वाक्य को ही मीमांस्य मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। उक्त उपनिषद्-वाक्य भी सूत्र १।१।२३ में मीमांसित और सर्वसम्मति से स्वीकृत वाक्य से छान्दोग्य में परवर्ती हैं, अतः वही सू० १।१।२४ में क्रमप्राप्त है।

इसके अतिरिक्त निम्न कारणों से भी उक्त उपनिषद्-वाक्य का समर्थन होता है :—

(अ) उक्त सूत्र (१।१।२४) में मीमांसित वाक्य को ब्रह्मपरक बताने के लिए किसी विशिष्ट हेतु का उपन्यास नहीं किया गया, अपितु केवल 'अत एव' के द्वारा पूर्वसूत्र (१।१।२३) के हेतु को अतिदिष्ट किया गया है, जिससे यही प्रतीत होता है कि उक्त दोनों सूत्रों में मीमांसित प्रकरण समीपवर्ती तो हैं ही, साथ ही समानरूप भी हैं, और वस्तुतः सू० १।१।२३ में मीमांसित 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते···'(छा० १।९।१) और सू० १।१।२४ में मीमांसित 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते···' (छा० १।११।५) ये वाक्य स्वरूप और प्रतिपाद्य दोनों दृष्टियों से समान हैं।

(आ) मध्व अपने द्वारा स्वीकृत वाक्य को ब्रह्मपरक सिद्ध करने के लिए उसके प्रकरण से कोई भी ब्रह्मलिंग प्रस्तुत नहीं कर सके, उनका वाक्य भर्तृसूक्त का है और उन्होंने लिंग श्रीसूक्त के एक वाक्य से प्रस्तुत किया है, भिन्न प्रकरण के वाक्य में सूचित लिंग भिन्न प्रकरण के वाक्य को ब्रह्मपरक सिद्ध करने के लिए कैसे समर्थ हो सकता है, यह विचारणीय है! अन्य भाष्यकारों को ऐसी दूरान्वयकल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

(३) सूत्र १।१।२५-२८—उक्त सभी सूत्रों में मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार एक ही श्रुतिप्रकरण की मीमांसा मानते हैं और तदनुसार सू० १।१।२५ (ज्योतिश्चरणाभिधानात्) को प्रस्तावकसूत्र मानकर उससे 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते…' (छान्दोग्य ३।१३।७) की मीमांसा को प्रस्तुत मानते हैं। मध्व उक्त सूत्रों में दो प्रकरणों की मीमांसा मानने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार सू० १।१।२५ ऋग्वेद के एक मन्त्र की और सू० १।१।२६ छान्दोग्य के उक्त वाक्य की मीमांसा प्रस्तुत करता है, अतः स्वभावतः उनके अनुसार उक्त दो प्रस्तावकसूत्र हैं। सू० १।१।२६ (छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्ऽपर्णनिगदात्०) के स्वरूप पर ध्यान देने से उसके प्रस्तावकसूत्रत्व का समर्थन नहीं होता। उक्त सूत्र में मीमांस्यश्रुतिसूचक पक्षपद का प्रयोग नहीं है, अपितु उसके विपरीत उसमें एक शंका का उपस्थापन कर उसका समाधान किया गया है, जिससे उसका सम्बन्ध अपने पूर्वसूत्र में प्रस्तुत विषय से स्पष्टतः सूचित हो रहा है। उक्त शंका को अन्य भाष्यकारों के साथ मध्व भी छान्दोग्य के उक्त वाक्य के ही सम्बन्ध में मानते हैं, किन्तु जब उक्त वाक्य सू० १।१।२५ के पक्षपद से स्पष्टतः सूचित हो रहा है और उक्त सूत्र उस वाक्य में संगत है, तो उक्त वाक्य को उक्त सूत्र में मीमांसित न मान कर ऋग्वेद में भटकने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः मध्व की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का ही पक्ष अधिक समीचीन, युक्तियुक्त एवं सूत्रसंगत है, जो कि सू० १।१।२५ को ही प्रस्तावकसूत्र मान कर उक्त सभी सूत्रों को छान्दोग्य के उक्त प्रकरण की मीमांसा से सम्बद्ध करते हैं।

यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि समन्वयाध्याय में केवल मध्व और वे भी केवल एक ही उक्त सूत्र (१।१।२५) में ऋग्वेद के केवल एक मन्त्र की मीमांसा मानते हैं, यदि मध्व का उक्त पक्ष मान लिया जावे तो फिर यह समझ में आना कुछ कठिन होगा कि इतने विशाल ऋग्वेद से एक ही मन्त्र सूत्रकार ने समन्वय के लिए क्यों चुना!

साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि सूत्रकार ने जहाँ कहीं भी ऐसे संहितामन्त्रों को, जो उपनिषदों में आए हैं, निर्दिष्ट किया है, वहाँ स्पष्टतः 'मन्त्रवर्ण' (सू० २।३।४७) शब्द का प्रयोग कर दिया है, अन्यथा वे सामान्यतः कहीं भी संहितामन्त्रों का उपयोग नहीं करते।

(४) सूत्र १।१।२९-३२—उक्त सूत्रों में मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार 'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व…' (कौषीतकि उप० ३।२) की मीमांसा मानते हैं। मध्व इनमें 'ता वा एताः

शीर्षं श्रियः श्रिताश्चक्षुः श्रोत्रं वाक् मनो प्राणः…' (ऐतरेयारण्यक २।१।४) को मीमांसित मानते हैं। यद्यपि प्रस्तावकसूत्र १।२।२६ (प्राणस्तथानुगमात्) में प्रयुक्त पक्षपद 'प्राणः' उक्त दोनों वाक्यों में मिलता है और अन्य सूत्र भी दोनों प्रकरणों में संगत हो सकते हैं, क्योंकि उक्त सूत्र इन्द्रप्राणविद्या की मीमांसा करते हैं और उक्त विद्या उन दोनों प्रकरणों में, जो कि ऋग्वेद के ही दो आरण्यकों—ऐतरेय और सांख्यायन—के अंश हैं, इन्द्र के द्वारा उपदिष्ट है; फिर भी इन दोनों प्रकरणों में उपदिष्ट उक्त विद्या के स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही ऋग्वेदसम्बन्धिनी इन्द्रप्राणविद्या ऐतरेय आरण्यक से विकसित होते हुए साख्यायन आरण्यक में ब्रह्मविद्या के रूप में पूर्णतः स्पष्ट हो गई है और यही कारण है कि सांख्यायन का वह भाग जो अन्य ब्रह्मविद्याओं के साथ उक्त विद्या को प्रतिपादित करता है, परम्परा से 'कौषीतकि उपनिषद्' के रूप में मान्य हुआ और इसलिए सूत्रकार का, जिनकी उपनिषदों के रूप में स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने वाले श्रुति-ग्रन्थों के प्रकरणों के समन्वय पर मुख्यतः दृष्टि रही है, कौषीतकि उपनिषद् के उक्त प्रकरण की मीमांसा के लिए प्रवृत्त होना अधिक संभव प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऐतरेय आ० के उक्त वाक्य से स्पष्ट है कि उसमें 'प्राण' की स्थिति अन्य इन्द्रियों के साथ ही है, यह कहा जा सकता है कि ऐतरेय आ० में इन्द्रप्राणविद्या के होने पर भी मध्व द्वारा प्रस्तुत उक्त वाक्य के 'प्राण' को तो स्यात् ही सूत्रकार 'ब्रह्म' समझते हों। साथ ही सू० १।२।२६ का 'अनुगमात्' हेतु ऐतरेय आ० के उक्त प्रकरण की अपेक्षा कौषीतकि उप० के उक्त प्रकरण में 'प्राण' को ब्रह्म सिद्ध करने की दृष्टि से अधिक संगत प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ अनुगमन अर्थात् उपसंहार में 'एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दो… लोकपालः… लोकाधिपतिः…सर्वेश्वरः स म आत्मेति विद्यात्' (कौ० उ० ३।६) में प्राण के ब्रह्मत्वसूचक स्पष्ट लिंगों का निर्देश है, जब कि मध्व द्वारा प्रस्तुत 'तं देवाः प्राणयन्तः स एषोऽसुः स एष प्राणः…' (ऐ० आ० २।१८) वाक्य में ऐसा कोई स्पष्ट एवं असाधारण रूप से निश्चायक लिंग नहीं।

उक्त प्रकार से विचार करने पर मध्व की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का ही पक्ष अधिक सूत्रकाराभिमत प्रतीत होता है।

(५) सूत्र १।२।१-८—उक्त सभी सूत्रों को वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार एक ही श्रुतिप्रकरण की मीमांसा से सम्बद्ध मानते हैं। वल्लभ इनमें दो प्रकरणों की मीमांसा मान कर तदनुसार दो प्रस्तावकसूत्र स्वीकार करते हैं। उन्होंने अन्य भाष्यकारों के समान सू० १।२।१ को प्रस्तावकसूत्र

मानते हुए उनके विपरीत सू० १।२।५ (शब्दविशेषात्) को भी प्रस्तावकसूत्र माना है। उक्त सूत्र (१।२।५) के स्वरूप से स्पष्ट है कि उसमें एक प्रस्तावक-सूत्र की मुख्य विशेषता—मीमांस्यश्रुतिसूचक पक्षपद—का अभाव है, अतः वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का ही पक्ष अधिक समीचीन है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार सू० १।२।१ (सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्) से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत···' (छान्दोग्य ३।१४।१-४) की मीमांसा को प्रस्तुत मानते हैं, किन्तु साथ में इतना मतभेद रखते हैं कि उक्त सूत्र के द्वारा निर्दिष्ट वाक्य कुछ भाष्यकारों के अनुसार पूर्वलिखित 'सर्वं खल्विदम्' है और कुछ के अनुसार उक्त प्रकरण का ही 'मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः ······' (छान्दोग्य० ३।१४।२) है। उक्त दोनों ही वाक्य एक ही प्रकरण के हैं और इसलिए कोई अन्तर नहीं पड़ता है, किन्तु उक्त प्रस्तावकसूत्र के 'सर्वत्र' पद से 'सर्वं खल्विदम्' के स्पष्टतः सूचित होने के कारण वह अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है और वृत्तिकार बोधायन की भी उसी में सम्मति है।[1] वस्तुतः 'मनोमयः' आदि का निर्देश तो सूत्रकार ने सू० १।२।२ (विवक्षितगुणोपपत्तेश्च) में पृथक् किया ही है, उसको सू० १।२।१ में मानना व्यर्थ है।

मध्व उक्त सूत्रों में 'एतं सर्वेषु भूतेषु एतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते' (ऐतरेय आ० ३।२।३) की मीमांसा मानते हैं। यद्यपि उक्त दोनों प्रकरण ब्रह्मपरक ही प्रतीत होते हैं और दोनों का निर्देश उक्त प्रस्तावकसूत्र के द्वारा माना जा सकता है, किन्तु निम्नप्रदर्शित प्रकार से प्रस्तुत सूत्र छान्दोग्य के वाक्य में अधिक स्पष्टतया संगत प्रतीत होते हैं :—

(१) सू० १।२।२ में निर्दिष्ट 'विविक्षित गुणों' की दृष्टि से देखा जावे तो छान्दोग्य के प्रकरण में पठित सत्यसंकल्पत्व, सर्वकर्मत्व आदि गुण जितने असाधारण रूप से ब्रह्मत्वसाधक माने जा सकते हैं, उतने ऐतरेय आ० के प्रकरण में पठित चक्षुर्मयत्व, वाङ्मयत्व आदि नहीं।

(२) सू० १।२।४ में निर्दिष्ट ब्रह्म और जीव के क्रमशः कर्मत्व और कर्तृत्व का व्यपदेश जितना स्पष्ट छान्दोग्य के प्रकरण में 'एतद् ब्रह्म एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' में माना जा सकता है, उतना ऐतरेय आ० के 'आत्मानं परस्मै शंसति' में नहीं।

---

१. द्रष्टव्य—श्रीभाष्य १।२।१।

(३) सू० १।२।७ में उपन्यस्त 'अल्पीकस्त्व' की शंका छान्दोग्य के 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' के आधार पर जितनी संगत है, उतनी मध्व द्वारा संकेतित 'सर्वेषु भूतेषु' के आधार पर नहीं।

इसके अतिरिक्त जब सूत्रकार ने छान्दोग्य के उक्त प्रकरण के पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रकरणों की मीमांसा उक्त सूत्रों से क्रमशः पूर्व और बाद के सूत्रों में की है, तो उक्त प्रकरण को ही सूत्रकार ने अमीमांसित छोड़ दिया होगा, ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। वैसे भी जब उपनिषदों का प्रकरण ही सूत्रसंगत है, तो अन्य श्रुति-ग्रन्थों के मीमांस्यत्व की कल्पना में कोई औचित्य नहीं।

उक्त सभी दृष्टियों से यही अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि उक्त सभी सूत्रों में छान्दोग्य के ही उक्त प्रकरण की मीमांसा मानी जावे।

इ. निषेधमुख स्थल

अब तक ऐसे २० स्थलों का परिचय प्राप्त किया गया है, जिनमें सूत्रकार ने विभिन्न श्रुति-प्रकरणों की मीमांसा या यों कहना चाहिए कि उनका ब्रह्मपरक समन्वय विधिमुख से प्रस्तुत किया है कि अमुक मीमांस्य प्रकरण में प्रतिपादित आनन्दमय, आकाश आदि ब्रह्म हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ऐसे स्थल हैं, जिनमें निषेधमुख से मीमांसा प्रस्तुत की गई है कि अमुक मीमांस्यप्रकरण में प्रतिपादित तत्त्व या उसका प्रतिपाद्य-विषय वह नहीं, जो आपाततः पूर्वपक्षियों, मुख्यतः सांख्यवादी विपक्षियों को प्रतीत होता है। उक्त प्रकार के स्थलों पर ही विचार करना पूर्व में स्थगित कर दिया गया था,[1] अब वे विचारणार्थ क्रमप्राप्त हैं।

सू० १।१।५-१२ तथा सू० १।४।१-२२ में उक्त प्रकार से ही श्रुति-प्रकरणों की मीमांसा प्रस्तुत की गई है। उक्त सूत्रों में निम्नलिखित प्रकार से केवल एक स्थल (सू० १।४।१-७) सर्वसम्मत है :—

प्रस्तावकसूत्र—सू० १।४।१ (आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः०)।

सम्बद्धसूत्र—सू० १।४।२-७ (केवल मध्व १।४।८ को और सम्बद्ध करते हैं)।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
(कठोप० १।३।१०)

---

१. द्रष्टव्य—पृ० १०३।

उक्त प्रस्तावकसूत्र (१।४।१) के 'आनुमानिकमप्येकेषामितिचेत्' के द्वारा सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने सांख्यवादियों के इस पक्ष को उपस्थित किया है कि कुछ श्रुति-प्रकरणों में सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन है। उक्त सूत्रों में सांख्य का उक्त पक्ष उक्त श्रुतिवाक्य के 'अव्यक्तम्' के सम्बन्ध में उपस्थित किया गया है।

सूत्रकार ने उक्त पक्ष का निराकरण उक्त प्रस्तावकसूत्र के 'न' शब्द से कर दिया है और उक्त निराकरण के हेतु को 'शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च' के रूप में उपस्थित किया है। उक्त प्रकार से निषेधमुख से मीमांसा का प्रस्तावन करने वाले उक्त स्थल के प्रस्तावकसूत्र को देखने से उसका विधिमुख से प्रस्तावन करने वाले प्रस्तावकसूत्रों से वैषम्य स्पष्ट है, जो कि निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है :—

(१) विधिमुख प्रस्तावकसूत्रों में पक्ष और हेतु दो पद हैं, और निषेधमुख प्रस्तावकसूत्र में निषेधात्मक साध्य और हेतु दो पद हैं, पक्षपद का अभाव है।

(२) विधिमुख प्रस्तावकसूत्र का पक्षपद मीमांस्य श्रुतिवाक्य की स्पष्टतः सूचना दे देता है, निषेधमुख प्रस्तावकसूत्र में पक्षपद का अभाव होने से स्वभावतः मीमांस्य वाक्य की कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। उसके हेतुपद से यह संकेत प्राप्त करना पड़ता है कि वह किस श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया गया होगा। उक्त स्थल के निषेधमुख प्रस्तावकसूत्र के हेतु-पदांश 'शरीररूपक' शब्द ने 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु···' (कठ १।३।३-४) का निर्देश किया, तो उसके आधार पर यह संकेत प्राप्त किया गया कि उक्त हेतु उसके द्वारा निर्दिष्ट उक्त वाक्य से सम्बद्ध 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' आदि (कठ १।३।१०) के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया गया होगा, जो कि यहाँ मीमांस्य माना गया है।

उक्त विशेषताओं के आधार पर निषेधमुख से मीमांसा प्रस्तुत करने वाले विमत स्थलों के निर्णय में बहुत कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। निषेधमुख विमत स्थल निम्न हैं :—

१—सू० १।१।५-१२।
२—सू० १।४।८-१०।
३—सू० १।४।११-१३।
४—सू० १।४।१४-१५।
५—सू० १।४।१६-१८।

६—सू० १।४।१९-२२।

उक्त विमत स्थलों में क्रमांक १ का स्थल समन्वयाध्याय के प्रथम पाद का समन्वयपरक सर्वप्रथम स्थल है और अवशिष्ट चतुर्थपादीय स्थल पूर्वोक्त सर्वसम्मत निषेधमुख स्थल के परवर्ती हैं।

प्रथमपादीय स्थल (सू० १।१।५-१२)—उक्त सूत्रों में रामानुज और निम्बार्क 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्……' (छान्दोग्य ६।२।१-३) वाक्य की मीमांसा मानते हैं। अन्य भाष्यकार इन में श्रुतिमीमांसा न मानकर एक भिन्न विषय का प्रतिपादन मानते हैं। रामानुज और निम्बार्क के अनुसार सू० १।१।५ (ईक्षतेर्नाशब्दम्) एक निषेधमुख प्रस्तावकसूत्र है, जो पूर्वोक्त सर्वसम्मत निषेधमुख प्रस्तावकसूत्र १।४।१ (आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेः०) के समान छान्दोग्य के उक्त मीमांस्य श्रुतिवाक्य में 'सत्' शब्द के द्वारा सांख्याभिमत प्रधान के प्रतिपादन का निराकरण 'नाशब्दम्' के द्वारा प्रस्तुत करता है। सू० १।४।१ में जिस प्रकार सभी भाष्यकारों ने 'आनुमानिकम्' शब्द से सांख्याभिमत प्रधान का निर्देश माना है, उसी प्रकार उक्त 'अशब्दम्' शब्द से रामानुज और निम्बार्क ने उसका निर्देश माना है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है,[1] सूत्रकार श्रुति को शब्द या प्रत्यक्ष भी कहते हैं और स्मृति को अनुमान भी कहते हैं (सू० ३।२।२३, ३।३।३२ आदि)। अपनी इस मान्यता को प्रकट करने के लिए कि सांख्याभिमत प्रधान केवल स्मृतिप्रतिपादत है, श्रुतिप्रतिपादित नहीं, उन्होंने उसका निर्देश 'स्मार्त, आनुमान या आनुमानिक' शब्दों से किया है (सू० १।२।२०, १।३।३, १।४।७ आदि), अतः उसे वे दूसरे शब्दों में 'अश्रौत, अशब्द या अप्रत्यक्ष' भी कह सकते हैं। उक्त श्रुति-वाक्य में 'नाशब्दम्' के द्वारा प्रधान का निराकरण कर 'ईक्षतेः' हेतु के द्वारा उक्त निराकरण का कारण प्रस्तुत किया गया है कि उक्त श्रुति में प्रतिपादित 'सत्' के लिए (संकल्पार्थक) 'ईक्षति' धातु का प्रयोग है, (जो कि एक चेतन के लिए ही सम्भव है, अचेतन प्रधान के लिए नहीं)। उक्त हेतु एक निषेधमुख प्रस्तावकसूत्र में उपन्यस्त हेतुपद के समान मीमांस्य श्रुतिवाक्य की सांकेतिक सूचना दे रहा है, अन्य परवर्ती सूत्र भी उक्त वाक्य की मीमांसा में संगत हो जाते हैं; दूसरी ओर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत विषय का क्लिष्टार्थ-कल्पना करने पर भी उक्त सूत्रों से समर्थन नहीं होता और इस प्रकार रामानुज और निम्बार्क का पक्ष ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

---

१. 'ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय' शीर्षक अध्याय, सू० १।१।५-१२, पृ० ४४।

चतुर्थपादीय स्थल—पूर्वोक्त चतुर्थपादीय पांच स्थलों का सम्बन्ध मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों ने उक्त पाद के प्रारम्भ में सू० १।४।१ (आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न०) के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न श्रुतिवाक्यों में सांख्याभिमत प्रतिपाद्य के निराकरण से ही रक्खा है। जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[1] सू० १।४।१-७ में सभी भाष्यकारों ने उक्त प्रकार से सांख्य का निराकरण करते हुए एक श्रुतिवाक्य की मीमांसा मानी है। सू० १।४।८ से मध्व ने भिन्न परिपाटी का अनुसरण किया है, किन्तु अन्य भाष्यकार उक्त सूत्र से लेकर सू० १।४।२२ तक निम्नलिखित विभिन्न श्रुतिवाक्यों की सांख्य-निराकारक मीमांसा मानते हैं :—

१—सू० १।४।८-१०।

प्रस्तावकसूत्र—सू० १।४।८ (चमसवदविशेषात्)।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्...'
(तैत्तिरीय नारा० उ० १२।१ या श्वेत० उप० ४।५)

२—सू० १।४।११-१३।

प्रस्तावकसूत्र—सू० १।४।११ (न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च)।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'यस्मिन् पंच पंचजनाः आकाशश्च प्रतिष्ठितः...'
(बृहदारण्यक ४।४।१७-१८)

३—सू० १।४।१४-१५।

प्रस्तावकसूत्र—सू० १।४।१४ (कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः)
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—सामान्यतः सभी जगत्कारणवादी श्रुतिवाक्य।

४—सू० १।४।१६-१८।

प्रस्तावकसूत्र—सू० १।४।१६ (जगद्वाचित्वात्)।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत् कर्म स वेदितव्यः' (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ४।१८)

५—सूत्र १।४।१९-२२।

प्रस्तावकसूत्र—१।४।१९ (वाक्यान्वयात्)।
मीमांस्य श्रुतिवाक्य—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'
(बृहदारण्यक २।४।५; ४।५।६)

---

१. प्रस्तुत अध्याय, पृ० ११७, ११८।

उक्त स्थलों के प्रस्तावकसूत्रों में केवल हेतु का प्रयोग है, और साध्य वही है, जो प्रस्तुत पाद के प्रारम्भ में सू० १।४।१ के द्वारा 'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न' के रूप में उपस्थित किया गया है। उसी साध्य—सांख्य के श्रुतिप्रतिपाद्यत्व का निराकरण—की सिद्धि उक्त उन हेतुओं से की गई है, जो कि मीमांस्य श्रुतिवाक्यों की सांकेतिक सूचना मात्र दे देते हैं।

मध्व को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार पूर्वोक्त प्रकार से उक्त सूत्र तत्तत् श्रुतिवाक्यों की मीमांसा में पूर्णतया संगत हो जाते हैं और साथ ही उनका प्रस्तुत पाद के विषय से संगति बनी रहती है। मध्व ने सूत्र १।४।८ को पूर्वाधिकरण (सू० १।४।१-७) से सम्बद्ध कर उसका यह अर्थ प्रस्तुत किया है कि श्रुतियाँ अविशेष रूप से सब शब्दों को परमात्मा का वाचक बताती हैं, अतः 'अव्यक्त' आदि शब्द अन्यत्र प्रसिद्ध होने पर भी परमात्मा के वाचक हैं। उक्त प्रकार से पुनः वे सम्पूर्ण चतुर्थपाद में विभिन्न शब्दों का समन्वय अपने विष्णु में करते गए हैं, सांख्य के निराकरण से उन्होंने कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा और दो चार सूत्रों में श्रुतिवाक्य का निर्देश मानते हुए भी उनकी मीमांसा पर कोई मुख्यदृष्टि नहीं रक्खी, किन्तु जैसा कि उनके द्वारा प्रस्तुत सूत्रार्थ से स्पष्ट है, उनके द्वारा स्वीकृत उक्त परिपाटी का न तो सूत्रों से समर्थन होता है और न प्रस्तुत पाद से कोई संगति रहती है। वस्तुतः सूत्रकार के समक्ष मध्व की तरह किन्हीं शब्दों के विष्णुपरक समन्वय का प्रश्न नहीं है, अपितु विभिन्न श्रुतिवाक्यों के वास्तविक प्रतिपाद्य को निर्णीत कर उनके समन्वय का प्रश्न है और इसीलिए मध्व द्वारा सू० १।४।९-१० में निर्दिष्ट कर्मकाण्डीय ज्योतिष्टोमविधानपरक श्रुतिवाक्य और उसका समन्वय-प्रकार स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होता। सू० १।४।११-१३ में उन्होंने अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत वाक्य की ही मीमांसा मानी है, किन्तु उसके मीमांसा-प्रकार को बदल दिया है। आगे सूत्र १।४।१४-२२ में उन्होंने श्रुतिमीमांसा न मानकर परमात्मा के सर्वशब्दवाच्यत्व पर विचार किया है, किन्तु वह उक्त सूत्रों से किंचिन्मात्र भी समर्थित होता हुआ प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः सू० १।४।१-२२ में अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत उक्त प्रक्रिया के अनुसार सांख्य का निराकरण करते हुए उक्त श्रुतिवाक्यों की मीमाँसा ही सूत्राक्षरों एवं प्रस्तुत पाद के विषय से संगत है और फलतः स्वीकरणीय है।

निष्कर्ष—

पूर्व पृष्ठों में सूत्रकार के द्वारा समन्वयाध्याय (सू० १।१।५—१।४।२२) में मीमांसित श्रुति-प्रकरणों को जानने का प्रयत्न किया गया और उसके

फलस्वरूप उक्त अध्याय में विभिन्न भाष्यकारों की स्थिति का जो परिचय प्राप्त हुआ, उसका फल निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. रामानुज

प्रस्तावकसूत्र—रामानुज के द्वारा स्वीकृत सभी प्रस्तावकसूत्र सर्व-सम्मत प्रस्तावकसूत्रों के स्वरूप के अनुसार हैं, किन्तु इन्होंने केवल एक सूत्र (१।३।४१) को प्रस्तावकसूत्र नहीं माना, जो कि मानना चाहिए।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—रामानुज ने सभी प्रकरण उपनिषदों से गृहीत किए हैं, जो कि सूत्रानुकूल हैं। उक्त सूत्र (१।३।४१) में इन्होंने एक श्रुति-प्रकरण की मीमांसा नहीं मानी है, जो कि माननी चाहिए।

इस प्रकार इन्होंने जो २६ प्रकरण उक्त अध्याय में मीमांसित माने हैं, वे तो सब सूत्रानुकूल हैं, किन्तु केवल एक प्रकरण को छोड़ दिया है।

२. निम्बार्क

प्रस्तावकसूत्र—निम्बार्क की स्थिति रामानुज के समान ही है, किन्तु इन्होंने रामानुज से अधिक एक प्रस्तावक सूत्र (१।२।११) और माना है, जिसके कि प्रस्तावकसूत्रत्व का समर्थन नहीं होता।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—निम्बार्क द्वारा स्वीकृत श्रुति-प्रकरण वही हैं, जो रामानुज ने स्वीकृत किए हैं। इस प्रकार इन्होंने जो २६ प्रकरण माने हैं, वे सब सूत्रानुकूल हैं, किन्तु रामानुज के समान ही इन्होंने भी एक प्रकरण को सू० १।३।४१ में छोड़ दिया है और जो सू० १।२।११ को इन्होंने प्रस्तावक-सूत्र माना है, उसमें पूर्वसूत्रों (१।२।९-१०) से कोई प्रकरण-भेद ही नहीं है।

३. बलदेव

प्रस्तावकसूत्र—बलदेव की स्थिति भी रामानुज और निम्बार्क के समान है। इन्होंने भी निम्बार्क के समान सू० १।२।११ को और उनके विपरीत सू० १।३।४० को प्रस्तावकसूत्र माना है, जो कि नहीं मानना चाहिए। उक्त दोनों भाष्यकारों के समान बलदेव ने भी सू० १।३।४१ को प्रस्तावकसूत्र नहीं माना है, जो कि मानना चाहिए। उक्त दोनों भाष्यकारों से इनकी स्थिति में अन्तर यह है कि इन्होंने सू० १।१।५ को प्रस्तावकसूत्र नहीं माना, जिसका कि मानना उचित था।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—बलदेव द्वारा स्वीकृत प्रकरण वही हैं, जो रामानुज और निम्बार्क ने गृहीत किए हैं। सू० १।३।४१ में इन्होंने भी एक प्रकरण को छोड़ दिया है। इनमें और उक्त दोनों भाष्यकारों में अन्तर

यह है कि इन्होंने उनके विपरीत सू० १।१।५-१२ में एक प्रकरण की मीमांसा नहीं मानी, जो कि माननी चाहिए।

इस प्रकार इन्होंने जो २५ प्रकरण माने हैं, वे सब सूत्रानुकूल हैं। दो प्रकरणों को सूत्र १।१।५-१२ और १।३।४१ में छोड़ दिया है, जो कि नहीं छोड़ने चाहिए थे। इनके अनुसार भी सू० १।२।११ और १।३।४० में पूर्वसूत्रों से कोई प्रकरण-भेद नहीं है।

४. वल्लभ

प्रस्तावकसूत्र—वल्लभ ने सू० १।२।५; १।२।११; १।३।२१; १।३।४०; १।३।४३ को प्रस्तावकसूत्र माना है, जिनके कि प्रस्तावकसूत्रत्व का समर्थन नहीं होता, सू० १।१।५ को प्रस्तावकसूत्र नहीं माना, जो कि मानना चाहिए। सू० १।३।४१ को इन्होंने प्रस्तावकसूत्र माना है, जो कि उचित है। अन्य प्रस्तावकसूत्र रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के समान और सूत्रानुकूल हैं।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—वल्लभ ने भी सब प्रकरण उपनिषदों से गृहीत किए हैं, किन्तु सू० १।२।५ में एक प्रकरण शतपथ ब्राह्मण से लिया है, जो सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता। सू० १।३।२१-२२ और सू० १।३।४३-४४ में जो उपनिषदों के ही अधिक प्रकरण माने गए हैं, वे भी सूत्रसंगत प्रतीत नहीं होते। इनके अनुसार भी सू० १।२।११ और १।३।४० में अपने पूर्वसूत्रों से प्रकरण-भेद नहीं है। सू० १।१।५-१२ में एक प्रकरण की मीमांसा नहीं मानी है, जो कि माननी चाहिए। सू० १।३।४१ में इन्होंने रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के विपरीत जिस प्रकरण की मीमांसा मानी है, वह सूत्रानुकूल है। अन्य सब प्रकरण उक्त तीनों भाष्यकारों के समान और सूत्रानुकूल हैं।

इस प्रकार इन्होंने जो २९ प्रकरण माने हैं, उनमें ३ का समर्थन नहीं होता, साथ ही १ प्रकरण कम माना है, जो कि मानना चाहिए था।

५. मध्व

मध्व की स्थिति अन्य सब भाष्यकारों से बहुत भिन्न है।

प्रस्तावकसूत्र—मध्व ने सू० १।१।२६; १।२।११; १।३।२१; १।३।४०; १।३।४३; १।३।४४; १।४।९ को प्रस्तावकसूत्र माना है, जिनके कि प्रस्तावकसूत्रत्व का समर्थन नहीं होता। सू० १।१।५; १।४।८; १।४।१४; १।४।१६; १।४।१९ को मीमांसाप्रस्तावकसूत्र नहीं माना, जो कि मानना चाहिए था। सू० १।३।४१ को प्रस्तावकसूत्र माना है, जो कि उचित है। अन्य सब प्रस्तावकसूत्र अन्य भाष्यकारों के समान और सूत्रानुकूल हैं।

मीमांस्य श्रुतिवाक्य—मध्व ने सू० १।१।२१-२२; १।१।२४; १।१।२५; १।१।२६-३२; १।२।१-८; १।४।६ में संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों से जो प्रकरण गृहीत किए हैं, उनका एवं सू० १।२।६-१०; १।३।१२; १।३।२१-२२; १।३।४१ में जो उपनिषदों के प्रकरण लिए हैं, उनका सूत्रों से समर्थन नहीं होता। इसी प्रकार सू० १।३।४३ और १।३।४४ में विभिन्न प्रकरणों की जो स्वतन्त्र मीमांसा मानी है, वह भी उचित प्रतीत नहीं होती। सू० १।१।५-१२; १।४।१४-१५; १।४।१६-१८; १।४।१९-२२ में इन्होंने श्रुतिमीमांसा नहीं मानी, जो कि माननी चाहिए थी। सू० १।३।४० में इनके अनुसार भी प्रकरण-भेद नहीं।

इस प्रकार इन्होंने जो २८ प्रकरण माने हैं, उनमें १२ का समर्थन नहीं होता, साथ ही इन्होंने ४ अधिकरणों में मीमांसा ही नहीं मानी।

संक्षेप में उक्त स्थिति को निम्न रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है :—

भाष्यकार	स्वीकृत प्रकरण	सूत्रानुकूल प्र०	सूत्रप्रतिकूल प्र०
१—रामानुज	२६	२६	—
२—निम्बार्क	२६	२६	—
३—मध्व	२८	१६	१२
४—वल्लभ	२९	२६	३
५—बलदेव	२५	२५	—

समन्वयाध्याय के सूत्रों (१।१।५-१।४।२२) में जिन २७ प्रकरणों की मीमांसा है, उनसे भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत प्रकरणों का न्यूनाधिक्य निम्न-प्रकार है :—

भाष्यकार	सूत्रों से न्यून प्रकरण	सूत्रों से अधिक प्रकरण
१—रामानुज	१	—
२—निम्बार्क	१	—
३—मध्व	११	१२
४—वल्लभ	१	३
५—बलदेव	२	—

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत सूत्राधिक उक्त प्रकरण सूत्रप्रतिकूल हैं।

भाष्यकारों ने सूत्रों के अनुकूल या प्रतिकूल उपनिषदों या उनसे अतिरिक्त संहिता, ब्राह्मण आदि श्रुति-ग्रन्थों से जो प्रकरण लिए हैं, उनकी संख्या निम्न प्रकार है :—

भाष्यकार	उपनिषत्-प्रकरण	उपनिषद्व्यतिरिक्त प्रकरण
१—रामानुज	२६	—
२—निम्बार्क	२६	—
३—मध्व	२२	६
४—वल्लभ	२८	१
५—बलदेव	२५	—

१६ सर्वसम्मत प्रकरण सूत्रानुकूल हैं।

६ प्रकरण मध्व को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत सूत्रानुकूल हैं।

१ प्रकरण (सू० १।१।५-१२) केवल रामानुज और निम्बार्क द्वारा स्वीकृत सूत्रानुकूल हैं।

१ प्रकरण (सू० १।३।४१) केवल वल्लभ द्वारा स्वीकृत सूत्रानुकूल है।

इस प्रकार २७ प्रकरण समन्वयाध्याय में मीमांसित प्रतीत होते हैं। जिनमें २६ विशिष्ट प्रकरण हैं और एक अधिकरण (सू० १।४।१४-१५) में सामान्यतः जगत्कारणवादी प्रकरणों की समष्टि है। उक्त २७ प्रकरणों में से २० की मीमांसा विधिमुख से प्रस्तुत की गई है और ७ प्रकरणों की मीमांसा निषेधमुख से प्रस्तुत की गई है।

मीमांसितप्रकरण-तालिका

समन्वय-सूत्रों (१।१।५-१।४।२२) में सूत्रकार द्वारा मीमांसित विभिन्न श्रुति-प्रकरणों और उनके मुख्य वाक्यों को सूत्र-क्रम से निम्न रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है :—

सूत्र	मीमांस्य श्रुति-प्रकरण	मीमांस्य मुख्य-वाक्य	प्रस्तावन-प्रकार
१—सू० १।१।५-१२	छान्दोग्य प्रपा० ६	छा० ६।२।१-३	निषेधमुख
२—सू० १।१।१३-२०	तैत्ति०ब्रह्मा० वल्ली	तै० ब्र० ५	विधिमुख
३—सू० १।१।२१-२२	छान्दोग्य प्रपा० १।६, ७	छा० १।६।६-७; १।७।५	"

४—सू० १।१।२३	छा० प्रपा० १।६	छा० १।६।१	विधिमुख
५—सू० १।१।२४	„ „ १।११	छा० १।११।५	„
६—सू० १।१।२५-२८	„ „ ३।१२, १३	छा० ३।१३।७	„
७—सू० १।१।२९-३२	कोषी०उप० अ० ३	कौ० ३।२	„
८—सू० १।२।१-८	छान्दोग्य प्रपा० ३।१४	छा० ३।१४।१	„
९—सू० १।२।९-१२	कठ अध्याय १	कठ १।२।२४	„
१०—सू० १।२।१३-१८	छान्दोग्य प्रपा० ४।१०-१५	छा० ४।१५।१	„
११—सू० १।२।१९-२१	बृहदा० अध्याय ३।७	बृह० ३।७	„
१२—सू० १।२।२२-२४	मुण्डक प्र० मुण्डक	मुण्ड० १।१।६	„
१३—सू० १।२।२५-३३	छान्दोग्य प्रपा० ५।११-२४	छा० ५।१८।१	„
१४—सू० १।३।१-६	मुण्डक द्वि० मुण्डक	मुण्ड० २।२।५	„
१५—सू० १।३।७-८	छान्दोग्य० प्रपा० ७	छा० ७।२४।१	„
१६—सू० १।३।९-११	बृहदा० अ० ३।८	बृह० ३।८।८	„
१७—सू० १।३।१२	प्रश्नोप० प्रश्न ४	प्र० ४।५	„
१८—सू० १।३।१३-२२	छान्दोग्य प्रपा० ८।१।६	छा० ८।१।१	„
१९—सू० १।३।२३-४०	कठोप० अध्याय २	कठ २।४।११-१२	„
२०—सू० १।३।४१	छान्दोग्य प्रपा० ८।७-१३	छा० ८।१२।३	„
२१—सू० १।३।४२-४४	छान्दोग्य प्रपा० ८।१४	छा० ८।१४।१	„
२२—सू० १।४।१-७	कठ अध्याय १।३	कठ १।३।१०-११	निषेधमुख
२३—सू० १।४।८-१०	तैत्ति० नारा० उ० १२	तै० ना० उ० १२।१	„
२४—सू० १।४।११-१३	बृहदा० अध्याय ४।४	बृह० ४-४।१७	„
२५—सू० १।४।१४-१५	सामान्यत: जगत्कारणवादी सभी प्रकरण एवं वाक्य		„
२६—सू० १।४।१६-१८	कोषा०उप०अध्याय ४	कौ० ४।१८	„
२७—सू० १।४।१९-२२	बृहदा० अध्याय २।४ „ „ ४।५	बृह० २।४।५ „ ४।५।६	„

३. समन्वय-सूत्रों के मीमांस्य श्रुतिग्रन्थ

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि समन्वयाध्याय में केवल निम्न आठ उपनिषदों के विभिन्न प्रकरणों की मीमांसा की गई है और उनमें से प्रत्येक उपनिषद् के प्रकरणों की संख्या निम्न प्रकार है :—

उपनिषद्	विधिमुख	निषेधमुख	योग
१—छान्दोग्य	११	१	१२
२—बृहदारण्यक	२	२	४
३—कठोपनिषद्	२	१	३
४—कोषीतकि उप०	१	१	२
५—मुण्डकोप०	२	—	२
६—तैत्तिरीयोप०	१	—	१
७—प्रश्नोप०	१	—	१
८—तैत्तिरीयनारा० उप०	—	१	१
	२०	६	२६
उक्त सभी उपनिषदों के जगत्कारणवादी वाक्य	—	१	१
	२०	७	२७

इस प्रकार उक्त आठ उपनिषद् ही समन्वयाध्याय के समन्वय-सूत्रों के द्वारा मीमांस्य श्रुति-ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। सूत्रकार की दृष्टि में यही वे प्रमुख उपनिषद् हैं, जिनमें आपाततः या वस्तुतः प्रतीत होने वाले विरोध का निराकरण करने के लिए वे व्यग्र हैं और जिनका परस्पर-समन्वय कर वे उक्त अध्याय के अन्त में सू० १।४।२८ (एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः) के द्वारा निश्चिन्ततापूर्वक अपनी कृतकृत्यता को प्रकट कर सन्तोष की सांस ले सके हैं। यही वे उपनिषद् हैं, जिनके आधार पर उन्होंने सूत्र १।१।२ के द्वारा अपने ब्रह्मसूत्रों के जिज्ञास्य ब्रह्म के जगत्कारणत्व की प्रतिज्ञा की है। यही उपनिषद् उनके द्वारा सू० १।१।३ में निर्दिष्ट उनके शास्त्र हैं। इन्हीं उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मोपासनाओं के लिए वे सू० ३।३।१ (सर्ववेदान्तप्रत्ययम्०) के द्वारा 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय' के समान 'सर्ववेदान्तप्रत्ययन्याय' का प्रयोग करते हैं।

उक्त आठ उपनिषद् सूत्रकार के लिए प्रामाणिक श्रुति-ग्रन्थ के रूप में मान्य थे। इनमें से पाँच—छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषीतकि, तैत्तिरीय और तैत्तिरीयनारायण उपनिषद्—आज भी अपने ब्राह्मण या आरण्यकों के भाग के रूप में उपलब्ध हैं और अवशिष्ट तीन—कठ, प्रश्न और मुण्डक—के सम्बन्ध में सूत्रकार द्वारा परिगृहीत होने के कारण यह सम्भावना की जा सकती है कि ये भी मौलिक रूप से अपने उन ब्राह्मण और आरण्यकों के भाग होंगे, जो सूत्रकार के समय में उपलब्ध थे, किन्तु आज या तो नष्ट हो गए हैं या केवल दृष्टि से तिरोहित हो गए हैं और अन्वेषण करने पर मिल सकते हैं। कृष्णयजुर्वेद की काठक शाखा तो प्रसिद्ध ही है। इसकी संहिता प्राप्त है और इसके ब्राह्मण और आरण्यक के भी प्राप्त होने की सूचना मिली है,[1] संभवतः उनमें कठोपनिषद् भी हो। प्रश्न और मुण्डक को छोड़ कर उक्त आठ उपनिषदों में अथर्ववेदीय उपनिषद् कोई भी नहीं हैं, किन्तु उक्त वेद से सम्बद्ध प्रामाणिक उपनिषद् भी होने चाहिए और प्रश्न और मुण्डक अथर्ववेदीय उपनिषदों में प्राचीनतम माने जाते हैं, इनको सूत्रकार ने भी परिगृहीत किया है, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उक्त दोनों उपनिषद् भी किसी या किन्हीं अथर्ववेदीय संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक से मूलतः सम्बद्ध हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूत्रकार ने श्रुतिसाहित्य के अंगभूत उपनिषदों को समन्वय-सूत्रों में मीमांस्य बनाया है।

ब्रह्मसूत्रों के समन्वयाध्याय में मीमांसित होने से यह स्पष्ट है कि उक्त उपनिषद् अपने आकर श्रुति-साहित्य के अंग होने के साथ-साथ सूत्रकार के बहुत पहले ही पृथक् रूप से 'उपनिषद्' के रूप में परम्परा से मान्य हो चुके होंगे अर्थात् अवशिष्ट श्रुति-साहित्य—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक—से पृथक् इनका अध्यात्मतत्त्व-प्रतिपादक के रूप में एक स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण स्थान बन चुका होगा, इनके आधार पर तत्त्वचर्चा होती होगी और जगत् के मूलतत्त्व के सम्बन्ध में इनकी विभिन्न व्याख्याएँ होती होंगी, जिससे अवशिष्ट श्रुतिसाहित्य को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से इनके समन्वय पर सूत्रकार की दृष्टि गई। पूर्व पृष्ठों में प्रस्तुत अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि समन्वय-सूत्रों में भाष्यकार भी प्रायः सर्वसम्मति से उपनिषदों का ही समन्वय मानते हैं। रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने सभी वाक्य उपनिषदों के ही मीमांसित माने हैं। वल्लभ ने केवल एक वाक्य शतपथ ब्राह्मण का लिया है और मध्व

---

१. उपनिषद्-प्रकाश, पृष्ठ ७६।

ने भी अपने द्वारा स्वीकृत २८ प्रकरणों में से केवल ६ प्रकरणों को उपनिषद्-व्यतिरिक्त श्रुतिसाहित्य से लिया है, अन्यथा सब प्रकरण उनको भी उपनिषदों से ही लेने पड़े हैं। वस्तुतः समन्वयाध्याय के सूत्रों में उपनिषद्व्यतिरिक्त श्रुति-साहित्य के प्रकरणों को मीमांसित मानने का किंचिन्मात्र भी अवकाश नहीं है। इस प्रकार समन्वय-सूत्रों के मीमांस्य श्रुति-ग्रन्थों की पूर्वसीमा से संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक बहिर्गत हैं,[1] और दूसरी ओर उत्तरसीमा से अन्य सभी तत्तन्मतसमर्थक तथाकथित उपनिषद् बहिर्गत हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के सम्बन्ध में एक विचार—उक्त प्रसंग से यहाँ यह विचार करना अप्रासंगिक न होगा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् भी समन्वय-सूत्रों के मीमांस्य श्रुति-ग्रन्थों की सीमा के अन्तर्गत है या नहीं। भाष्यकारों ने, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[2] उक्त उपनिषद् के 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्……' वाक्य को सू० १।४।८-१० के द्वारा इस रूप में मीमांसित माना है कि उक्त वाक्य में ऐसा कोई विशिष्ट या असाधारण संकेत नहीं, जिससे उसमें सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन माना जावे। जहाँ तक उक्त सूत्रों में उक्त वाक्य की मीमांसा का सम्बन्ध है, कोई आपत्ति नहीं, किन्तु विचारणीय यह है कि उक्त 'अजा-वाक्य' सूत्रकार ने तैत्तिरीय-नारायणोपनिषद् (१२।१) से लिया है या श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।५) से, जैसा कि प्रायः भाष्यकार मानते हैं। यद्यपि उक्त 'अजा-वाक्य' उक्त दोनों उपनिषदों में मिलता है, किन्तु तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् में उक्त वाक्य को छोड़कर सांख्यमत का अन्य कोई स्पष्ट या विशिष्ट निर्देश नहीं है और इसलिए उक्त वाक्य की मीमांसा में सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत उक्त समाधान संगत हो सकता है, किन्तु यदि इसके विपरीत यह माना जाता है कि वर्तमान श्वेताश्वतर उपनिषद् भी समन्वय-सूत्रों के मीमांस्य श्रुति-ग्रन्थों के अन्तर्गत था, तो यह समझना कठिन होगा कि उक्त उपनिषद् के 'क्षरं प्रधानम्' (१।१०),

---

१. 'ब्रह्मसूत्र-वैदिकभाष्य' (श्री भगवदाचार्य) आदि भाष्यों में जो समन्वय-सूत्रों के द्वारा उपनिषदों को छोड़कर संहिता-मंत्रों का निर्देश माना गया है, वह नवीनता-प्रदर्शन के उद्देश्य से सूत्रबाह्य-कल्पना मात्र ही सिद्ध होता है।

२. प्रस्तुत अध्याय, पृ० १२०।

'मायां तु प्रकृतिम्' (४।१०), 'गुणान्वयः···त्रिगुणः' (५।७), 'तन्तुभिः प्रधानजैः' (६।१०), 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' (६।१६) आदि स्पष्टतया प्रधानप्रतिपादक अनेक निर्देशों को देखते हुए सूत्रकार यह कहने का कैसे साहस कर सके होंगे कि उक्त उपनिषद् के 'अजा-वाक्य' में कोई विशिष्ट निर्देश नहीं है ! इसके अतिरिक्त इस समस्या का समाधान भी कुछ कठिन होगा कि जब उनके समय का सांख्यवादी सांख्यनिराकरणपरक सूत्रों (१।१।५-१२, १।४।१-२२) में मीमांस्य श्रुतिवाक्यों के सामान्य निर्देशों से ही उनमें अपने मत का समर्थन मान लेता था, तो इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि वह श्वेताश्वतर उपनिषद् के उक्त विशिष्ट एवं निश्चित निर्देशों से अपने सिद्धान्त का समर्थन अवश्य ही करता होगा, फिर क्या कारण है कि सूत्रकार ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के उक्त स्पष्ट निर्देशों की उपेक्षा करदी, उनका समाधान नहीं किया और उक्त निर्देशों की उपस्थिति में वे प्रधान को अशब्द या आनुमानिक मात्र कैसे कह सके ? ऐसी स्थिति में यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् सूत्रकार की दृष्टि में नहीं है, उसे उपनिषद् के रूप में मान्यता उन के बाद मिली है ।

उपनिषद् के रूप में श्वेताश्वतर की स्थिति सूत्रकार के समय में न मानते हुए तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् को उक्त 'अजा-वाक्य' का मूल आकर मानने से उक्त वाक्य के सम्बन्ध में सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत सांख्य-निराकरण उसी प्रकार संगत और श्रुत्यनुकूल हो जाता है, जिस प्रकार उनके द्वारा मीमांस्य अन्य श्रुतिवाक्यों के सम्बन्ध में वह होता है । वैसे भी जब एक मीमांस्य वाक्य तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् के समान ऐसे उपनिषद् में प्राप्त है, जो अपने आरण्यक के भाग के रूप में उपलब्ध होने के कारण प्राचीन और प्रामाणिक है, तो श्वेताश्वर के समान संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक से विहीन उपनिषद् को मीमांस्य मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

उक्त प्रसंग से यहाँ इतना कहना क्षम्य होगा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रतिपाद्य-विषय और उसमें प्रयुक्त पाश (१।११ आदि), जाल (३।१), दुःखान्त (६।२०), परिवेष्टिता (४।१४) आदि पारिभाषिक शब्दों और निर्देशों से ऐसी सम्भावना करने की ओर झुकाव होता है कि उक्त उपनिषद् कहीं पाशुपतमतावलम्बियों का प्रसाद तो नहीं है ! उक्त शब्दों का अन्यत्र कहीं प्राचीन उपनिषदों में प्रयोग नहीं है । इसके अतिरिक्त उक्त उपनिषद् की अन्य निम्न विशेषताएँ, सामूहिक रूप में देखे जाने पर, उक्त संभावना की ही पुष्टि करती हैं ।

१—ईश्वर के लिए पति, ईश, महेश्वर और ईशान आदि शब्दों का अधिक प्रयोग और उसके 'ईशन' की अधिक चर्चा (सम्पूर्ण उपनिषद् में)।

२—उसके कारणत्व, कर्तृत्व या निमित्तकारणत्व, ईश्वरत्व तथा संयोजकत्व पर ही अधिक बल, उपादानत्व की कोई चर्चा नहीं (सम्पूर्ण उपनिषद् में)।

३—निमित्तकारण ईश्वर को अनुमान से सिद्ध करने की प्रवृत्ति (१।१-३, ६।१ आदि)।

४—शिव का परत्व-प्रतिपादन (सम्पूर्ण उपनिषद् में)।

५—शक्ति, माया, कला, महिमा और ईशनी आदि की मान्यता की ओर अधिक झुकाव (१।३; ३।१२; ४।१६; ५।१; ६।१,८)।

६—सांख्याभिमत प्रधान की स्पष्टतः स्वीकृति (सम्पूर्ण उपनिषद् में)।

अस्तु ! जो कुछ भी हो, श्वेताश्वतर उपनिषद् समन्वय-सूत्रों का मीमांस्य ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता। समन्वय-सूत्रों के मीमांस्य केवल वही आठ उपनिषद् हैं जो पूर्व में उल्लिखित किए जा चुके हैं।

४. सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थ

उक्त प्रकार से समन्वयाध्याय के समन्वयपरक सूत्रों के मीमांस्य श्रुति-ग्रंथों को जानने के बाद सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों के सम्बन्ध में कोई सन्देह ही नहीं रहता है, क्योंकि समन्वयाध्याय ब्रह्मसूत्रों का प्रमुख मीमांसास्थल है, अतः उसमें मीमांसित उपनिषदों से अतिरिक्त श्रुतिसाहित्य को ब्रह्मसूत्रों का आधारभूत शास्त्र मानने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती, फिर भी पूर्ण निश्चय करने के लिए यदि समन्वयपरक उक्त सूत्रों (१।१।५-१।४।२२) से अतिरिक्त सूत्रों पर भी एक सामान्य दृष्टिपात किया जावे, तब भी यही स्पष्ट होता है कि ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों की पूर्वोत्तर सीमा उक्त आठ उपनिषदों से बहिर्गत नहीं है। समन्वय-सूत्रों के बाद सू० १।४।२३-२८ में ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन छान्दोग्य, तैत्तिरीय और मुण्डक के आधार पर किया गया है। द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में सत्कार्यवाद के निरूपण में छान्दोग्य और तैत्तिरीय का स्पष्ट निर्देश है (सू० २।१।१५, १८)। उक्त अध्याय के द्वितीय पाद में परमत-निराकरण होने से श्रुतियों का प्रसंग नहीं। तृतीय पाद (सू० २।३।१-१४) में छान्दोग्य और तैत्तिरीय के आधार पर भूतोत्पत्ति-निरूपण है। चतुर्थ पाद (सू० २।४।१७-१९) में छान्दोग्य के त्रिवृत्करण को स्पष्ट

चर्चा है। तृतीयाध्याय के प्रथम पाद (सू० ३।१।१-७) में छान्दोग्य के पंचाग्निविद्याप्रकरण के आधार पर विषय-निरूपण है। उक्त अध्याय के द्वितीय पाद (सू० ३।२।१-८) में स्वप्नादि दशाओं की चर्चा छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कठोपनिषद् के आधार पर है। तृतीय पाद (सू० ३।३।१२) में तैत्तिरीय का स्पष्ट निर्देश है। सू० ३।३।३३ में मुण्डक और बृहदारण्यक की ओर स्पष्ट संकेत है। उक्त अध्याय के चतुर्थ पाद में बृहदारण्यक (सू० ३।४।५, २६, २७) और छान्दोग्य (सू० ३।४।६, २८, ४७) के तत्तद् वाक्यों का स्पष्ट निर्देश है। चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद (सू० ४।१।१८) में छान्दोग्य का वाक्य स्पष्टतः निर्दिष्ट है। उक्त अध्याय के द्वितीय पाद के सू० ४।२।१-६,१४ में छान्दोग्य, सू० ४।२।१६ में कठ, सू० ४।२।१७ में बृहदारण्यक के तत्तद्वाक्यों के आधार पर विषय-निरूपण है। तृतीय पाद के सू० ४।३।१–५ में छान्दोग्य, -बृहदारण्यक और कौषीतकि के आधार पर अर्चिरादिगति का निरूपण है। चतुर्थ पाद के सू० ४।४।१, ३, ८, २२ में छान्दोग्य के वाक्य स्पष्टतः निर्दिष्ट हैं। इसी प्रकार सर्वत्र ही सूत्रों में उक्त आठ उपनिषदों के ही आधार पर विषय-निरूपण किया गया है।

उक्त कथन की पुष्टि के लिए निम्न तालिका पर्याप्त है, जो कि केवल निदर्शनमात्र है :—

सूत्र	श्रुतिवाक्य	आकर-ग्रन्थ
१. आत्मकृतेः १।४।२६	तदात्मानं स्वयमकुरुत	तैत्ति० ७
२. तदनन्यत्वमारंभण० २।१।१५	वाचारंभणं विकारः	छा० ६।१।४-६
३. असद्व्यपदेशात्० २।१।१८	असदेवेदमग्र आसीत्	तैत्ति० ७
४. त्रिवृत्कुर्वतः० २।४।१७	त्रिवृतं करवाणि,	छा० ६।३।३
५. अग्न्यादिगतिश्रुतेः० ३।१।४	अग्निं वागप्येति	बृह० ३।२।१३
६. रेतः सिग्योगोऽथ ३।१।२६	यो रेतः सिंचति	छा० ५।१०।६
७. सन्ध्ये सृष्टिराह हि ३।२।१	सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्	बृह० ४।३।९

८. निर्मातारं चैके० ३।२।२	कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः	कठ २।२।८
९. तदभावो नाडीषु० ३।२।७	नाडीषु सृप्तो भवति	छा० ८।६।३
१०. परमतः सेतून्मान० ३।२।३०	य आत्मा स सेतुः	छा० ८।४।१
११. प्रियशिरस्त्वाद्य० ३।३।१२	तस्य प्रियमेव शिरः	तैत्ति० ५
१२. समन्वारंभणात् ३।४।५	तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते	बृह० ४।४।२
१३. यदेव विद्ययेति हि ४।१।१८	यदेव विद्यया करोति	छा० १।१।१०
१४. वाङ्मनसि० ४।२।१	वाङ्मनसि सम्पद्यते	छा० ६।८।६
१५. तन्मनः प्राणे० ४।२।३	मनः प्राणे	छा० ६।८।६
१६. तानि परे० ४।२।१५	तेजः परस्यां देवतायाम्	छा० ६।८।६
१७. रश्म्यनुसारी ४।२।१७	रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते	छा० ८।६।५
१८. अर्चिरादिना० ४।३।१	अर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति	छा० ४।१५।५
१९. वैद्युतेनैव ततः ४।३।६	विद्युतं तत्पुरुषो मानवः	छा० ४।१०।२ आदि
२०. संपद्याविर्भावः स्वेन ४।४।१	परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन	छा० ८।१२।३
२१. संकल्पादेव तु० ४।४।८	संकल्पादेवास्य समुत्तिष्ठन्ति	छा० ८।२
२२. अनावृत्तिश्शब्दात्० ४।४।२२	तेषां न पुनरावृत्तिः नच पुनरावर्तते	बृह० ६।२।१५ छा० ८।१५।१

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि कहीं-कहीं तो सूत्रों में श्रुतियों के शब्द ज्यों के त्यों ही रख दिए गए हैं और कहीं-कहीं अपने उद्देश्य के अनुसार उनका किंचित रूपान्तर कर दिया गया है।

उपसंहार—उक्त प्रकार से समन्वयाध्याय में मीमांस्य और अन्य अध्यायों में स्पष्टतः निर्दिष्ट होने के कारण उक्त आठ उपनिषद् ही ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। उक्त उपनिषदों के साथ अधिक से अधिक उनके समकक्ष ईश, केन, ऐतरेय आदि ऐसे उपनिषदों को और लिया जा सकता है, जो श्रुति-साहित्य के अंगभूत होने के साथ 'उपनिषद्' के रूप में अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों की पूर्वसीमा में संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक नहीं आते, और उत्तरसीमा में तथाकथित अर्वाचीन उपनिषद् नहीं आते। यह बात दूसरी है कि प्रसंगवश दो चार सूत्रों में अन्य श्रुति-ग्रन्थों का निर्देश किया गया है, किन्तु वे ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत नहीं हैं। प्रसंगवश निर्दिष्ट उक्त श्रुति-ग्रंथ भी, ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत उक्त प्राचीन उपनिषदों के अंगी या आकर प्रसिद्ध श्रुति-ग्रन्थ—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक—ही हैं, अन्य अप्रसिद्ध श्रुति-ग्रन्थ या तथाकथित अर्वाचीन उपनिषद् नहीं, अतः सूत्रों में 'श्रुतेः', 'शब्दात्', 'दर्शनात्' आदि सामान्य और 'प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (१।४।२३), अभिध्योपदेशाच्च (१।४।२४), योनिश्च हि गीयते (सू० १।४।२८), स्वशब्दोन्मानाभ्यां च (सू० २।३।२३), पृथगुपदेशात् (सू० २।३।२८) आदि अनेक विशिष्ट निर्देशों का आधार उक्त उपनिषदों को ही मानना उचित है। सूत्रों के सामान्य और विशिष्ट निर्देशों की प्राचीन उपनिषदों के वाक्यों में स्पष्ट संगति की उपेक्षा कर उनके स्थान पर स्वस्वसिद्धान्तानुकूल प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध श्रुति-ग्रन्थों या अर्वाचीन उपनिषदों के वाक्यों को प्रस्तुत कर उनमें क्लिष्टकल्पना से यथाकथंचित् सूत्रों की संगति मिलाने का जो प्रयत्न भाष्यकारों ने किया है, वह कथमपि उचित और सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता।

विभिन्न भाष्यों को देखने से स्पष्ट है कि भाष्यकार समन्वयाध्याय में तो सूत्र-निर्देशों की अपेक्षाकृत स्पष्टता के कारण सीमा के अन्तर्गत रहे हैं, किन्तु उक्त अध्याय को पार करते ही वे स्वच्छन्द हो गए हैं। सबसे अधिक स्वच्छन्दता का उपभोग मध्व ने किया है। जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है[1], उन्होंने समन्वयाध्याय में ही यथावसर उक्त उपनिषदों को छोड़ने का प्रयत्न किया है और जहाँ उन्होंने अधिक उपयुक्त अवसर देखा है, वहाँ सूत्रों में श्रुति-मीमांसा का भी प्रतिषेध कर दिया है, किन्तु फिर भी वे उक्त अध्याय

---

१. पृष्ठ ११२–१२५।

के समन्वयपरक सूत्रों में बहुत कुछ सीमा के अन्तर्गत रहे हैं और यदि सीमा को बढ़ाया भी है तो केवल प्रसिद्ध संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों ही तक, किन्तु समन्वय-सूत्रों के बाद सू० १।४।२३ से ही उन्होंने अप्रसिद्ध श्रुति-ग्रन्थों का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया है और आगे सम्पूर्ण भाष्य में एक प्रकार से उक्त उपनिषदों का परित्याग सा ही कर दिया है, केवल उन्हीं सूत्रों में उपनिषदों को लिया है, जो पूर्णतया मुखर होकर अपने द्वारा निर्दिष्ट श्रुति का संकेत दे देते हैं, अन्यथा उनके अपने प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध विशिष्ट श्रुति-ग्रन्थ हैं और उक्त ग्रंथों की व्याख्या करने के लिए पुराणों के वाक्य हैं। मध्व द्वारा उद्धृत अप्रसिद्ध श्रुति-ग्रन्थों की सूत्रों से संगति तो बैठती ही नहीं, साथ ही उनके अस्तित्व का अभी तक पता नहीं चल सका है।

वल्लभ और बलदेव का परमप्रिय उपनिषद् 'गोपालतापनी' है। जहाँ कहीं भी उन्हें उपयुक्त अवसर प्रतीत होता है, वहीं वे अपने द्वारा स्वीकृत भक्ति-सिद्धान्तों और भगवान् का वर्णन करने के लिए उक्त उपनिषद् को उद्धृत कर देते हैं। मध्व और इन दोनों भाष्यकारों द्वारा उद्धृत श्रुतिवाक्यों में यही अन्तर है कि मध्व ने 'विष्णु' का प्रतिपादन करने वाले अप्रसिद्ध श्रुति-ग्रन्थों को प्रस्तुत किया है और वल्लभ और बलदेव ने 'गोपालतापनी' के समान कृष्णपरक उपनिषदों को सूत्रों के द्वारा निर्दिष्ट माना है, किन्तु उक्त उपनिषदों का सूत्र में कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः यदि ये तत्तन्मत-समर्थक तथाकथित उपनिषद् भी ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत शास्त्र होते तो सूत्रकार मीमांसा के मुख्य स्थल समन्वयाध्याय में उनकी भी मीमांसा कर समन्वय स्थापित करते। जिस प्रकार उन्होंने उक्त आठ उपनिषदों में प्रतिपादित आनन्दमय, आकाश, प्राण, वैश्वानर, भूमा और दहर आदि को ब्रह्म बताया, उसी प्रकार वे तथाकथित अर्वाचीन उपनिषदों में प्रतिपादित राम, कृष्ण, गोपाल, रुद्र, देवी, नृसिंह और गणपति आदि को भी ब्रह्म बताते। उन्होंने ऐसा नहीं किया, इससे यही सिद्ध होता है कि उक्त तथाकथित उपनिषद् प्राचीन श्रुति-साहित्य के अंग नहीं, अपितु तत्तत्सम्प्रदायों के मतों का समर्थन करने वाले साम्प्रदायिक निबन्ध मात्र हैं, जो कि अपने प्रतिपाद्य को श्रुतिपरम्परा-वादी समाज के समक्ष श्रुतिप्रतिपादित रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य से 'उपनिषद्' नाम धारण कर आए हैं। जो कुछ भी हो, ये ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों की उत्तरसीमा से पूर्णतया बहिर्गत हैं।

रामानुज और निम्बार्क बहुत कुछ सीमा के अन्तर्गत रहे हैं। इन्होंने न तो मध्व के समान अप्रसिद्ध श्रुति-ग्रन्थों को प्रस्तुत किया है और न वल्लभ और

बलदेव के समान साम्प्रदायिक उपनिषदों को। इन्होंने प्रायः प्राचीन उपनिषदों को ही सर्वत्र सूत्रों के द्वारा निर्दिष्ट माना है, फिर भी अपने प्रतिपादन के लिये इन्होंने श्वेताश्वतर, सुबालोपनिषद्, महोपनिषद्, मन्त्रिकोपनिषद् आदि ऐसे उपनिषदों को भी गृहीत किया है, जिनमें सृष्टि का सांख्याभिमत प्रक्रिया के अनुसार स्पष्ट और विस्तृत प्रतिपादन है, किन्तु साथ ही जिनके प्रतिपाद्य का वातावरण प्राचीन उपनिषदों के ही समान है। जैसा कि पूर्व में श्वेताश्वतर उपनिषद् के सम्बन्ध में विचार करते हुए देखा जा चुका है,[1] ब्रह्मसूत्रों में ऐसे किसी उपनिषद् का निर्देश सूत्रकाराभिमत नहीं माना जा सकता जिसमें स्पष्ट रूप से सांख्याभिमत प्रक्रिया का प्रतिपादन है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों की सीमा में न तो संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक हैं, और न ऐसे तथाकथित उपनिषद् हैं जो श्रुति-साहित्य के अंग रूप में प्राप्त या प्रतीत नहीं होते। ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थ वही प्राचीन उपनिषद् हैं जो श्रुति-साहित्य के अंगभूत होने के साथ-साथ 'उपनिषद्' के रूप में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं।

५. मीमांस्य श्रुतिवाक्यों की मीमांसा का क्रम

उक्त प्रकार से यह स्पष्ट हो जाने के बाद कि ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थ केवल प्राचीन उपनिषद् ही हैं, अब यह विचारणीय है कि सूत्रों में उपनिषद्-वाक्यों को किस क्रम से सूत्रकार ने मीमांसा के लिए गृहीत किया है। जहाँ तक समन्वयपरक सूत्रों (१।१।५-१।४।२२) को छोड़कर अवशिष्ट ब्रह्मसूत्रों का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि सूत्रकार ने तत्तद्विषयों के प्रतिपादन के लिए जहाँ जिन श्रुतिवाक्यों को उपयुक्त समझा है, वहाँ उनका उपयोग किया है। वहाँ श्रुति-मीमांसा की अपेक्षा विषय-प्रतिपादन पर ही सूत्रकार की दृष्टि प्रमुख रूप से रही है, श्रुति-मीमांसा तो आनुषंगिक रूप से विषय-प्रतिपादन के साथ होती चली है। फलतः समन्वय-सूत्रों को छोड़कर अन्यत्र-सर्वत्र विषय-प्रतिपादन का क्रम ही श्रुतिवाक्य-मीमांसा के क्रम का आधार है। इसके विपरीत समन्वय-सूत्रों (१।१।५-१।४।२२) में सूत्रकार की प्रमुख दृष्टि श्रुति-वाक्य-मीमांसा पर ही रही है। उक्त सूत्रों में उन्होंने क्रम से एक-एक श्रुति-प्रकरण को लेकर उसकी मीमांसा प्रस्तुत की है, अतः यहाँ केवल समन्वय-सूत्रों के द्वारा मीमांस्य श्रुतिवाक्यों के क्रम पर विचार करना है।

---

१. पृष्ठ १२९–१३१।

पूर्वप्रस्तुत मीमांसितप्रकरण-तालिका से स्पष्ट है कि सूत्रकार ने उक्त सूत्रों में किसी एक उपनिषद् की मीमांसा को प्रस्तुत कर उसके सभी मीमांस्य वाक्यों की मीमांसा विना किसी व्यवधान के एक साथ नहीं की है, अपितु बीच-बीच में वे अन्य उपनिषदों के वाक्यों की मीमांसा करते गए हैं,[१] ऐसी दशा में यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि उनके द्वारा अपनाए गए उक्त क्रम का आधारभूत सिद्धान्त क्या है ?

भाष्यकारों ने यद्यपि उक्त सूत्रों के द्वारा मीमांस्य श्रुतिवाक्यों के भिन्न-भिन्न पादों में विभाजन के सम्बन्ध में अपने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं, किन्तु वे विचारणीय प्रतीत नहीं होते ।

जहाँ तक ज्ञात है, सर्व प्रथम प्रोफेसर डाउसन का इस तथ्य पर ध्यान गया कि सू० १।१।१३—१।३।४४ में भिन्न-भिन्न उपनिषदों के वाक्यों का व्यवधान होने पर भी प्रत्येक उपनिषद् के वाक्यों को उसी क्रम से मीमांसा के लिए लिया गया है, जिस क्रम से वे अपने-अपने उपनिषदों में प्राप्त होते हैं और भिन्न-भिन्न उपनिषदों के वाक्य परस्पर इस प्रकार संग्रथित हैं कि संग्रथन का कारण जहाँ-तहाँ स्पष्ट है। उक्त क्रम और साथ ही उक्त सूत्रों में छान्दोग्य उपनिषद् के सर्वाधिक वाक्यों की मीमांसा देखकर उन्होंने यह संकेत प्राप्त किया कि उक्त उपनिषद् पर आधारित एक मौलिक सूत्र-ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र-कार को प्राप्त था, उसमें ही संभवतः बाद में अन्य उपनिषदों के वाक्यों को जोड़ दिया गया है और उनके जोड़ने के समय साथ ही यह ध्यान रक्खा गया है कि मौलिक क्रम सुरक्षित रहे ।[२]

जहाँ तक उक्त प्रोफेसर महोदय के द्वारा प्रदर्शित उक्त क्रम का सम्बन्ध है, वह, जैसा कि पूर्वप्रस्तुत मीमांसितप्रकरण-तालिका से स्पष्ट है,[३] ठीक है, किन्तु छान्दोग्य के वाक्यों की सर्वाधिक संख्या देखकर उन्होंने जो उक्त संकेत प्राप्त किया है, वह तथ्यानुकूल प्रतीत नहीं होता। समन्वयपरक सूत्रों में गृहीत उपनिषदों को देखने से स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्रकार ने उक्त उपनिषदों के प्रायः सभी मीमांसनीय प्रकरणों की मीमांसा निरवशेष रूप से प्रस्तुत कर दी है। उन्होंने ऐसा नहीं किया कि छान्दोग्य के तो सभी प्रकरण ले लिए हों और अन्य उपनिषदों के मीमांसनीय प्रकरणों को छोड़ दिया हो, किन्तु जब बृहदारण्यक को छोड़ कर अन्य कठ, प्रश्न, मुण्डक और तैत्तिरीय

१. पृष्ठ १२५, १२६ ।
२. प्रो० डाउसन—Philosophy of the upanishad, पृ० २८, २९ ।
३. पृष्ठ १२५, १२६ ।

आदि लघुकाय उपनिषदों में छान्दोग्य के बराबर ब्रह्मपरक प्रकरण हैं ही नहीं, तो सूत्रों में उनके मीमांस्य वाक्यों की संख्या छान्दोग्य के वाक्यों के समान कैसे हो सकती है ? एक मात्र बृहदारण्यक उपनिषद् ही ऐसा है, जो परिमाण में छान्दोग्य के समान है, किन्तु उक्त उपनिषद् को देखने से स्पष्ट है कि उसके भी किसी मीमांसनीय ब्रह्मपरक प्रकरण को अमीमांसित नहीं छोड़ा गया है।

बृहदारण्यक के तृतीय और चतुर्थ अध्याय के सभी मीमांसनीय प्रकरणों की मीमांसा प्रत्यक्षतः कर दी गई है,[1] जिसमें ब्रह्मस्वरूपनिरूपण-परक उसका सम्पूर्ण प्रतिपाद्य आ जाता है। उसके अन्य अध्यायों में पहले तो ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरक प्रकरण ही कम हैं, और जो हैं भी, वे या तो उसके मीमांसित प्रकरणों में ही आ जाते हैं या अन्य उपनिषदों के अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत प्रकरणों की मीमांसा के साथ ही मीमांसित हो जाते हैं। बृहदारण्यक के देखने से स्पष्ट है कि उसके पंचम अध्याय में केवल दो पंक्तियों का एक प्रकरण (५।६) ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरक है, जिसका कि छान्दोग्य के ही एक तत्समान किन्तु पूर्ण एवं विस्तृत प्रकरण (छा० ३।१४) में समावेश हो जाता है, जो कि सूत्र १।२।१-८ में मीमांसित कर दिया गया है। इसी प्रकार बृहदा-रण्यक के षष्ठ अध्याय में कोई प्रकरण ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरक नहीं है और इसलिये वह स्वतः ही छान्दोग्य के द्वितीय अध्याय के समान ब्रह्मसूत्रों की मीमांसा की परिधि से बहिर्गत रह गया है। उसके प्रथम अध्याय में दो एक संक्षिप्त निर्देशों को छोड़ कर अन्य कोई ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरक प्रकरण नहीं। उसके द्वितीयाध्याय का प्रथम ब्राह्मण सू० १।४।१६-१८ में मीमांस्य कौषीतकि उप० के एक प्रकरण और चतुर्थ ब्राह्मण सू० १।४।१९-२२ में मीमांस्य स्वयं उसके ही एक प्रकरण (४।५) के साथ स्वतः मीमांसित है। वस्तुतः छान्दोग्य की तुलना में बृहदारण्यक का वातावरण ब्राह्मण और आरण्यकों के प्रतिपाद्य-विषयों से ही अधिक व्याप्त होने के कारण उसमें से इतने मीमांसनीय प्रकरण प्राप्त नहीं हो सके, जितने छान्दोग्य से प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समन्वय-सूत्रों में गृहीत उपनिषदों के साथ समान व्यवहार करते हुए उनके प्रायः सभी प्रमुख मीमांसनीय ब्रह्मपरक प्रकरणों की मीमांसा सूत्रकार ने प्रस्तुत की है और भिन्न-भिन्न उपनिषदों में प्राप्त होने वाले मीमांसनीय प्रकरणों के संख्या-भेद के आधार पर ही सूत्रों में

---

१. सू० १।२।१९-२१; १।३।९-११; १।४।११-१३; १।४।१९-२२।

तत्तद् उपनिषदों के मीमांस्य प्रकरणों का संख्या-भेद स्वभावतः हो गया है, सूत्रों में छान्दोग्य या अन्य किसी उपनिषद् को 'प्राथमिकता' नहीं दी गई। इतना अवश्य है कि छान्दोग्य में वाक्यों की अधिकता होने के कारण उसके क्रम को मुख्य रूप से अपनाया गया है और उसके वाक्यों के प्रतिपाद्य-विषय के प्रसंग से अन्य उपनिषदों के वाक्यों की मीमांसा कर दी गई है। इस प्रकार समन्वय-सूत्रों में छान्दोग्य उपनिषद् के सर्वाधिक वाक्यों की मीमांसा के आधार पर प्रो० डाउसन के अनुसार सूत्रकारद्वय की कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती। सूत्रकार ने मौलिक रूप से अपने प्रतिपाद्य-विषय के अनुसार श्रुतिवाक्यों को मीमांसा के लिए गृहीत किया है और यही कारण है कि छान्दोग्य के क्रम को अपनाते हुए भी उन्होंने अपने प्रतिपाद्य के अनुसार उक्त उपनिषद् के वाक्यों में व्यतिक्रम कर सू० १।१।५-१२ में उसके षष्ठ प्रपाठक या अध्याय की मीमांसा सर्वप्रथम प्रस्तुत की, अन्यथा उक्त प्रपाठक का स्थान उक्त उपदिषद् के पंचम प्रपाठक की मीमांसा करने वाले सू० १।२।२५-३३ के बाद होना चाहिए, किन्तु यतः षष्ठ प्रपाठक में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित तत्त्व का सामान्यतः 'सत्' शब्द के द्वारा निर्देश होने के कारण सांख्यवादी उक्त प्रपाठक को श्रुतियों में प्रधानकारणवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व देता होगा, अतः सूत्रक़ार ने सर्वप्रथम उक्त प्रपाठक की मीमांसा कर सांख्य का प्रतिवाद किया और साथ ही अपने जिज्ञास्य ब्रह्म का स्वरूप सांख्याभिमत प्रधान से पृथक् स्पष्ट कर दिया कि वे जिस ब्रह्म की जिज्ञासा में प्रवृत्त हैं, वह सांख्याभिमत अचेतन प्रधान नहीं, अपितु तद्व्यतिरिक्त एक परमचेतन तत्त्व है। जैसा कि ब्रह्मसूत्रों के साक्ष्य से ज्ञात है कि सांख्य अपने प्रधान के जगत्कारण रूप से श्रुतिप्रतिपादित होने का वाद उपस्थित करता था,[1] तो यह स्वाभाविक है कि वह प्रधान को ब्रह्म भी कहने लगा होगा। ऐसी दशा में यदि सूत्रकार सर्वप्रथम उक्त प्रपाठक की निषेधमुख से मीमांसा के द्वारा प्रधान का निराकरण कर उससे जिज्ञास्य ब्रह्म के स्वरूप का पार्थक्य स्पष्ट न कर देते, तो उनके द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म-जिज्ञासा 'प्रधान-जिज्ञासा' ही रह जाती, क्योंकि सू० १।१।१-४ प्रधानपरक भी लग सकते थे और सू० १।१।५-१२ के अभाव में सू० १।१।१३-२० आदि के द्वारा निर्दिष्ट 'आनन्दमय' आदि से सांख्याभिमत प्रधान ही माना जाता,

---

१. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र। १।१।५-१२; १।१।१९-२०; १।२।२०; १।२।२३; १।३।३; १।४।१-१५ आदि।

अतः सूत्रकार ने जो सर्वप्रथम सू० १।१५-१२ में उक्त प्रपाठक का प्रधान-निराकरणपूर्वक ब्रह्मपरक समन्वय किया, उसका प्रसंगौचित्य और उद्देश्य-गौरव स्पष्ट है। उक्त प्रपाठक की मीमांसा करते हुए सूत्रकार ने सू० १।१।११ में 'गतिसामान्य' हेतु उपस्थित किया कि अन्य जगत्कारणवादी प्रकरणों से प्रस्तुत प्रकरण की एकवाक्यता करने से भी यही सिद्ध होता है कि उक्त प्रपाठक में प्रधान का जगत्कारण रूप से प्रतिपादन नहीं। फिर सू० १।१।१२ (श्रुतत्वाच्च) के द्वारा उन्होंने सामान्यतः अन्य प्रकरणों का निर्देश भी कर दिया और तदनुसार सू० १।१।१३-२० में एक ऐसे प्रकरण (तैत्तिरीय उ०) की मीमांसा की, जो जगत्कारणवाद की दृष्टि से तो विस्तृत, स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण था ही, साथ ही जिसमें जगत्कारण ब्रह्म का सत्य, ज्ञान, आनन्दमय आदि ऐसे विशेषणों से निर्देश था कि उसमें सांख्याभिमत प्रधान की सम्भावना ही नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार सू० १।१।५-२० में दो महत्त्वपूर्ण जगत्कारणवादी प्रकरणों की मीमांसा के द्वारा सूत्रकार ने अचेतन प्रधान का निराकरण करते हुए वेदान्ताभिमत चेतन ब्रह्म के जगत्कारणत्व को सिद्ध कर दिया, फिर छान्दोग्य के क्रम को अपनाकर सू० १।१।२१ से उक्त उपनिषद् के प्रथम प्रकरण की मीमांसा प्रारम्भ की। आगे इसी प्रकार तृतीय पाद की समाप्ति (सू० १।३।४४) तक क्रम से मीमांसा करते हुए वे यथाप्रसंग बीच-बीच में अन्य उपनिषदों के वाक्यों को मीमांसित करते गए हैं और चतुर्थ पाद में उन्होंने सभी ऐसे वाक्यों की निषेधमुख से मीमांसा कर दी है जिनमें सांख्यवादी अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन मानता था। सांख्य के निराकरण से ही सूत्रकार ने श्रुतिवाक्य-समन्वय का प्रारम्भ किया और उसी में समाप्ति की और तब उसके बाद सू० १।४।२३-२८ में ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का अन्तिम रूप से स्थापन कर सू० १।४।२९ के द्वारा उन्होंने समन्वय का उपसंहार किया।

उक्त क्रम को जानने के बाद अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सूत्रकार ने समन्वय-सूत्रों में मीमांस्य श्रुतिवाक्यों का पादों में विभाजन किस आधार पर किया है? जहाँ तक चतुर्थ पाद का सम्बन्ध है, विभाजन का आधार स्पष्ट है कि उक्त पाद में ऐसे वाक्यों को मीमांसित किया गया है, जिनके प्रतिपाद्य के विषय में सांख्य का पूर्वपक्ष उपस्थित था, किन्तु अवशिष्ट तीन पादों में विभिन्न वाक्यों के विभाजन का आधार इतना स्पष्ट नहीं है।

उक्त विभाजन के सम्बन्ध में डा० मोदी ने एक विचार उपस्थित किया है। उन्होंने, यह मानकर कि ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्म के दो स्वरूप माने हैं,

अरूपवत् अर्थात् अपुरुषविध या अव्यक्त तथा रूपवत् अर्थात् पुरुषविध या व्यक्त, समन्वयाध्याय के प्रथम तीन पादों में से प्रत्येक में मीमांसित श्रुतिवाक्यों की निम्नलिखित विशेषताएँ मानी हैं :—

प्रथम पाद—ऐसी श्रुतियाँ, जिनमें ब्रह्म के अरूपवत् स्वरूप का प्रतिपादन है, सृष्टि की चर्चा है, साथ ही जिनमें 'ब्रह्म, आत्मा या पुरुष' शब्दों का प्रयोग नहीं।

द्वितीय पाद—ऐसी श्रुतियाँ, जिनमें ब्रह्म के अरूपवत् स्वरूप के साथ रूपवत् स्वरूप का भी प्रतिपादन है, किन्तु अरूपवत् स्वरूप का प्रतिपादन स्पष्टतः मुख्य रूप से है। इनमें 'पुरुष' को छोड़ कर अन्य 'ब्रह्म या आत्मा' शब्दों का प्रयोग है।

तृतीय पाद—ऐसी श्रुतियाँ, जिनमें ब्रह्म के रूपवत् स्वरूप के साथ अरूपवत् स्वरूप का भी प्रतिपादन है, किन्तु रूपवत् स्वरूप का प्रतिपादन स्पष्टतः मुख्य रूप से है। इनमें 'पुरुष' शब्द का प्रयोग है या पुरुष के असाधारण गुणों का स्पष्टतः प्रतिपादन है।[1]

जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि सूत्रकार ने ब्रह्म के उक्त दो स्वरूप माने हैं या नहीं, यहाँ विचारणीय नहीं, यहाँ तो केवल यह देखना है कि तत्तत्पादों में मीमांसित श्रुतियों में उक्त विशेषताएँ निरपवाद रूप से मिलती हैं या नहीं। डा० मोदी की उक्त योजना के अनुसार प्रथम पाद में केवल ऐसी श्रुतियों की मीमांसा होनी चाहिए, जिनमें ब्रह्म के केवल अरूपवत् स्वरूप का वर्णन है, किन्तु सू० १।१।२१-२२ के द्वारा मीमांस्य श्रुति 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः' (छा० १।८।६) में अरूपवत् नहीं, अपितु 'रूपवत् या पुरुष' स्वरूप का ही स्पष्टतः प्रतिपादन है। इसी प्रकार सू० १।१।२५-२८ में मीमांस्य श्रुति (छा० ३।१३।७) में प्रतिपादित 'ज्योतिः को 'चरणाभिधानात्' हेतु के बल पर ब्रह्म ही बताया गया है, जिससे यह प्रकट है कि सूत्रकार उक्त 'ज्योति' को उक्त प्रकरण की ही चरणाभिधायक 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः' (छा० ३।१२।६) श्रुति में प्रतिपादित 'पूरुष' से अभिन्न मानते हैं, इस प्रकार उक्त सूत्रों में भी पुरुषविध ज्योति का वर्णन करने वाली श्रुतियों की मीमांसा है। सू० १।१।१३-२० के द्वारा मीमांस्य श्रुतिवाक्य 'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः, (तै० उ०, ब्र० बल्ली ५) में आनन्दमय के

---

१. डा० मोदी—ए क्रिटिक आफ दि ब्रह्मसूत्रास्, भाग २, भूमिका, पृ० ३, ४।

लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग तो है ही, साथ ही 'स वा एष पुरुषविध एव' के द्वारा उसके 'पुरुषविधत्व' का भी प्रतिपादन है।

इस प्रकार प्रथम पाद में प्राय: सृष्टिसम्बन्धी और अरूपवत्सम्बन्धी श्रुतिवाक्यों की मीमांसा होने पर भी सभी मीमांसित वाक्यों में 'अरूपवत्' स्वरूप या सृष्टि का वर्णन नहीं मिलता है। यदि उक्त अपवादभूत श्रुतियों में रूपवत् का वर्णन होने पर भी 'अरूपवत्' स्वरूप का वर्णन स्पष्टत: मुख्य रूप से माना जावे, तो उक्त योजना के अनुसार उनकी मीमांसा प्रथम पाद में न होकर द्वितीय पाद में होनी चाहिए। द्वितीय और तृतीय पाद में मीमांसित श्रुतियों की यह सामान्य विशेषता मानी गई है कि वे ब्रह्म के 'रूपवत्' या 'पुरुष' स्वरूप से सम्बद्ध हैं और साथ ही उनमें 'अरूपवत्' स्वरूप का वर्णन है। इस प्रकार उक्त दोनों पादों की श्रुतियों में कोई परस्पर-विभाजक विशेषता नहीं हुई और यह विभाजक विशेषता कि द्वितीय पाद की श्रुतियों में 'रूपवत्' स्वरूप का वर्णन होते हुए भी 'अरूपवत्' का स्पष्टत: मुख्य रूप से है और तृतीय पाद की श्रुतियों में 'अरूपवत्' स्वरूप का वर्णन होते हुए भी 'रूपवत्' का स्पष्टत: मुख्य रूप से, आपेक्षिक होने के कारण निश्चित तथा स्पष्ट रूप से विभाजक प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त उक्त विभाजक विशेषता के अनुसार यह कैसे संभव होगा कि द्वितीय पाद में सू० १।२।१-८ के द्वारा मीमांसित श्रुति (छा० ३।१४) में 'मनोमय: प्राणशरीर:', सू० १।२।१९-२१ में मीमांसित श्रुति (बृहदा० ३।७) में 'यस्य पृथिवी शरीरम्', सू० १।२।२५-३३ में मीमांसित श्रुति (छा० ५।१८।१-२) में 'वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा: चक्षुर्विश्वरूप:······पृथिव्येव पादौ' आदि अनेक 'रूपवत्त्व-सूचक निर्देशों के होने पर भी 'अरूपवत्' स्वरूप की प्रधानता मानी जावे और तृतीय पाद में सू० १।३।७-११, १३-२२, ४१ के द्वारा मीमांसित श्रुतियों में प्रतिपादित भूमा (छा० ७।२४), अक्षर (बृहदा०३।८), दहर (छा० ८।१) और परम ज्योति (छा० ८।१२) के सम्बन्ध में रूप का स्पष्ट निर्देश प्रतीत न होने पर भी उनमें 'रूपवत् स्वरूप का वर्णन स्पष्टत: मुख्य रूप से मान लिया जावे?

वस्तुत: समन्वयाध्याय के मीमांस्य वाक्यों में उपनिषदों के अनुसार प्राप्त होने वाले पूर्वप्रदर्शित क्रम की उपेक्षा कर उनके सम्बन्ध में इस दृष्टि से विचार करना कि सूत्रकार ने उक्त क्रम को न अपना कर स्वतन्त्र रूप से उनमें प्राप्त होने वाली परस्पर समान और असमान विशेषताओं के आधार पर ही उनका भिन्न-भिन्न पादों में विभाजन किया है और फिर उक्त विभाजन की आधारभूत उक्त विशेषताओं का अन्वेषण करना, निराशाजनक ही सिद्ध

होता है। इसके विपरीत यदि यह मान लिया जाता है कि समन्वयपरक सूत्रों में से सू० १।१।५-२० को छोड़ कर जिनमें ब्रह्म के पूर्वप्रतिज्ञात जगत्कारणत्व के सम्बन्ध से जगत्कारणवादी प्रकरणों की मीमांसा की गई है और सू० १।४।१-२२ को छोड़ कर जिनमें ऐसी श्रुतियों की मीमांसा की गई है, जिनमें आपाततः सांख्याभिमत तत्त्वों का प्रतिपादन प्रतीत होता है, अवशिष्ट सूत्रों (१।१।२१-१।३।४४) में पूर्वोक्त प्रकार से अन्य उपनिषदों की अपेक्षा सर्वाधिक मीमांस्य वाक्य होने के कारण छान्दोग्य के क्रम को मुख्य रूप से अपना कर उसके वाक्यों की यथाक्रम मीमांसा करते हुए बीच-बीच में प्रसंगानुसार तत्समान अन्य उपनिषदों के वाक्यों की भी यथाक्रम मीमांसा की गई है और ऐसा करते हुए छान्दोग्य के ही पूर्वमीमांसित वाक्यों से भिन्न प्रकार का वाक्य आने पर पाद-विभाजन करते गए हैं, जिससे प्रत्येक पाद में मीमांसित श्रुतिवाक्यों की स्वतः ही प्रायः एक असाधारण विशेषता हो गई है, तो मीमांस्य वाक्यों के परस्पर पूर्वापरक्रम और साथ ही उनके तत्तत्पादों में विभाजन से सम्बन्ध रखने वाली उक्त समस्या का अधिक उपयुक्त समाधान होता हुआ प्रतीत होता है। भिन्न-भिन्न पादों में प्रायः निम्न प्रकार के वाक्य प्राप्त होते हैं :—

प्रथम पाद (सू० १।१।२१ से समाप्ति पर्यन्त)—किसी देव या भौतिक तत्त्वों के वाचक शब्दों के द्वारा ब्रह्म का निर्देश करने वाले श्रुतिवाक्य।

द्वितीय पाद—जीव और जड़ तत्त्वों में सूक्ष्मरूप से अवस्थित ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करने वाले श्रुतिवाक्य।

तृतीय पाद—जीव और जड़ तत्त्वों को अपने में अवस्थित कर उनके धारक और शासक ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करने वाले श्रुतिवाक्य।

चतुर्थ पाद—आपाततः सांख्यतत्त्वप्रतिपादक के रूप में प्रतीत होने वाले विभिन्न श्रुतिवाक्य।

स्पष्टीकरण—

१—सर्वप्रथम सू० १।१।५-१२ के द्वारा मीमांसित श्रुतिप्रकरण में सांख्याभिमत प्रधान के प्रतिपाद्यत्व का निराकरण कर उक्त प्रकरण का ब्रह्मपरकसमन्वय अपना एक विशिष्ट उद्देश्य रखता है, जो कि अभी पूर्व में प्रदर्शित किया जा चुका है। उस उद्देश्य के कारण ही उक्त महत्त्वपूर्ण जगत्कारणवादी प्रकरण को चतुर्थपाद में नहीं रक्खा, जिसका कि उद्देश्य सांख्य का निराकरण करते हुए मीमांस्य श्रुति के वास्तविक प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर देना मात्र है।

२—उक्त सूत्रों (१।१।५-१२) के प्रतिपाद्य के समर्थन में स्पष्टतः ब्रह्मकारणवादी एक महत्त्वपूर्ण श्रुतिप्रकरण का ब्रह्मपरक समन्वय सू० १।१।१३-२० में किया गया।

३—सू० १।१।२१ से छान्दोग्य के क्रम को अपनाते हुए उक्त उपनिषद् तथा यथाप्रसंग अन्य उपनिषदों के वाक्यों की मीमांसा का प्रारम्भ, और मीमांसा-प्रसंग में छान्दोग्य के क्रमप्राप्त वाक्य के पूर्वमीमांसित वाक्यों से भिन्न होने पर पूर्व पाद की समाप्ति और नए पाद का प्रारम्भ।

४—उपनिषदों के क्रम को मुख्य रूप से अपनाने के कारण तत्तत्पादीय उक्त विशेषताएँ प्रायिक रूप में ही हैं।

६. मीमांसा-पद्धति

पूर्व पृष्ठों में समन्वय-सूत्रों (१।१।५-१।४।२२) के द्वारा मीमांस्य श्रुति-वाक्य और उनके क्रम के विषय में विचार करने के बाद अब उसी प्रसंग से उक्त सूत्रों में सूत्रकार द्वारा स्वीकृत मीमांसा-पद्धति पर संक्षेप में कुछ विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

(अ) मीमांस्यप्रकरणों का चयन—यह तो सर्वविदित है कि किसी ग्रन्थ की मीमांसा उसकी आनुपूर्वी व्याख्या नहीं, अपितु उसके प्रमुख एवं संदिग्ध स्थलों के वास्तवक प्रतिपाद्य का युक्तियुक्त एवं विवेचनापूर्ण स्पष्टीकरण है। सूत्रकार ने भी सूत्रों में उपनिषदों की मीमांसा उक्त प्रकार से ही प्रस्तुत की है और इसीलिए उन्होंने समन्वय-सूत्रों में मीमांसा के लिए आधारभूत प्राचीन उपनिषदों के उन्हीं प्रमुख ब्रह्मपरक प्रकरणों का चयन किया है, जिनके प्रति-पाद्य-विषय के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि से किंचिन्मात्र भी संदेह हो सकता है। इस प्रकार मुख्यतः प्रतिपाद्यविषयक संदेह ही मीमांस्य प्रकरणों के चयन का आधार है। इसके विपरीत जिन ब्रह्मपरक प्रकरणों का प्रतिपाद्य-विषय उन्हें स्पष्टतः प्रतिपादित होता हुआ प्रतीत हुआ है, उनकी प्रत्यक्षतः मीमांसा न कर सामान्यतः 'एतेन सर्वे व्याख्याताः व्याख्याताः' के द्वारा उनको व्याख्यात या मीमांसित मान लिया है। प्रतिपाद्यविषयक संदेह का कारण एक तो विभिन्न प्रकरणों में प्रतिपादित 'परतत्त्व' की परस्पर भिन्न या विरुद्ध प्रतीत होने वाली विशेषताएँ हैं, और दूसरे, जैसा कि समन्वय-सूत्रों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट है कि मीमांसा करते हुए सूत्रकार ने प्रायः प्रत्येक मीमांस्य प्रकरण के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि उसमें 'स्मार्त्त', 'आनुमान' या 'आनु-मानिक' अर्थात् सांख्याभिमत प्रधान तथा 'इतर', 'अन्य' या 'शारीर' अर्थात् जीव का प्रतिपादन नहीं है, श्रुतियों में ब्रह्मेतर तत्त्व के 'परतत्त्व' के रूप में

प्रतिपाद्यत्व की सम्भावना है। प्रतिपाद्यविषयक उक्त संदेह के न होने के कारण ही सूत्रकार ने 'ईशावास्योपनिषद्' के एकमात्र ब्रह्मपरक प्रकरण की मीमांसा नहीं की, क्योंकि उसमें ब्रह्म का निर्देश 'ईश' शब्द से किया गया है, जिसे वे ब्रह्म का असाधारण वाचक शब्द मानते हैं, जैसा कि सू० १।३।२३ से स्पष्ट है। ब्रह्म का स्पष्टतः प्रतिपादन होने के कारण ही उन्होंने संभवतः केनोपनिषद् के एकमात्र प्रकरण को मीमांसनीय नहीं समझा।

मीमांस्य प्रकरणों के चयन में सूत्रकार का एक और दृष्टिकोण स्पष्टतः परिलक्षित होता है और वह यह है कि उपनिषदों में समानविषयक और समानरूप अनेक प्रकरण हैं। ऐसी दशा में उन्होंने उनमें से ऐसे दो एक प्रमुख प्रकरण मीमांसा के लिए गृहीत किए हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक प्रमुख एवं विस्तृत हैं। उदाहरण के लिए, उपनिषदों में जगत्कारणवादी अनेक प्रकरण हैं, किन्तु उनमें से उन्होंने प्रत्यक्षतः विशिष्ट रूप से मीमांसा के लिए कुछ ही गृहीत किए हैं और अन्य अनेक अपेक्षाकृत गौण एवं संक्षिप्त जगत्कारणवादी प्रकरणों की प्रत्यक्षतः मीमांसा न कर मीमांसित प्रकरणों में ही उनकी मीमांसा मान ली है। इसी लिए ब्रह्म के अक्षरस्वरूप का वर्णन करने वाले दो मुख्य प्रकरणों (मुण्डक १ एवं बृहदारण्यक ३।८) की मीमांसा कर अन्य समान किन्तु गौण प्रकरणों को उन्हीं में मीमांसित मान लिया है। इसी प्रकार 'मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः' के रूप में ब्रह्म का वर्णन करने वाले छान्दोग्य के अपेक्षाकृत प्रमुख प्रकरण (३।१४) की मीमांसा की गई और तत्समान बृहदारण्यक के अपेक्षाकृत गौण प्रकरण (५।६) को उसीके अन्तर्गत मान लिया। समानविषयक प्रकरणों में कुछ ऐसे हैं जिनमें परस्पर यत्किंचित् ही भेद है और कोई-कोई तो परस्पर पुनरावृत्त मात्र है, वहाँ भी एक प्रमुख प्रकरण की प्रत्यक्षत्तः मीमांसा कर दी गई है, जिसमें दूसरा स्वतः ही मीमांसित हो जाता है। उदाहरण के लिए, सूत्र १।१।१३-२० में तैत्तिरीय की ब्रह्मानन्दवल्ली के प्रकरण की मीमांसा में भृगुवल्ली का प्रकरण, सू० १।४।१६-२२ में बृहुदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के मैत्रेयीब्राह्मण की मीमांसा में उसी उपनिषद् का दूसरा मैत्रेयीब्राह्मण (अध्याय २) और सू० १।४।१६-१८ में कौषीतकि उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय की मीमांसा में बृहदारण्यक का प्रकरण (२।१) स्वतः ही मीमांसित है। उक्त प्रकार से सूत्रकार ने सामान्यतः प्रतिपाद्यविषयक संदेह और समानविषयक प्रकरणों में अपेक्षाकृत प्रमुखता के

आधार पर मीमांस्य प्रकरणों का चयन कर प्रायः सभी मीमांसनीय ब्रह्मपरक प्रकरणों की मीमांसा निरवशेष रूप से समन्वय-सूत्रों में प्रस्तुत करदी है।

(आ) मीमांसा का केन्द्रबिन्दु (मीमांस्य प्रकरण का मुख्य वाक्य)—किसी मीमांस्य प्रकरण के भिन्न-भिन्न वाक्यों की मीमांसा को स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत न कर सम्पूर्ण प्रकरण की ही मीमांसा को सूत्रकार ने उसके एक मुख्य वाक्य से प्रस्तुत किया है और अन्य वाक्यों को स्वतन्त्र रूप से नहीं, अपितु मुख्य वाक्य के ही प्रतिज्ञात प्रतिपाद्य के समर्थन के लिए मीमांसित कर उनका उपयोग किया है। इसके लिए उन्होंने मीमांस्य प्रकरण के एक ऐसे मुख्य वाक्य का चयन किया है, जो सम्पूर्ण प्रकरण के मुख्य प्रतिपाद्य को व्यक्त करता है। मीमांस्य प्रकरण की मीमांसा को प्रस्तुत करने वाले प्रथम सूत्र अर्थात् मीमांसाप्रस्तावक-सूत्र में उक्त मुख्य वाक्य के ही प्रतिपाद्य की सूचना दी है और उसे पुनः विभिन्न हेतुओं से समर्थित किया है। उक्त प्रस्तावकसूत्र में उन्होंने प्रतिज्ञा और हेतु दोनों का प्रयोग किया है। प्रतिज्ञा अवयव के द्वारा प्रत्यक्षतः या हेत्ववयव के द्वारा सांकेतिक रूप से मीमांस्य वाक्य की सूचना दे दी है। परवर्ती सूत्रों में उन्होंने कोई नई प्रतिज्ञा नहीं कीं, अपितु पूर्वप्रस्तुत प्रतिज्ञा को ही विभिन्न हेतुओं से समर्थित किया है। इस प्रकार मीमांसाप्रस्तावकसूत्र के द्वारा निर्दिष्ट मुख्य वाक्य के प्रतिपाद्य को ही सम्पूर्ण अधिकरण के द्वारा समर्थित किया गया है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने प्रकरण के मुख्य वाक्य को ही अपनी मीमांसा का केन्द्रबिन्दु बनाया है, जो कि परम्परा से 'विषयवाक्य' के नाम से प्रसिद्ध है।

(इ) प्रस्तावना की दृष्टि से मीमांसा के दो मुख्य रूप—जैसा कि पूर्व (पृ० ११७) में देखा जा चुका है, समन्वय-सूत्रों (१।१।५–१।४।२२) में मीमांसित विभिन्न श्रुतवाक्यों की मीमांसा सूत्रकार ने दो रूपों में प्रस्तुत की है—(१) विधिमुख से, (२) निषेधमुख से। अधिकांश वाक्यों की मीमांसा उन्होंने विधिमुख से प्रस्तुत की है और कुछ वाक्यों की निषेधमुख से। विधिमुख से प्रस्तुत मीमांसा में उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा की है कि अमुक मीमांस्य श्रुतिवाक्य में ब्रह्म का प्रतिपादन है और फिर उक्त प्रतिज्ञा का साधन विविध हेतुओं से कर, यदि उचित समझा है तो बाद में यह प्रतिपादित कर दिया है कि प्रस्तुत वाक्य में ब्रह्मेतर जीव या प्रधान आदि तत्त्वों का प्रतिपादन नहीं है। इसके विपरीत निषेधमुख से प्रस्तुत मीमांसा में उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा की है कि अमुक श्रुतिवाक्य में प्रधान या जीव आदि का प्रतिपादन नहीं है और फिर उसका साधन कर बाद में उक्त वाक्य के वास्तविक प्रतिपाद्य

को स्पष्ट कर दिया है। विधिमुख से प्रस्तुत मीमांसा सू० १।१।१३ से लेकर सू० १।३।४४ अर्थात् तृतीय पाद की समाप्ति तक है और निषेध मुख से प्रस्तुत मीमांसा सू० १।१।५-१२ तथा सू० १।४।१-२२ में है। इस प्रकार अधिकांश वाक्यों की उन्होंने विधिमुख से ही मीमांसा प्रस्तुत की है और निषेधमुख से केवल उन्हीं कतिपय वाक्यों की मीमांसा प्रस्तुत की है जिनमें आपाततः सांख्याभिमत तत्त्वों का प्रतिपादन प्रतीत होता है। उक्त आपातःतीति के ही कारण वाक्यों के वास्तविक प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण या प्रतिपादन की अपेक्षा उनमें आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थों के निराकरण पर सूत्रकार की मुख्य रूप से दृष्टि रही है। इसी से उन्होंने पहले आपातप्रतीति का निराकरण किया और बाद में उनके वास्तविक प्रतिपाद्य का प्रतिपादन।

विधिमुख से मीमांसित श्रुतिवाक्यों का प्रतिपाद्य एकमात्र ब्रह्म है, किन्तु निषेधमुख से मीसांसित श्रुतिवाक्यों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है, उनका वास्तविक प्रतिपाद्य ब्रह्म भी है (सू० १।१।५-१२, सू० १।४।१४-२२) और ब्रह्मभिन्न कोई अन्य तत्त्व भी है (सू० १।४।१-१३), किन्तु उनमें निराकार्य सर्वदा सांख्याभिमत तत्त्व हैं, जो कि कहीं प्रधान है (सू० १।१।५-१२, १।४।१-१५), कहीं केवल सांख्याभिमत पुरुष (सू० १।४।१६-२२) और कहीं सामान्य रूप से सभी सांख्याभिमत तत्त्व हैं (सू० १।४।११-१३)।

(ई) **साध्यसाधनपद्धति**—समन्वयाध्याय के मीमांसाप्रस्तावक-सूत्रों में स्वाभिमत साध्य को विधिमुख या निषेधमुख से प्रस्तुत कर सूत्रकार ने उसकी सिद्धि के लिए विभिन्न हेतुओं का प्रयोग किया है। उक्त हेतुओं के दो वर्ग हैं:—

(१) उपक्रम, उपसंहार आदि षड्विध तात्पर्यनिर्णायक लिंग।

(३) पूर्वमीमांसा के द्वारा स्वीकृत श्रुति, लिंग आदि विनियोजक।

उक्त दोनों वर्गों के हेतु साथ-साथ ही चलते हैं, मीमांस्य प्रकरण के उपक्रम, उपसंहार और मध्य भाग पर सूत्रकार ने ध्यान दिया है और साथ ही प्रायः प्रत्येक भाग से प्रत्यक्ष श्रुति या श्रुति-सूचित लिंग तथा वाक्य आदि का हेतु के रूप में उपन्यास किया है, फिर भी उन्होंने प्रथम वर्ग के हेतुओं का शब्दशः निर्देश कम किया है। 'अभ्यास' का केवल एक स्थल (सू० १।१।१३) पर निर्देश है। 'अनुगम' का अर्थ उपसंहार माना जावे तो उसका भी केवल एक स्थल (सू० १।१।२६) पर निर्देश है। सामान्यतः 'उपपत्ति' का भी केवल एक स्थल (सू० १।२।१३) पर निर्देश है और उसके विपरीत रूप 'अनुपपत्ति' का दो स्थलों (सू० १।१।२७, १।२।३) पर प्रयोग किया गया है, किन्तु साथ ही विशिष्ट रूप (विवक्षितगुणोपपत्ति और धर्मोपपत्ति) में 'उपपत्ति' का

निर्देश दो स्थलों (सू० १।२।२, १।३।८) पर किया गया है, वैसे अन्य अध्यायों के सूत्रों में 'उपपत्ति' और 'अनुपपत्ति' का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग है। 'अनुपपत्ति' के दूसरे रूप 'असम्भव' का प्रयोग भी एक स्थल (सू० १।२।१८) पर किया गया है। गतिसामान्य या एकवाक्यता का भी एक स्थल (सू० १।१।११) पर आश्रय लिया गया है। षड्विध तात्पर्यनिर्णायक लिंगों की समष्टि 'वाक्यान्वय' को भी सामान्यतः साध्यसाधन के लिए प्रस्तुत किया गया है (सू० १।४।१९)। अन्य उपक्रम, अपूर्वता, अर्थवाद आदि का शब्दशः कहीं निर्देश नहीं है। वस्तुतः प्रथमवर्ग के लिंगों को अतिरिक्त हेतु के रूप में ही केवल समर्थन के लिए प्रयुक्त किया गया है, अन्यथा प्रमुख रूप से प्रयुक्त हेतु तो द्वितीय वर्ग के ही विनियोजक है, जिनका कि प्रयोग श्रुति-मीमांसा के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

उक्त विनियोजक या विनियोगकारणों में से सूत्रकार ने प्रमुखतः तीन—श्रुति, लिंग और प्रकरण—का ही प्रयोग स्वसाध्य-साधक हेतु के रूप में किया है। उक्त तीन विनियोजकों में से भी प्रकरण का शब्दशः उपन्यास केवल तीन स्थलों (सू० १।२।१०, १।३।६, १।४।५) पर किया गया है। 'श्रुति' का भी प्रयोग स्वभावतः केवल वहीं किया गया है, जहाँ प्रतिपाद्य मीमांस्य प्रकरण में स्पष्टतः प्रतिपादित है और साथ ही किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं है, किन्तु जहाँ पूर्वपक्ष में कोई विपक्षी मत है, वहाँ प्रमुखतः लिंगों का ही प्रयोग किया गया है। प्रायः सर्वत्र मीमांस्य प्रकरण में सूचित विभिन्न लिंगों के द्वारा ही सूत्रकार ने साध्य का साधन किया है। उक्त लिंगों का प्रयोग उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया है। विना किसी निर्देश के सामान्यतः 'लिंग' शब्द का प्रयोग तो केवल एक ही स्थल या अतिदेश को मिला कर दो स्थलों (सू० १।१।२२, २३) पर किया गया है, अन्यथा सर्वत्र उन्होंने विशिष्ट लिंगों को ही उपन्यस्त किया है। सूत्रकार के द्वारा लिंगों का उपन्यास विधिमुख और निषेधमुख मीमांसासूत्रों में भिन्न-भिन्न रूप से किया गया है। जहाँ उन्होंने निषेधमुख से स्वसाध्यसाधन अर्थात् विपक्ष का निराकरण किया है, वहाँ उन्होंने मीमांस्य प्रकरण से ऐसे लिंगों को प्रस्तुत किया है जो विपक्ष में कथमपि सम्भव न हो सकें। यदि उक्त रूप में उनके द्वारा प्रस्तुत किसी लिंग की उपपत्ति विपक्षी दूसरे प्रकार से लगा दे तो प्रकरण के अन्य हेतुओं के द्वारा उन्होंने उक्त उपपत्ति का निराकरण कर पूर्वप्रस्तुत लिंग का समर्थन किया है और साथ ही विभिन्न लिंगों से विपक्षी के द्वारा स्वीकृत प्रतिपाद्य का अनौचित्य एवं अनुपपन्नता प्रदर्शित कर दी है; और

यत: वही लिंग पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए स्वसाध्य का साधन कर देते हैं, अत: परिशेष से अपने सिद्धान्त का समर्थन मान लिया है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में प्रतिपादित 'सत्' के सम्बन्ध में विवाद था; सांख्य का पक्ष था कि उक्त 'सत्' तदभिमत अचेतन प्रधान है और सूत्रकार का पक्ष था कि वह वेदान्ताभिमत चेतन ब्रह्म है। सूत्रकार ने प्रधान के निराकरण पर मुख्य दृष्टि रखकर सू० १।१।५ में प्रतिज्ञा की—'नाशब्दम्' अर्थात् विवादास्पद 'सत्' सांख्याभिमत अचेतन प्रधान नहीं, और उक्त प्रकरण से ऐसा लिंग 'ईक्षतेः' उपस्थित किया जो संकल्पार्थक होने के कारण अचेतन प्रधान में सम्भव नहीं। यद्यपि उक्त संकल्पार्थक 'ईक्षण' लिंग ब्रह्म का असाधारण लिंग नहीं, क्योंकि वह जीव का भी लिंग माना जा सकता है, किन्तु इसकी सूत्रकार को चिन्ता नहीं, उन्हें तो केवल यह कहना है कि वह अचेतन प्रधान का लिंग नहीं, क्योंकि उनकी मुख्य दृष्टि उक्त प्रकरण की मीमांसा में प्रधान के प्रतिपाद्यत्व के निराकरण पर है और इसीलिए उक्त प्रकरण को उन्होंने निषेधमुख से मीमांसा करने के लिए चुना। सांख्य ने प्रतिवाद किया कि उक्त ईक्षण 'तत्तेज ऐक्षत' के समान 'सत्' के लिए भी गौण हो सकता है, अत: 'सत्' तेज आदि के समान अचेतन है। उक्त प्रतिवाद का निराकरण सूत्रकार ने इस प्रमाण से कर दिया कि उक्त प्रकरण में 'सत्' के लिए 'आत्म' शब्द का प्रयोग है, जो कि एक चेतन के लिए ही सम्भव है और साथ ही उससे यह सिद्ध होता है कि सत्कर्तृक ईक्षण गौण नहीं, अपितु मुख्य है (सू० १।१।६)। इसी प्रकार उन्होंने आगे विपक्ष का निराकरण कर स्वसाध्यसाधन किया है।

यदि सूत्रकार विधिमुख से मीमांसा प्रस्तुत करते हैं तो वे ऐसा लिङ्ग उपस्थित करते हैं जो उनके जिज्ञास्य ब्रह्म का असाधारण लिंग हो, किन्तु उक्त लिंग का ब्रह्मासाधारणत्व भी अधिकतर इसी बात पर निर्भर करता है कि वह प्रधान, पुरुष या अन्य किसी पदार्थ में सम्भव नहीं, उसका रूप विधानात्मक की अपेक्षा निषेधात्मक ही अधिक है और यह इसीलिए है कि ब्रह्म के असाधारण लिंगों का निश्चित रूप से कोई निर्देश नहीं किया जा सकता। उक्त कारण से ही सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत निराकरणात्मक लिंग जितने प्रबल हो सके हैं, उतने विधानात्मक नहीं, किन्तु उक्त न्यूनता की पूर्ति सूत्रकार ने विधानात्मक लिंग प्रस्तुत करने के बाद प्राय: निराकरणात्मक लिंगों को भी अतिरिक्त रूप में प्रस्तुत करने से कर दी है, जिससे साध्य का साधन हो गया है। उदाहरण के लिए, सू० १।२।१६ में उन्होंने बृहदारण्यकोपनिषद् (३।७)

में प्रतिपादित 'अन्तर्यामी' को ब्रह्म बताया और इसके लिए हेतु प्रस्तुत किया—'तद्धर्मव्यपदेशात्', किन्तु उक्त प्रकरण में निर्दिष्ट धर्मों का ब्रह्मधर्मत्व इसी बात पर निर्भर करता है कि वे ब्रह्मेतर 'प्रधान' आदि में सम्भव नहीं और इसलिए उन्होंने सूत्र १।२।२० के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि उक्त मीमांस्य प्रकरण में प्रतिपादित अन्तर्यामी 'स्मार्त' अर्थात् प्रधान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान के धर्मों का वर्णन नहीं किया गया है अर्थात् उक्त अन्तर्यामी के सम्बन्ध में वर्णित धर्म प्रधान में सम्भव नहीं। उक्त प्रकार से सर्वत्र उन्होंने विविध साधनों के द्वारा स्वसाध्य की सिद्धि की है।

यहाँ तक सूत्रकार की मीमांसा-पद्धति पर केवल एक सामान्य दृष्टि-पात किया गया, उनके द्वारा किये गए मीमांस्य प्रकरणों के चयन, उक्त प्रकरणों से भी मुख्यवाक्यों के चयन, मुख्यवाक्य से ही मीमांसा प्रस्तुत कर सम्पूर्ण प्रकरण के प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण, विधिमुख या निषेधमुख से साध्य के प्रस्तावन और विविध साधनों से उसके साधन और साथ में वाक्यों के अर्थों के स्पष्टीकरण आदि से उनकी मीमांसा-पद्धति की वैज्ञानिकता स्पष्ट है। वस्तुतः ग्रन्थ के तात्पर्य को निर्णीत करने के लिए प्राचीन मीमांसा-पद्धति एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण पद्धति है और ब्रह्मसूत्र उसी पद्धति का प्रतिनिधित्व करने के कारण मीमांसाशास्त्र की दृष्टि से अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

अध्याय ४

श्रुतिवाक्य-समन्वय

प्रस्तावना

विगत अध्याय में उस 'शास्त्र' का परिचय प्राप्त किया गया जो ब्रह्मसूत्रों के विभिन्न विषयों के निरूपण का आधारभूत प्रमाण है और जो सूत्र १।१।२ में प्रतिज्ञात ब्रह्म के जगत्कारणत्व की सिद्धि के लिए सू० १।१।३ (शास्त्रयोनित्वात्) के द्वारा एकमात्र प्रमाण के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। उक्त शास्त्र अर्थात् प्राचीन उपनिषदों पर एक सामान्य दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि उनमें विभिन्न प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक एकरूपता प्रतीत नहीं होती है। उपनिषदों के अन्य प्रतिपाद्य-विषयों के ऊपर ध्यान न देकर यदि एकमात्र इस जिज्ञासा को लेकर उनके समक्ष नतमस्तक होकर उपस्थित हुआ जावे कि जगत् का मूलतत्त्व या परतत्त्व कौन है? उसका स्वरूप कैसा है? तब भी उसके सम्बन्ध में जो उत्तर प्राप्त होते हैं, वे एक दूसरे से पर्याप्त वैषम्य रखते हैं, किन्तु सूत्रकार ने समन्वय कर यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सभी उपनिषद् एक ही जगत्कारण परतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं और वह तत्त्व सूत्रजिज्ञास्य 'ब्रह्म' है। सूत्रकार ने उक्त सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए किस प्रकार विभिन्न प्रकरणों का समन्वय किया है, यह भी एक जिज्ञासा का विषय है, अतः अब सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत उक्त समन्वय का परिचय प्राप्त करने का एक प्रयत्न है।

उक्त परिचय को प्राप्त करने से पूर्व यदि समन्वेतव्य उपनिषदों के जगत्कारणतत्त्व या परतत्त्व से सम्बद्ध विचारों का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लिया जावे तो अनुपयुक्त न होगा।

(अ) उपनिषदों में जगत्कारणतत्त्व या परतत्त्व का प्रतिपादन—
(i) विभिन्न उपनिषदों में जगत्कारणतत्त्व का प्रतिपादन प्रमुखतः निम्न रूपों में मिलता है :—

१—जगत्कारण 'ब्रह्म' है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते···तद् ब्रह्म। (तैति० उप० भृगु० १)
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म···तस्माद्·····आकाशः संभूतः। (तैत्ति० उप० ब्रह्मा० १)

२—जगत्कारण 'आनन्दमय' है।

आनन्दमय···सोऽकामयत·····स·····इदं सर्वमसृजत। (तैत्ति० उप० ब्रह्मा० ५, ६)

३—जगत्कारण 'आत्मा' है।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्···स···लोकानसृजत। (ऐतरेयोप० १।१।१, २)

४—जगत्कारण 'प्रजापति' है।

प्रजाकामो वै प्रजापतिः·····स मिथुनमुत्पादयते। (प्रश्नोपनिषद् १।४)

५—जगत्कारण 'अक्षर' है।

अक्षरात् संभवतीह विश्वम्। (मुण्डकोपनिषद् १।१।७)

६—जगत्कारण 'आकाश' है।

इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते। (छान्दोग्य १।९।१)

७—जगत्कारण 'प्राण' है।

इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति। (छान्दोग्य १।११।३)

८—जगत्कारण 'सत्' है।

सदेव सोम्येदमग्र आसीत्·····तदैक्षत·····तत्तेजोऽसृजत। (छान्दोग्य ६।२।१)

९—जगत्कारण 'असत्' है।

असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। (तैत्ति० उप० ब्रह्म ७)

१०—जगत्कारण 'पुरुष' है।

पुरुषः···एतस्माज्जायते प्राणः···। (मुण्डकोप० २।१।३)

(ii) उपनिषदों में परतत्त्व का स्वरूप प्रमुखतः निम्न रूपों में प्राप्त होता है :—

१—परतत्त्व पुरुष है।

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः। (कठोपनिषद् १।३।११)

२—परतत्त्व पुरुष अंगुष्ठमात्र है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः···ईशानो भूतभव्यस्य। (कठोपनिषद् २।१।१२)

३—परतत्त्व पुरुष अमूर्त है।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः···अक्षरात् परतः परः। (मुण्डक २।१।२)

४—परतत्त्व पुरुष नेत्र में ही दृश्य है।

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा···एतद् ब्रह्म। (छा० ४।१५।१)

५—परतत्त्व दृश्य है, किन्तु इस जीवघन से पर अन्य लोक में।

एतस्मात् जीवघनात्···परं पुरुषमीक्षते। (प्रश्नोप० ५।५)

६—परतत्त्व का रूप दृश्य नहीं।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य। (कठोपनिषद् २।३।६)

७—परतत्त्व शब्दस्पर्शादिविहीन, अप्राण और अमना है।

अशब्दमस्पर्शमरूपम्···महतः परं ध्रुवम्। (कठ १।३।१५)

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः। (मुण्डक १।१।२)

८—परतत्त्व सर्वरस, सर्वगन्ध, मनोमय, एवं प्राणशरीर है।

मनोमयः प्राणशरीरः···सर्वगन्धः सर्वरसः···एतद् ब्रह्म। (छान्दोग्य ३।१४।२, ३)

९—परतत्त्व अवर्ण और चक्षुःश्रोत्रविहीन है।

यत् तद्···अवर्णमचक्षुःश्रोत्रम्। (मुण्डक १।१।६)

१०—परतत्त्व सुवर्ण, हिरण्यश्मश्रु और पुण्डरीकाक्ष है।

य एष···पुरुषः···हिरण्यश्मश्रुः···सर्व एव सुवर्णः। तस्य···पुण्डरीकमेव-मक्षिणी। (छान्दोग्य १।६।६-७)

११—परतत्त्व अमृत है।

यत् तद्···अमृतम्···परं च। (प्रश्नोपनिषद् ५।७)

१२—परतत्त्व अमृत का सेतु है।

अमृतस्यैष सेतुः। (मुण्डक २।२।५)

१३—परतत्त्व गायत्री है।

गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्, यदिदं किंच। (छान्दोग्य ३।१२।१)

१४—परतत्त्व ज्योति है।

परं ज्योतिः। (छान्दोग्य ८।१२।३)

१५—परतत्त्व प्राण है।

प्राण एव प्रज्ञात्मा······एष लोकपालः······सर्वेश्वरः···। (कौषीतकि उ० ३।९)

१६—परतत्त्व आकाश है।

य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः···एष सर्वेश्वरः। (बृहदा० ४।४।२२)

१७—परतत्त्व वैश्वानर है।
अभिविमानमात्मानं वैश्वानरम्। (छान्दोग्य ५।१८।१)

१८—परतत्त्व भूमा है।
स भूमा···कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि···स एवेदं सर्वम्।
(छा० ७।२४।१—२५।१)

१९—परतत्त्व दहर है।
दहरः···यच्चास्येहास्ति······सर्वं तदस्मिन् समाहितम्।
(छान्दोग्य ८।१।३)

२०—परतत्त्व अक्षर है।
कस्मिन्···आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति, सहोवाच एतद् वै तद् अक्षरम्।
(बृहदा० ३।८।७-८)

२१—परतत्त्व आत्मा है।
यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्···तम्···आत्मानम्···विजानथ।
(मुण्डक २।५।५)

२२—परतत्त्व ब्रह्म है।
अहमेतत् परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति। (प्रश्नोप० ६।७)

२३—परतत्त्व ज्ञान है, (अतः संभवतः चिन्मात्र है)।
सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म। (तै० उप० ब्रह्म० १)
विज्ञानम्···ब्रह्म। (बृह० ३।८।२९)

२४—परतत्त्व सर्वज्ञ है, (अतः संभवतः ज्ञानगुणयुक्त चेतन है)।
यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। (मुण्डक १।१।९)

२५—परतत्त्व आनन्द है, (अतः संभवतः आनन्दमात्र है)।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। (बृहदा० ३।९।२८)
प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः। (कौषीतकि ३।९)

२६—परतत्त्व आनन्दमय है, (अतः संभवतः आनन्दगुण से युक्त भी है)।
आत्मा आनन्दमयः···आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।
(तैत्तिरीयोप० ब्रह्मा० ५, ९)

२७—परतत्त्व गुहाप्रविष्ट है, और एक है।
तं···गुहाहितं···देवं मत्वा। (कठोप० १।२।१२)

२८—गुहाप्रविष्ट तत्त्व दो हैं।
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। (कठोप० १।३।१)

२९—परतत्त्व और जीवात्मा एक ही हैं।

तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि। (छान्दोग्य० ६।८।७)

य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। (बृह० १।४।८)

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। (ईशा० १६)

३०—परतत्त्व और जीवात्मा पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्। (कठोप० २।२।१३)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया··· (३।१।१)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः···पश्यत्यन्यमीशम्···। (मुण्डक ३।१।२)

३१—एकमात्र परतत्त्व है, उससे व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीम्। (छन्दोग्य ६।२।१)

नेह नानास्ति किंचन। (कठ २।१।११)

सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। (बृहदा० ४।४।६)

३२—परतत्त्व से अतिरिक्त अन्य अपर तत्त्व भी हैं।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। (कठोप० १।३।११)

पुरुषः···अक्षरात् परतः परः। (मुण्डकोप० २।१।२)

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्। (मुण्डक २।२।५)

यः पृथिव्याम्···योऽप्सु···यौऽग्नौ···यो वायौ···यः सर्वेषु भूतेषु···यो विज्ञाने (आत्मनि) तिष्ठन्···अन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। (बृहदा० ३।७।३-२३)

उपनिषदों के अन्य प्रतिपाद्य-विषयों को छोड़कर केवल जगत्कारण परतत्त्व के सम्बन्ध में उनके कुछ वाक्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनमें जगतकारण परतत्त्व और उसके स्वरूप का भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्देश किया गया है। उनमें परस्पर-भिन्नता ही नहीं, अपितु कहीं-कहीं परस्पर-विरोध भी प्रतीत होता है। उस भेद और विरोध को किसी भी प्रकार से दूर किया जावे, किन्तु वह प्रतीत तो होता ही है। उपनिषदों को विभिन्न ऋषियों के पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र दर्शनों का संकलन माना जावे और तदनुसार यह माना जावे कि किसी ऋषि ने जगत् का मूलतत्त्व 'आकाश' को समझा और किसी ने 'प्राण' आदि को; इसी प्रकार किसी ने 'आकाश' आदि से पर 'अक्षर' को मूलतत्त्व समझा और किसी ने 'ब्रह्म' को; साथ ही किसी ने परतत्त्व को अमूर्त कहा और किसी ने विविधरूपयुक्त; किसी के अनुसार एकमात्र परतत्त्व है और किसी के अनुसार परतत्त्व से अतिरिक्त वस्तुतः अपर तत्त्व भी हैं; तब तो स्पष्टतः भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के अपने

अपने सिद्धान्तों की भिन्नता है और फलतः कोई समस्या नहीं। किन्तु यदि यह माना जाता है कि उपनिषदों में केवल एक ही सनातन दार्शनिक विचारधारा है, तब तो उक्त आपातप्रतीत विरोध को देखते हुए यह समझने की आवश्यकता होगी कि उक्त विचारधारा के अनुसार 'परतत्त्व' क्या है? उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है? उसकी वास्तविक विशेषताएँ, यदि कोई हैं तो, क्या हैं? और विभिन्न प्रकरणों में वर्णित विशेषताओं की उक्त एक ही परतत्त्व में किस प्रकार संगति है?

(आ) ब्रह्मसूत्रकार का समन्वयात्मक दृष्टिकोण—उपनिषदों को विभिन्न दर्शनों का संकलन माना जावे या उन्हें एक ही दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादक माना जावे, यह यहाँ विचारणीय नहीं है। यहाँ तो केवल यह देखना है कि सूत्रकार उन्हें किस रूप में मानते हैं? और सूत्रकार उन्हें जिस रूप में मानते हैं वह एक सुविदित तथ्य है कि वे भी परम्परा के अनुसार उपनिषदों को सनातन मानते हुए उनमें एक ही दार्शनिक विचार-धारा का प्रतिपादन मानते हैं। उनके अनुसार विभिन्न उपनिषदों में एक ही जगन्मूल परतत्त्व प्रतिपादित है, जिसका कि विभिन्न नामों से निर्देश और विभिन्न प्रकारों से वर्णन किया गया है। उक्त मान्यता के अनुसार सूत्रकार ने इस प्रश्न का उत्तर देने का भार लिया है कि एक ही परतत्त्व में परस्पर-भिन्न विशेषताएँ कैसे सम्भव हैं? साथ ही उन्होंने यह भी निर्णीत करने का प्रयत्न किया है कि उपनिषदों में प्रतिपादित वह एक परतत्त्व क्या है? सूत्रकार से पूर्व औपनिषद मीमांसा की जो एक प्रमुख परम्परा रही है, उसके अनुसार जगत् का मूलकारण वेदान्ताभिमत एक विशिष्ट तत्त्व 'ब्रह्म' है, जो कि अन्य दर्शनों के द्वारा स्वीकृत विभिन्न मूलतत्त्वों से पृथक् अपना एक विशिष्ट स्वरूप रखता है, जिसकी कि अपनी असाधारण विशेषताएँ हैं। उक्त परम्परा को यहाँ 'वेदान्त-परम्परा' कहा जा सकता है। सूत्रों के साक्ष्य से ज्ञात है कि सूत्रकार के समय में एक दूसरी भी परम्परा चलती आ रही थी, जिसकी भी मान्यता यही थी कि एक ही परतत्त्व उपनिषदों में प्रतिपादित हैं, किन्तु उसका कहना था कि उक्त परतत्त्व 'ब्रह्म' वेदान्ताभिमत कोई विशिष्ट तत्त्व नहीं, अपितु सांख्याभिमत प्रधान है और विभिन्न प्रकरणों का उस प्रधान में ही समन्वय होता है। इस दूसरी परम्परा को 'सांख्य-परम्परा' कहा जा सकता है।

उक्त दो परम्पराओं के विवाद में औपनिषद परतत्त्व के निर्देशक ब्रह्म, सत्, अक्षर आदि शब्द तो कोई महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि दोनों परम्पराओं

के अनुसार वे वेदान्ताभिमत परतत्त्व और सांख्याभिमत प्रधान, इन दोनों के लिए माने जा सकते थे। उक्त विवाद का निर्णय इसी तथ्य पर निर्भर करता था कि उपनिषदों के विभिन्न प्रकरणों में प्रतिपादित परतत्त्व की विशेषताएँ वेदान्ताभिमत परतत्त्व में संभव हो सकती हैं या सांख्याभिमत परतत्त्व में। यह कहने की आवश्यकता नहीं की कि ब्रह्मसूत्रकार उक्त दो परम्पराओं में से प्रथम अर्थात् वेदान्त-परम्परा के अन्तर्गत हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि औपनिषद परतत्त्व के सम्बन्ध में वर्णित सभी विशेषताएँ एकमात्र वेदान्ताभिमत परतत्त्व में ही संभव हैं, सांख्याभिमत परतत्त्व में नहीं, और उनके उक्त प्रयत्न का फल ही ब्रह्मसूत्रों के समन्वयाध्याय में उपस्थित है।

उक्त प्रकार से श्रुतिवाक्य-समन्वय में सूत्रकार का प्रमुख दृष्टिकोण यही रहा है कि विभिन्न प्रकरणों में प्रतिपादित विशेषताओं को एक ही परतत्त्व —वेदान्ताभिमत परतत्त्व—में समन्वित करते हुए साथ में यह प्रदर्शित करना कि उक्त विशेषताएँ सांख्याभिमत परतत्त्व या अन्य किसी तत्त्व में संभव नहीं। उक्त रूप से समन्वय करने के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि वेदान्ताभिमत परतत्त्व और सांख्याभिमत परतत्त्व की परस्पर-विभेदक असाधारण विशेषताओं के सम्बन्ध में सूत्रकार की एक मान्यता होगी। उनके अनुसार सांख्याभिमत परतत्त्व की ऐसी असाधारण विशेषता जो उसे वेदान्ताभिमत परतत्त्व से पृथक् करती है, उसकी 'अचेतनता' है, इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार के अनुसार वेदान्ताभिमत परतत्त्व की असाधारण विशेषता 'चेतनता' या 'अचेतनता का अभाव' है। इसके अतिरिक्त वे वेदान्ताभिमत परतत्त्व की क्या-क्या विशेषताएँ मानते थे, यह आगे समन्वय के प्रसंग में ही स्पष्ट हो सकेगा।

औपनिषद परतत्त्व के वाचक शब्दों को उक्त दोनों परम्पराओं के द्वारा स्वीकृत किये जाने के कारण, समन्वय करने के पूर्व सर्वप्रथम यह समस्या उपस्थित थी कि वेदान्ताभिमत परतत्त्व और सांख्याभिमत परतत्त्व को किन भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्दिष्ट किया जावे? सूत्रकार ने वेदान्ताभिमत परतत्त्व को 'ब्रह्म' कहा[1] और सांख्याभितत परतत्त्व को अशब्द, आनुमान, स्मार्त और आनुमानिक आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया।[2] इस प्रकार श्रुतियों में

---

१. ब्रह्मसूत्र १।१।१।

२. ब्रह्मसूत्र १।१।५; १।२।२०; १।४।१; २।२।१ आदि।

परतत्त्व के लिए प्रमुख रूप से प्रयुक्त शब्द 'ब्रह्म' को उन्होंने वेदान्त-परम्परा के द्वारा स्वीकृत परतत्त्व के लिए सुरक्षित कर लिया और सांख्य-परम्परा के द्वारा स्वीकृत परतत्त्व के लिए उन्होंने सांख्य द्वारा सामान्यतः स्वीकृत प्रधान, प्रकृति, अव्यक्त, अक्षर आदि शब्दों का भी प्रयोग नहीं किया, क्योंकि ये वेदान्ताभिमत परतत्त्व के लिए भी श्रुति या सूत्रों में प्रयुज्यमान हैं, अतः भ्रामक हो सकते थे। 'अशब्द' आदि उक्त शब्दों के प्रयोग से सूत्रकार ने उक्त भ्रम की संभावना तो रहने ही नहीं दी, साथ ही सामान्यतः अपनी यह मान्यता भी प्रकट करदी कि सांख्याभिमत परतत्त्व का श्रुतियों में प्रतिपादन नहीं है, वह तो केवल स्मृतिप्रतिपादित या अनुमानगम्य है। अपने शास्त्र तथा समन्वयाध्याय का प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने सर्वप्रथम दो सूत्रों के द्वारा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म' (तैत्ति० उप० भृगु० १) के आधार पर ब्रह्म के जगत्कारणत्व की प्रतिज्ञा कर तृतीय सूत्र के द्वारा उक्त तथा अन्य जगत्कारणवादी श्रुतिवाक्यों का सामान्यतः प्रमाण रूप में निर्देश किया और पुनः सांख्य के उक्त वाद को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ सूत्र के द्वारा उन्होंने श्रुतिवाक्य-समन्वय की प्रस्तावना की। उन्होंने सर्वप्रथम सू० १।१।५-१२ में एक ऐसे श्रुति-प्रकरण (छा० उ० ६) को लिया जिसको सांख्यवादी अपने प्रधानकारणवाद के श्रुतिप्रतिपाद्यत्व को प्रदर्शित करने के लिए प्रमुख आधार बना सकते थे और इसीलिए उन्होंने उक्त प्रकरण की निषेधमुख से मीमांसा प्रस्तुत की। इस प्रकार उन्होंने उक्त प्रकरण में प्रधान के प्रतिपादन का निराकरण तो कर ही दिया, साथ ही अपने जिज्ञास्य ब्रह्म का सांख्याभिमत प्रधान से स्वरूपतः पार्थक्य भी स्पष्ट कर दिया। फिर आगे वे विभिन्न प्रकरणों का विधिमुख से ब्रह्मपरक समन्वय उक्त अध्याय के तृतीय पाद की समाप्ति तक करते हुए साथ में प्रमुख रूप से सांख्य तथा गौण रूप से अन्य पूर्वपक्षों का निराकरण भी करते गए और पुनः चतुर्थ पाद में उन्होंने स्वतन्त्र रूप से सांख्य के श्रुतिप्रतिपाद्यत्व का निराकरण किया। उक्त प्रकार से समन्वय प्रदर्शित कर सूत्रकार ने वेदान्ताभिमत परतत्त्व —सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म— के पूर्वप्रतिज्ञात जगत्कारणत्व की निर्विवाद रूप से स्थापना की।

(इ) भाष्यकारों का श्रुतिवाक्य-समन्वय में दृष्टिकोण—उक्त प्रकार से सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय की पृष्ठभूमि एवं उसके प्रस्तुत करने में प्रस्तावक के दृष्टिकोण का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के

बाद अब प्रस्तुत अध्याय के अगले पृष्ठों में यह देखने का प्रयत्न है कि भाष्यकारों ने श्रुतिवाक्य-समन्वय में कहाँ तक सूत्रकार का साथ दिया है? विभिन्न भाष्यों के अध्ययन से स्पष्ट है कि सभी भाष्यकारों ने ऐकमत्य से सूत्रकार के इस पक्ष का समर्थन किया है कि विभिन्न प्रकरणों में एक ही परतत्त्व का प्रतिपादन है, किन्तु यह कोई विशिष्ट बात नहीं, क्योंकि उक्त पक्ष परम्परा के द्वारा स्वीकृत एक सिद्धान्त है और भाष्यकार भी उसी परम्परा में अन्तर्भुक्त हैं, साथ ही विपक्षी सांख्य भी उक्त पक्ष को स्वीकृत करता है। उक्त परतत्त्व क्या है, यही स्पष्ट करना सूत्रकार का श्रुतिवाक्य-समन्वय-सम्बन्धी प्रमुख दृष्टिकोण है और उक्त परतत्त्व एकमात्र सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म है, अन्य कोई तत्त्व—सांख्याभिमत प्रधान आदि—नहीं, यही उनका स्थापनीय सिद्धान्त है। सूत्रकार के उक्त दृष्टिकोण और सिद्धान्त को स्पष्ट कर उनका अनुगमन करने में ही भाष्यकारों का वास्तविक भाष्यकारत्व है। किन्तु खेद का विषय है कि भाष्यकारों के बहुमत के द्वारा प्रायः अपने कर्त्तव्य का यथावत् पालन किये जाने पर भी कुछ भाष्यकारों ने श्रुतिवाक्य-समन्वय के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा कर दी है। सूत्रकार के समक्ष जो यह समस्या थी कि श्रुतिप्रतिपादित तत्त्व वेदान्ताभिमत ब्रह्म है या सांख्याभिमत प्रधान है, कुछ भाष्यकारों द्वारा भुलादी गई है और इसी का परिणाम है कि सू० १।१।४ और सू० १।१।५-१२ के पूर्वपक्ष में सांख्यवादी के स्थान पर क्रमशः मीमांसक और शांकरसम्प्रदायावलम्बी को खड़ा कर दिया गया है। सूत्रकार की वास्तविक समस्या की उपेक्षा करने का ही यह परिणाम है कि कुछ भाष्यकार समन्वय के प्रसंग में यह विचार करने लगते हैं कि अमुक मीमांस्य प्रकरण में क्षीरसागरशायी विष्णु का प्रतिपादन है या हिमगिरिवासी शिव का, और इस प्रकार वे मीमांस्य प्रकरण का सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म में समन्वय प्रदर्शित करने की अपेक्षा अपने इष्टदेव 'विष्णु' में प्रदर्शित करने लगते हैं। इसी प्रकार कभी यह भी प्रदर्शित किया जाने लगता है कि अमुक श्रुति में परात्पर पुरुषोत्तम का प्रतिपादन है या उससे न्यून कोटि के अक्षरब्रह्म का। उक्त प्रकार से सूत्रकार के अभिमत सिद्धान्त, पूर्वपक्ष और समन्वय-प्रकार में भाष्यकारों ने कुछ भेद कर दिया है और साथ ही सूत्रों के वास्तविक अर्थ को कहीं-कहीं प्रकट न कर श्रुतिवाक्य-समन्वय को उतना प्रभावशाली एवं युक्ति-युक्त नहीं रहने दिया, जैसा कि उसे सूत्रकार ने प्रस्तुत किया था। विभिन्न भाष्यकारों ने उक्त दृष्टियों से श्रुतिवाक्य-समन्वय में कहाँ तक और किस रूप में सूत्रकार का साथ दिया है, इसी का संक्षिप्त परिचय अगले पृष्ठों में प्रस्तुत है।

२. समन्वय
प्रथम पाद

३—सूत्र १।१।५-१२—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य, षष्ठ प्रपाठक।

मुख्यवाक्य—'सदेव सम्येदमग्र आसीत्⋯⋯एकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत' (छा० ६।२।१-३)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में 'सत्' के द्वारा सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपाद्यत्व।

मीमांसा-प्रस्तावना-स्वरूप—निषेधमुख।

भाष्यकार—केवल रामानुज एवं निम्बार्क।

उक्त दोनों भाष्यकारों में से रामानुज के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावक-सूत्र १।१।५ (ईक्षतेर्नाशब्दम्) के द्वारा यह प्रतिज्ञा प्रस्तुत की कि उक्त श्रुति-वाक्य में 'सत्' शब्द के द्वारा 'अशब्द' अर्थात् सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन नहीं है और उसकी सिद्धि के लिए उस वाक्य से यह लिंग प्रस्तुत किया कि वहाँ सत्कर्तृक संकल्पार्थक 'ईक्षति' धातु या ईक्षण का श्रवण है, जो कि अचेतन प्रधान के लिए कथमपि संभव नहीं।

निम्बार्क ने उक्त सूत्र का अर्थ दूसरे ही रूप में प्रस्तुत किया है, उन्होंने कहा है कि सांख्याभिमत प्रधान जगत्कारण नहीं, क्यों कि वह 'अशब्द' अर्थात् श्रुतिप्रमाणवर्जित हैं और यह इसलिए कि श्रुतियों में जगत्कर्ता के लिए ईक्षण का प्रतिपादन है, जो कि एक चेतन का धर्म है।

उक्त दोनों अर्थों का फलितार्थ एक होते हुए भी रामानुज का अर्थ स्पष्टतः सूत्राक्षर एवं श्रुतिवाक्य-समन्वय-पद्धति के अधिक अनुकूल है। निम्बार्क द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण अर्थ सूत्राक्षरों से प्रतिपादित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त 'अशब्द' पद न तो सूत्र में एक हेतु के समान प्रयुक्त ही किया गया है और न वह हेतु बनाया ही जा सकता है, क्योंकि प्रधान का अशब्दत्व तो स्वयं ही एक विवादास्पद साध्य है, जो कि सम्पूर्ण श्रुतिवाक्य-समन्वय के बाद ही सिद्ध हो सकेगा, सूत्रकार तो उसे एक रूढ़ शब्द की भांति 'प्रधान' के लिए प्रयुक्त करते हैं। दूसरे उसमें श्रुतिवाक्य-समन्वय के मुख्य अंश—मीमांस्य वाक्य की पक्षता—की उपेक्षा करदी गई है और हेतुद्वय की व्यर्थ ही कल्पना का गई है। आगे दोनों भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ प्रायः समान हैं।

सू० १।१।६ में सूत्रकार ने सांख्य के इस बाद को पूर्वपक्ष में उपन्यस्त किया है कि उक्त वाक्य में श्रुत तेजःकर्तृक ईक्षण के समान सत्कर्तृक ईक्षण

भी गौण हो सकता है। उक्त वाद के निराकरण में सूत्रकार ने कहा कि वह युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि 'सत्' के लिए 'स आत्मा' के द्वारा 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे सिद्ध है कि 'सत्' अचेतन नहीं, अपितु चेतन है और फलतः तत्कर्तृक ईक्षण मुख्य है। सू० १।१।७ में कहा गया कि सन्निष्ठ का मोक्ष बताया गया है, यदि 'सत्' सांख्याभिमत प्रधान होता, तो तन्निष्ठ का मोक्ष नहीं बताया जाता, क्योंकि स्वयं सांख्य प्रधाननिष्ठ का मोक्ष नहीं मानता। सू० १।१।८ कहता है कि यदि 'सत्' प्रधान होता, तो सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार उसे हेय बताया जाता, जो कि उक्त प्रकरण में उसे नही बताया गया। सू० १।१।९ का प्रतिपाद्य है कि 'सत्' को प्रधान मानने पर उक्त प्रकरण में प्रतिपादित 'एक विज्ञान से सर्वविज्ञान' प्रतिज्ञा का विरोध पड़ता है, क्योंकि प्रधान के विज्ञान से तत्कार्य जड़ पदार्थों का विज्ञान होने पर भी 'पुरुष' का विज्ञान नहीं हो सकता। सू० १।१।१० में कहा गया है कि जीव का 'सत्' में स्वाप्यय अर्थात् स्वकारण में लय बताया गया है, यह 'सत्' को प्रधान मानने पर सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान जीव का कारण नहीं। सू० १।१।११ में सूत्रकार ने कहा कि अन्य जगत्कारणवादी श्रुति-प्रकरणों से उक्त प्रकरण की एकवाक्यता करने पर यही सिद्ध होता है कि उक्त 'सत्' प्रधान नहीं, अपितु तद्व्यतिरिक्त वेदान्ताभिमत ब्रह्म है और सूत्र १।१।१२ के द्वारा उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि अन्य जगत्कारणवादी प्रकरणों में वेदान्ताभिमत परतत्त्व अर्थात् सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म का जगत्कारणत्व प्रतिपादित है ही।

उक्त प्रकार से सूत्रकार के अनुसार उक्त प्रकरण में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित 'सत्' वेदान्ताभिमत परतत्त्व अर्थात् सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म है।

प्राप्त संकेत—

(१) सूत्रकार के अनुसार वेदाताभिमत परतत्त्व 'ब्रह्म' चिन्मात्र या ज्ञानमात्र नहीं, अपितु एक चेतन या ज्ञाता तत्त्व है, जो कि संकल्पपूर्वक सृष्टि करता है (सू० १।१।५)।

(२) ब्रह्म का उक्त चैतन्यगुण गौण या औपाधिक नहीं, अपितु स्वाभाविक है, क्योंकि चैतन्यगुण आत्मतत्त्व का स्वाभाविक गुण है और ब्रह्म एक आत्मतत्त्व है (सू० १।१।६)।

(३) ब्रह्मनिष्ठ का मोक्ष होता है (सू० १।१।७)।

(४) जड़ जगत् के साथ जीव का भी कारण सत्पदवाच्य सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म है। (सू० १।१।१०)।

२—सूत्र १।१।१३-२०—

मीमांस्य प्रकरण—तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली।

मुख्यवाक्य—'विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' (तै० उ० ब्रह्मा० ५)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में 'आनन्दमय' के द्वारा जीव और सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपाद्यत्व।

मीमांसा-प्रस्तावना-स्वरूप—विधिमुख[1]

भाष्यकार—सभी

मध्व को छोड़कर सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावक-सूत्र १।१।१३ (आनन्दमयोऽभ्यासात्) के द्वारा यह प्रतिज्ञा की है कि उक्त वाक्य में प्रतिपादित 'आनन्दमय' ब्रह्म है। मध्व ब्रह्मा तथा रुद्र को पूर्वपक्ष में रख कर यह प्रतिज्ञा करते हैं कि उक्त आनन्दमय विष्णु है, किन्तु यह उचित नहीं; सूत्रकार को यहाँ रुद्र या विष्णु का न निराकरण करना है और न प्रतिपादन, उन्होंने ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तुत की है, न कि 'विष्णुजिज्ञासा'। आनन्दमय को वेदान्ताभिमत परतत्त्व 'ब्रह्म' सिद्ध करने के लिए उक्त सूत्र में सूत्रकार के द्वारा प्रस्तुत हेतु 'अभ्यासात्' का भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ प्रस्तुत किया है। रामानुज ने कहा है कि उक्त प्रकरण में निरतिशय आनन्द का स्पष्टतः ब्रह्म में अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः कीर्तन किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म आनन्दमय है, अतः उक्त वाक्य में प्रतिपादित आनन्दमय ब्रह्म है। निम्बार्क ने भी प्रायः रामानुज का ही अनुगमन कर 'आनन्द' पद के अभ्यास से आनन्दमय का ब्रह्मत्व सिद्ध किया है। मध्व ने यह कहा है कि उक्त प्रकरण में एकमात्र विष्णु में प्रसिद्ध 'ब्रह्म' शब्द का अभ्यास किया गया है, अतः आनन्दमय विष्णु है। बलदेव ने कहा है कि जिस प्रकार पूर्व-मीमांसा में शब्दान्तर संख्या, गुण आदि छः कर्मभेदकों में पठित 'अभ्यास' कर्मभेदक होता है उसी प्रकार यहाँ उक्त अभ्यास अन्नमय, प्राणमय आदि के प्रवाह से आनन्दमय का भेद सिद्ध करता है, अतः आनन्दमय ब्रह्म है।

---

१. उक्त सूत्रों (१।१।१३-२०) से लेकर १।३।४४ तक मीमांसा-प्रस्तावना का स्वरूप विधिमुख है।

उक्त विभिन्न अर्थों में मध्व का अर्थ तो स्पष्टतः सूत्राभिमत साध्य का साधक नहीं, उससे यह भले ही सिद्ध हो जावे कि आनन्दमय विष्णु है, किन्तु आनन्दमय वेदान्ताभिमत परतत्त्व है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। वल्लभ के द्वारा प्रस्तुत अर्थ के अनुसार अन्नमय आदि के प्रवाह से आनन्दमय का भेद होने पर भी साध्य की सिद्धि होती हुई प्रतीत नही होती। बलदेव के अनुसार भी साध्य सिद्ध नहीं होता, यदि 'ब्रह्म' शब्द के आनन्दमय में अभ्यास या प्रयोग से ही सूत्रकार का अभिमत सिद्ध हो जाता, तो जिन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि प्रकरणों में 'ब्रह्म' शब्द का स्पष्टतः प्रयोग किया है, उनके समन्वय करने की आवश्यकता न पड़ती। वस्तुतः, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है[1], ब्रह्म, अक्षर आदि शब्दों का कोई महत्व नहीं, उन्हें तो विपक्षी सांख्य भी अपने में लगा लेता है, साथ ही 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग भी चाहे किसी तत्त्व के सम्बन्ध में 'अन्नं ब्रह्म', 'प्राणो ब्रह्म' आदि के द्वारा कर दिया गया है, अतः सूत्रकार ने शब्दों के नहीं, अपितु विशेषताओं के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अमुक 'सत्', 'अक्षर' आदि वेदान्ताभिमत परतत्त्व हैं। इस प्रकार अन्य भाष्यकारों की अपेक्षा रामानुज और निम्बार्क द्वारा प्रस्तुत अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु उससे भी इतना ही सिद्ध होता है कि आनन्दमय ब्रह्म है या ब्रह्म आनन्दमय है, यह 'आनन्दमय ब्रह्म' वेदान्ताभिमत परतत्त्व है, अन्य कोई तत्त्व नहीं, इसकी सिद्धि नहीं हो पाती।

'अभ्यास' षड्विध तात्पर्य-निर्णायक लिंगों में से एक है और उसके द्वारा यही सिद्ध किया जाता है कि प्रकरण के उपक्रम के विषय का ही अभ्यास या पुनः कीर्तन मध्य में किया जाता है, अतः अभ्यस्त विषय को उपक्रान्त विषय ही समझना चाहिए, उससे भिन्न नहीं; बस इतना ही सूत्रकार का अभिमत प्रतीत होता है और इस प्रकार उक्त सूत्र १।१।१३ में आनन्द, ब्रह्म आदि किसी शब्द का अध्याहार भी नहीं करना पड़ता। उक्त मीसांस्य प्रकरण के उपक्रम का विषय निश्चित है कि वेदान्ताभिमत परतत्त्व को जगत् कारण बताया गया है, क्योंकि वहाँ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म···तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' के द्वारा जगत्कारण का निर्देश किया गया है। उक्त वाक्य के 'ज्ञान' और 'आत्मा' पद सांख्याभिमत प्रधान के लिए कथमपि सम्भव नहीं, सू० १।१।६ में 'आत्मा' शब्द के आधार पर ही प्रधान का निराकरण किया गया है। उक्त वाक्य के 'यो वेद···सोऽश्नुते···सह

---

१. पृ० १५६-१५७।

ब्रह्मणा' के द्वारा उक्त ब्रह्म से जीव का भेद भी स्पष्ट ही है। उपक्रम के निश्चित होने के कारण ही उक्त वाक्य को मुख्यतः मीमांस्य नहीं बनाया गया और इसीलिए आगे सू० १।१।१६ में उसे एक सिद्ध हेतु के समान प्रयुक्त किया गया है। उपक्रम जब निश्चित रूप से वेदान्ताभिमत परतत्त्व को जगत्कारण बताता है, तो यह सम्भव नहीं कि प्रकरण के मध्य में किसी अन्य तत्त्व को जगत्कारण बताया जावे, अतः आनन्दमय को जो 'सोऽकामयत···स···इदं सर्वमसृजत' के द्वारा जगत्कारण बताया गया है, वह और कुछ नहीं, उपक्रम के विषय का ही अभ्यास है अर्थात् उपक्रम में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म को ही 'आनन्दमय' शब्द के द्वारा पुनः जगत्कारण बताया गया है, अतः आनन्दमय वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म ही है।

उक्त प्रकार से सूत्रकार का अभिमत साध्य अधिक युक्तियुक्त रीति से सिद्ध होता हुआ प्रतीत होता है।

सू० १।१।१४—सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने उक्त सूत्र में प्रतिपादित किया है कि 'आनन्दमय' शब्द में 'मयट्' प्रत्यय विकारार्थक नहीं, अपितु प्राचुर्यार्थक है, अतः यह नहीं समझना चाहिए कि उक्त 'आनन्दमय' आनन्द का कोई विकार है।

सू० १।१।१५—वल्लभ के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने यह कहा है कि उक्त प्रकरण में आनन्दमय को आनन्द का हेतु बताया गया है, अतः उससे भी यही सिद्ध होता है कि आनन्दमय आनन्द का विकार नहीं, अपितु आनन्द का मूल होने के कारण प्रचुरानन्दपूर्ण है। अन्य भाष्यकारों ने उक्त सूत्र का यह अर्थ प्रस्तुत किया है कि आनन्दमय जीव के आनन्द का हेतु बताया गया है, अतः उससे भिन्न है, किन्तु सू० १।१।१३, १४ में जीव की कोई चर्चा न होने से कारण सू० १।१।१५ के 'तद्' शब्द से उसका निर्देश किस आधार पर माना जा सकता है? दूसरे प्रस्तुत सूत्र का 'च' शब्द इसे पूर्वसूत्र के हेतु से ही समुच्चित कर रहा है, अतः वल्लभ द्वारा प्रस्तुत उक्त अर्थ ही उचित प्रतीत होता है।

सू० १।१।१६—वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि मान्त्रवर्णिक अर्थात् उपक्रम के मन्त्रवर्ण में पठित जगत्कारण का ही तो यहाँ 'आनन्दमय' के रूप में गान है। वल्लभ उक्त सूत्र के 'गीयते' के स्थान पर 'गम्यते' पाठ मान कर उपपत्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि मान्त्रवर्णिक ही आनन्दमय के

रूप में प्रतीत होता है, किन्तु उनके द्वारा स्वीकृत पाठ को, जो कि अन्य किसी ने नहीं माना, मान भी लिया जावे तो उक्त सू० में उक्त प्रतीति की उपपत्ति दी जाती, जो कि नहीं दी गई है। वस्तुतः युक्ति से तो सू० १।१।१३ के द्वारा ही पूर्वोक्त प्रकार से आनन्दमय को मान्त्रवर्णिक बता दिया, यहाँ तो उसके विकारत्व की शंका के निराकरण के प्रसंग में एक निश्चित तथ्य के समान उसके मान्त्रवर्णिकत्व का प्रतिपादन कर विधिमुख समन्वय का उपसंहार किया गया है। अब आगे के सूत्रों में 'आनन्दमय' के ब्रह्मेतरत्व का निराकरण निषेधमुख से किया गया है।

सू० १।१।१७—आनन्दमय इतर अर्थात् जीव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण में पठित आनन्दमयविषयिणी विशेषताएँ जीव में अनुपपन्न हैं; जब कि जीव उक्त आनन्दमय को प्राप्त कर ही आनन्दी हो पाता है तो उसे ही आनन्दमय कैसे माना जा सकता है ?

सू० १।१।१८—प्रस्तुत प्रकरण में जीव और आनन्दमय को परस्पर-भिन्न रूप से व्यपदिष्ट किया गया है, अतः आनन्दमय जीव नहीं हो सकता।

सू० १।१।१९—रामानुज, निम्बार्क और मध्व को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने उक्त सूत्र में सांख्याभिमत प्रधान का निराकरण माना है कि आनन्दमय के द्वारा संकल्पपूर्वक सृष्टि करने के कारण उसे अचेतन प्रधान मानने की संभावना भी नहीं की जा सकती। रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्र में 'जीव' का ही निराकरण मानकर यह अर्थ करते हैं कि जीव को जगत्सृष्टि करने के लिए 'आनुमान' अर्थात् प्रधान की अपेक्षा रखनी होगी, जबकि आनन्दमय उसकी अपेक्षा न रख कर संकल्पमात्र से ही सृष्टि करता है, अतः उसे जीव नहीं माना जा सकता। उक्त दोनों अर्थों में प्रथम ही अधिक सरल एवं सूत्राक्षरानुकूल प्रतीत होता है। मध्व ने भिन्न ही रूप में अर्थ प्रस्तुत किया है, जो कि सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता।

सू० १।१।२०—'एतस्मिन्...अभयं प्रतिष्ठां विन्दते' के द्वारा श्रुति जीव को आनन्दमयनिष्ठ होने का उपदेश देती है, यदि आनन्दमय अचेतन प्रधान होता तो उक्त उपदेश स्वयं सांख्य के अनुसार भी उपपन्न नहीं हो सकता।

विशेष—प्रायः सभी वैष्णव भाष्यकारों ने शंकर के इस व्याख्यान का प्रतिवाद किया है कि आनन्दमय परतत्त्व नहीं, अपितु 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' में प्रतिपादित ब्रह्म परतत्त्व है। उक्त श्रुति का कुछ भी अर्थ हो, किन्तु जहाँ तक सूत्रकार का सम्बन्ध है, यह पूर्णतया स्पष्ट है कि वे आनन्दमय को सूत्र-

जिज्ञास्य ब्रह्म अर्थात् वेदान्ताभिमत परतत्त्व मानते है और इस प्रकार वैष्णव भाष्यकारों का पक्ष ही सूत्रानुकूल प्रतीत होता है ।

प्राप्त संकेत—

(१) सूत्रकार के अनुसार वेदान्ताभिमत परतत्त्व आनन्दमात्र नहीं, अपितु आनन्दस्वरूप होने के साथ आनन्दमय है (सू० १।१।१३), और उसका आनन्दमयत्व विकार नहीं, अपितु स्वरूपगत है (सू० १।१।१४-१५) ।

(२) मांत्रवर्णिक ब्रह्म और आनन्दमय एक ही हैं। इस प्रकार परतत्त्व सत्य, ज्ञान और अनन्त है (सू० १।१।१६) ।

यहाँ तक सूत्रकार ने स्वाभिमत परतत्त्व ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट कर दिया कि वह ज्ञानानन्दस्वरूप होने के साथ ज्ञानानन्दमय है और सत्य तथा अनन्त है ।

(३) जीव परतत्त्व से भिन्न है (सू० १।१।१७-१८) ।

३—सूत्र १।१।२१-२२—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य १।६।

मुख्यवाक्य—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छान्दोग्य १।६।६-७) ।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में 'हिरण्मय पुरुष' के द्वारा वेदान्ताभिमत परतत्त्व से व्यतिरिक्त अन्य तत्त्व का निर्देश ।

भाष्यकार—मध्व को छोड़ कर अन्य सभी ।

उक्त भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तावकसूत्र १।१।२१ (अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्) के द्वारा सूत्रकार ने उक्त वाक्य में प्रतिपादित 'हिरण्मय पुरुष' को वेदान्ताभिमत परतत्त्व माना है और उक्त मान्यता के लिए यह हेतु प्रस्तुत किया है कि उक्त प्रकरण में हिरण्मय पुरुष के सम्बन्ध में प्रतिपादित अपहतपाप्मत्व, लोककामेशत्व और उपास्यत्व आदि धर्म ब्रह्म के असाधारण लिंग हैं ।

सू० १।१।२२—आदित्य और हिरण्मय पुरुष को परस्पर-भिन्न रूप में व्यपदिष्ट किया गया है और अन्य श्रुति-प्रकरण (बृहदा० ३।७) में भी अन्तर्यामी तत्त्व को 'आदित्ये तिष्ठन्' के द्वारा आदित्य से भिन्न बताया गया है, अतः उक्त पुरुष आदित्यदेव नहीं ।

प्राप्त संकेत—

(१) सूत्रकार ने उक्त 'हिरण्मय पुरुष' को, जो कि हिरण्यश्मश्रु एवं हिरण्यकेश है, परतत्त्व माना है, अतः भाष्यकारों का यह मत कि वेदान्ताभिमत परतत्त्व स्वाभाविक रूप से अप्राकृत दिव्यमंगलविग्रह भी धारण कर लेता है, सूत्रकाराभिमत प्रतीत होता है।

(२) वेदान्ताभिमत परतत्त्व अपहतपाप्मा अर्थात् सब प्रकार के दोषों से सर्वदा अस्पृश्य है।

(३) उक्त परतत्त्व सधर्मक है (सू० १।१।२१)।

४—सूत्र १।१।२३—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य १।९।

मुख्यवाक्य—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते...' (छा० १।९।१)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नहीं, भाष्यकारों ने भूताकाश को माना है।

भाष्यकार—सभी।

सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावकसूत्र १।१।२३ (आकाशस्तल्लिंगात्) के द्वारा उक्त आकाश को वेदान्ताभिमत परतत्त्व माना है, क्योंकि आकाश के सम्बन्ध में प्रतिपादित धर्म ब्रह्म के असाधारण लिंग हैं। भाष्यकारों के अनुसार उक्त लिंग निखिलजगदेककारणत्व, परायणत्व, सर्वज्यायस्त्व, अनन्तत्व और परोवरीयस्त्व आदि हैं, जो कि भूताकाश में कथमपि सम्भव नहीं।

विशेष—पूर्वसूत्रों (१।१।५-२०) में वेदान्ताभिमत ब्रह्म का जगत्-कारणत्व स्थापित कर दिया गया है, अतः अन्य प्रकरणों में प्रतिपादित जगत्कारणत्व को उसका ही असाधारण लिंग माना गया है, अन्यथा उक्त लिंग का ब्रह्मासाधारणत्व स्वयं ही विवादास्पद है।

५—सूत्र १।१।२४—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य १।११।

मुख्यवाक्य—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति...' (छा० १।११।५)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नहीं, भाष्यकारों ने प्रायः मुख्यप्राण को माना है।

भाष्यकार—मध्व को छोड़कर सभी ।

मध्व को छोड़ कर सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावक-सूत्र १।१।१४ (अतएव प्राणः) के द्वारा उक्त वाक्य में प्रतिपादित प्राण को 'ब्रह्म' कहा है और इसके साधन के लिए पूर्वसूत्र (१।१।२३) में उपन्यस्त हेतु 'तल्लिगात्' को 'अतएव' के द्वारा अतिदिष्ट किया है। प्रायः सभी भाष्यकारों ने उक्त वाक्य के 'निखिलजगदेककारणत्व' को ब्रह्म का असाधारण लिंग माना है, जो कि प्रसिद्ध प्राणवायु में सम्भव नहीं ।

६—सूत्र १।१।२५-२८—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य० ३।१२-१३ ।

मुख्यवाक्य—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु…' (छा० ३।१३।७) ।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—मुख्यतः कोई नहीं, प्रासंगिक रूप से 'गायत्री छन्द', भाष्यकारों ने मुख्य पूर्वपक्ष प्रसिद्ध अग्नि या कौक्षेयक अग्नि (वैश्वानर) को माना है ।

भाष्यकार—सभी भाष्यकार, किन्तु सू० १।१।२५ में मध्व नहीं ।

मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने प्रस्तावकसूत्र १।१।२५ (ज्योतिश्चरणाभिधानात्) के द्वारा उक्त वाक्य में प्रतिपादित 'ज्योतिः' को ब्रह्म माना है और इसके लिए यह हेतु प्रस्तुत किया है कि उक्त वाक्य से पूर्व वाक्य 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' के द्वारा सब भूतों को उक्त 'ज्योतिः' का चरण बताया गया है, जो कि न तो प्रसिद्ध अग्नि के लिए संभव है और न वैश्वानर अग्नि के लिए। यद्यपि उक्त वाक्य में 'ज्योतिः' के लिए नहीं, अपितु 'पुरुष' के विषय में उक्त 'चरणाभिधान' किया गया है, किन्तु उसको 'ज्योतिः' के लिए मानकर सूत्रकार ने यह भी साथ ही स्पष्ट कर दिया है कि उक्त 'पुरुष' और 'ज्योतिः' एक ही तत्त्व हैं ।

सू० १।१।२६—उक्त सूत्र से मध्व भी अन्य भाष्यकारों के साथ हो लेते हैं, किन्तु मध्व को छोड़कर अन्य सब के अनुसार इसमें इस शंका का उपस्थापन किया गया है कि 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' का चरणाभिधान तो प्रकरण के उपक्रम में प्रतिपादित गायत्री के सम्बन्ध में है। न कि तद्व्यतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व के सम्बन्ध में, फिर उक्त चरणाभिधान से 'ज्योतिः' के ब्रह्मत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ? उक्त शंका के निराकरण में सूत्रकार ने कहा है कि परतत्त्व ब्रह्म के ही चतुष्पादत्व को बुद्धिगम्य बनाने के

लिए तत्समान चतुष्पदा गायत्री रूप से उस का अनुसन्धान किया गया है। मध्व ने किंचित् भेद से यह कहा है कि ब्रह्म (विष्णु) अग्नि, गायत्री आदि सब शब्दों का अभिधेय है, इस तथ्य को चित्त में अर्पित करने अर्थात् स्थिर करने के लिए विष्णु को 'गायत्री' शब्द से अभिहित किया है, अतः 'गायत्री' शब्द से समारम्भ करने पर भी उक्त 'ज्योतिः' के विष्णुत्व में कोई बाधा नहीं; किन्तु मध्व द्वारा प्रस्तुत अर्थ न तो सूत्राभिमत प्रतीत होता है, और न प्रस्तुत साध्य का साधक, क्योंकि ब्रह्म या विष्णु के सर्वशब्दवाच्यत्व-कथनमात्र से ही मीमांस्य प्रकरण का ब्रह्मपरक समन्वय नहीं हो सकता।

सू० १।१।२७—'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' से प्रकरण का उपक्रम कर जो भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय का निर्देश करने के बाद 'सैषा चतुष्पदा···गायत्री' कहा गया है, उसकी उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि यह माना जावे कि यहाँ 'गायत्री छन्द' का प्रतिपाद्यत्व नहीं, अपितु परतत्त्व का प्रतिपाद्यत्व है और केवल उक्त प्रकार से सादृश्यानुसन्धान करने के लिए चतुष्पदा गायत्री रूप में उसका निर्देश किया गया है; अन्यथा शब्दात्मक गायत्री छन्द के भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय, ये चार पाद उपपन्न नहीं हो सकते। इस प्रकार सूत्रकार ने गायत्री, पुरुष और ज्योति रूपों में एक ही परतत्त्व को सिद्ध कर प्रकरण में एकवाक्यता स्थापित की है।

सू० १।१।२८—उक्त सूत्र में सभी भाष्यकारों के अनुसार इस आक्षेप का निराकरण किया गया है कि पुरुषसम्बन्धी 'तावानस्य महिमा' वाक्य में पुरुष के अमृत 'त्रिपाद्' को 'दिवि' अर्थात् द्युलोक में बताया है और ज्योतिः-सम्बन्धी वाक्य में 'ज्योतिः' को 'परो दिवः' अर्थात् द्युलोक से पर बताया है, इस प्रकार उपदेशभेद होने से यही सिद्ध होता है कि पुरुष और ज्योतिः भिन्न हैं और तदनुसार पुरुषसम्बधी चरणाभिधान (सू० १।१।२५) को ज्योतिः के ब्रह्मत्वसाधन में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। सूत्रकार का उत्तर है कि दोनों उपदेशों में कोई विरोध नहीं है। भाष्यकारों के अनुसार, जैसे 'वृक्षाग्रे श्येनः और 'वृक्षाग्रात्: परतः श्येनः', इन प्रयोगों में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार उक्त दोनों उपदेशों में भी कोई विरोध नहीं है।

प्राप्त संकेत—

(१) वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म 'ज्योतिः स्वरूप' है (सू० १।१।२५)।

(२) चतुष्पाद ब्रह्म का एक पाद यह विनाशशील जगत् है और त्रिपाद् अमृत है, जो कि द्युलोक में है (सू० १।१।२५,२८)।

७—सूत्र १।१।२९-३२—

मीमांस्य प्रकरण—कोषीतकिब्राह्मणोपनिषद्, तृतीय अध्याय।

मुख्यवाक्य—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मायायुरमृतमित्युपास्व' (कौ० उ० ३।२)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—वक्ता (इन्द्र), जीव तथा मुख्यप्राण।

भाष्यकार—मध्व को छोड़कर अन्य सभी।

उक्त सभी भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तावकसूत्र १।१।२९ (प्राणस्तथानुगमात्) के द्वारा सूत्रकार ने यह साध्य स्थापित किया कि उक्त वाक्य में प्रतिपादित प्राण वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म है, क्योंकि ऐसा मानने पर ही प्रकरण के वाक्य परस्पर समन्वित हो सकते हैं। उपक्रम में प्राण को हिततमोपदेश का विषय, कर्मनिर्लिप्त, दोषरहित, प्रज्ञात्मा और उपसंहार में उसे आनन्द, अजर, अमृत और लोकाधिपति आदि कहा गया है। उक्त धर्म इन्द्र, जीव तथा मुख्यप्राण आदि किसी में सम्भव नहीं, अपितु इसके विपरीत वे वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म के ही असाधारण लिंग हैं।

सू० १।१।३०—उक्त सूत्र में इस पूर्वपक्ष का उपस्थापन किया गया है कि उक्त प्राण परतत्त्व ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि वक्ता इन्द्र ने 'प्राणोऽस्मि···तं माम्···उपास्स्व' कह कर अपना उपदेश दिया है। उक्त पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रकार ने कहा है कि उक्त प्रकरण में प्रतिपादित 'प्राण' में परमात्मा के असाधारण धर्मों का बाहुल्य है, अतः वक्ता के आत्मोपदेश की उपपत्ति अन्यथा लगाकर उक्त प्राण को परमात्मा मानना ही उचित है।

सू० १।१।३१—वक्ता का आत्मोपदेश शास्त्रदृष्टि से उसी प्रकार उपपन्न है, जिस प्रकार वामदेव का यह अनुसन्धान कि 'अहं मनुरभवम् सूर्यश्च··· य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मीति' उपपन्न है अर्थात् जिस प्रकार शास्त्रदृष्टि से वामदेव ने अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि' कहा है, उसी प्रकार वक्ता (इन्द्र) ने अपने को 'प्राणोऽस्मि' कहा है।

सू० १।१।३२—उक्त सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने यह पूर्वपक्ष उपस्थापित किया कि जब उक्त प्रकरण में प्रतिपादित प्राण के सम्बन्ध में जीव और मुख्यप्राण के लिंग सूचित हो रहे हैं, तब उक्त प्राण को परतत्त्व कैसे माना जा सकता है? उक्त पूर्वपक्ष के उत्तर में रामानुज और निम्बार्क के अनुसार सूत्रकार ने यह कहा है कि श्रुतियों में तीन प्रकार की ब्रह्मोपासनाएँ हैं—

१—वे उपासनाएँ, जिनमें परतत्त्व ब्रह्म का स्वरूपतः अनुसन्धान है।

२—जिनमें परतत्त्व का जीवशरीरकत्वानुसन्धान है।

३—जिनमें परतत्त्व का भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वानुसन्धान है।

उपासनाओं का उक्त त्रैविध्य उक्त प्रकरण में भी गृहीत किया गया है, अतः प्राणपदवाच्य परतत्त्व में जीव और मुख्यप्राण के कुछ लिंग सूचित होते हैं। वल्लभ और बलदेव ने उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण इस रूप में माना है कि यदि पूर्वपक्ष के अनुसार यह माना जावे कि जीव और मुख्यप्राण स्वतन्त्र रूप से उपास्य हैं, तो उपासना का त्रैविध्य हो जावेगा और इस प्रकार वाक्यभेद का प्रसंग होगा। वल्लभ और बलदेव द्वारा प्रस्तुत उक्त अर्थ सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता, उसके अनुसार उक्त सूत्र के उत्तरपक्ष में 'उपासना-त्रैविध्यप्रसंगात्' होना चाहिए। आगे जीव और मुख्यप्राण के लिंगों की उपपत्ति वल्लभ और बलदेव ने प्रायः रामानुज और निम्बार्क के समान ही दिखाई है।

प्राप्त संकेत—

(१) सूत्रकार ने इन्द्र के कहे हुए 'प्राणोऽस्मि' वाक्य को 'अहं ब्रह्मास्मि' की तरह शास्त्रदृष्टि से उपपन्न मानते हुए भी यह प्रदर्शित कर कि उक्त वाक्य में 'प्राण' शब्द का वाच्य इन्द्र नहीं है, अपितु तद्व्यतिरिक्त परतत्त्व है, यह संकेत कर दिया है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' कहना शास्त्रदृष्टि से उपपन्न होने पर भी 'अहम्' अर्थात् जीव स्वरूपतः ब्रह्म अर्थात् परतत्त्व नहीं (सू० १।१।३०-३१)।

(२) श्रुतियों में उपासनाभेद से जीव और मुख्यप्राण के लिंग परतत्त्व में सूचित हो सकते हैं, किन्तु फिर भी परतत्त्व उक्त दोनों से पृथक् है (सू० १।१।३२)।

द्वितीय पाद

८—सूत्र १।२।१-८—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य ३।१४।

मुख्यवाक्य—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति' (छा० ३।१४।१)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त प्रकरण में जीव का प्रतिपाद्यत्व।

भाष्यकार—मध्व को छोड़कर अन्य सभी, किन्तु उनमें भी वल्लभ केवल सू० १।२।४ तक।

उक्त सभी भाष्यकारों ने प्रस्तावकसूत्र १।२।१ (सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्) के द्वारा उक्त प्रकरण की मीमांसा मानी है, किन्तु मुख्यवाक्य के सम्बन्ध में

मतभेद है। केवल रामानुज ने उक्त सूत्र के द्वितीय व्याख्यान में उक्त वाक्य को ही मुख्यवाक्य माना है और उसमें 'सर्वं खल्विति सर्वात्मा ब्रह्मेशः' के रूप में वृत्तिकार की सम्मति भी प्रस्तुत की है (श्रीभाष्य १।२।१)। वस्तुतः उक्त प्रस्तावकसूत्र के पक्षपद से स्पष्टतः उक्त वाक्य की ही सूचना मिलती है। रामानुज के अनुसार उक्त सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने उक्त वाक्य में प्रतिपादित 'ब्रह्म' को वेदान्ताभिमत परतत्त्व बताया है, क्योंकि 'तज्जलान्' के द्वारा उक्त वाक्य में यह प्रसिद्ध उपदेश दिया गया है कि सब कुछ ब्रह्म से उपपन्न, ब्रह्म में लीन और ब्रह्म के द्वारा अनुप्राणित है। उक्त धर्म असाधारण रूप से वेदान्ताभिमत परतत्त्व के लिंग हैं, क्योंकि, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है,[1] सूत्रकार ने सूत्र १।१।२० के बाद जगत्कारणत्व को वेदान्ताभिमत परतत्त्व का एक असाधारण लिंग मान लिया है।

सू० १।२।२—सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने यह प्रतिपादित किया है कि उक्त वाक्य से आगे प्रतिपादित मनोमयत्व, प्राणशरीरत्व, भारूपत्व आदि गुणों की उपपत्ति उक्त ब्रह्म को वेदान्ताभिमत परतत्त्व मानने से ही हो सकती है। वल्लभ ने उक्त अर्थ में सम्मति प्रदर्शित करते हुए भी मुख्य अर्थ भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है, किन्तु वह सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता।

सू० १।२।३—उक्त सूत्र में सभी भाष्यकारों के अनुसार कहा गया है कि उक्त प्रकरण में प्रतिपादित विशेषताएँ इतर अर्थात् जीव में अनुपपन्न हैं।

सू० १।२।४—उक्त ब्रह्म और जीव को क्रमशः कर्म और कर्त्ता बताया गया है और इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में जीव का ब्रह्म से भिन्न रूप में व्यपदेश है, अतः उक्त ब्रह्म जीव नहीं माना जा सकता।

सू० १।२।५-६—प्रस्तुत प्रकरण में 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' के द्वारा जीव को षष्ठी विभक्ति के शब्द से निर्दिष्ट किया गया है और ब्रह्म को प्रथमा विभक्ति के शब्द से, उक्त शब्दविशेष से दोनों की परस्पर-भिन्नता स्पष्ट है, अतः उक्त ब्रह्म को जीव नहीं माना जा सकता। स्मृतियों में भी उक्त प्रकार से ही परस्पर भेदव्यपदेश है।

सू० १।२।७—यदि यह कहा जावे कि उक्त ब्रह्म को अल्पायतन और अल्पपरिमाण बताया गया है, जिससे कि उसके जीवत्व का समर्थन होता है, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि उपासना की दृष्टि से उसे उक्त रूप में अल्प-

---

१. प्रस्तुत अध्याय, पृ० १६७।

परिमाण बताया गया है, वस्तुतः वह अल्पपरिमाण नहीं, क्योंकि उसे साथ ही आकाश के समान महान् या व्यापक भी बताया गया है।

सू० १।२।८—यदि यह कहा जावे कि शरीर के भीतर हृदय में जीव के समान निवास करने से परतत्त्व को भी सुखदुःखादि की प्राप्ति होगी, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि शरीरान्तर्वर्तित्व मात्र ही सुखदुःखोपभोग का हेतु नहीं, अपितु उससे विशेष है, और वह है—पुण्यपापरूपकर्मवशत्व और तदनुसार फलभोक्तृत्व, जो कि अपहतपाप्मा परमात्मा में सम्भव नही।

प्राप्त संकेत—

(१) सूत्रकार ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के 'सर्वम्' का अर्थ प्रस्तावकसूत्र १।२।१ में 'सर्वत्र' करके यह संकेत किया है कि ब्रह्म सर्वत्र है, अतः सब कुछ ब्रह्म है।

(२) वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म गुणयुक्त है (सू० १।२।२)।

(३) परतत्त्व जीव से स्वरूपतः पृथक् है (सूत्र १।२।३-८)।

(४) वह अन्तरात्मा एवं अणीयान् तथा ज्यायान् है (सू० १।२।६-७)।

(५) वह उपासक के द्वारा उपास्य और प्राप्य है (सू० १।२।४,७)।

(६) जीव अल्पपरिमाण या अणु है। (सू० १।२।७)।

६—सूत्र १।२।६-१२—

मीमांस्य प्रकरण—कठोपनिषद् प्रथमाध्याय।

मुख्यवाक्य—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः···'(कठ १।२।२४)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नहीं, भाष्यकारों ने 'जीव' को माना है।

भाष्यकार—सू० १।२।६-१० में मध्व को छोड़कर और सू० १।२।११-१२ में मध्व समेत सभी।

उक्त सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावकसूत्र १।२।६ (अत्ता चराचरग्रहणात्) के द्वारा उक्त वाक्य में प्रतिपादित तत्त्व को वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म बताया है, क्योंकि उक्त वाक्य में सूचित लिंग—ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितसर्वजगत्संहर्तृत्व—ब्रह्म का एक असाधारण लिंग है, वह जीव में कथमपि संभव नहीं।

सू० १।२।१०—प्रस्तुत प्रकरण से भी यही सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य में प्रतिपादित तत्त्व परमात्मा है। प्रकरण के प्रारम्भ में परतत्त्व की ही जिज्ञासा की गई थी, उसी के अनुसार 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्' के द्वारा

उसी का प्रतिपादन प्रारम्भ किया गया है और उक्त वाक्य उसी प्रतिपादन से सम्बद्ध है।

सू० १।२।११-१२—उक्त सूत्रों को रामानुज पूर्वसूत्रों से ही सम्बद्ध करते हैं और, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है[1], मीमांस्यप्रकरणैक्य की दृष्टि से यह उचित ही प्रतीत होता है। अन्य भाष्यकार उक्त सूत्रों को पृथक् रखते हैं। मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार सू० १।२।११ का प्रतिपाद्य यह है कि 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविटौ···' (कठ १।३।१) वाक्य में प्रतिपादित उक्त दो गुहाप्रविष्ट तत्त्व जीव और परमात्मा हैं, क्योंकि उक्त दोनों तत्त्वों का पृथक्-पृथक् गुहाप्रविष्टत्व उक्त प्रकरण में प्रतिपादित है। सू० १।२।१२ का प्रतिपाद्य यह है कि उक्त प्रकरण में उक्त दोनों—जीव और परमात्मा—को ही उपासकत्वोपास्यत्व, प्राप्तृत्व-प्राप्यत्व, मन्तृत्व-मन्तव्यत्व आदि अपने-अपने विशिष्ट रूपों में भिन्नता के साथ वर्णित किया गया है, अतः उक्त दोनों ही गुहाप्रविष्ट तत्त्व हैं। मध्व उक्त सूत्रों का भिन्न प्रकार से अर्थ प्रस्तुत करते हैं कि उक्त गुहाप्रविष्ट तत्त्व विष्णु के दो रूप हैं, और उसके समर्थन के लिए मीमांस्य प्रकरण का कोई वाक्य प्रस्तुत न कर मीमांस्य उपनिषदों से भी बाहर के वाक्य को प्रस्तुत करते हैं; किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत उक्त अर्थ सूत्रसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सू० १।२।११ में सूत्रकार ने स्पष्टतः गुहाप्रविष्ट तत्त्वों को दो आत्मा बताया है।

प्राप्त संकेत—

(१) चराचरात्मक जगत् का अस्तित्व है और उसका संहर्त्ता सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म है (सू० १।२।६)।

(२) जीवात्मा और परमात्मा स्वरूपतः परस्पर-भिन्न दो आत्मा हैं (सू० १।२।११)।

(३) उक्त दोनों तत्त्वों की परस्पर-स्वरूप-भेदक विशिष्ट स्थिति है (सू० १।२।१२)।

१०—सूत्र १।२।१३-१८—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य ४।१०-१५।

मुख्यवाक्य—'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा···' (छा० ४।१५।१)।

---

१. पृष्ठ १०७–१०८।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—परतत्त्व से इतर अर्थात् जीव या प्रतिबिम्ब-पुरुष।

भाष्यकार—सभी।

सभी भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तावकसूत्र १।२।१३ (अन्तर उपपत्तेः) के द्वारा सूत्रकार ने उक्त वाक्य में प्रतिपादित अक्ष्यन्तर पुरुष को वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म प्रतिपादित किया है और इसके लिए हेतु दिया है कि अक्ष्यन्तर पुरुष के विषय में श्रुत धर्मों की उपपत्ति ब्रह्म में ही हो सकती है, अन्य जीव आदि में नहीं। वल्लभ ने कहा है कि ब्रह्म का दर्शन अक्षि में उपपन्न है, अतः वह ब्रह्म है; किन्तु यह वास्तविक साध्य का साधक प्रतीत नहीं होता। अक्षिपुरुष को वेदान्ताभिमत परतत्त्व सिद्ध करने के बाद ही उसके दर्शन की उपपन्नता को प्रदर्शित करने का प्रश्न उठ सकता है। अक्षिपुरुष के सम्बन्ध में श्रुत धर्म अमृतत्व, अभयत्व, संयद्वामत्व और निर्लेपत्व आदि हैं, जो कि भाष्यकारों ने ब्रह्म के असाधारण लिंग माने हैं।

सू० १।२।१४—वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि नेत्र में स्थिति और नियमन आदि परमात्मा के ही असाधारण धर्म 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' (बृहदा० ३।७) आदि वाक्यों में माने गए हैं, अतः स्पष्ट है कि वही यहाँ अक्ष्यन्तर पुरुष के रूप में प्रतिपादित हैं। वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता।

सू० १।२।१५—उक्त प्रकरण में उक्त वाक्य से पूर्व अक्षिपुरुष को सुखविशिष्ट बताया गया है, जिससे उसके ब्रह्मत्व की सिद्धि होती है। निरुपाधिक सुखयोग जीव में उपपन्न नहीं और प्रतिबिम्ब पुरुष में तो कथमपि सम्भव नहीं।

सू० १।२।१६ (अत एव···ब्रह्म)—केवल रामानुज और निम्बार्क उक्त सूत्र को मानते हैं, किन्तु कोई विशिष्ट प्रयोजन इससे सिद्ध होता हुआ प्रतीत नहीं होता; सम्भवतः यह मूल पाठ में नहीं था।[1]

सू० १।२।१७—अक्षिपुरुषविद् के लिए उस गति का वर्णन किया गया है, जो वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म के विद्वान् के लिए श्रुतियों में प्रतिपादित की गई है, इससे भी अक्षिपुरुष के ब्रह्मत्व का समर्थन होता है।

सू० १।२।१८—वल्लभ को छोड़ कर अन्य भाष्यकार उक्त सूत्र में यह प्रतिपादन मानते हैं कि जीव या प्रतिबिम्ब-पुरुष के चक्षु में अनवस्थित

---

१. डा० घाटे—दी वेदान्त, पृ० ६४।

होने और अक्षिपुरुष के सम्बन्ध में श्रुत धर्मों के उनमें असम्भव होने से उन्हें अक्षिपुरुष नहीं माना जा सकता। वल्लभ यह अर्थ प्रस्तुत करते हैं कि उक्त प्रकरण का इतरवाक्यार्थ अर्थात् उपासनापरत्व नहीं लेना चाहिए, किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत उक्त अर्थ न तो सूत्र संगत है और न सूत्रकार के समक्ष प्रस्तुत प्रकरण के सम्बन्ध में उस प्रकार की कोई समस्या उपस्थित है।

प्राप्त संकेत—

(१) परतत्त्व ब्रह्म सुखविशिष्ट है (सू० १।२।१५)।

(२) अक्षिपुरुषविद् अर्थात् सूत्रजिज्ञास्य वेदान्ताभिमत परतत्त्व के विद्वान् को अर्चिरादिगति प्राप्त होती है (सू० १।२।१७)।

११--सूत्र १।२।१९-२१--

मीमांस्य प्रकरण--बृहदारण्यक ३।७।

मुख्यवाक्य—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्···अन्तरो यमयति एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः, यो विज्ञाने (आत्मनि) तिष्ठन्···' आदि (बृहदा० ३।७।३-२३)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—सांख्याभिमत प्रधान और शारीर (जीव)।

भाष्यकार--सभी।

सभी भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तावकसूत्र १।२।१९ के द्वारा उक्त वाक्यों में प्रतिपादित अन्तर्यामी को सूत्रकार ने परतत्त्व ब्रह्म बताया और इसके लिये हेतु प्रस्तुत किया—'तद्धर्मव्यपदेशात्' अर्थात् परमात्मा के धर्मों का उक्त अन्तर्यामी के विषय में व्यपदेश या वर्णन किया गया है, अतः वह परमात्मा है। वल्लभ ने व्यपदेश का अर्थ किया है कि ब्रह्मेतर पदार्थों के धर्मों का विशेषतः परमात्मा में निषेध, किन्तु यह अर्थ 'व्यपदेश' शब्द का सूत्रकार द्वारा स्वीकृत अर्थ नहीं। सूत्रकार ने १।१।१५, १।१।२२, १।१।२७, १।२।४, १।२।१४ आदि सूत्रों में उक्त शब्द को निषेधात्मक नहीं, अपितु विधानात्मक वर्णन के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है, इसके अतिरिक्त विधानात्मक अर्थ ही विधिमुख-समन्वय-पद्धति के अनुकूल है। अन्य भाष्यकारों का कथन है कि तत्तत् पदार्थों में अन्तःस्थिति, उनका नियमन, उनका आत्मत्व, और उनके द्वारा अज्ञेयत्व किन्तु साथ ही उनका ज्ञातृत्व आदि धर्म परमात्मा के ही धर्म हैं, जो कि अन्तर्यामी के सम्बन्ध में प्रतिपादित हैं, अतः उक्त अन्तर्यामी परमात्मा है।

सूत्र १।२।२०—उक्त अन्तर्यामी स्मार्त अर्थात् सांख्याभिमत प्रधान नहीं, क्योंकि उसके किसी धर्म का यहाँ प्रतिपादन नहीं है, अपितु उसके

विपरीत उक्त धर्म, जो कि एक चेतन में ही सम्भव हैं, अन्तर्यामी को प्रधान मानने की सम्भावना को पूर्णतया समाप्त कर देते हैं।

सूत्र १।२।२१—उक्त अन्तर्यामी को शारीर अर्थात् जीव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों शाखाओं–काण्व और माध्यन्दिन—के अनुसार उक्त प्रकरण में जीव से अन्तर्यामी को भिन्न बताया गया है। काण्व 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' और माध्यन्दिन 'य आत्मनि तिष्ठन्' के द्वारा जीव में भी उससे भिन्न अन्तर्यामी की स्थिति उसी प्रकार मानते हैं, जिस प्रकार पृथिवी आदि में उसकी स्थिति है।

प्राप्त संकेत—

(१) जगत् के सकल जडतत्त्व और जीव अन्तर्यामी परतत्त्व से स्वरूपत: भिन्न हैं; परतत्त्व उनका आत्मा और वे उसके शरीर हैं। (सू० १।२।१९-२१)।

(२) श्रुतियों में 'विज्ञान' शब्द से भी जीव का निर्देश किया गया है (सू० १।२।२१)।

१२—सूत्र १।२।२२-२४—

मीमांस्य प्रकरण—मुण्डकोपनिषद्, प्रारम्भ से लेकर तृतीय खण्ड की समाप्ति तक।

मुख्यवाक्य—'यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्··तद् भूतयोनिम्···' (मुण्डक १।१।६)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—'इतरौ', जो कि भाष्यकारों ने प्राय: सांख्याभिमत प्रधान और जीव माने हैं।

भाष्यकार—सभी।

सभी भष्यकारों के अनुसार उक्त वाक्य में प्रतिपादित अदृश्यत्वादिगुणक 'अक्षर' को सूत्रकार ने सू० १।२।२२ (अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः) के द्वारा वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म बताया और इसके लिए यह हेतु प्रस्तुत किया कि अक्षर के विषय में जिन धर्मों की उक्ति है वे परतत्त्व ब्रह्म के धर्म हैं। किन्तु उक्त वाक्य में प्रतिपादित धर्म जिस प्रकार वेदान्ताभिमत परतत्त्व में संभव हैं, उसी प्रकार सांख्याभिमत प्रधान और जीव में भी संभव हैं और इस प्रकार उनके द्वारा उक्त सूत्र में प्रस्तुत विधिमुख समन्वय का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता, अतः उन्होंने सू० १।२।२३-२४ में यह प्रदर्शित किया कि किन कारणों से उक्त अक्षर को प्रधान या जीव नहीं माना जा सकता।

सू० १।२।२३—उक्त सूत्र के द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट किया कि उक्त अक्षर के 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्डक १।१।९) वाक्य में प्रतिपादित सर्वज्ञत्वादि तथा 'येनाक्षरं पुरुषं वेद' (मुण्डक १।१।१३) वाक्य में प्रतिपादित पुरुषत्व धर्म सांख्याभिमत अचेतन एवं अपुरुष प्रधान में सम्भव नहीं, और 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा' (मुण्डक १।२।११) में प्रयाण-कर्त्ता जीवों के द्वारा प्राप्तव्य रूप में तथा 'येनाक्षरं पुरुषं वेद' (मुण्डक १।२।१३) में उनके द्वारा ज्ञेय रूप में प्रतिपादित अक्षर-पुरुष का जीवों से भेदव्यपदेश है ही। इस प्रकार अक्षर-पुरुष को न प्रधान माना जा सकता है और न जीव।

सू० १।२।२४—उक्त सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने यह प्रतिपादित किया है कि 'अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ······ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्डक २।१।४) में अक्षर-पुरुष का जो विश्वरूप वर्णित किया गया है, वह उक्त दोनों प्रधान और जीव—के लिए कथमपि उपपन्न नहीं, उक्त रूप वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म के लिए ही सम्भव है, वही विश्वात्मा है।

रामानुज और निम्बार्क ने सू० १।२।२३ (विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ) में उपन्यस्त विशेषण और भेदव्यपदेश, इन दोनों हेतुओं को प्रधान और जीव, दोनों के व्यावर्तन में लगाया है और तद्नुसार उन्होंने उक्त सूत्र का यह प्रतिपादन भी माना है कि उक्त प्रकरण में निराकरणीय प्रधान से अक्षर-पुरुष को भिन्न रूप में व्यपदिष्ट किया गया है। इस प्रकार उनके अनुसार यह प्रतिपादित हुआ कि सूत्रकार उक्त प्रकरण में प्रधान का प्रतिपादन मानते हैं, किन्तु यह सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार भले ही किसी प्रकार का 'अचित्' तत्त्व मानते हों, किन्तु यह पूर्णतया सूत्रों से स्पष्ट है कि वे सांख्याभिमत त्रिगुण प्रधान को केवल 'स्मार्त' मानते हैं, श्रुति-प्रतिपादित नहीं, अतः उक्त सूत्र के 'विशेषण' हेतु को सांख्याभिमत प्रधान के व्यावर्तन और 'भेदव्यपदेश' हेतु को जीव के व्यावर्तन में पृथक्-पृथक् प्रयुक्त करना ही अधिक सूत्रकाराभिमत प्रतीत होता है। वल्लभ उक्त सूत्रों (१।२।२२-२४) में यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि यद्यपि उक्त मीमांस्य वाक्य 'यत् तदद्रेश्यम्' आदि में प्रतिपादित अक्षर और उससे आगे 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' में प्रतिपादित पुरुष, ये दोनों ब्रह्म हैं, किन्तु अक्षर से पुरुष इस दृष्टि से पर है कि प्रथम गणितानन्द या किंचित्तिरोहितानन्द है और द्वितीय अनन्तानन्द तथा पूर्णप्रकटानन्द है, किन्तु उक्त सूत्रों से उन की उक्त मान्यता का कोई समर्थन होता हुआ प्रतीत नहीं होता। उन्होंने सू० १।२।२३ में जो

'विशेषणभेद' और 'व्यपदेश' के रूप में पदच्छेद किया है, वह भी उचित प्रतीत नहीं होता।

मध्व ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उक्त सूत्रों में ब्रह्मा और रुद्र को भी पूर्वपक्ष में रखकर विष्णुपरक समन्वय करते हुए तदनुसार अर्थ प्रस्तुत किया है, जो कि सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता। बलदेव ने सू० १।२।२४ के बाद 'प्रकरणाच्च' सूत्र और माना है, जो कि किसी भाष्यकार द्वारा स्वीकृत नहीं है।

प्राप्त संकेत—

(१) अक्षर-पुरुष वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म है, और वह अदृश्य, अगोत्र, अपाणिपाद आदि है (सू० १।२।२२)।

(२) उक्त परतत्त्व जीव से भिन्न है (सू० १।२।२३)।

(३) परतत्त्व जगत् का आत्मा है, और जगत् उसका रूप है (सू० १।२।२४)।

१३—सूत्र १।२।२५-३३—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य ५।११-२४।

मुख्यवाक्य—'यस्तु एतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते·········' (छा० ५।१८।१-२)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—जाठराग्नि, भूताग्नि, देवता।

भाष्यकार—सभी।

सभी भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तावकसूत्र १।२।२५ (वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्) के द्वारा सूत्रकार ने उक्त वाक्य में प्रतिपादित वैश्वानर को वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म बताया है। इसके लिए उन्होंने 'साधारण-शब्दविशेष' को हेतु रूप में प्रस्तुत किया है। उक्त हेतुपद के भाष्यकारों ने जो विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं, वे विशेष उपयुक्त प्रतीत नहीं होते; किन्तु उनमें से मध्व द्वारा प्रस्तुत अर्थ में यदि 'विष्णु' के स्थान पर 'ब्रह्म' मान लिया जावे तो वह अन्य अर्थों की अपेक्षा अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है। उक्त परिवर्तन करने पर उक्त हेतु का अर्थ यह होगा कि यतः उक्त प्रकरण में ब्रह्म के साथ अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होने वाले साधारण 'वैश्वानर' शब्द को 'आत्मानम् वैश्वानरम्' के द्वारा ब्रह्मासाधारण 'आत्म' शब्द से विशिष्ट किया गया है, अतः सिद्ध होता है कि उक्त 'वैश्वानर' परमात्मा है, क्योंकि जाठराग्नि आदि को वैश्वानर तो कहा जाता है, किन्तु उन्हें 'आत्मा' नहीं कहा जा सकता।

सूत्र १।२।२६—उक्त सूत्र के भी भाष्यकारों ने विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं, किन्तु उनमें निम्बार्क द्वारा प्रस्तुत यह अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि स्मृतियों में परमपुरुष का स्मर्यमाण रूप तद्रूपयुक्त वैश्वानर के परमात्मत्व में अनुमान हो सकता है, क्योंकि स्मृतियों का स्मरण श्रुतियों के श्रवण के आधार पर ही होने के कारण श्रवण के वास्तविक प्रतिपाद्य का निश्चायक अनुमान होता है।

सूत्र १।२।२७—उक्त सूत्र का सभी भाष्यकारों ने प्रायः समानरूप से यही अर्थ किया है कि यदि यह कहा जावे कि उक्त प्रकरण तथा शतपथ ब्राह्मण (१०।६।१-११) में अग्नि एवं वैश्वानर शब्द तथा अग्नित्रेताकल्पन, प्राणाहुत्याधारत्व और अन्तः प्रतिष्ठान आदि के प्रतिपादन से यही प्रतीत होता है कि उक्त वैश्वानर परमात्मा नहीं, अपितु जाठराग्नि है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि परमात्मा का जाठराग्नि रूप से केवल अनुसन्धान करने के लिए उसका उक्त रूप में उपदेश किया गया है, और ऐसा मानना इसलिए उचित है कि वैश्वानर के सम्बन्ध में जो द्युमूर्द्धत्व आदि का वर्णन किया गया है, वह जाठराग्नि में कथमपि संभव नहीं तथा एक दूसरे समान प्रकरण (शत० ब्रा० १०।६।१-११) में वैश्वनर को पुरुष या पुरुषविध कहा गया है, जो कि परमात्मा के लिए ही कहा जा सकता है, जाठराग्नि के लिए नहीं।

सूत्र १।२।२८—उक्त कारणों से ही वैश्वानर को देवता और भूताग्नि भी नहीं माना जा सकता।

सूत्र १।२।२९—वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकार उक्त सूत्र को पूर्वसूत्रों के साथ सम्बद्ध कर प्रायः यह अर्थ करते हैं कि जैमिनि का मत है कि यदि अग्नि और वैश्वानर शब्दों को साक्षात् भी परमात्मा का वाचक माना जावे, तब भी कोई विरोध नहीं। वल्लभ उक्त सूत्र को स्वतन्त्र रूप से लगाकर वैश्वानर के प्रादेशमात्रत्व पर विचार करते हैं। वल्लभ का पक्ष तो इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता कि उक्त सूत्र का 'साक्षादपि' शब्द स्पष्टतः इसको पूर्वसूत्रों के विषय से समुच्चित कर रहा है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा स्वीकृत अर्थ के सम्बन्ध में आगे सू० १।२।३२ के द्वारा जैमिनि के मत का पुनः निर्देश है, जिससे सिद्ध होता है कि यहाँ सू० १।२।३२ से भिन्न विषय के सम्बन्ध में जैमिनि को निर्दिष्ट किया गया है। अन्य भाष्यकारों द्वारा उक्त सूत्र (१।२।२९) को पूर्वसूत्रों से समुच्चित करने का औचित्य होने पर भी उनके द्वारा प्रस्तुत अर्थ के अनुसार इस सूत्र में किसी अपूर्व विषय का प्रतिपादन नहीं

रहता। वस्तुतः सूत्र के 'साक्षादपि' शब्द के स्वारस्य से यह अर्थ अधिक संभव प्रतीत होता है कि सू० १।२।२७ के द्वारा उक्त प्रकरण के विरुद्ध प्रतीत होने वाले लिंगों की उपपत्ति परमात्मा में जाठराग्निदृष्टयुपदेश मान कर लगाई गई है, किन्तु जैमिनि का मत है कि यदि वहाँ उक्त दृष्टयुपदेश न मान कर साक्षात् भी परमात्मा का उपदेश माना जावे, तब भी उक्त लिंगों से कोई विरोध उपस्थित नहीं होता।

सूत्र १।२।३०-३३—उक्त तीन सूत्र तीन आचार्यों के मतों को प्रकट करते हैं। उन तीनों मतों को रामानुज ने तीन विषयों के सम्बन्ध में माना है, किन्तु अन्य भाष्यकारों ने एक ही विषय के सम्बन्ध में उन्हें स्वीकृत किया है, जो कि अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त तीनों सूत्र केवल एक-एक हेतु के साथ एक-एक आचार्य के नाम का निर्देश करते हैं, जिससे स्पष्ट है कि किसी एक ही विषय के सम्बन्ध में तीन आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों का निर्देश सूत्रकार ने किया है। सू० १।२।३० में सभी भाष्यकारों ने वैश्वानर के प्रादेशमात्रत्व का यह विचार प्रस्तुत मानकर कि परमात्मा का प्रादेशमात्रत्व कैसे सम्भव है, प्रस्तुत सूत्रों के भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किए हैं, किन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन सूत्रों में निर्दिष्ट आचार्यों का उक्त विषय के सम्बन्ध में क्या मत है। प्रायः यह माना गया है कि सू० १।२।३० में आश्मरथ्य का यह मत है कि परमात्मा प्रादेशमात्र रूप में अभिव्यक्त होता है, सू० १।२।३१ में बादरि का यह मत है कि परमात्मा का प्रादेशमात्र हृदय से अनुस्मरण किया जाता है, अतः उसे प्रादेशमात्र कहा गया है और सू० १।२।३२ में जैमिनि का यह मत है कि परमात्मा वस्तुतः प्रादेशमात्र रूप से सम्पन्न होकर हृदय में स्थित है। जैमिनि के मत में ही सूत्रकार की अभिमति प्रतीत होती है, क्योंकि उन्होंने अन्य आचार्यों के मतों का निर्देश साधारणतया कर जैमिनि-मत के निर्देश के साथ उसके समर्थन में 'तथा हि दर्शयति' के द्वारा श्रुतिप्रमाण प्रस्तुत किया है और उसके बाद सू० १।२।३३ (आमनन्ति चैनमस्मिन्) को उक्त जैमिनिमत-निर्देशक सूत्र से समुच्चित कर अपने द्वारा भी समर्थन किया है। उक्त सूत्र (१।२।३३) का भी भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से अर्थ किया है, किन्तु सूत्र का स्वरूप सामान्य होने से किसी विशेष अर्थ का निश्चय नहीं किया जा सकता, सम्भव है प्रादेशमात्रत्व का समर्थन करने के लिए सूत्रकार की दृष्टि 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः मध्य आत्मनि तिष्ठति' (कठ २।१।१२) पर हो।

प्राप्त संकेत—

(१) वेदान्ताभिमत परतत्त्व विश्वात्मा है, और विश्व उसका रूप है (सू० १।२।२५-२६)।

(२) परतत्व प्रादेशमात्र रूप से हृदय में भी स्थित है (सू० १।२।३०-३३)।

तृतीय पाद

१४—सूत्र १।३।१-६—

मीमांस्य प्रकरण—मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड से लेकर उपनिषद् की समाप्ति तक।

मुख्यवाक्य—'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्···तमेवैकं जानथात्मानम्···' (मुण्डक २।२।५)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—सांख्याभिमत प्रधान और जीव।

भाष्यकार—सभी।

सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावकसूत्र १।३।१ (द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्) के द्वारा उक्त वाक्य में प्रतिपादित आकाश आदि के आयतन तत्त्व को परतत्त्व ब्रह्म बताया है और इसके लिए यह हेतु प्रस्तुत किया है कि उक्त तत्त्व को 'आत्मा' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है, जो कि परतत्त्व ब्रह्म का स्वशब्द अर्थात् असाधारण वाचक शब्द है।

सू० १।३।२—उक्त द्युभ्वाद्यायतन तत्त्व को उक्त प्रकरण में 'विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्डक ३।२।८) के द्वारा मुक्तों के द्वारा प्राप्य बताया गया है, मुक्त-प्राप्य परमात्मा ही हो सकता है। वल्लभ ने उक्त सूत्र के 'मुक्त' शब्द से जीवन्मुक्त जीवों का निर्देश मानकर भिन्न प्रकार से अर्थ प्रस्तुत किया है, जो कि सूत्रसमर्थित प्रतीत नहीं होता।

सू० १।३।३—उक्त सूत्र में मध्व को छोड़ कर सभी भाष्यकारों ने सांख्याभिमत प्रधान का निराकरण माना है कि उक्त तत्त्व को प्रधान इसलिए नहीं माना जा सकता कि उक्त प्रकरण में उसका वाचक कोई शब्द नहीं, अपितु उसके विपरीत 'आत्म' शब्द ऐसा है, जो कि अचेतन प्रधान के लिए कथमपि सम्भव नहीं।

मध्व उक्त सूत्र को 'रुद्र' के निराकरण में लगाते हैं, जो कि स्पष्टतः अनुचित है। 'आनुमानम्' शब्द से सूत्रकार ने सांख्याभिमत प्रधान का ही निर्देश सर्वत्र किया है और वही यहाँ मानना उचित है। आगे सूत्रकार ने कहा है कि द्युभ्वाद्यायतन तत्त्व को जीव भी नहीं माना जा सकता।

सूत्र १।३।४—यतः उक्त प्रकरण में उक्त तत्त्व को जीव से भिन्न ही वर्णित किया गया है, अतः उसे जीव नहीं माना जा सकता।

सूत्र १।३।५—प्रकरण से भी उक्त तत्त्व के जीवत्व का समर्थन नहीं होता।

सूत्र १।३।६—उक्त प्रकरण के 'द्वा सुपर्णा सयुजा' वाक्य में द्युभ्वाद्यायतन परतत्त्व को यथावत् स्थित और जीव को सुख-दुःख-भोक्ता बताया गया है। इस प्रकार दोनों का भेद स्पष्ट है, अतः जीव को उक्त वाक्य में 'द्युभ्वाद्यायतन' रूप से प्रतिपादित नहीं माना जा सकता।

प्राप्त संकेत—

(१) वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म आकाश आदि सकल तत्त्वों का आयतन है (सू० १।३।१)।

(२) जीव और परतत्त्व परस्पर भिन्न हैं (सू० १।३।५-७)।

(३) नाम-रूप से विमुक्त होकर विद्वान् वेदान्ताभिमत 'परतत्त्व को प्राप्त करता है (सू० १।३।२)।

११—सूत्र १।३।७-८—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्य, सप्तम अध्याय।

मुख्यवाक्य—'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति स भूमा···'(छान्दोग्य ७।२४।१)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नहीं, भाष्यकारों ने प्रायः जीव माना है, जो उचित प्रतीत होता है।

भाष्यकार—सभी।

सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावकसूत्र १।३।७ (भूमा-सम्प्रसादादध्युपदेशात्) के द्वारा उक्त वाक्य में प्रतिपादित 'भूमा' को परतत्त्व ब्रह्म माना है। सूत्रकार ने उक्त साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत किया है, उसका अर्थ भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है।

रामानुज और बलदेव ने 'सम्प्रसाद' शब्द का अर्थ जीव माना है। निम्बार्क ने उक्त शब्द का अर्थ 'प्राण' माना है, किन्तु उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने प्राणविशिष्ट जीव माना है। मध्व ने 'सुखरूप' और वल्लभ ने 'सुषुप्ति' माना है। रामानुज और बलदेव के अनुसार उक्त हेतु का अर्थ है कि यतः 'भूमा' तत्त्व को जीव से पर या उत्कृष्ट रूप में उपदिष्ट किया गया है, अतः वह जीव नहीं, अपितु उससे पर या उत्कृष्ट तत्त्व अर्थात् ब्रह्म है। इसी प्रकार

निम्बार्क प्राण से पर और वल्लभ सुषुप्ति से पर या अधिक रूप में प्रतिपादित होने के कारण भूमा को ब्रह्म बताते हैं। मध्व उक्त हेतुपद में दो हेतु मान कर यह अर्थ करते हैं कि पूर्ण सुखरूप होने और सबसे ऊपर उपदिष्ट होने के कारण भूमा विष्णु है। मध्व द्वारा प्रस्तुत उक्त अर्थ के अनुसार सूत्र में 'च' और होना चाहिए, जोकि नहीं है, अतः 'सम्प्रसाद' से अधिक उपदेश के रूप में एक ही हेतु मानना उचित है, जैसा कि अन्य भाष्यकारों ने माना है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है,[1] सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत विधानात्मक हेतु प्रायः आपेक्षिक हैं और इसलिए उनका बल केवल इस बात पर निर्भर है कि उनके द्वारा यह प्रदर्शित कर दिया जावे कि सम्भावित या वास्तविक पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत तत्त्व में मीमांस्य प्रकरण में प्रतिपादित तत्त्व के सम्बन्ध में वर्णित विशेषताएँ संभव नहीं, अतः यहाँ वे 'सम्प्रसाद' को एक पूर्वपक्ष के समान दृष्टि में रखकर उससे अधिक भूमा को बताते हैं, जिससे यह सिद्ध हो सके कि 'सम्प्रसाद' भूमा नहीं। प्रस्तुत मीमांस्य प्रकरण में 'प्राण' से अधिक भूमा का उपदेश है, अतः स्पष्ट है कि सूत्रकार ने मीमांस्य प्रकरण के 'प्राण' को 'सम्प्रसाद' कहा है। 'सम्प्रसाद' शब्द श्रुतियों में जीव और सुषुप्ति, दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है,[2] किन्तु 'प्राण' शब्द के स्थान पर सूत्रकार ने उक्त शब्द का प्रयोग किया है, इससे स्पष्ट है कि उन्हें 'सम्प्रसाद' से जीव ही अभिप्रेत है, क्योंकि 'प्राण' को यथाकथंचित् जीववाचक मानना जितना उपयुक्त प्रतीत होता है उतना सुषुप्तिवाचक नहीं। इसके अतिरिक्त सुषुप्ति से उत्कृष्ट बताने पर भी भूमा के परमात्मत्व-प्रतिपादन में कोई युक्तियुक्त समर्थन प्राप्त नहीं होता। उक्त दृष्टि से विचार करने पर रामानुज और बलदेव द्वारा प्रस्तुत अर्थ ही अधिक उपयुक्त एवं सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

सू० १।३।८—भूमा के सम्बन्ध में वर्णित सभी धर्मों की उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि उसे परमात्मा माना जावे।

प्राप्त संकेत—

(१) परतत्त्व सधर्मक है (सू० १।३।८)।

(२) वह स्वरूपतः जीव नहीं, अपितु उससे भिन्न एक उत्कृष्ट तत्त्व है (१।३।७)।

---

१. पृष्ठ १४६।

२. छान्दोग्य ८।१२।३; बृहदारण्यक ४।३।१५।

(३) सब कुछ भूमा परतत्त्व है, उसकी अनुभूति में तद्व्यतिरिक्त अन्य कुछ न दृष्टिगोचर होता है और न श्रवणगोचर (१।३।७)।

१६—सूत्र १।३।६-११—

मीमांस्य प्रकरण—बृहदारण्यक ३।८।

मुख्यवाक्य—'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। स होवाच एतद्वै तदक्षरम्…' (बृहदारण्यक ३।८।१)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—अन्य भाव (प्रधान और जीव)।

भाष्यकार—सभी।

सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तावकसूत्र १।३।६ (अक्षरमम्बरान्तधृतेः) के द्वारा उक्त वाक्य में प्रतिपादित अक्षर को परतत्त्व ब्रह्म बताया है। रामानुज ने उक्त सूत्र में प्रस्तुत हेतु के 'अम्बरान्त' अंश से अम्बर अर्थात् आकाश के भी पारभूत अव्याकृत अचेतन तत्त्व को अभिप्रेत माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि निम्बार्क भी उक्त अर्थ ही लेते हैं, उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने स्पष्टतः रामानुज का अर्थ ही माना है।[1] अन्य भाष्यकारों ने साधारणतया आकाश को ही माना है। 'अम्बरान्त' शब्द का कुछ भी अर्थ लिया जावे, किन्तु सूत्रकार को इतना अभीष्ट होगा कि जगत् का जो अन्तिम ज्ञात आधार है, चाहे वह आकाश हो और चाहे उससे भी पर अव्याकृत अचेतन तत्त्व, उसका भी धारक अक्षर को बताया गया है, अतः उक्त अक्षर सर्वाधार परमात्मा ही हो सकता है।

सूत्र १।३।१०—उक्त सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उक्त अम्बरान्तधारण प्रशासनपूर्वक है, जो कि एक चेतन तत्त्व के लिए ही सम्भव है।

सूत्र १।३।११—उक्त सूत्र में रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने प्रधान और जीव का व्यावर्तन माना है। मध्व सामान्यतः अन्य वस्तुओं का व्यावर्तन मानते हैं। वल्लभ मीमांस्य प्रकरण के उपासनापरत्व का व्यावर्तन मानते हैं। वल्लभ का पक्ष तो उचित प्रतीत नहीं होता। तत्त्वों का ही व्यावर्तन मानना उचित है और मध्व के समान सामान्य रूप से सभी वस्तुओं की अपेक्षा प्रधान और जीव का निर्देश ही सूत्र में मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि सू० १।३।१० में अम्बरान्तधृति को प्रशासनपूर्वक बतलाने का यही तात्पर्य हो

---

१. उक्त सूत्र के निम्बार्कभाष्य पर श्रीनिवासाचार्य का व्याख्यान।

सकता है कि उक्त अक्षर सांख्याभिमत अचेतन प्रधान नहीं, क्योंकि प्रशासन अचेतन के द्वारा असंभव है। उसी के प्रसंग से सू० १।३।११ में 'अन्यभाव' से प्रधानादिभाव का तात्पर्य मान कर तदनुसार उक्त सूत्र का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि उक्त मीमांस्य प्रकरण में ऐसे लिंग सूचित होते हैं जिनसे उक्त अक्षर को प्रधान या जीव मानने की सम्भावना ही नहीं रहती।

प्राप्त संकेत—

(१) परतत्त्व ब्रह्म सर्वाधार है, चेतन है तथा प्रशासक है (सू० १।४।९-१०)।

१७—सूत्र १।३।१२—

मीमांस्य प्रकरण—प्रश्नोपनिषद्, पंचम प्रश्न।

मुख्यवाक्य—'स एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्रश्नोप० ५।५)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नहीं, भाष्यकारों ने प्रायः अण्डाधिपति 'ब्रह्मा' को माना है।

भाष्यकार—मध्व को छोड़ कर अन्य सभी।

रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने उक्त वाक्य को ही प्रस्तावकसूत्र १।३।१२ (ईक्षतिकर्म व्यपदेशात् सः) के द्वारा निर्दिष्ट माना है। वल्लभ ने उक्त वाक्य से पूर्व वाक्य 'परं पुरुषमभिध्यायीत' को माना है और तदनुसार उक्त सूत्र का भिन्न प्रकार से यह स्वरूप माना है—'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः'। जैसा कि पूर्व (पृ० १०९) में कहा जा चुका है, वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत स्वरूप के अनुसार सूत्र में अन्य विधिमुख प्रस्तावक सूत्रों के समान मीमांस्यश्रुतिवाक्यसूचक पक्षपद बना रहता है, अतः वही उपयुक्त प्रतीत होता है और तदनुसार उक्त वाक्य 'पुरुषमीक्षते' को ही मुख्यवाक्य मानना उचित प्रतीत होता है।

रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार अर्थ यह है कि उक्त वाक्य में प्रतिपादित ईक्षतिकर्म पुरुष परमात्मा है, क्योंकि उसके लिए परात्परत्व, शान्तत्व, अजरत्व, अमृतत्व, अभयत्व आदि परमात्मधर्मों का व्यपदेश किया गया है।

वल्लभ उक्त वाक्य में पहले से ही परमात्मा का प्रतिपादन निश्चित रूप से मान कर पूर्व सूत्र को इस रूप में हेतु बनाते हैं कि जब 'ईक्षतिकर्म' परमात्मा है तो पूर्ववाक्य में प्रतिपादित 'अभिध्यायतिकर्म' भी परमात्मा

ही होना चाहिए, क्योंकि 'अभिध्यायति' और 'ईक्षति' का कर्म समान ही होना उचित है। वल्लभ द्वारा प्रस्तुत समन्वय-प्रकार से भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, फिर भी उनकी अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत प्रकार अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

१८—सूत्र १।३।१३-२२—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्योपनिषद्, अष्टम अध्याय।

मुख्यवाक्य—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो ऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छान्दोग्य ८।१।१)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—जीव

भाष्यकार—सू० १।३।२० तक सभी भाष्यकार, आगे केवल रामानुज, निम्बार्क और बलदेव।

प्रस्तावकसूत्र १।३।१३ (दहर उत्तरेभ्यः) के द्वारा सब भाष्यकारों ने उक्त वाक्य में प्रतिपादित दहर को परमात्मा माना है। वल्लभ को छोड़कर अन्य सब भाष्यकारों ने 'उत्तरेभ्यः' हेतु के द्वारा मीमांस्य प्रकरण के उक्त मुख्य-वाक्य से परवर्ती वाक्यों में प्रतिपादित हेतु या धर्मों का निर्देश माना है, वल्लभ यह मानते हैं कि उसके द्वारा उक्त प्रस्तावकसूत्र से परवर्ती सूत्रों में प्रतिपादित हेतुओं का निर्देश है, किन्तु उनके अर्थ के अनुसार उक्त हेतु का अपना कुछ ऐसा प्रतिपाद्य ही नहीं रहता है जो अन्य सूत्रों के समान स्वतन्त्र रूप से साध्यसाधन में योग दे।

सूत्र १।३।१४—उक्त सूत्र में वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि उक्त मीमांस्य प्रकरण में जो 'दहर' के प्रति जीवों का सुषुप्ति-काल में गमन प्रतिपादित है तथा जो 'ब्रह्मलोक' शब्द का निर्देश है, वह दहर के परमात्मत्व को सूचित करता है। वल्लभ शांकरसिद्धान्त के खण्डन में भिन्न प्रकार से ही अर्थ प्रस्तुत करते हैं, जो कि सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता।

सूत्र १।३।१५—परमात्मा के सर्वधारकत्व रूप माहात्म्य का वर्णन दहर के विषय में किया गया है, जो दहर के परमात्मत्व को सिद्ध करता है।

सूत्र १।३।१६—परमात्मा में प्रसिद्ध आकाश शब्द का दहर के लिए निर्देश किया गया है, जिससे भी उक्त तथ्य की सिद्धि होती है। मध्व ने 'आकाश' के स्थान पर 'दहर' शब्द की प्रसिद्धि मानी है। उक्त दोनों ही प्रकार उचित प्रतीत होते हैं।

सूत्र १।३।१७—यदि यह कहा जावे कि उक्त प्रकरण में जीव का भी परामर्श किया गया है, अतः दहर जीव है, तो यह उचित नही, क्योंकि 'एष आत्मा अपहतपाप्मा' आदि धर्म उसमें असम्भव हैं।

सूत्र १।३।१८—यदि यह कहा जावे कि आगे प्रजापति-वाक्य में जीवों के भी 'एष आत्मा अपहतपाप्मा' आदि धर्म वर्णित हैं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में जीव के साधनविशेष से आविर्भूत होने वाले स्वरूप का वर्णन है और यहाँ दहरवाक्य में स्वाभाविक रूप से नित्याविर्भूत स्वरूप का वर्णन है, जिससे सिद्ध होता है कि उक्त दहर जीव नहीं, अपितु उससे भिन्न परमात्मा है। वल्लभ ने उक्त सूत्र का यह अर्थ किया है कि प्रजापति को ब्रह्म का आविर्भाव हो गया, उन्होंने इन्द्र में भी परमात्मा के आविर्भूत स्वरूप को देखा, अतः ऐसा वर्णन कर दिया; किन्तु यह पूर्वसूत्रों के प्रसंग तथा श्रुतिप्रकरण के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। प्रजापति-वाक्य में स्पष्टतः जीव के ही स्वरूप का वर्णन है और तदनुसार अन्य भाष्यकारों ने जो उपपत्ति के दी है, वह सूत्रानुकूल प्रतीत होती है।

सूत्र १।३।१९—प्रस्तुत मीमांस्य प्रकरण में जीव का परामर्श अन्य उद्देश्य से किया गया है, वह यहाँ प्रतिपाद्य नहीं। इस उद्देश्य को भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट किया है।

सूत्र १।३।२०—यदि यह कहा जावे कि दहर को अल्पपरिमाण प्रतिपादित किया गया है जो कि महान् परमात्मा के लिए सम्भव नहीं, तो इसका उत्तर दिया जा चुका है कि उपासना के लिए वह हृदय में अवस्थित है, अतः उसका अल्पव्यपदेश किया जाता है (सू० १।२७)।

सूत्र १।३।२१-२२—दहराकाश के विषय में वर्णित 'एष आत्मा अपहतपाप्मा' स्वरूप मुख्यतः परमात्मा का ही स्वरूप है। विमुक्त जीव का उक्त स्वरूप तो उसी की अनुकृति है, अतः उक्त स्वरूप के आधार पर दहराकाश को परमात्मा ही मानना चाहिए, न कि जीव। स्मृति में भी विमुक्त जीव की ब्रह्मानुकृति या ब्रह्मसाम्य का वर्णन है।

प्राप्त संकेत—

(१) परतत्त्व ब्रह्म और जीव का भेद है (सू० १।३।१४, १७-२२)।
(२) विमुक्त जीव ब्रह्मसाम्य प्राप्त करता है (सू० १।३।२१-२२)।

१९—सूत्र १।३।२३-४०—

मीमांस्य प्रकरण—कठोपनिषद्, द्वितीय अध्याय।

मुख्यवाक्य—'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः···ईशानो भूतभव्यस्य···' (कठोप० २।४।१२)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नही, भाष्यकारों में प्रायः जीव माना है।

भाष्यकार—सभी।

मध्व को छोड़ कर सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त वाक्य में प्रतिपादित अंगुष्ठमात्र पुरुष परतत्त्व ब्रह्म है, क्योंकि उक्त प्रकरण में 'ईशानो भूतभव्यस्य', यह परमात्मा का साक्षात् प्रतिपादक शब्द है। मध्व उक्त वाक्य के स्थान पर 'मध्ये वामनमासीनम्' वाक्य को मानते हैं और कहते हैं कि 'वामन' शब्द के कारण उक्त वाक्य में प्रतिपादित तत्त्व विष्णु है, किन्तु, जैसा कि पूर्व में कहा गया है[1], मध्व द्वारा स्वीकृत वाक्य सूत्रानुकूल नहीं और उन्होंने जिस 'वामन' को पक्ष बनाया, उसी को हेतु बना दिया है, यह प्रकार भी युक्तियुक्त नहीं।

सू० १।३।२४—मनुष्य का उपासना में अधिकार है, उसका हृदय अंगुष्ठमात्र है, अतः उपास्य रूप से मनुष्यहृदय में अवस्थित होने के कारण परमात्मा भी 'अंगुष्ठमात्र' रूप में वर्णित है।

सू० १।३।२५-३९—उक्त सूत्रों में पूर्वसूत्र (१।३।२४) में निर्दिष्ट मनुष्यों के उपासनाधिकार के प्रसंग से इस विषय का निर्णय किया गया है कि देवों और शूद्रों का भी उपासना में अधिकार है या नहीं, जिस पर विचार आगे होगा[2]।

सू० १।३।४०—उक्त अंगुष्ठमात्र पुरुष से सब किसी के कम्पित और भयभीत होने का उक्त प्रकरण में वर्णन है, जिससे सिद्ध होता है कि वह परमेश्वर है।

प्राप्त संकेत—

(१) वेदान्ताभिमत परतत्त्व स्वरूपतः सर्वेश्वर है (सू० १।३।२३,४०)।

(२) वह उपासना के लिए हृदय में अंगुष्ठमात्र रूप से भी स्थित है (स० १।३।२३, २४)।

२०—सूत्र १।३।४१—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्योपनिषद्, अष्टम अध्याय।

---

१. पृ० १०९–११०।

२. 'ब्रह्मसूत्रों के अन्य विविध विषय' शीर्षक अध्याय।

मुख्यवाक्य—'एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुप-सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छान्दोग्य ८।१२।३)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नहीं, वल्लभ ने महाभूत अग्नि को माना है।

भाष्यकार—केवल वल्लभ।

वल्लभ ने उक्त सूत्र का यह अर्थ प्रस्तुत किया है कि उक्त ज्योति परमात्मा है, क्योंकि सम्प्रसाद अर्थात् सुषुप्ति में अवस्थित जीव की ब्रह्म-सम्पत्ति ही श्रुतियों में वर्णित है। उक्त अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उक्त वाक्य में सुषुप्ति की चर्चा नहीं, अपितु शरीर-परित्याग के बाद मुक्त जीव की ब्रह्म-सम्पत्ति की चर्चा है। सूत्र का उचित अर्थ यही प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में दर्शन अर्थात् स्पष्टतः ऐसा वर्णन है जिससे 'ज्योतिः' का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है अर्थात् 'ज्योतिः' की उपसम्पत्ति होने पर जीव के स्वरूपाविर्भाव के वर्णन से उस (ज्योतिः) का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है। उक्त अर्थ के अनुसार 'दर्शन' एक लिंग हुआ, यदि उसे 'श्रुति' के रूप में ही लेना हो तो यह अर्थ होगा कि उक्त 'ज्योतिः' का 'परम्' विशेषण ही उसके 'ब्रह्मत्व' का स्पष्ट प्रकाशक है।

प्राप्त संकेत—

(१) विद्वान् शरीरपरित्याग कर परतत्त्व से सम्पन्न होता है अर्थात् उसे प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप आविर्भूतस्वरूप होता है (सू० १।३।४१)।

२१—सूत्र १।३।४२-४४—

मीमांस्य प्रकरण—छान्दोग्योपनिषद्, अष्टम अध्याय।

मुख्यवाक्य—'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छान्दोग्य ८।१४।१)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—कोई नहीं, प्रतीयमान जीव है।

भाष्यकार—सू० १।३।४२ में सभी भाष्यकार, आगे सू० १।३।४३,४४ में केवल रामानुज, निम्बार्क और बलदेव।

सूत्र १।३।४२-४४—सू० १।३।४२ के द्वारा सभी भाष्यकार यह प्रतिपादित करते हैं कि उक्त वाक्य में वर्णित आकाश परतत्त्व ब्रह्म है। उक्त सूत्र के हेतुपद 'अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' का वे भिन्न-भिन्न रूप से अर्थ करते हैं। रामानुज ने पूर्वपक्ष में जीव माना है और तदनुसार यह अर्थ किया है कि जीव से अर्थान्तरत्व आदि का उक्त आकाश के सम्बन्ध में व्यपदेश

होने से वह जीव नहीं, अपितु परतत्त्व ब्रह्म है, क्योंकि जीव निर्वाह्यनामरूप है और आकाश नामरूपनिर्वाहक है, अतः स्पष्टतः वह जीव से अर्थान्तर है। निम्बार्क और बलदेव ने भी रामानुज का अनुगमन किया है। मध्व और वल्लभ ने पूर्वपक्ष में भूताकाश को माना है और तदनुसार उससे उक्त 'आकाश' का अर्थान्तरत्व प्रतिपादित किया है। सू० १।३।४३ में स्पष्टतः जीव से ब्रह्म का भेद अन्य श्रुति के आधार पर प्रदर्शित किया गया है कि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में, जो कि नामरूप-निर्वहण के प्रमुख अवसर हैं, परमात्मा को जीव से भिन्न ही वर्णित किया गया है और सू० १।३।४४ में यह प्रतिपादित किया गया है कि श्रुतियों में परमात्मा को पति आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। उक्त दोनों सूत्रों (१।३।४३-४४) को हेतु रूप में इस प्रकार प्रयुक्त किया गया है कि जीव से परमात्मा का भेद प्रतिपादित है, इससे यही प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में सूत्रकार को जीवसम्बन्धी पूर्वपक्ष अभीष्ट है और सू० १।३।७ के समान वे जीव से अर्थान्तरत्व के व्यपदेश के आधार पर उक्त आकाश को परमात्मा सिद्ध कर रहे हैं। इस प्रकार मध्व और वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का पक्ष अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

प्राप्त संकेत—

(१) परतत्त्व ब्रह्म नामरूपनिर्वाहक है और जीव से भिन्न है। (सू० १।३।४२-४४)।

चतुर्थ पाद

पूर्व के तीन पादों में सूत्रकार ने विभिन्न श्रुतिवाक्यों का ब्रह्मपरक समन्वय किया, किन्तु प्रस्तुत पाद में उन्होंने केवल ऐसे वाक्यों पर विचार किया है जिनके प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में सांख्य का पूर्वपक्ष है और इसीलिए इस पाद में श्रुतिवाक्यों की मीमांसा-प्रस्तावना का स्वरूप निषेधमुख है।

२२—सूत्र १।४।१-७—

मीमांस्य प्रकरण—कठोपनिषद् १।३।

मुख्यवाक्य—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
(कठ० १।३।१०, ११)

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य के 'अव्यक्त' शब्द से सांख्याभिमत प्रधान का अभिधेयत्व।

भाष्यकार—सभी।

सभी भाष्यकारों ने उक्त वाक्य के 'अव्यक्त' शब्द से सांख्याभिमत प्रधान के अभिधेयत्व का निराकरण सूत्र १।४।१ के द्वारा प्रस्तुत माना है। उक्त सूत्र में प्रस्तुत हेतु का भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ प्रस्तुत किया है। रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार उक्त हेतु का अर्थ यह है कि उक्त 'अव्यक्त' शब्द से 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु' (कठ १।३।३-४) आदि वाक्य में वर्णित रूपक में विन्यस्त 'शरीर' का अभिधान है, सांख्याभिमत प्रधान का नहीं। मध्व ने यह अर्थ प्रस्तुत किया है कि 'अव्यक्त' शब्द मुख्यतः परमात्मा का ही वाचक है, किन्तु उसके अधीन एवं उसके शरीर होने से अन्य पदार्थ को भी अव्यक्त कह सकते हैं, अतः उक्त वाक्य में तदधीन एवं तच्छरीर रूप अव्यक्त (प्रधान) में स्थित परमात्मा का ही अव्यक्त शब्द से अभिधान है। इस प्रकार मध्व ने उक्त सूत्र में प्रस्तुत समस्या का रूप बदल कर यह कहना प्रारंभ कर दिया है कि अव्यक्त आदि सब शब्द परमात्मा के वाचक हैं; किन्तु उक्त वाक्य में परमात्मवाचक अव्यक्त शब्द का तदधीन एवं तच्छरीर रूप 'अव्यक्त' (प्रधान) में प्रयोग मान कर उन्होंने एक प्रकार से सांख्याभिमत पूर्वपक्ष का ही समर्थन कर दिया है कि उक्त वाक्य में 'अव्यक्त' शब्द से अभियेय तत्त्व प्रधान ही है, किन्तु उसका 'अव्यक्त' नाम अपना नहीं, परमात्मा से उधार लिया हुआ है। वल्लभ ने यह अर्थ किया है कि उक्त वाक्य में रूपकभाव से विन्यस्त शरीर, इन्द्रिय आदि का ही ग्रहण है, सांख्याभिमत पदार्थों का नहीं, किन्तु उन्होंने उक्त वाक्य के 'आत्मा महान्' का अर्थ 'ब्रह्मविषयक विज्ञान' और 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ 'भगवत्कृपा' किया है, जो स्पष्टतः सूत्र और उक्त वाक्य के प्रतिकूल है और आगे सू० १।४।३ में स्वयं उनको ही उक्त अर्थ छोड़ना पड़ा है। इस प्रकार रामानुज, निम्बार्क और बलदेव द्वारा प्रस्तुत अर्थ ही अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य के 'अव्यक्त' शब्द से रथरूपक-विन्यस्त 'शरीर' का ग्रहण है।

सूत्र १।४।२—रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार उक्त सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि उक्त वाक्य में व्यक्त शरीर को उसके उपादान 'भूतसूक्ष्म' की दृष्टि से 'अव्यक्त' कहा गया है, क्योंकि अव्यक्त भूतसूक्ष्म ही व्यक्त शरीर का रूप लेता है। मध्व और वल्लभ ने पूर्वसूत्र (१।४।१) में अपने द्वारा स्वीकृत प्रतिपाद्यों की उपपत्ति दी है, जो तत्समान ही उपेक्षणीय है।

सूत्र १।४।३—रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने उक्त सूत्र में यह

कल्प उठाया है कि यदि अव्यक्त भूतसूक्ष्म को मान लिया तो सांख्याभिमत प्रधान से क्या द्वेष है ? इसके उत्तर में उक्त भाष्यकारों ने कहा है कि सांख्याभिमत प्रधान स्वतन्त्र होने के कारण व्यर्थ है, किन्तु उक्त अव्यक्त भूतसूक्ष्म ब्रह्माधीन होने के कारण अर्थवत् है। एक प्रकार से उक्त भाष्यकारों की प्रवृत्ति सांख्याभिमत प्रधान को केवल इस संशोधन के साथ यथावत् स्वीकार कर लेने की है कि उसे ब्रह्मात्मक एवं ब्रह्माधीन माना जावे; किन्तु यह सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने उक्त सूत्र (१।४।२) में अव्यक्त भूतसूक्ष्म की सत्ता अवश्य स्वीकार की है, किन्तु उसे स्वरूपतः सांख्याभिमत प्रधान मानना उन के सिद्धान्त के स्पष्टतः प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त उक्त सूत्र का वह अर्थ भी उचित प्रतीत नहीं होता, जो उक्त भाष्यकारों ने माना है। उसके 'तद्' शब्द से परमात्मा की अपेक्षा पूर्वसूत्र (१।४।२) में निर्दिष्ट 'भूतसूक्ष्म' का ही परापर्श मानना उचित है और तदनुसार यह अर्थ सूत्रानुकूल प्रतीत होता है कि जिस प्रकार इन्द्रिय-प्रवृत्ति के अर्थाधीन होने से अर्थों को उक्त वाक्य में इन्द्रियों से पर बताया है, उसी प्रकार बद्धावस्था में जीव या उसकी प्रवृत्ति के भूतसूक्ष्म या शरीर के अधीन होने के कारण अव्यक्त भूतसूक्ष्म को जीव से पर बताया गया है। मध्व द्वारा प्रस्तुत अर्थ उनके द्वारा स्वीकृत पूर्वप्रसंग के अनुसार है, जो कि विचारणीय प्रतीत नहीं होता। वल्लभ ने यहाँ 'अव्यक्त' शब्द का भगवत्कृपा अर्थ छोड़कर 'अक्षरब्रह्म' अर्थ किया है। उनका कहना है सच्चिद्रूप अक्षरब्रह्म साधन है, यही ब्रह्मविज्ञान का विषय है, अतः उक्त वाक्य में 'आत्मा महान्' से अभिहित ब्रह्मविज्ञान के विषयाधीन अर्थात् अक्षरब्रह्म के अधीन होने के कारण उक्त विज्ञान से अक्षरब्रह्म को पर बताया है और अक्षरब्रह्म से पुरुष-पद-वाच्य पुरुषोत्तम इस दृष्टि पर है कि प्रथम किंचित्तिरोहितानन्द एवं साधन है और द्वितीय पूर्णप्रकटानन्द एवं फल है। वल्लभ द्वारा प्रस्तुत उक्त अर्थ का सूत्रों से कोई समर्थन नहीं होता। सूत्र १।।४।१ के अनुसार रूपक-विन्यस्त पदार्थों का उक्त वाक्य में ग्रहण मानने पर 'अव्यक्त' शब्द से उपादान 'भूतसूक्ष्म' का ग्रहण करना ही सू० १।४।२ के अधिक अनुकूल है। इसके विपरीत यदि वल्लभ के अनुसार उक्त 'अव्यक्त' का अर्थ अक्षरब्रह्म मान लिया जावे, जिसे कि वे विज्ञान का विषय या ज्ञेय बताते हैं, तो सू० १।४।४ की संगति नहीं लग सकती, क्योंकि उक्त सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि 'अव्यक्त' को उक्त प्रकरण में ज्ञेय नहीं बताया गया और वल्लभ के

अनुसार उसे ज्ञेय मानना पड़ेगा। वस्तुतः, जैसा कि सूत्र १।२।२२-२४ में देखा जा चुका है, सूत्रकार अक्षर और पुरुष में कोई भेद नहीं मानते, एक ही परतत्त्व के आकाश, प्राण और ब्रह्म आदि की तरह ये भी केवल नाममात्र हैं।

सू० १।४।४—मध्व को छोड़कर सब भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि यदि उक्त वाक्य में 'अव्यक्त' शब्द से सांख्याभिमत प्रधान का अभिधान होता तो उसे ज्ञेय बताया जाता। मध्व का अर्थ सूत्रानुकूल नहीं।

सूत्र १।४।५—यदि यह कहा जावे कि उक्त प्रकरण के 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' वाक्य में अव्यक्त-पद-वाच्य प्रधान को ज्ञेय बताया गया है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरण से इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि उक्त वाक्य में ज्ञेयत्व रूप से परमात्मा का ही वर्णन है।

सूत्र १।४।६—उक्त प्रकरण में केवल तीन पदार्थों के सम्बन्ध में जिज्ञासा और उसका समाधान है, जिनमें 'प्रधान' नहीं। उक्त तीन पदार्थ भाष्यकारों ने कुछ भिन्न-भिन्न माने हैं, किन्तु सबके अनुसार उनमें 'परमात्मा' का ग्रहण है, और 'प्रधान' का नहीं।

सू० १।४।७—मध्व और वल्लभ छोड़ कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र का अर्थ है कि जिस प्रकार उक्त वाक्य में ही 'महान्' शब्द सांख्याभिमत 'महत्' का वाचक न होकर 'आत्मा' का विशेषण है, उसी प्रकार उक्त 'अव्यक्त' शब्द से प्रधान का अभिधान नहीं। मध्व ने अर्थ किया है कि जिस प्रकार 'महत्' शब्द 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' में ब्रह्मपर है, उसी प्रकार 'अव्यक्त' शब्द भी अक्षर का वाचक है, किन्तु मध्व और वल्लभ द्वारा प्रस्तुत उक्त दोनों अर्थ प्रसंग और सूत्रों के अनुकूल प्रतीत नहीं होते। सूत्र का प्रतिपाद्य उतना ही है जो कि अन्य भाष्यकारों ने प्रकट किया है।

प्राप्त संकेत—

(१) सूत्रकार भूतसूक्ष्म को मानते हैं (सू० १।४।२)।

२३—१।४।८-१०—

मीमांस्य प्रकरण—तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् ११।

मुख्यवाक्य—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्······' (तैत्तिरीय नारा० उप० १२।१)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपाद्यत्व।

भाष्यकार--मध्व को छोड़ कर अन्य सभी।

सू० १।४।८ के द्वारा उक्त सभी भाष्यकारों के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि उक्त वाक्य में सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन नहीं, क्योंकि उसमें ऐसा कोई विशेष संकेत नहीं कि जिससे उसमें प्रधान का ग्रहण किया जावे, उसमें एक सामान्य निर्देश है और इसलिए जिस प्रकार 'अर्वाग् बिलश्चमसः' (बृहदा० २।२।३) वाक्य के पात्रवाचक सामान्य 'चमस' शब्द को वाक्यशेष से शिरोवाचक माना जाता है, उसी प्रकार उक्त वाक्य में भी प्रधानातिरिक्त तत्त्व के प्रतिपादन का निश्चय होता हैं।

सू० १।४।६—उक्त सूत्र में उक्त सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने उक्त वाक्य में प्रतिपादित स्वाभिमत तत्त्व का निर्देश किया है, किन्तु उस निर्देश को भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से लिया है। रामानुज, निम्बार्क, और बलदेव ने उक्त सूत्र के 'ज्योतिरुपक्रमा' का अर्थ 'ब्रह्मकारणिका' किया है और तदनुसार उक्त वाक्य में प्रतिपादित 'अजा' को इस संशोधन के साथ सांख्याभिमत त्रिगुणमयी प्रकृति माना है कि यह सांख्य के समान स्वतन्त्र नहीं, अपितु ब्रह्मकारणिका एवं ब्रह्माधीना है। वल्लभ ने यह अर्थ किया है कि उक्त 'अजा' छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक में वर्णित 'सत्' से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली 'ज्योतिः' अर्थात् अग्नि देवता है। उक्त दोनों अर्थों में से कोई भी सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार केवल रामानुज आदि के द्वारा प्रस्तुत संशोधन के साथ सांख्याभिमत प्रधान को मान लेंगे, यह कथमपि स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होता। दूसरे, मीमांस्य वाक्यों में वर्णित 'ज्योतिः' को सूत्र १।१।२५; १।३।२१; १।३।४१ में ब्रह्म मानते हुए भी सूत्रकार ने अपनी ओर से ब्रह्म के लिए 'ज्योतिः' शब्द का प्रयोग सूत्रों में कहीं नहीं किया; ब्रह्म के लिए उन्होंने केवल सत्, पर और प्राज्ञ शब्दों का प्रयोग किया है और 'ज्योतिः' शब्द का प्रयोग 'अग्नि' के लिए ही किया है (सू० २।३।४७; २।३।१३)। रामानुज आदि भाष्यकार ऐसे किसी वाक्य को प्रस्तुत नहीं कर सके जिसमें 'ज्योतिः' शब्द से ब्रह्म का निर्देश कर तदुपक्रम 'अजा' का वर्णन किया गया हो, जिससे कि यह माना जा सके कि उस वाक्य को विशिष्ट रूप से सूचित करने के लिए 'ज्योति' शब्द का प्रयोग सूत्रकार ने किया होगा। वल्लभ ने उक्त सूत्र का पाठ 'ज्योतिरुपक्रमात्तु०' कर दिया है, जो कि सर्वसम्मत नहीं, फिर भी 'उपक्रमात्' हेतु को वे सफलता के साथ साधक नहीं बना सके। वस्तुतः सूत्र का पाठ 'ज्योतिरुपक्रमा०' ही होना चाहिए, जैसा कि मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी शंकर आदि ब्रह्मसूत्र-भाष्यकारों ने माना है, वह 'अजा'

स्त्रीलिंग के अनुकूल भी है और इस प्रकार केवल 'अग्नि' को मानना ठीक नहीं। वस्तुतः यही प्रतीत होता है कि सूत्रकार 'तथा ह्यधीयत एके' के द्वारा छान्दोग्य (६।४) का निर्देश करते हुए लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्णों की उपपत्ति प्रदर्शित कर 'ज्योतिरुपक्रमा' से ज्योतिरादिका तेजोबन्नस्वरूपा तत्त्वसमष्टि का निर्देश कर रहे हैं।

सू० १।४।१०—उक्त सूत्र में उक्त सभी भाष्यकारों ने इसकी उपपत्ति दी हुई मानी है कि प्रस्तुत वाक्य में प्रतिपादित तत्त्व को अजा क्यों कहा गया, किन्तु जो भी अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं, वे विशेष सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होते। सूत्र का भाव इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि केवल कल्पनोपदेश है। यदि उक्त अजा को तेजोबन्नस्वरूपा तत्त्वसमष्टि माना जाता है, जो कि मानना चाहिए, तो वस्तुतः वह अज या अनुत्पन्न नहीं, किसी कल्पना से ही उसे 'अजा' कहा गया है।

प्राप्त संकेत—

(१) भूतों की सत्ता को सूत्रकार मानते हैं (सू० १।४।६)।

२४—सू० १।४।११-१३—

मीमांस्य प्रकरण—बृहदारण्यक ४।४।

मुख्यवाक्य—यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेवंमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्।
(बृहदा० ४।४।१७)

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में सांख्याभिमत तत्त्वों का प्रतिपाद्यत्व।

भाष्यकार—सभी

प्रस्तावकसूत्र १।४।११ का प्रतिपाद्य मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार यह है कि उक्त वाक्य में 'पंच पंचजनाः' संख्या के निर्देश से सांख्याभिमत २५ तत्त्वों का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त वाक्य में प्रतिपादित तत्त्व सांख्याभिमत प्रक्रिया से पृथक् हैं। सांख्यानुसार पांच-पांच तत्त्वों के न तो पांच वर्ग माने जाते हैं और न यहाँ वस्तुतः पांच-पांच तत्त्वों के पांच वर्गों का निर्देश ही है। इसके अतिरिक्त 'पंचजन' से अधिक तत्त्व आकाश और आत्मा भी वर्णित है, जिससे स्पष्टतः सूचित होता है कि यहाँ सांख्यप्रक्रिया के अनुसार तत्त्वों का परिसंख्यान नहीं है।

मध्व ने सांख्य का निराकरण न मानकर यह कहा है कि उक्त वाक्य में

बहुसंख्योपसंग्रह से भी परमात्मा के सर्वशब्दवाच्यत्व में कोई विरोध नहीं आता। मध्व के अर्थ से क्या तात्पर्य सिद्ध हुआ और सूत्र तथा श्रुतिवाक्य से उसकी क्या संगति है, इसे वे ही समझें !

सूत्र १।४।१२-१३—उक्त सूत्रों के द्वारा उक्त पंचजनों को स्पष्ट किया गया है कि वे उक्त वाक्य के शेष में वर्णित प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्न, ये पांच पदार्थ हैं और जिस शाखा में अन्न का परिगणन नहीं है, उसमें 'ज्योतिः से संख्या पूर्ण होती है।

२५—सूत्र १।४।१४-१५—

मीमांस्य प्रकरण एवं मुख्य वाक्य—जगत्कारणवादी सभी प्रकरण एवं वाक्य।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—सांख्याभिमत सिद्धान्त।

भाष्यकार—मध्व को छोड़ कर अन्य सभी।

उक्त सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्रों में यह प्रतिपादित किया है कि भले ही कहीं आकाशादिक सृष्टि का वर्णन है, कहीं तेज से प्रारंभ है, और कहीं जल आदि से, किन्तु जहाँ तक मूलकारण का सम्बन्ध है, वह सर्वत्र वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म ही है, सांख्याभिमत प्रधान नहीं; और इसी प्रकार मूलकारण को चाहे 'सत्' कहा गया हो और चाहे 'असत्', 'अव्याकृत' आदि शब्दों से उसे निर्दिष्ट किया गया हो, सर्वत्र एक ही वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म प्रतिपादित है।

२६—सूत्र १।४।१६-१८—

मीमांस्य प्रकरण—कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्, अध्याय ४।

मुख्यवाक्य—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वेदितव्यः' (कौषी० ४।१८)

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में सांख्याभिमत पुरुष का वेदितव्यत्व।

भाष्यकार—मध्व को छोड़कर अन्य सभी।

प्रस्तावकसूत्र १।४।१६ के द्वारा उक्त सभी भाष्यकारों के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि उक्त वाक्य में वेदितव्य रूप से प्रतिपादित तत्त्व सांख्याभिमत पुरुष नहीं, अपितु वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में प्रतिपादित जगत्कारणत्व सांख्याभिमत पुरुष में सम्भव नहीं, वह तो परतत्त्व ब्रह्म का ही असाधारण लिंग है, स्वयं सांख्य ही स्वाभिमत पुरुष को जगत्कारण नहीं मानता।

सू० १।४।१७—यदि यह कहा जावे कि उक्त प्रकरण में जीव और मुख्यप्राण के लिंग भी सूचित होते हैं, तो इसका उत्तर दिया चुका है (सू० १।१।३२)।

सू० १।४।१८—जैमिनि का मत है कि उक्त प्रकरण के प्रश्न और उत्तर से यह सिद्ध है कि उसमें जीव और मुख्यप्राण का वर्णन उनके ब्रह्मा-धारत्व का प्रतिपादन करने के लिए है।

२७--सूत्र १।४।१९-२२--

मीमांस्य प्रकरण—बृहदारण्यक ४।५।

मुख्यवाक्य--आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृहदा० ४।५।६)।

सूत्रनिर्दिष्ट पूर्वपक्ष—उक्त वाक्य में सांख्याभिमत पुरुष का द्रष्टव्यत्व।

भाष्यकार--मध्व को छोड़ कर अन्य सभी।

उक्त सभी भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तावकसूत्र १।४।१९ के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि उक्त वाक्य में द्रष्टव्यत्व आदि रूप से प्रतिपादित आत्मा वेदान्तभिमत परतत्त्व ब्रह्म है, क्योंकि उक्त प्रकरण के वाक्यों का समन्वय करने से उक्त तथ्य की ही सिद्धि होती है।

सू० १।४।२०-२२—उक्त तीन सूत्रों में तीन विभिन्न आचार्यों—आश्मरथ्य, औडुलोमि और काशकृत्स्न—के मतों का निर्देश इस विषय के सम्बन्ध में है कि जब उक्त वाक्य में द्रष्टव्यत्व रूप से प्रतिपादित आत्मा परमात्मा है, तो उक्त प्रकरण के उपक्रम में सांसारिक-सम्बन्ध-विशिष्ट जीवात्मा के निर्देश की उपपत्ति कैसे लगेगी? भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उक्त मतों को प्रकट किया है। उक्त आचार्यों में से प्रथम दो का मत तो स्पष्ट प्रतीत होता है और बहुमत से स्वीकृत है कि आश्मरथ्य जीव को परमात्मा का कार्य मान कर उक्त निर्देश को 'एक विज्ञान से सर्वविज्ञान', इस प्रतिज्ञा की सिद्धि का लिंग मानते हैं और औडुलोमि संभवतः जीव को परमात्मा का औपाधिक स्वरूप मानकर उक्त निर्देश को इस तथ्य का सूचक मानते हैं कि मुक्त जीव अपने वास्तविक परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। काशकृत्स्न के मत के सम्बन्ध में विवाद है, रामानुज और निम्बार्क के अनुसार उनका यह मत है कि परमात्मा स्वनियम्य जीव में अन्तरात्मा रूप से अवस्थित है, अतः जीवात्मवाचक शब्द का पर्यवसान परमात्मा में होने के कारण जीवात्मवाचक शब्द से प्रकरण के उपक्रम में परमात्मा का ही

अभिधान है। वल्लभ के अनुसार उक्त आचार्य का मत यह है कि परमात्मा ही जीवभाव से अवस्थित है, अतः संसार-दशा में भी जीव ब्रह्म ही है, बलदेव उक्त प्रकार से विचार न कर प्रकरण के अन्य वाक्य की उपपत्ति पर काशकृत्स्न के मत से विचार करते हैं। काशकृत्स्न का वस्तुतः क्या मत है, यह सूत्र से पता नहीं चलता। 'अवस्थिति' का अर्थ अवस्था भी हो सकता है, किन्तु सूत्रकार ने सूत्र १।२।१८ में 'अनवस्थिति' शब्द का प्रयोग 'स्थित्यभाव' के अर्थ में किया है, उससे 'अवस्थिति' का अर्थ 'स्थिति' भी सिद्ध होता है और तदनुसार 'जीव में परमात्मा की स्थिति होने के कारण' भी अर्थ हो सकता है। उक्त आचार्यों का कुछ भी मत हो, किन्तु सूत्रकार का तो यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' वाक्य में द्रष्टव्यत्व रूप से प्रतिपादित 'आत्मा' वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म है, सांख्याभिमत पुरुष नहीं।

उक्त दो प्रकरणों में वेदान्ताभिमत परतत्त्व को ही ज्ञेय और द्रष्टव्य अर्थात् परमपुरुषार्थ बता कर श्रुतिवाक्य-समन्वय का उपसंहार किया गया है।

उपसंहार—पूर्व पृष्ठों में सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय में विभिन्न भाष्यकारों द्वारा दिए हुए सहयोग का संक्षेप में परिचय प्राप्त किया गया। भाष्यकारों ने समन्वय के प्रसंग में विभिन्न श्रुतियों के जो अपूर्व अर्थ किए हैं तथा साथ में अपनी विशिष्ट सैद्धान्तिक मान्यताएँ प्रकट करते हुए वक्तव्य दिए हैं, उनकी उपेक्षा कर केवल यही देखने का प्रयत्न किया कि वे समन्वयसूत्रों का अर्थ करते हुए किस प्रकार सूत्रकार के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। सूत्रार्थ के सम्बन्ध में भी सामान्य भेदों की उपेक्षा कर दी गई है, केवल उन्हीं मतभेदों को देखा गया है, जो सिद्धान्त या समन्वय की दृष्टि से महत्त्व रखते हैं।

श्रुतिवाक्य-समन्वय में सिद्धान्त और समन्वय की दृष्टि से मध्व ने सूत्रकार को सबसे कम सहयोग दिया है। पहले तो उन्होंने २७ प्रकरणों के स्थान पर केवल १६ प्रकरण ही सूत्रानुकूल ग्रहण किए हैं और इस प्रकार ११ प्रकरणों के समन्वय में उनका कोई भी सहयोग नहीं। जिन १६ प्रकरणों का भी उन्होंने समन्वय किया है उनमें न तो सूत्रकार के इस सिद्धान्त का अनुगमन किया गया है कि वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म में उनका समन्वय करना है और तदनुसार मीमांस्य श्रुतिवाक्यों में सूचित लिंगों की उपपत्ति उस में प्रदर्शित करनी है, और फलतः न समन्वय के इस उद्देश्य पर ध्यान दिया गया है कि श्रुतिवाक्यों का परतत्त्व ब्रह्म में समन्वय प्रदर्शित करने के साथ वास्तविक पूर्वपक्षों द्वारा स्वीकृत तत्त्वों में श्रुतिवाक्यों के समन्वित होने

की असम्भावना या अनुपपत्ति प्रदर्शित की जावे। मध्व ने अपने इष्टदेव विष्णु में समन्वय प्रदर्शित किया है, जिसके कि कुछ विशिष्ट लिंग हैं जो मीमांस्य प्रकरणों में नहीं मिलते, अतः उन्होंने समन्वय-सूत्रों के द्वारा निर्दिष्ट वाक्यों की उपेक्षा कर कहीं से श्रुतियों को उद्धृत किया है और उनके समर्थन में पुराण-वाक्यों को प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार वास्तविक मीमांस्य प्रकरणों का समन्वय न होकर उनके द्वारा उद्धृत श्रुतियों का ही विष्णु में समन्वय होता है और इस प्रकार सूत्रों से सम्बन्ध ही विच्छिन्न हो जाता है। पूर्वपक्षों की दृष्टि से देखा जावे तो उन्होंने प्रमुख पूर्वपक्ष सांख्य की उपेक्षा ही की है, उसके स्थान पर प्रायः शैवों या अन्य देवोपासकों को उपस्थित किया है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत समन्वय पूर्ण रूप से साम्प्रदायिक हो गया है। यदि उक्त तथ्य की उपेक्षा कर उनकी समन्वय-शैली को देखा जावे तो यद्यपि कुछ सूत्रों का उन्होंने बहुत उपयुक्त अर्थ प्रस्तुत कर मीमांस्य प्रकरण का युक्तियुक्त समन्वय किया है किन्तु अन्यत्र उनके समन्वयप्रकार से निराशा ही होती है। सूत्रों में प्रस्तुत हेतुओं का वे युक्तियुक्त रीति से उपयोग नहीं कर सके हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत अर्थ से प्रबल हेतु भी बहुत निर्बल हो जाता है। हेतु की उपपत्ति दिखाने की अपेक्षा वे यह कह कर अवकाश ग्रहण कर लेते हैं कि सब शब्द ब्रह्म या विष्णु के वाचक हैं। ऐसा करने से वे सूत्रकार की तो किंचिन्मात्र भी सहायता कर नहीं पाते, कभी-कभी उनके सिद्धान्त के विपरीत अवश्य चले जाते हैं। उदाहरण के लिए, सू० १।४।१ में सूत्रकार ने कहा कि अमुक श्रुतिवाक्य में सांख्याभिमत प्रधान का प्रतिपादन नहीं है और मध्व ने भी सूत्रकार की उक्त प्रतिज्ञा को दुहराया, किन्तु जहाँ सूत्रकार ने यह कहा था कि श्रुति में 'अव्यक्त' शब्द से प्रधान नहीं, अपितु अन्य तत्त्व अभिप्रेत हैं, वहाँ मध्व उसको भूल कर यह कहने लगे कि अव्यक्त शब्द तो मुख्यतः परमात्मा का वाचक है, वह 'प्रधान' में तो इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि वह परमात्मा के अधीन है। इस प्रकार जो प्रतिज्ञा थी उसका ही बाध हुआ। सांख्याभिमत पक्ष—प्रधान का श्रुतिप्रतिपाद्यत्व—यथावस्थित बना रहा, केवल इतना ही प्राप्त हुआ कि अपने परमात्मा का नाम विपक्ष में भी चल रहा है। फिर आगे के सूत्रों (१।४।२-७) में पूर्वप्रस्तुत प्रतिज्ञा को छुआ नहीं, बस यही सिद्धि होती रही कि सब शब्द परमात्मा के बाचक कैसे हैं और सांख्यनिराकरणपरक पूरा चतुर्थ पाद परमात्मा के सर्वशब्दवाच्यत्व के साधन में ही समाप्त हो गया। इससे उन्होंने सूत्रों का क्या लाभ किया,

यह तो वे ही समझें, किन्तु उन्होंने अपना अवश्य यह लाभ कर लिया कि स्वानभिमत ब्रह्मोपादानत्व को सूत्रों में नहीं रहने दिया।

अन्य भाष्यकारों ने विष्णु के उपासक होने पर भी मध्व के समान विष्णुभक्ति का परिचय समन्वय-सूत्रों में नहीं दिया है, किन्तु वल्लभ ने कुछ स्थलों पर यथावसर पुरुषोत्तम-भक्ति को प्रकट करने के लिए अवश्य यह विचार किया है कि अमुक श्रुतिवाक्य में पूर्णप्रकटानन्द, आनन्दविग्रह और परमफलस्वरूप परतत्त्व पुरुषोत्तम का प्रतिपादन है या किंचित्तिरोहितानन्द, सच्चिद्रूप, निराकार और साधनस्वरूप पुरुषोत्तमचरणस्थानीय ब्रह्म (अक्षर-ब्रह्म) का प्रतिपादन है (वल्लभभाष्य सू० १।१।१२; १।२।२१-२३; १।४।१-७ आदि)।

वल्लभ के सम्बन्ध में उल्लेखनीय दूसरी विशेषता यह है कि वे सूत्रकार के द्वारा सूत्रों से यह प्रदर्शित कराते हैं कि अमुक मीमांस्य वाक्य उपासनापर नहीं, ब्रह्मज्ञानपर है और इस प्रकार वे सूत्रकार के समक्ष सर्वदा शंकर को एक विपक्षी रूप में उपस्थित बनाए रखते हैं (वल्लभभाष्य सू० १।२।२; १।२।१३; १।२।१७; १।३।२; १।३।१२; १।३।१४ आदि)। अन्य भाष्यकारों को शंकर के विरुद्ध कुछ कहना होता है तो अपनी ओर से कहते हैं, किन्तु वल्लभ तो सूत्रों से कहलाते हैं। एक स्थान पर तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि सर्वज्ञ वेदव्यास ने भविष्य में होने वाले मिथ्यावाद के निराकरण के लिए 'दहराधिकरण' का आरम्भ किया (वल्लभभाष्य सू० १।३।१५)। वल्लभ द्वारा प्रस्तुत समन्वय की तीसरी विशेषता यह है कि जिस प्रकार मध्व विष्णु के सर्वशब्दवाच्यत्व के आधार पर ही किसी श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित तत्त्व को विष्णु या ब्रह्म बता कर संतुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वल्लभ भी किसी प्रकार की उपपत्ति प्रदर्शित करने की अपेक्षा अपने ब्रह्म के विरुद्ध-धर्माश्रयत्व को ही एक प्रबल हेतु समझ कर उसे इस रूप में प्रयुक्त करते हैं कि अमुक श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित तत्त्व ब्रह्म है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में परस्पर-विरुद्ध धर्मों का वर्णन है और विरुद्धधर्माश्रयत्व एकमात्र ब्रह्म में ही सम्भव है (वल्लभभाष्य सू० १।३।१६; १।३।२१; १।३।२५ आदि)। वल्लभ के सम्बन्ध में उल्लेखनीय चौथी विशेषता सूत्रों के अपूर्व अर्थ प्रस्तुत करने या अपूर्व प्रकार से समन्वय करने की प्रवृत्ति है, जिसके कारण वे कभी-कभी सूत्रों से दूर ही चले जाते हैं और कभी-कभी एक सूत्र के दो या तीन तक अर्थ प्रस्तुत कर देते हैं (वल्लभभाष्य सू० १।१।११; १।१।३०; १।३।४२ आदि)। उक्त सूत्र-

प्रतिकूल प्रकार या प्रवृत्तियों को छोड़ कर वल्लभ द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय मध्व की अपेक्षा अधिक सफल हो सका है ।

रामानुज, निम्बार्क और बलदेव द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय अधिकांश में सूत्रानुकूल हुआ है । उक्त भाष्यकारों ने प्रायः सूत्रकार के उद्देश्य की पूर्ति ही की है । इनमें बलदेव कभी-कभी मध्व के अनुकरण पर विष्णु में समन्वय करने लगते हैं, किन्तु रामानुज और निम्बार्क में उक्त प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं है । उक्त तीनों भाष्यकारों की शैली सूत्रप्रस्तुत समन्वय के अनुकूल होते हुए बड़ी स्पष्ट, युक्तियुक्त तथा सूत्र के हेतु को बल देने वाली है । इन भाष्यकारों में सामान्य रूप से एक बात अवश्य सूत्रप्रतिकूल हो जाती है कि ये कहीं-कही सांख्याभिमत प्रधान को केवल इस संशोधन के साथ स्वीकार कर लेते हैं कि उसे ब्रह्मात्मक मान लिया जावे (सू० १।२।२३; १।४।३; १।४।६ आदि) । सूत्रों से ऐसा संकेत अवश्य मिलता है कि सूत्रकार 'अचित्' तत्त्व भी मानते है, किन्तु वह तत्त्व स्वरूपतः सांख्याभिमत प्रधान है, यह सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता ।

श्रुतिवाक्य-समन्वय के फलस्वरूप सूत्रकार ने यह सिद्ध कर दिया है कि विभिन्न श्रुतिवाक्य एक ही तत्त्व को जगत्कारण तथा परतत्त्व बताते हैं और वह तत्त्व वेदान्ताभिमत परतत्त्व है । उसका यद्यपि भिन्न-भिन्न नामों से निर्देश किया गया है, किन्तु उसका प्रमुख निर्देशक शब्द 'ब्रह्म' है । सूत्रकार ने उक्त ब्रह्म का जो विशिष्ट स्वरूप माना है या उसकी जो विशेषताएँ उन्होने स्वीकार की हैं उनके अनुसार उन्होंने उसमें विभिन्न श्रुतिवाक्यों का समन्वय किया है । पूर्व पृष्ठों में उनके द्वारा प्रस्तुत समन्वय के फलस्वरूप उक्त जगत्कारण ब्रह्म-तत्त्व की जो विशेषताएँ सूत्रकाराभिमत प्रतीत होती हैं, उनका संकेत पूर्व में तत्तत्स्थानों पर सामान्यतः किया जा चुका है और अग्रिम अध्याय में सूत्रों के दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन के प्रसंग से उनकी चर्चा अनिवार्यतः होगी ही, अतः यहाँ उन्हें पुनरावृत्त करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

अध्याय ५

ब्रह्मसूत्रों के दार्शनिक सिद्धान्त

प्रस्तावना

विगत अध्यायों में ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों, उनके मीमांस्य श्रुति-वाक्यों एवं उनके द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय का परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। अब यह उचित प्रतीत होता है कि उक्त प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्रों के मन्तव्यों को जानने का प्रयत्न किया जावे। ब्रह्म-सूत्रों के मन्तव्य प्रमुखतः दो रूपों में हैं, जिनमें से एक, सूत्रों की अपनी मान्यताओं का है और दूसरा, अन्य मतों के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि का है। उक्त दोनों रूपों का यथावत् परिचय प्राप्त करने के लिये यही उचित एवं आवश्यक प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम प्रमुख रूप अर्थात् सूत्रों की अपनी मान्यताओं का परिचय प्राप्त किया जावे। तदनुसार ब्रह्मसूत्रों के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन करने का एक प्रयत्न प्रस्तुत अध्याय में किया गया है, जिससे उनके द्वारा प्रस्तुत दर्शन--ब्रह्मसूत्र-दर्शन—का एक स्पष्ट स्वरूप अनुभवगम्य हो सके।

ब्रह्मसूत्र-दर्शन पर एक सामान्य दृष्टि—प्रत्येक दर्शन जगत् के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करने का प्रयत्न करता है। यह इन्द्रियगोचर जगत् जिस रूप में सर्वसाधारण के समक्ष है, उसी रूप में वह दार्शनिकों के समक्ष उपस्थित है। सर्वसाधारण व्यक्ति जगत् को उसी रूप में ग्रहण करता है, जिस रूप में वह उपलब्ध होता है, किन्तु दार्शनिक—

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत् तत्त्वेन भवेद्यदि।

जातास्तत्त्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा। (कोई बौद्ध दार्शनिक) के अनुसार घोषणा कर जगत् के तात्त्विक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है और उस प्रयत्न के फलस्वरूप ज्ञात होने वाले तात्त्विक स्वरूप के निर्देश

से वह इन्द्रियोपलब्ध रूप की व्याख्या प्रस्तुत करता है। उक्त व्याख्या ही एक दर्शन का स्वरूप ग्रहण करती है। सुदूर अतीत काल से लेकर अब तक जगत् के मूल या तात्त्विक स्वरूप को जानने लिए अनवरत रूप से प्रयत्न चलता रहा है और निरन्तर चल रहा है, किन्तु उसके सम्बन्ध में अभी तक मतैक्य स्थापित नहीं हो सका और न कोई ऐसी आशा है। असंख्य रूपों में जगत् के वर्तमान स्वरूप की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं, जिनमें से पूर्णरूप में कुछ ही आज भिन्न-भिन्न दर्शनों के रूप में उपलब्ध हैं, कुछ के कतिपय अंश ही यत्र-तत्र निर्दिष्ट हैं, कुछ के वे भी नहीं, केवल नाम ही प्राप्त हैं, और अवशिष्ट असंख्य दर्शनों का नाम भी अतीत के गर्भ में समाहित हो गया है। जगत् के स्वरूप के सम्बन्ध में आज उपलब्ध उक्त अनेक व्याख्याओं में से एक व्याख्या वह भी है जो ब्रह्मसूत्रों ने प्रस्तुत की है कि जगत् ब्रह्ममूलक है, (जन्माद्यस्य यतः १।१।२)। उक्त व्याख्या के अनुसार ब्रह्मसूत्रों द्वारा प्रस्तुत दर्शन 'ब्रह्मकारणवाद' या संक्षेप में 'ब्रह्मवाद' है।

ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत उक्त दर्शन सूत्रकार की बुद्धि की उपज नहीं है अर्थात् सूत्रकार जगत् के स्वरूप के सम्बध में स्वयं प्रयत्न करके इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँचे हैं कि जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म है। उक्त सिद्धान्त उनसे पूर्ववर्ती तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के अनवरत रूप से किए हुए दीर्घकालीन स्वतन्त्र तत्त्वचिन्तन का फल है। उक्त दर्शन का श्रेय सूत्रकार को न दिया जा सकता है और न वे इसे लेना ही चाहते हैं। उन्होंने उक्त व्याख्या को प्रस्तुत करने के बाद ही यह स्पष्ट कर दिया है कि वे उसे अपनी ओर से नहीं, अपितु शास्त्र के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं (शास्त्रयोनित्वात् १।१।३)। सूत्रकार से सुदूर पूर्ववर्ती ऋषि 'कुत इयं विसृष्टिः' (ऋग्वेद १०।१२९।६) की जिज्ञासा से प्रेरित होकर जगन्मूलतत्त्व के दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं और उसे करते करते यह साक्षात् दर्शन प्राप्त करते हैं—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते···तद् ब्रह्म' (तैत्तिरीय, भृगु० १)।

उक्त दर्शन एक स्वतन्त्र मौलिक दर्शन है और उसके प्राप्त करने वाले ऋषि स्वतन्त्र दार्शनिक हैं। यतः उक्त ऋषियों ने केवल बौद्धिक व्यायाम से तर्कों के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँच कर जगन्मूलतत्त्व के सम्बन्ध में उक्त धारणा नहीं बनाई, अपितु साधनविशेष से निर्मलदृष्टिसम्पन्न होकर उन्होंने तत्त्व का साक्षात्कार किया था, अतः उनका 'दर्शन' वास्तविक अर्थ में एक दर्शन है। जिन ऋषियों ने उक्त दर्शन प्राप्त किया था, उन्होंने कृपा करके अपने योग्य शिष्यों को उसका उपदेश दिया एवं तत्त्वदर्शन की

जो प्रक्रिया उन्होंने अपनाई थी उसको शिष्यों के समक्ष प्रकट किया और तदनुसार शिष्यों ने भी तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त किया। इस प्रकार 'तद् विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म' की परम्परा प्रवर्तित हुई, जिसके द्वारा उक्त दर्शन एक सम्प्रदेय वस्तु के रूप में स्वीकृत हुआ। उक्त दर्शन के गुरुशिष्यपरम्परा-पूर्वक सम्प्रदान की कथाएँ उपनिषदों में सुरक्षित हैं, जिनमें कि तत्त्वदर्शन का एक शब्दमय रूप उपस्थित है। उक्त शब्दमय रूप के प्रतिष्ठित होने के बाद उस पर विचार होने लगा, उसके अर्थ को सुनिश्चित करने की एक परम्परा चली जिसका कि कुछ संकेत 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्डक ३।२।६) के रूप में स्वयं उपनिषदों में ही प्राप्त है। इस दूसरे प्रकार की परम्परा में उपनिषदों के प्रतिपाद्य को तात्पर्यनिर्णायक विविध उपायों के द्वारा सुनिश्चित करने की एक विशिष्ट पद्धति का विकास हुआ, जो कि 'मीमांसा-पद्धति' के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त मीमांसा-पद्धति से उपनिषदों के तात्पर्य को निर्णीत करने वाले ब्रह्ममीमांसकों की परम्परा में ही ब्रह्मसूत्रकार का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने एक 'दर्शनमीमांसक' के रूप में अपने सूत्रों में उपनिषदों के ही प्रतिपाद्य दर्शन की मीमांसा प्रस्तुत की है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के द्वार प्रस्तुत दर्शन सूत्रकार का एक स्वतन्त्र दर्शन न होकर परम्पराप्राप्त 'औपनिषद दर्शन' की एक 'मीमांसा' है।

यद्यपि उक्त प्रकार से ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत दर्शन मौलिक रूप से 'औपनिषद दर्शन' है, फिर भी वह स्वरूपतः उतना ही न होकर उससे कुछ अधिक है। वह अपने स्वरूप में स्वतन्त्र है और सूत्रकार के अपने निजी प्रयत्न का फल है। ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत दर्शन औपनिषद दर्शन का वह 'दर्शन' है, जिसे कि सूत्रकार ने स्वयं अपने ज्ञानचक्षुओं के द्वारा उपनिषदों से प्राप्त किया है। प्रत्येक मीमांसक या व्याख्याता को आधारभूत मीमांस्य दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप एक दृष्टि प्राप्त होती है, जिसके अनुसार वह मीमांस्य दर्शन के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है। उक्त दृष्टि मीमांसक की अपनी वस्तु है, वह उसके निजी प्रयत्न का फल है, उसमें वह स्वतन्त्र है, और इसीलिए उक्त दृष्टि को मीमांस्य दर्शन से सम्मत और युक्तियुक्त प्रदर्शित करने का उत्तरदायित्व भी उसी का है। आधारभूत एक ही मीमांस्य दर्शन के विभिन्न व्याख्याताओं या मीमांसकों को उक्त दर्शन के सम्बन्ध में जो दृष्टियाँ प्राप्त होंगी, उनमें कुछ न कुछ परस्पर-भेद होना स्वाभाविक है, फलतः विभिन्न मीमांसकों के द्वारा एक ही मीमांस्य दर्शन के सिद्धान्त समान रूप में प्रस्तुत नहीं किए जा सकते और तब यही कहना पड़ता है कि

अमुक मीमांसक के अनुसार मीमांस्य दर्शन के अमुक सिद्धान्त हैं और अमुक के अनुसार अमुक । इस प्रकार प्रत्येक मीमांसक की अपनी स्वतन्त्र दृष्टि होने के कारण उसके द्वारा प्रस्तुत 'दर्शन-मीमांसा' ही एक स्वतन्त्र दर्शन हो जाती है, भले ही उसे एक दर्शन का 'दर्शन' कहा जावे ।

उक्त प्रकार से मीमांस्य दर्शन की एक स्वरूपतः अभिन्न विचारधारा को भी प्रस्तुत करने में मीमांसक की अपनी एक स्वतन्त्र दृष्टि होती है; किन्तु जब मीमांस्य दर्शन की परस्पर-भिन्न ही नहीं अपितु परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होने वाली अनेक विचारधाराएँ होती हैं और उनके परस्पर-भेद और विरोध को दूर करने जब एक मीमांसक उनका समन्वय करने को प्रवृत्त होता है, तब तो उसकी दृष्टि पूर्णतया ही स्वतन्त्र होती है, क्योंकि विभिन्न विचारधाराओं में उसे कोई एक मुख्य प्रतीत होती है, उसमें वह अन्य गौण प्रतीत होने वाली विचारधाराओं का अपनी दृष्टि के अनुसार समन्वय करता है और उसके फलस्वरूप मीमांस्य दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं का जो एक समन्वित दार्शनिक रूप उसके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है वह उक्त मीमांस्य दर्शन पर आधारित होता हुआ भी पूर्णतया एक स्वतन्त्र दर्शन होता है । उक्त समन्वयात्मक मीमांसा में मीमांस्य दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं का विशिष्ट स्वरूप और उनके प्रवर्तक दार्शनिकों का निजी व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है और उसके स्थान पर उक्त समन्वित दर्शन का एक स्वतन्त्र स्वरूप और उसको प्रस्तुत करने वाले मीमांसक का एक स्वतन्त्र दार्शनिक व्यक्तित्व आविर्भूत होता है । उक्त समन्वयात्मक मीमांसा से इसी एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति होती है कि सुदूर अतीत से चली आती हुई तथा एक रूप में मानी जाने वाली सम्मानित परम्परा में उद्भूत विभिन्न स्वतन्त्र दार्शनिक विचारधाराओं का परस्पर-भिन्न और परस्पर-विरोधी स्वरूप दूर हो जाता है और एक समन्वित दर्शन उक्त परम्परा के वास्तविक दर्शन के रूप में प्रस्तुत हो जाता है, जिससे परम्परा के अनुयायी अपनी परम्परागत दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में संशयशील न रहें, उसमें अश्रद्धा न करें और इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय एकता स्थापित रहे । यही कारण है कि परम्परा के विभिन्न विचारों का समन्वय करने वाले मीमांसा-शास्त्रों का परम्परानुयायी समाज में सर्वोपरि सम्मान होता है; किन्तु इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के होते हुए भी विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से देखा जावे तो जहाँ तक परम्परा की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने का सम्बन्ध है, समन्वयात्मक मीमांसाओं का विशेष महत्त्व नहीं,

क्योंकि उक्त विचारधाराओं के विशिष्ट स्वरूप का परिचय उनके स्रोत से ही किया जा सकता है, किन्तु जहाँ तक उनके द्वारा एक स्वतन्त्र दर्शन को स्थापित करने का सम्बन्ध है, उनका दार्शनिक महत्त्व बहुत है, क्योंकि उनके द्वारा प्रस्तुत दर्शन परम्परा पर आधारित होता हुआ भी अपने स्वरूप में पूर्णतया स्वतन्त्र है और फलस्वरूप वह मीमांसक को एक स्वतन्त्र दार्शनिक के रूप में उपस्थित करता है।

उक्त दृष्टि से विचार करने पर 'ब्रह्मसूत्र-दर्शन' एक स्वतन्त्र दर्शन और सूत्रकार एक स्वतन्त्र तत्त्वचिन्तक दार्शनिक के रूप में उपस्थित होते हैं। सूत्रों के सिद्धान्त उपनिषदों पर आधारित होते हुए भी किसी एक विशिष्ट उपनिषद् या ऋषि के सिद्धान्त नहीं हैं, अपितु विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर स्थापित किए हुए सूत्रकार के सिद्धान्त हैं। उपनिषदों की विचार-धाराओं को चाहे परम्परा के अनुसार एक रूप, अनादि और अपौरुषेय माना जावे, और चाहे स्वतन्त्र चिन्तन करने वाले तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के दर्शन का फल, किन्तु उनकी विभिन्नताओं का निषेध नहीं किया जा सकता। अनादि और अपौरुषेय मानने से परम्परानुयायियों में इनका सम्मान बढ़ता है, और स्वतन्त्र चिन्तन का फल मानने से उपनिषदों के ऋषियों का दार्शनिक व्यक्तित्व प्रकाश में आता है, किन्तु अपने देश में दर्शन के क्षेत्र में भी दार्शनिकों के व्यक्तित्व को परम्परा के सम्मान में लीन होना पड़ा है। अस्तु! उपनिषदों में प्रतिपादित विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं को सूत्रकार ने एक समन्वित दार्शनिक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया है; उन्हें उनके परस्पर भेद या विरोधों को दूर कर उनमें एकवाक्यता स्थापित करनी पड़ी है और इसके लिए अपनी दृष्टि के अनुसार उपपत्तियाँ देनी पड़ी हैं तथा व्याख्या करनी पड़ी है, साथ ही कभी-कभी किसी या किन्हीं विशिष्ट श्रुतिवाक्यों को गौण भी घोषित करना पड़ा है और श्रुतियों के स्वाभिमत प्रतिपाद्य को अपने द्वारा उपन्यस्त हेतुओं से सिद्ध करना पड़ा है। इस प्रकार श्रुतियों के आधार पर जो सिद्धान्त उन्होंने स्थापित किए हैं, उनकी स्थापना में उनका बहुत बड़ा कर्तृत्व है, जिसका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर है और उसको उन्होंने निभाया भी है। अपने से पूर्ववर्ती ब्रह्ममीमांसकों के मतों का उन्होंने निर्देश कर, कहीं उनका निराकरण किया है, कहीं उन्हें स्वीकार किया है और कहीं दो के बीच में समन्वय स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त भिन्न प्रकार से श्रुतियों की मीमांसा करने वाले सांख्य का निराकरण कर उन्होंने स्वाभिमत प्रतिपाद्य को सिद्ध किया है। स्वाभिमत सिद्धान्तों की सिद्धि श्रुतियों पर ही न छोड़ कर उन्हें उपपन्न प्रदर्शित

करने का भार स्वयं उन्होंने उठाया है और सम्भावित आक्षेपों का निराकरण कर विरोधी अन्य मतों के सिद्धान्तों की अनुपपन्नता प्रदर्शित की है। इस प्रकार चाहे श्रुतियों की मीमांसा कर उनमें समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से देखा जावे, चाहे अन्य मीमांसकों के मतों से अपने मत की भिन्नता प्रदर्शित करने की दृष्टि से, चाहे युक्तियों और उपपत्तियों से स्वाभिमत सिद्धान्तों के समर्थन की दृष्टि से और चाहे प्रतिपक्षियों के निराकरण की दृष्टि से, सूत्रकार एक स्वतन्त्र दार्शनिक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हैं। उनकी अपनी एक स्वतन्त्र दृष्टि है और उस दृष्टि के अनुसार ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत किया हुआ उनका अपना एक स्वतन्त्र दर्शन है।

(आ) ब्रह्मसूत्र-दर्शन और ब्रह्मसूत्रभाष्य-दर्शन—जैसा कि पूर्व में अभी देखा जा चुका है, ब्रह्मसूत्र-दर्शन उपनिषदों के आधार पर प्रतिष्ठित होते हुए भी वह ब्रह्मसूत्रकार का अपना एक स्वतन्त्र दर्शन है, अतः यह कहना युक्ति-युक्त नहीं होगा कि अमुक भाष्य-दर्शन श्रुतियों के अनुकूल है तो वह अनिवार्य रूप से सूत्रों के भी अनुकूल होगा। श्रुत्यनुकूलता को प्रदर्शित करना कोई कठिन बात नहीं है, क्योंकि श्रुतियों में विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ मिलती हैं और सभी मतों को अपना समर्थन करने के लिए न्यूनाधिक रूप में श्रुतिवाक्य मिल सकते हैं, इसके अतिरिक्त सभी मत अपनी दृष्टि से विभिन्न श्रुति-वाक्यों की व्याख्या और समन्वय करने के लिए स्वतन्त्र हैं; किन्तु ब्रह्मसूत्र एक व्यक्तिविशेष के एक ही विशिष्ट दृष्टिकोण को उपस्थित करने के कारण सभी परस्पर-विरुद्ध मतों के समर्थक नहीं हो सकते और फलतः श्रुत्यनुकूलता को सूत्रानुकूलता का मापदण्ड नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार भाष्यकारों को द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती आदि सब कुछ नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार सूत्रकार को भी सभी वादों का समर्थक नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार श्रुतियों के आधार पर सूत्रकार का अपना स्वतन्त्र दर्शन है, उसी प्रकार विभिन्न भाष्यकारों का श्रुतियों के ही आधार पर अपना स्वतन्त्र दर्शन है और जिस प्रकार विभिन्न भाष्यकारों के द्वारा स्वीकृत विभिन्न औपनिषद दर्शन परस्पर एक दूसरे से नहीं मिल पाते, उसी प्रकार सूत्रकार द्वारा स्वीकृत औपनिषद दर्शन भाष्यकारों के दर्शनों से स्वभावतः नहीं मिल सकता, वह भी अपना एक विशिष्ट स्वरूप रखता है, केवल इतना ही हो सकता है कि किसी या किन्हीं भाष्यकारों का दर्शन अपेक्षाकृत अधिक सूत्रानुकूल हो। किन्तु, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, भाष्य-दर्शनों को

अपनी सूत्रानुकूलता प्रदर्शित करने के लिए श्रुतियों से नहीं, अपितु उनसे पृथक् स्वयं सूत्रों से ही अपना सामंजस्य प्रदर्शित करना पड़ेगा।

अगले पृष्ठों में वैष्णव-भाष्यों के द्वारा प्रस्तुत दर्शनों को इसी दृष्टि से देखने का एक प्रयत्न है कि कहाँ तक वे ब्रह्मसूत्र-दर्शन से अपना सामंजस्य-स्थापित कर सके हैं।

(तत्त्वमीमांसा)

२. ब्रह्मकारणवाद

ब्रह्मसूत्र-दर्शन की तत्त्वमीमांसा का सुविदित सिद्धान्त 'ब्रह्मकारणवाद' है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म है। किसी भी भाष्यकार को उक्त सिद्धान्त के मानने में विप्रतिपत्ति नहीं है, किन्तु उसका जो स्वरूप विभिन्न भाष्यकारों ने स्वीकृत किया है, उसी में सब मतभेदों का मूल निहित है। जगत् और उसके कारण 'ब्रह्म' दोनों के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएँ हैं। यद्यपि वैष्णव भाष्यकारों में परस्पर उतना मतभेद नहीं है, जितना कि उनका अन्य भाष्यकारों से है, फिर भी बहुत से तथ्यों के सम्बन्ध में उनमें भी परस्पर वैमत्य है। वैष्णव भाष्यकारों के परस्पर-विमत सिद्धान्तों के साथ उनके सर्वसम्मत सिद्धान्तों की भी सूत्रानुकूलता को देखने का प्रयत्न नीचे किया गया है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि उनके द्वारा स्वीकृत सर्वसम्मत पक्ष सूत्रानुकूल ही हो।

(अ) **जगत्**—जगत् के सम्बन्ध में सभी वैष्णव भाष्यकारों का सर्वसम्मत मत है कि उसकी वास्तविक सत्ता को सूत्रकार स्वीकार करते हैं। जैसा कि नीचे प्रदर्शित है, सूत्रों के अध्ययन से वैष्णव भाष्यकारों का उक्त मत पूर्णतया सूत्रानुकूल प्रतीत होता है :—

(१) सूत्रकार ने जगत् की वास्तविक सत्ता को मानने वाले सांख्य, वैशेषिक, जगदस्तित्ववादी बौद्ध, जैन, पाशुपत और पांचरात्र मतों के विभिन्न सिद्धान्तों का निराकरण करते हुए भी उनकी इस मान्यता का निराकरण नहीं किया कि जगत् की वास्तविक सत्ता है, अपितु उसके विपरीत जगत् के नास्तित्व को मानने वाली एक बौद्ध शाखा की ही इस मान्यता का निराकरण किया कि जगत् का वास्तविक अस्तित्व नहीं। उन्होंने उक्त बौद्ध शाखा का निराकरण करते हुए स्पष्टतः कहा है कि जगत् का अभाव नहीं है, क्योंकि वह उपलब्ध होता है (सू० २।२।२७), और पुनः कहा है कि जगत् स्वप्न आदि के समान नहीं है (सू० २।२।२८)।

उक्त एक स्पष्ट संकेत ही इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि सूत्रकार जगत् के अस्तित्व को मानते हैं और अब यह सम्भावना ही नहीं की जा सकती कि वही सूत्रकार जो जगत् के नास्तित्व का निराकरण करते हैं, कहीं उसके अस्तित्व का भी निराकरण करते होंगे, फिर भी उक्त तथ्य—जगत्सत्यत्व—के समर्थन के लिए सूत्रों से अन्य संकेत भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

(२) सू० १।१।२ में सूत्रकार ने ब्रह्म को जगत् के जन्म आदि का कारण बतलाया है, उसके 'आभास' आदि का नहीं; यदि वे जगत् को आभास मात्र मानते और उक्त आभास का अधिष्ठानकारण ब्रह्म को मानते तो उक्त सूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' न कह कर 'आभासाद्यस्य यतः' कहते।

(३) सू० १।४।२३ में उन्होंने ब्रह्म को जगत् की 'प्रकृति' कहा है, जगद्रूप भ्रम या आभास का 'अधिष्ठान' नहीं। ब्रह्म को जगत् की प्रकृति कहने से स्पष्ट है कि वे जगत् को वस्तुतः मानते हुए उसे ब्रह्म की 'विकृति' मानते हैं। उन्होंने सूत्र २।३।७ में जागतिक पदार्थों को ब्रह्म का विकार ही कहा है और साथ ही उन्हें ब्रह्म से विभक्त माना है।

(४) सू० १।४।२७ में उन्होंने जगत् को ब्रह्म का परिणाम कहा है, विवर्त नहीं और सू० २।१।२४ आदि में दूध आदि के दृष्टान्त परिणामवाद के ही अनुसार उन्होंने दिए हैं।

(५) उक्त प्रकार से जगत् और ब्रह्म का कार्यकारणभाव उन्होंने उसी प्रकार माना है, जिस प्रकार सांख्य जगत् और प्रधान का कार्यकारण-भाव मानता है। जगदस्तित्ववादी सांख्य के द्वारा जगत्कारण रूप से स्वीकृत 'प्रधान' का निराकरण करते हुए भी उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि सांख्य का यह सिद्धान्त वितथ है कि जगत् का अस्तित्व है। सांख्य के कार्यकारणभाव में उन्होंने केवल इतना ही संशोधन प्रस्तुत किया है कि जगत् का कारण प्रधान नहीं, अपितु वेदान्तभिमत परतत्त्व ब्रह्म है।

(६) सूत्रकार के ब्रह्मकारणवाद के ऊपर सांख्य की ओर से जितने भी आक्षेप किए गए उनमें एक भी ऐसा आक्षेप नहीं है कि जगत् तो वस्तुतः है, किन्तु सूत्रकार उसके अस्तित्व को मानते नहीं, फिर ब्रह्मकारणवाद के अनुसार जगत् की प्रतीति की कैसे व्याख्या हो सकेगी ?

(७) अपितु उसके विपरीत सांख्य ने यही आक्षेप किया कि ब्रह्म से तद्विलक्षण जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, और सूत्रकार ने भी उसका यही उत्तर दिया कि कार्य-कारण का वैलक्षण्य भी दृष्टिगोचर होता

है। सूत्रकार के उक्त उत्तर पर सांख्य ने यह आक्षेप किया कि इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि जगद्रूप कार्य अपने कारण ब्रह्म में नहीं था। उक्त आक्षेप को स्पष्टतः निराकृत करते हुए सूत्रकार ने कहा कि कारण में जगत् नहीं था, यह बात नहीं, अपितु केवल इतना कहना है कि कारण से विलक्षण कार्य भी हो सकता है और उक्त वैलक्षण्य सांख्य को भी मानना पड़ता है (सू० २।१।४-१२)।

(८) सांख्य के समान ही सूत्रकार ने सत्कार्यवाद को मानकर जगत् और ब्रह्म का कार्यकारणभाव माना हैं एवं उसी के अनुसार जगत् को ब्रह्म से अनन्य बताया है (सू० २।१।१५) और उक्त अनन्यत्व को स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रदर्शित किया है कि भाव (कार्य) में कारण उपलब्ध होता है और कार्य की कारण में सत्ता है (सू० २।१।१६, १७); साथ ही इस आक्षेप के निराकरण में कि जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व श्रुति में 'असत्' बताया गया है, उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि निर्दिष्ट श्रुति में 'असत्' से तात्पर्य सत्ता के अभाव से नहीं, अपितु सत्ता के धर्मान्तिर या रूपान्तर से है (सू० २।१।१८)। वैष्णव भाष्यकारों ने सू० २।१।१५ में प्रतिपादित 'अनन्यत्व' की अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत इस व्याख्या का निराकरण किया है कि 'अनन्यत्व' से सूत्रकार का तात्पर्य कारण के सत्यत्व और कार्य के मिथ्यात्व से है। सूत्रकार द्वारा परवर्ती सूत्रों (२।१।१६-१८) में प्रस्तुत 'अनन्यत्व' के उपर्युक्त प्रदर्शन से स्पष्ट है कि वैष्णव भाष्यकारों का उक्त प्रतिवाद पूर्णतया सूत्रानुकूल है। वस्तुतः कारण और कार्य का सांख्य के समान प्रकृतिविकृतिभाव मानने पर सत्कार्यवाद के अनुसार स्वभावतः ही कारण से कार्य का 'अनन्यत्व' कहा जावेगा और वही सूत्रकार ने कहा है।

(९) सूत्रकार द्वारा जिज्ञास्य वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म जगत् का रचयिता है (सू० १।१।२, १।४।२३), चराचर का संहर्ता है (सू० १।२।९), पृथिवी आदि तत्त्वों का अन्तर्यामी है (सू० १।२।१९), जगत् के तत्त्वों का शासनपूर्वक धारण करने वाला है (सू० १।३।९,१०), त्रिवृत्कर्ता तथा नामरूपों की सृष्टि करने वाला है (सू० २।४।१७); जगत् के अस्तित्व को न मानने पर सूत्रकार द्वारा स्वाभिमत परतत्त्व में प्रदर्शित उक्त कार्यों का कोई अर्थ ही नहीं रहता, और यह भी नहीं कि उक्त कार्यो को करने वाला कोई गौण या औपाधिक ब्रह्म हो, अपितु वही परतत्त्व है, जो कि उनके द्वारा जिज्ञास्य है। सूत्रकाराभिमत उक्त परतत्त्व, जो कि विशुद्ध एवं अभ्रान्त है,

जब जगत् को सत्य मान कर उसके विभिन्न कार्यों में व्यापृत है, तो कैसे माना जावे कि सूत्रकार के अनुसार जगत् का अस्तित्व नहीं ?

(१०) मुक्त जीव के लिए जगद्-व्यापार का निषेध किया गया है (सू० ४।४।१७); यदि जगत् की सत्ता सूत्रकाराभिमत न होती तो वे उक्त निषेध क्यों करते और वह भी ऐसी स्थिति में जब कि जीव का स्वरूपाविर्भाव हो चुका है ? यदि जगत् मिथ्या होता तो आविर्भूत स्वरूप जीव को उसका आभास होता ही नही, फिर निषेध क्यों ?

(११) सू० १।२।२४ में जगत् को परतत्त्व का रूप बताया गया, सू० १।३।१ में परतत्त्व को आकाश आदि पदार्थों का आयतन बताया गया, सू० १।१।२५, २७ में भूतादि को परतत्त्व के एक पाद के रूप में वर्णित माना गया और उससे आकाश आदि विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया (सू० २।३।१-१७); उक्त निर्देश तथा तत्समान अन्य अनेक निर्देश सूत्रों में उपस्थित हैं, जिनसे जगत् का अस्तित्व सूत्राकाराभिमत सिद्ध होता है।

(१२) सूत्रकार ने सूत्रों में कहीं भी जगत् के अभाव या मिथ्यात्व का वर्णन नहीं किया। वैष्णव भाष्यकारों ने सू० ३।२।२१ की अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत इस व्याख्या का प्रतिवाद किया है कि उक्त सूत्र जगत् के अस्तित्व का प्रतिषेध करता है, और वस्तुतः वैष्णव भाष्यकारों का उक्त प्रतिवाद सूत्रानुकूल प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त सूत्र में 'प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति' यह निर्देश है; अन्य भाष्यकार 'त्व' की उपेक्षा कर 'प्रकृतं च तत् एतावत् प्रतिषेधति' के रूप में अर्थ करते हुए उक्त सूत्र में जगत् का प्रतिषेध मान लेते हैं, जब कि सूत्र में 'प्रकृत' का प्रतिषेध न होकर स्पष्टतः उसके 'एतावत्त्व' का प्रतिषेध है, जिससे प्रकृत के प्रतिषेध के विपरीत उसकी अनन्तता ही सिद्ध होती है।

उक्त प्रकार से सूत्रों के द्वारा यह एक निश्चित तथ्य सिद्ध होता है कि सूत्रकार जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और तदनुसार वैष्णव भाष्यकारों का जगदस्तित्ववाद पूर्णतया सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

(आ) **ब्रह्म का निमित्तकारणत्व**—जगत् के अस्तित्व के बाद यह विषय उपस्थित होता है कि जगत् के प्रति ब्रह्म का कारणत्व किस रूप में है ? मध्व का पक्ष यह है कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है और अन्य सभी भाष्यकार ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानते हैं। इस प्रकार जहाँ तक ब्रह्म के निमित्तकारणत्व का सम्बन्ध है, वह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। सभी वैष्णव भाष्याकारों के अनुसार वेदान्ताभिमत परतत्त्व अपने स्वाभाविक रूप से जगत् का निमित्तकारण या कर्त्ता है, किसी

उपाधि आदि के कारण उसमें जगत्कर्तृत्व नहीं आगया है। उक्त पक्ष भी सूत्रों के पूर्णतया अनुकूल प्रतीत होता है। सूत्रकार ने जिस 'ब्रह्म' की जिज्ञासा प्रस्तुत की, उसी को उन्होंने जगज्जन्मादिकारण कहा (सू० १।१।२), और (सू० १।१।५) में यह प्रतिपादित किया कि वह ईक्षण अर्थात् संकल्प करके सृष्टि करता है, वह चेतन है। उक्त ईक्षण को सूत्रकार ने अपने ब्रह्म में स्वाभाविक माना है; उन्होंने सू० १।१।६ में स्पष्टत: कह दिया है कि सत्पदवाच्य जिज्ञास्य ब्रह्म में उक्त ईक्षण गौण नहीं, अपितु मुख्य एवं स्वाभाविक है, क्योंकि वह आत्मा है। इस प्रकार उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आत्मतत्त्व का चैतन्यगुण स्वाभाविक है। उन्होंने सू० १।१।१६ में आनन्दमय के द्वारा संकल्पपूर्वक सृष्टि मानी है और आनन्दमय को स्पष्टत: सूत्रजिज्ञास्य परतत्त्व ब्रह्म माना है (सू० १।१।१३-२०), साथ ही सू० १।१।१४ में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि उक्त आनन्दमय विकार न होकर विशुद्ध मूलतत्त्व है। इसके अतिरिक्त सू० १।१।१६ में उन्होंने स्पष्टत: कहा है कि उक्त आनन्दमय मन्त्रवर्ण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में प्रतिपादित परतत्त्व ही है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म को ही उन्होंने चराचरसंहर्त्ता (सू० १।२।६), अन्तर्यामी (सू० १।२।१६), सम्पूर्ण जगत् का प्रशासन या नियन्त्रणपूर्वक धारण करने वाला (सू० १।३।६-१०), नाम-रूप का निर्वाहक (सू० १।३।४२) तथा पति (सू० १।३।४४) कहा है और सू० १।४।१४ के द्वारा स्पष्टत: कह दिया है कि सर्वत्र श्रुतियों में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित तत्त्व का स्वरूप वही है जैसा कि यथाव्यपदिष्ट अर्थात् पूर्ववर्ती समन्वय-सूत्रों में वर्णित है, और समन्वय-सूत्रों में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जिज्ञास्य परतत्त्व ब्रह्म स्वाभाविक रूप से चेतन, संकल्पपूर्वक सृष्टि का कर्त्ता, संहर्त्ता, धारक एवं नियन्ता बताया गया है। बाद के सूत्रों में भी परतत्त्व ब्रह्म को जीवों के कर्तृत्व का नियामक (सू० २।३।४०) एवं नाम-रूपों का स्रष्टा (सू० २।४।१७) बताया गया है तथा सू० ४।४।१७ में जगद्-व्यापार को एकमात्र परतत्त्व का ही कार्य माना गया है।

उक्त प्रकार से यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट है कि सूत्रकार अपने ब्रह्म को किसी औपाधिक रूप से नहीं, अपितु स्वाभाविक रूप से जगत् का निमित्त-कारण या कर्त्ता मानते हैं और तदनुसार वैष्णव भाष्यकारों का उक्त पक्ष पूर्णतया सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

(इ) ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व—अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सूत्रजिज्ञास्य परतत्त्व ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है,

जसा कि मध्व मानते हैं, या वह अभिन्ननिमित्तोपादनकारण है, जैसा कि अन्य सभी भाष्यकार मानते हैं ? सूत्रों से यह स्पष्ट है कि मध्व का उक्त पक्ष सूत्रकाराभिमत नहीं । सूत्रकार ने स्पष्टतः सू० १।४।२३ में ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादनकारण कहा है । उक्त सूत्र में उन्होंने 'प्रकृतिश्च' कह कर ब्रह्म के निमित्तकारणत्व के साथ मुख्य रूप से उसके उपादानकारणत्व का ही प्रतिपादन किया है कि श्रुतियों में वर्णित इस प्रतिज्ञा और दृष्टान्त की कि ब्रह्म के विज्ञान से अखिल पदार्थों का विज्ञान उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार मृत्पिण्ड के विज्ञान से तत्कार्य मृण्मय पदार्थों का विज्ञान होता है, तभी उपपत्ति लग सकती है, जब कि ब्रह्म को जगत् की 'प्रकृति' और जगत् को ब्रह्म की 'विकृति' माना जावे । आगे के सूत्रों (१।४।२४-२८) में सूत्रकार ने उक्त पक्ष की ही पुष्टि की है कि "एकोऽहं बहु स्याम्" के समान अभिध्या अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से भी यही सिद्ध होता है कि वह एक ही स्वयं नानानामरूपात्मक जगत् हो गया है (सू० १।४।२४), श्रुतियों में साक्षात् रूप से भी ब्रह्म के निमित्तत्व और उपादानत्व दोनों का आम्नान है (सू० १।४।२५), 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' में निर्दिष्ट 'आत्मकृति' से स्पष्ट है कि ब्रह्म ने अपने को ही उपादान बना कर नानानामरूपात्मक जगत् के रूप में परिणत किया है (सू० १।४।२६-२७), और वह श्रुतियों में जगत् की योनि बताया गया है (सू० १।४।२८) । उक्त ब्रह्मोपादानत्वप्रतिपादक सूत्रों के जो अर्थ मध्व ने प्रस्तुत किए हैं वे सूत्रों से किंचिन्मात्र भी संगत नहीं । उन्होंने उक्त सूत्रों के अर्थ को बदलने के लिए समन्वयाध्याय के चतुर्थ पाद के प्रथम सूत्र से ही समन्वय की इस परिपाटी को स्वीकृत किया कि सब शब्द परमात्मा के वाचक हैं, ताकि वे सूत्र १।४।२३ में यह सरलता से कह सकें कि 'प्रकृति' शब्द भी परमात्मा का वाचक है; किन्तु ऐसा करने से उक्त सम्पूर्ण पाद के सूत्रों के अर्थ पूर्णतया असम्बद्ध एवं सूत्रप्रतिकूल हो गये हैं और उसी प्रकार सूत्रकार द्वारा स्थापित ब्रह्मोपादानत्व पर सांख्य की ओर से किए हुये आक्षेपों का निराकरण करने वाले सूत्रों (द्वितीयाध्याय प्रथम पाद) के अर्थ पूर्णतया असंगत हैं । ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्मोपादानत्व इतने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि उसे किसी भी प्रकार से तिरोहित ही नहीं किया जा सकता । उक्त सिद्धान्त सूत्रों में इतना प्रकाशमान है कि कोई भाष्यकार या व्याख्याता उसको तिरोहित करने का प्रयत्न कर अपने भाष्य या व्याख्यान को सदोष और सूत्रप्रतिकूल ही प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु उसका तिरोधान नहीं कर सकता । केवलनिमित्तकारण-

वाद का तो स्वयं सूत्रकार ने ही सूत्रों (२।२।३५-३८) में निराकरण किया है। अस्तु ! मध्व को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों का यह पक्ष पूर्णतया सूत्रानुकूल प्रतीत होता है कि सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

(ई) **ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व की उपपत्ति**—अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जगत् के प्रति ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व की उपपत्ति कैसे हो सकती है ? जहाँ तक उसके निमित्तकारणत्व का सम्बन्ध है, कोई आपत्ति नहीं, वह एक चेतन परतत्त्व है, सर्वज्ञ तथा जगत् के कर्तृत्व में समर्थ है; किन्तु जब यह कहा जाता है कि वह अपने को ही उपादान बनाकर विविधविकारपूर्ण चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत करता है, तो यह आशंका स्वाभाविक रूप से होती है कि क्या वह सांख्याभिमत प्रधान के समान ही स्वरूपतः विकारशील है ? किन्तु उक्त चेतन परतत्त्व को न तो सूत्रकार ही विकारशील मानते हैं और न भाष्यकार ही; ऐसी दशा में यह कैसे उपपन्न हो सकता है कि वह विकाररूप जगत् की प्रकृति है ? यदि जगत् को मिथ्या माना जावे तो यह पूर्व में देखा जा चुका है कि जगत् की वास्तविक सत्ता को सूत्रकार मानते हैं।[1] इसके अतिरिक्त जगत् को मिथ्या मानने से जगद्रूप 'विकृति' के न होने से परतत्त्व को 'प्रकृति ही नहीं माना जा सकता और फिर तो उक्त सिद्धान्त—ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व—ही समाप्त हो जाता है, जो कि सूत्रकार के दर्शन का मूल सिद्धान्त है। जगत् का वस्तुतः अस्तित्व है, उस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण स्वयं ब्रह्म है और साथ ही ब्रह्म निर्विकार है, इन तीनों सूत्रकाराभिमत सिद्धान्तों की संगति उपपन्नता के साथ किस प्रकार लग सकती है, यही एक समस्या है, जिसका समाधान भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, वैष्णव भाष्यकारों में मध्व तो केवलनिमित्तकारणवाद को मानते हैं,[2] अतः उनके समक्ष उक्त समस्या उपस्थित ही नहीं; किन्तु उन का पक्ष सूत्रसम्मत न होने से स्वीकरणीय नहीं। अन्य भाष्यकारों ने उक्त समस्या का समाधान प्रमुखतः दो रूपों में किया है। रामानुज, निम्बार्क और बलदेव का पक्ष यत्किंचित् भेद के साथ यह है कि

---

१. पृ० २०९-२१२।
२. पृ० २१२-२१४।

सूत्रकाराभिमत चेतन परब्रत्त्व का स्वरूपतः परिणाम नहीं होता, उसके चिद-चिन्मय शरीर या शक्ति का परिणाम होता है, जो कि उक्त परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न है, किन्तु अपने स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति के लिए एकमात्र परतत्त्व पर आश्रित है और उसके द्वारा नियम्य है। इस प्रकार उक्त शरीर या शक्ति परतत्त्व की है, अतः परतत्त्व जब चाहता है, तब उसे परिणत कर स्वयं जगद्रूप हो जाता है। उक्त प्रकार से परतत्त्व स्वरूपतः निर्विकार है और अपनी इच्छा से अपने शरीर या शक्ति को परिणत कर जगत् हो जाता है, अतः वह जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

वल्लभ का पक्ष यह है कि स्वरूपतः केवल परतत्त्व ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, वह अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। परतत्त्व सच्चिदानन्द है, वह अपने एक अंश में आनन्द का तिरोभाव कर देता है, जिससे उक्त अंश (चिदंश) जीवसमष्टि होता है, एक दूसरे अंश में आनन्द और चित् दोनों का तिरोभाव कर देता है, जिससे वह अंश (सदंश) जडतत्त्व हो जाता है। उक्त प्रकार से परतत्त्व ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होने के कारण जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

उक्त दो पक्षों में से प्रथम में परतत्त्व निर्विकार बना रहता है, किन्तु उसके बदले में उसका स्वरूपतः उपादानत्व नहीं हो पाता और द्वितीय पक्ष में परतत्त्व का स्वरूपतः उपादानत्व हो जाता है, किन्तु उसके बदले में उसकी निर्विकारता नहीं रह पाती। प्रथम पक्ष परतत्त्व के उपादानत्व की सिद्धि के लिए यह कहता है कि वह अपने अपृथक्सिद्ध शरीर या शक्ति को परिणत करने के कारण उपादान है और द्वितीय पक्ष परतत्त्व के निर्विकारत्व की सिद्धि के लिए यह कहता है कि वह परिणत होने पर भी अविकृत रहता है। अब यह देखना है कि ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व के सम्बन्ध में सूत्रकार का पक्ष क्या है?

सूत्रकार ने अपने जिज्ञास्य ब्रह्म को जगत्कारण कहा है (सू० १।१।२), पुनः स्पष्टता के साथ उसे जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कहा है (सू० १।४।२३-२८), उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्म जगत् की 'प्रकृति' है (सू० १।४।२३) और साथ ही यह बतलाया है कि ब्रह्म का जगत् रूप में परिणाम होता है अर्थात् जगत् ब्रह्म की 'विकृति' है (सू० १।४।२७)। फिर उन्होंने कहा है कि जगद्रूप कार्य ब्रह्म से विलक्षण है, कार्यकारण में पूर्ण रूप से सालक्षण्य नही हो सकता (सू० २।१।४-६)। इसके बाद उन्होंने यह बतलाया है कि जगत् के अपने कारण 'ब्रह्म' में लीन होने पर भी उस के

दोष ब्रह्म में नहीं आते, क्योंकि ऐसे भी दृष्टान्त हैं कि कार्य के लीन होने पर उसके दोष कारण में नहीं आते (सू० २।१।८-९)। फिर उन्होंने ब्रह्मकारणवाद पर आक्षेप करने वाले विपक्षी सांख्य को ही उसका आक्षेप यह कहते हुए लौटा दिया है कि कार्य-कारण के वैलक्षण्य का दोष एवं कार्य के कारण में लीन होने पर कार्य के दोषों की कारण में प्रसक्ति का दोष प्रधानकारणवाद में भी है (सू० २।१।१०)।

उक्त रूप से सूत्रकार ने इतना स्पष्ट कर दिया है कि—

(१) जगत् दोषपूर्ण है और ब्रह्म से विलक्षण है।

(२) जगत् और ब्रह्म का कार्यकारणभाव उसी प्रकार है, जिस प्रकार सांख्य के अनुसार जगत् और प्रधान का है अर्थात् जिस प्रकार सांख्य के अनुसार जगत् की 'प्रकृति' प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मकारणवाद के अनुसार जगत् की 'प्रकृति' ब्रह्म है।

(३) प्रधानपरिणामवाद की तरह ही ब्रह्मपरिणामवाद है।

(४) ब्रह्मकारणवाद पर जो वैलक्षण्य आदि दोष लगाए जा सकते हैं, वे प्रधानकारणवाद पर भी लग सकते हैं।

प्रधान में लीन होने पर जगत् के दोषों की प्रसक्ति जिस प्रकार सांख्य अपने प्रधान में नहीं मानता, उसी प्रकार सूत्रकार भी अपने ब्रह्म में नहीं मानते, किन्तु जगत् में जो कुछ भी दोष या विकार हैं, वे सांख्य के अनुसार जिस प्रकार प्रधान के परिणाम हैं, उसी प्रकार सूत्रकार के अनुसार वे ब्रह्म के परिणाम हैं। सांख्य के अनुसार जिस प्रकार 'प्रधान' प्रकृति और जगत् विकृति है, उसी प्रकार सूत्रकार के अनुसार 'ब्रह्म' प्रकृति और जगत् उसकी विकृति है। जगत् को यदि सूत्रकार ब्रह्म की विकृति नहीं मानते तो वे विपक्षी सांख्य के समक्ष ब्रह्म को जगत् की प्रकृति सिद्ध नहीं कर सकते थे। उन्होंने सूत्र २।३।७ में जगत् को विकार ही कहा है। वस्तुतः किसी भी तत्त्व को प्रकृति कहने पर यह स्वतः सिद्ध है कि उस तत्त्व की अन्य विकृतियाँ होती हैं। विकृति की अपेक्षा किए विना 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता, 'प्रकृति' और 'विकृति' शब्द परस्पर-सापेक्ष हैं। इस प्रकार जब सूत्रकार ब्रह्म को जगत् की प्रकृति मानते हैं, तो स्पष्ट है कि वे जगत् को ब्रह्म की विकृति मानते हैं, भले ही वह विकृति ब्रह्म से विलक्षण है और उसके लीन होने पर उसके दोष प्रकृति 'ब्रह्म' में नहीं आते और यह ठीक भी है, क्योंकि प्रकृति का प्रकृतित्व यही है कि जब वह अपनी प्रकृत अवस्था में रहे तब उसमें विकृति के दोष न रहें, अन्यथा वह प्रकृति न होकर विकृति ही कही

जावेगी और यह भी दोनों का एक वैलक्षण्य है; विपक्षी सांख्य को भी ऐसा ही मानना पड़ता है, जैसा कि सूत्रकार ने सू० २।२।१० के द्वारा प्रकट कर दिया है।

प्रकृति और विकृति का उक्त प्रकार से वैलक्षण्य मानते हुए भी सूत्रकार ने उन दोनों का सांख्य के समान ही सत्कार्यवाद के अनुसार अनन्यत्व सिद्ध किया है (सू० २।१।१५-२०), और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार विकृति अन्य कुछ नहीं, अपितु केवल 'विकृतप्रकृति' है। इस प्रकार यह एक आवश्यक प्रतिबन्ध है कि जिस तत्त्व को प्रकृति माना जावे, उसको विकृत भी मानना पड़ेगा; यदि तत्त्व विकृत न होकर यथावस्थित ही बना रहे तो वह चाहे कुछ भी माना जावे किन्तु प्रकृति नहीं माना जा सकता। प्रकृति को अपनी विकृति में परिणत होने के लिए विकृत होना ही पड़ेगा। सूत्रकार ने अपने ब्रह्म को प्रकृति मान कर उसका जगद्रूप विकृति में परिणाम मानते हुए उसे विकृत मान लिया। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि ब्रह्म के अविकृत रहते हुए ही उसका परिणाम हो जाता है और न वे ऐसा कह कर प्रबल विपक्षी सांख्य के समक्ष अपने ब्रह्मप्रकृतिवाद को एक अनुपपन्न एवं विप्रतिषिद्ध रूप में प्रदर्शित करने के लिए प्रवृत्त ही हो सकते थे। उन्होंने कारण और कार्य के सम्बन्ध में प्रकृतिविकृतिभाव, प्रकृतिपरिणाम, सत्कार्यवाद आदि सब कुछ सांख्य के समान माना है, केवल इतना संशोधन प्रस्तुत किया है कि जगत् की प्रकृति प्रधान नहीं, अपितु ब्रह्म है; साथ ही किसी भी तत्त्व के प्रकृतित्व को सिद्ध करने के लिए जितनी भी सर्वमान्य और विशेष कर सांख्य द्वारा स्वीकृत कसौटियाँ थीं, उन्हीं पर कस कर उन्होंने ब्रह्म के प्रकृतित्व को सिद्ध किया है और ऐसा करना ही उचित था, उन्होंने सांख्य के प्रति दो बार 'स्वपक्षदोषाच्च' (सू० २।१।१०, २९) का प्रयोग कर स्पष्ट कर दिया है कि 'प्रकृतित्व' का अमुक मापदण्ड माना जावेगा तो सांख्य के प्रधान का भी 'प्रकृतित्व' सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सांख्य और ब्रह्मसूत्रों के द्वारा स्वीकृत 'प्रकृतित्व' का मापदण्ड एक ही है। उक्त प्रकार से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि सूत्रकार सांख्य के समान ही अपने द्वारा स्वीकृत प्रकृति 'ब्रह्म' को जगद्रूप विकृति में परिणत होने के लिए विकृत मानते हैं और इस प्रकार वल्लभ का अविकृतपरिणामवाद सूत्रकार के सिद्धान्त के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

अब आगे देखना है कि ब्रह्मप्रकृतिवाद के सम्बन्ध में सूत्रकार का क्या अभिमत है? जब सूत्रकार ने सू० २।१।१५-२० के द्वारा 'ब्रह्म' और

उसकी विकृति 'जगत्' के अनन्यत्व को सत्कार्यवाद के अनुसार प्रतिपादित कर दिया तो यह स्वाभाविक था कि सांख्य ब्रह्मकारणवाद पर यह आक्षेप करता कि जब ब्रह्म ही स्वयं चेतनाचेतनात्मक जगत् हो गया है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्म ही स्वयं जगत् में जीव बना है, और यदि ऐसा है तो ब्रह्म अपना हितसाधन क्यों नहीं किया करता, सर्वसमर्थ होते हुए भी वह क्यों इतना दुःखी है (सू० २।१।२१) ? सूत्रकार ने उक्त आक्षेप का उत्तर दिया कि ब्रह्म जीव नहीं है, वह जीव से अधिक अर्थात् अतिरिक्त तत्त्व है, क्योंकि श्रुतियों में उसे जीव से भिन्न बताया गया है (सू० २।१।२२) । सूत्रकार के उक्त उत्तर से यह जिज्ञासा होती है कि सूत्रकाराभिमत अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद का वह क्या स्वरूप होगा, जिसके अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः जीव और जड से भिन्न होते हुए भी जीवजडात्मक जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है ? जहाँ तक उसके निमित्तकारणत्व का सम्बन्ध है, सूत्रकार का उक्त उत्तर इस रूप में उपपन्न हो सकता है कि ब्रह्म सर्वसमर्थ होते हुए भी स्वरूपतः जीव नहीं बना है, अतः यदि वह जीव का हितसाधन नहीं करता है तो उस पर हिताकरणादि दोषों की प्रसक्ति नहीं, किन्तु फिर वह जीवजडात्मक जगत् का उपादानकारण कैसे माना जा सकता है, उससे जगत् का अनन्यत्व कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

उक्त जिज्ञासा को लेकर जब सूत्रों की शरण ग्रहण की जाती है, तो उनसे यह स्पष्ट उत्तर मिलता है कि जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण परतत्त्व नहीं, अपितु 'सत्' है । 'परतत्त्व' अपने से व्यतिरिक्त जीव और जड तत्त्वों से स्वरूपतः भिन्न है और फलतः उनका उपादान नहीं, किन्तु 'सत्' से व्यतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं, वही कारण और कार्य है । परतत्त्व स्वरूपतः निर्विकार है, अतः जगत् की प्रकृति नहीं और 'सत्' जगत् की प्रकृति होने के कारण विकारशील है ।

अब उक्त कथन का स्पष्टीकरण आवश्यक होगा । श्रुतिवाक्य-समन्वय के प्रसंग में देखा जा चुका है कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) वाक्य में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित 'सत्' को सूत्रकार ने सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म बताया,[1] उक्त 'सत्' में जीव का स्वाप्यय अर्थात् स्वकारण में लय बताया (सू० १।१।१०), जिससे सिद्ध है कि उक्त जगत्कारण 'सत्' जीव का भी कारण है । सू० २।३।१-७ के द्वारा आकाशोत्पत्ति

---

१. पृष्ठ १६०-१६२ ।

के वर्णन में यही कहा गया है कि 'यावद्विकार' का उक्त 'सत्' से ही विभाग अर्थात् उत्पत्ति होती है, और ऐसा नहीं माना जावेगा तो 'एक विज्ञान से सर्वविज्ञान' प्रतिज्ञा की हानि होगी; पुनः आगे कहा गया कि 'सत्' की उत्पत्ति किसी से नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानना अनुपपन्न होगा (सू० २।३।६)। इस प्रकार उक्त 'सत्' को जड तत्वों का भी कारण कहा गया। उक्त 'सत्' ही सू० १।४।२३ में जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बताया गया है, जैसा कि उक्त श्रुतिवाक्य के प्रकरण में प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टान्तों के उक्त सूत्र में निर्देश से स्पष्ट है। उक्त 'सत्' से ही जगत् का अनन्यत्व सू० २।१।१५ के द्वारा प्रतिपादित किया गया है, जैसा कि उक्त श्रुतिवाक्य के प्रकरण में प्रतिपादित 'वाचारम्भण' के निर्देशक उक्त सूत्र के हेतु 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' से स्पष्ट है। उक्त 'सत्' को ही जगत् बताया गया, जैसा कि सू० २।१।१८ के 'शब्दान्तर' पद के द्वारा उक्त श्रुतिवाक्य के निर्देश से स्पष्ट है। इस प्रकार उक्त 'सत्' ही प्रकृति है और वही जगद्रूप विकृति है। जहाँ सूत्रों में अभिन्ननिमित्तोपादानकारण की चर्चा आई है, वहाँ सर्वत्र उक्त 'सत्' का ही निर्देश किया गया है।

अब 'सत्' के स्वरूप-परिचय की आवश्यकता होगी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उक्त 'सत्' ही स्वयं जगत् है और यह जगत् ही मूल रूप में 'सत्' है, अतः 'जगत्' के स्वरूप का परिचय ही 'सत्' के स्वरूप का परिचय है। सूत्रकार ने, जैसा कि श्रुतिवाक्य-समन्वय में देखा जा चुका है,[1] जगत् में एक अंश अन्तर्यामी तत्त्व माना है, जो जगत् के एक दूसरे अंश का अन्तर्यमन करता है सू० १।२।१९-२१); उक्त दूसरे अंश में पृथिवी आदि जड तत्त्व तथा जीव हैं। उक्त अन्तर्यामी के चेतन होने के कारण उसके सांख्याभिमत प्रधान होने का निराकरण किया गया है (सू० १।२।२०), किन्तु यह आशंका कर कि कहीं वह जीव ही तो नहीं है, यह कहा गया है कि उक्त अन्तर्यामी अपने से स्वरूपतः भिन्न जीव का भी अन्तर्यामी है (सू० १।२।२१)। इस प्रकार उक्त अन्तर्यामी को जीव और जडतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न माना गया है। पुनः जीव के अन्तर्यामी को 'पर' कहा गया (सू० २।२।४४), जीव के दोषों से 'पर' को अस्पृश्य बताया गया (सू० २।३।४५), जीव का बन्ध और मोक्ष 'पर' के संकल्प से बताया गया (सू० ३।२।४), 'पर' को जगत् में स्थित होते हुए भी जगत् के दोषों से अस्पृश्य बताया

---

१. पृष्ठ १७६-१७७।

गया (सू० ३।२।११), अर्चिरादिमार्ग जीव को 'पर' के समीप पहुँचाता है या नहीं, इस रूप में 'पर' के प्राप्यत्व का निर्देश किया गया (सू० ४।३।११)। इस प्रकार सूत्रों में जहाँ कहीं नियन्ता या प्राप्य तत्त्व की चर्चा आई है, वहाँ सर्वत्र 'पर' का निर्देश किया गया है। उक्त प्रकार से सूत्रकार के अनुसार जगत् का स्वरूप ऐसा हुआ कि 'पर' उसमें नियन्ता अन्तरात्मा है और जीव और जड तत्त्व नियम्य हैं; 'पर' अपने नियम्य उक्त दोनों तत्त्वों से स्वरूपतः भिन्न है और उनके दोषों से अस्पृश्य है।

पूर्वकथनानुसार जगत् और 'सत्' के एक होने के कारण जगत् का उक्त स्वरूप ही उक्त 'सत्' का स्वरूप है अर्थात् 'सत्' में नियन्ता अंश परतत्त्व है और नियम्य अंश में जीव और जडतत्त्व हैं। सूत्रकार ने उक्त 'सत्' को सू० १।१।५-१२ के द्वारा सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म बताया और 'सत्' के केवल अन्तर्यामी अंश परतत्त्व को भी सू० १।२।१६-२१ के द्वारा सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म बताया, किन्तु 'सत्' के नियम्य अंश—जीव और जड—को सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म कहीं नहीं बताया, अपितु, जैसा कि विगत अध्याय में श्रुतिवाक्य-समन्वय के प्रसंग से देखा जा चुका है,[1] उन्होंने सर्वत्र सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म से नियम्य अंश का भेद प्रदर्शित किया है, अतः सूत्र-जिज्ञास्य 'ब्रह्म' की दृष्टि से 'सत्' में अन्तर्यामी परतत्त्व की प्रधानता होने के कारण सूत्रकार के अनुसार 'सत्' के स्वरूप का परिचय स्वनियम्यजीवजड़युक्त परतत्त्व के रूप में होगा। सूत्रकार के अनुसार 'तेज ऐक्षत, आप ऐक्षन्त' (छान्दोग्य० ६।३) आदि वाक्यों में प्रतिपादित अग्नि जलादिजडतत्त्वकर्तृक ईक्षण का वास्तविक कर्त्ता अग्नि, जल आदि जड तत्त्वों में अन्तरात्मरूप से अवस्थित परतत्त्व है (सू० २।३।१४), इससे भी स्पष्ट है कि उनके अनुसार 'सदेव···तदैक्षत' वाक्य में प्रतिपादित ईक्षण का कर्त्ता 'सत्' भी स्वनियम्य जीवजडात्मक मूलवस्तु से युक्त परतत्त्व है।

केवल 'परतत्त्व' में निमित्तकारणत्व सम्भव है, किन्तु केवलनिमित्तकारणवाद सूत्रकार का सिद्धान्त नहीं, इसलिए वे केवल परतत्त्व को नहीं, अपितु 'सत्' अर्थात् जीवजडयुक्त परतत्त्व को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानते हैं। 'सत्' प्रकृति है और जगत् विकृति है। 'सत्' कारणावस्था में अपने प्रकृत रूप में है और जगद्रूप कार्यावस्था में वह अपने विकृत रूप में है। इस प्रकार उक्त 'सत्' जगत् के रूप में विकृत होकर अपने को जगत् की 'प्रकृति' कहलाने की योग्यता रखता है, क्योंकि वह 'प्रकृतित्व' के आवश्यक प्रतिबन्ध

---

१. पृ० १३५, १६६, १७०-१७९, १८२-१८६ आदि।

को पूरा करता है और साथ ही ईक्षण-कर्त्ता 'परतत्त्व' स्वरूपतः अविकृत रहते हुये 'कारण-सत्' और 'कार्य-सत्' दोनों अवस्थाओं में विशुद्ध नियन्ता आत्मा बना रहता है, क्योंकि वह स्वरूपतः विकृत न होकर अपने से अपृथक्-सिद्ध नियम्य अंश को विकृत या परिणत करता है।

उक्त प्रकार से सूत्रकाराभिमत अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद के स्वरूप को समझने से उनके परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों की उपपति सुसंगत रूप में लग जाती है। वे जब ब्रह्म से जगत् के अनन्यत्व का प्रतिपादन करते हैं, तब स्पष्टतः ब्रह्म से उनका तात्पर्य 'सत्' से है, जो कि स्वयं ही कारण और कार्य है और जिसका स्वरूप स्वनियम्यजीवजडयुक्त परतत्त्व है, और जब वे सांख्य के पूर्वनिर्दिष्ट इस आक्षेप का कि ब्रह्म जीवजडात्मक जगत् से अनन्य है तो वही जीव हुआ, पुनः वह स्वहितसाधन क्यों नहीं करता है, यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म जीव से अधिक या अतिरिक्त है, क्योंकि श्रुतियों में उक्त दोनों तत्त्वों के परस्पर-भेद का निर्देश है, तब ब्रह्म से उनका तात्पर्य केवल परतत्त्व से है, जो कि जीव और जड से स्वरूपतः भिन्न होते हुए उनका अन्तरात्मा है। जब वे ब्रह्म को प्रकृति मान कर उसे जगत् के रूप में विकृत मानते हैं, तब ब्रह्म से उनका तात्पर्य उक्त 'सत्' से है और जब वे जगत् में रहते हुए भी ब्रह्म को स्वरूपतः निर्विकार और जीव तथा जड़ के दोषों से अस्पृश्य बताते हैं, तब ब्रह्म से उनका तात्पर्य 'परतत्त्व' से है। उन्होंने सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म को स्थिति के अनुसार पृथक्-पृथक् 'सत्' और 'पर' रूप में का स्पष्टतः निर्दिष्ट किया है।

इसके विपरीत वल्लभ के अनुसार यदि एकमात्र परतत्त्व की ही सत्ता स्वीकृत की जाती है, तो उसे जगत् की प्रकृति मानने पर विकृत भी मानना पड़ेगा, क्योंकि विकृत हुये विना उसका प्रकृतित्व नहीं माना जा सकता। वस्तुतः वल्लभ का अविकृतपरिणामवाद कहने भर को है, उन्हें अपनी प्रक्रिया के अनुसार परतत्त्व विकृत ही मानना पड़ेगा, क्योंकि वे परतत्त्व के आविर्भूत गुणों का तिरोभाव मानते हैं और किसी द्रव्य के गुणों का आविर्भाव या तिरोभाव ही उसका विकृत होना है, वही उसकी अपने स्वरूप से प्रच्युति है। सत्कार्यवाद के अनुसार द्रव्य तो सर्वदा बना ही रहता है, उसके गुणों में ही अन्तर आता है, जिससे उक्त द्रव्य की प्रकृतावस्था 'प्रकृति' और गुणों के आविर्भाव या तिरोभाव होने से उसकी विकृतावस्था 'विकृति' है। कारण से कार्य रूप में परिणत होने के लिये अधिकतर मूलद्रव्य में पूर्व-तिरोहित गुणों का आविर्भाव या विकास माना जाता है, किन्तु वल्लभ ने

केवल इतना अन्तर कर दिया है कि वे कारण से कार्य रूप में परिणत होने के लिये मूलद्रव्य में पहले से आविर्भूत गुणों का तिरोभाव मानते हैं, किन्तु उक्त दोनों प्रकारों में द्रव्य अपनी मूलावस्था की अपेक्षा विकृत अवस्था को ही प्राप्त करता है और वल्लभ के अनुसार भी यही कहना होगा कि उनके परतत्त्व में गुणों के तिरोभाव का ही यह परिणाम है कि उसके विशुद्ध सच्चिदानन्द होते हुए भी उसको यह अवस्था प्राप्त हुई जो कि विविधविकार-पूर्ण वर्तमान जगत् के रूप में दृष्टिगोचर है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है[1], सूत्रकार ने सूत्र २।३।७ में सभी विकारों को उनकी अपनी प्रकृति 'सत्' से उत्पन्न माना है और इस प्रकार प्रकृति को विकारशील प्रतिपादित किया है। वल्लभ ने उक्त सूत्र के 'विकार' शब्द का अर्थ 'विकृत' कर दिया कि जो विकृत है, वह उत्पन्न होता है और आकाश को विकृत मान कर उसकी उत्पत्ति सिद्ध की। ऐसा अर्थ करने से सम्भवतः उन्होंने यह प्रयत्न किया कि प्रकृति विकृत न सिद्ध हो पावे, प्रकृति से उत्पन्न होने वाले पदार्थ ही विकृत माने जावें; किन्तु यदि उत्पन्न होने वाले विकृत पदार्थों को परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न माना जावे तो एकमात्र परतत्त्व ही है, इस सिद्धान्त का विरोध होता है और यदि उन्हें स्वरूपतः परतत्त्व ही माना जावे, तो परतत्त्व में ही विकृतत्व आया। इस प्रकार परतत्त्व को जगत् की प्रकृति मानने से उसके निर्विकारत्व की रक्षा किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त परतत्त्व को ही जीव रूप में परिणत या अवस्थित मानने से सांख्य के द्वारा किए हुए उक्त आक्षेप—स्वहिताकरण—का निराकरण नहीं हो सकता, जो कि सूत्रकार ने अपने अनुसार सू० २।१।२२ में पूर्वोक्त प्रकार से कर दिया है। वल्लभ ने उक्त सूत्र का अर्थ किया है कि तावन्मात्र अर्थात् जीवमात्र ही ब्रह्म नहीं है, अपितु उतने से अधिक है, किन्तु सांख्य ने यह नहीं कहा था कि तावन्मात्र ही ब्रह्म है, कोई भी प्रकृति विकृति मात्र ही नहीं हो सकती, उससे अधिक होती है, किन्तु जीव जितना भी है, वह स्वरूपतः परतत्त्व का ही भाग है, यही सांख्य का कहना था और वल्लभ की उक्त प्रक्रिया मानने पर उसका आक्षेप यथावस्थित ही बना रहता है, वह निराकृत नहीं हो पाता। अस्तु ! उक्त प्रकार से स्पष्ट है कि परतत्त्व के गुणों के आविर्भाव- तिरोभाव से उसमें विकार आता है और परतत्त्व का स्वरूपतः विकारशीलत्व न सूत्रकार को अभीष्ट है और न स्वयं वल्लभ को,

---

१. पृ० २१९-२२०।

किन्तु जहाँ सूत्रकार की उक्त प्रक्रिया के अनुसार परतत्व के निर्विकारत्व की रक्षा हो जाती है, वहाँ वल्लभ के अनुसार नहीं होने पाती।

सूत्रकार के उक्त ब्रह्मकारणवाद पर सांख्य द्वारा किए हुए अन्य अनेक आक्षेपों में एक प्रमुख आक्षेप यह है कि यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत होता है, तो कृत्स्नप्रक्ति होगी अर्थात् जगत् ही रह जावेगा, ब्रह्म का मूलस्वरूप पूर्णतया समाप्त हो जावेगा और यदि वह किसी एक अंश से परिणत होता है, तो ब्रह्म के निरवयवत्व की प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा (सू० २।१।२६)। यतः सांख्य ने उक्त आक्षेप के करने में श्रुति का आश्रय लिया था, अतः सूत्रकार ने हँसते हुए केवल इतना कहा कि 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' (सू० २।१।२७) अर्थात् जब श्रुति का आधार लिया जा रहा है तो श्रुति के बल पर ही यह उत्तर है कि न तो कृत्स्नप्रसक्ति होगी और न निरवयवत्व-प्रतिपादक श्रुति का बाध होगा, क्योंकि श्रुति ही ब्रह्म के जगदुपादानत्व का प्रतिपादन करती हुई उसे निरवयव भी बताती है, इसके अतिरिक्त उस जगत्कारण आत्मा में ऐसी ही विचित्र शक्तियाँ है (सू० २।१।२८)। इसके बाद सूत्रकार ने आक्षेपकर्त्ता का उक्त आक्षेप उसी को लौटाया और कहा कि 'स्वपक्षदोषाच्च' अर्थात् जो आक्षेप किया गया है वह सांख्य पर भी तो लग सकता है (सू० २।१।२९)। वस्तुतः सांख्य भी अपने प्रधान को मूल रूप में निरवयव मानता है और उसके अनुसार प्रधान के जगद्रूप कार्य में परिणत होने पर उसका मूलस्वरूप पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाता है, अतः सूत्रकार ने उक्त सूत्र के द्वारा विपक्षी सांख्य को सचेत कर दिया कि यदि उक्त आक्षेप के बल पर ही ब्रह्म के प्रकृतित्व को अनुपपन्न बताया जाता है, तो प्रधान का प्रकृतित्व भी अनुपपन्न है।

सूत्रकार का उक्त उत्तर एक समानदोषयुक्त विपक्षी के लिए तो पूर्णतया उचित है ही, किन्तु निष्पक्ष जिज्ञासा की दृष्टि से भी जब उनके द्वारा स्वीकृत ब्रह्मकारणवाद के उक्त स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाता है, तो भी सांख्य द्वारा किए हुए उक्त आक्षेप का कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार का 'सत्' जगत् की प्रकृति है और वही विकृति है। परतत्त्व को श्रुतियाँ निरवयव बताती हैं और वह निरवयव ही बना रहता है, क्योंकि उसके स्वरूप का कोई परिणाम नहीं होता, उसमें कोई विकार नहीं आता और इसलिए परतत्त्व की कृत्स्नप्रसक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं, क्योंकि उसके कृत्स्न स्वरूप या उसके किसी भाग का परिणाम ही नहीं होता। उक्त परतत्त्व कारणावस्था में अपने द्वारा नियम्य जीव और जड से युक्त है और

उसी प्रकार वह जगत् के रूप में भी जीव और जड से युक्त बना रहता है; अन्तर इतना ही है कि कारणावस्था में जगत् का जीवजडात्मक अंश नामरूपरहित है और जगत् में वह नानानामरूपात्मक है। जडतत्त्व स्वरूपतः विकारशील है, वह अन्य अनेक तत्त्वों के रूप में विकृत होता है और जीव स्वरूपतः यथावस्थित बने रहने पर भी सूत्रकार के अनुसार अनादिकर्म से बद्ध होने के कारण स्वस्वरूपानुभवरहित है (सू० २।१।३५), अतः स्वरूपतः निर्विकार होते हुए भी वह अपनी अनुभूति की दृष्टि से बद्धावस्था में सदा ही विकृत है। कारणावस्था में जीव की चैतन्यशक्ति सुप्त है, कार्यावस्था में वह जागृत होती है, उसे जडतत्त्वमय शरीर प्राप्त होता है औरइस प्रकार नाना नाम-रूप विकसित होते हैं। परतत्त्व कारण और कार्य दोनों ही अवस्थाओं में जीवजडात्मक अंश का अविकृत नियन्ता आत्मा रहता है। उक्त प्रकार से जीवजडयुक्त परतत्त्व अर्थात् 'सत्' को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानने से सूत्रकार ने वस्तुतः अपने ब्रह्मकारणवाद पर उक्त आक्षेप की कोई संभावना नहीं रहने दी है; किन्तु यदि केवल परतत्त्व को जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण माना जावे, जैसा कि वल्लभ मानते हैं, तो वस्तुतः उक्त आक्षेप उस पर यथावस्थित बना रहता है।

उक्त प्रकार से सूत्रकाराभिमत ब्रह्मकारणवाद के स्वरूप को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि रामानुज, निम्बार्क और बलदेव द्वारा प्रस्तुत प्रकार उसके बहुत समीप है। उक्त तीनों भाष्यकार परतत्त्व के स्वरूप का परिणाम न मानकर, उससे स्वरूपतः भिन्न किन्तु उसके द्वारा नियम्य जीव-जडात्मक अंश का परिणाम मानते हैं, वे जीवजडात्मक अंश को परतत्त्व से अपृथक्सिद्ध तथा उसके स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति को पूर्णतया परतत्त्व के आयत्त मानते हैं और उक्त दृष्टि से ही उसे परतत्त्व से अभिन्न मानते हैं, जो कि सूत्रकाराभिमत प्रतीत होता है। उक्त दृष्टि से ही सम्भवतः सूत्रकार ने जीवजडयुक्त परतत्त्व को एक 'सत्' के रूप में मानकर उसे सू० १।१-५-१२ के द्वारा सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म कहा। निम्बार्क और बलदेव जीवजडात्मक अंश को परतत्त्व की 'शक्ति' कहते हैं और रामानुज उसे 'शक्ति' कहते हुए भी प्रमुख रूप से परतत्त्व का 'शरीर' कहते हैं, किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। सू० २।१।२८ में 'विचित्राश्च हि' से सम्भवतः सूत्रकार का अभिप्रायः शक्तियों से हो सकता है और सू० १।२।१९-२१ में अन्तर्यामी को ब्रह्म बताने से उक्त सूत्रों के मीमांस्य श्रुतिवाक्य में निर्दिष्ट

जीवजड़ात्मक अंश का 'अन्तर्यामिशरीरत्व' भी उन्हें अभिप्रेत हो सकता है, किन्तु उन्होंने शब्दशः उक्त अंश को न शरीर कहा है और न शक्ति। यदि यह देखा जावे कि सूत्रकार ने किस शब्द का प्रयोग उक्त अंश के लिए किया है, तो यह प्रतीत होता है कि उसे परतत्त्व का 'रूप' कहना उन्हें अधिक अभीष्ट है। उन्होंने 'अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ···ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्डक २।१।४) का सू० १।२।२४ में निर्देश करते हुए उक्त वाक्य के वर्णन को 'रूप' कहा है और उस रूप का अन्तरात्मा सूत्र-जिज्ञास्य ब्रह्म माना है। सू० ३।१।१४ में केवल परतत्त्व को स्वरूपतः 'अरूपवत्' कहा है, उसकी प्रतियोगिता में परतत्त्व का नियम्य अंश सूत्रकार की दृष्टि में 'रूप' ही है। इस प्रकार सूत्रकार के अनुसार 'सत्' को 'रूपवद् ब्रह्म' एवं 'पर' को 'अरूपवद् ब्रह्म' कहा जा सकता है और साथ ही सूत्रकार के ब्रह्मकारणवाद को इन शब्दों में दुहराया जा सकता है कि उनके अनुसार 'अरूपवद् ब्रह्म' नहीं, अपितु 'रूपवद्ब्रह्म' जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। सू० १।४।२६ के अनुसार 'रूपवद् ब्रह्म' अपने सूक्ष्म या मूल रूप को 'आत्मकृति' से परिणत कर जगद्रूप हो जाता है अर्थात् वह अपने स्वरूप को नहीं, अपितु अपने रूप को परिणत करने से स्वरूपतः अविकृत रहते हुए ही सूक्ष्मरूपवद् ब्रह्म से जगद्रूपवद् ब्रह्म हो जाता है।

रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के द्वारा स्वीकृत ब्रह्मकारणवाद में परस्पर बहुत कुछ समानता होते हुए भी एक दृष्टिभेद है और वह यह है कि यद्यपि उक्त तीनों भाष्यकार जीव और जड को परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न मानते हुए भी तदायत्त होने से उनको परतत्त्व से अभिन्न मानते हैं और इस प्रकार परतत्त्व से जीव और जड का भेदाभेद सम्बन्ध तीनों को स्वीकार है; किन्तु जहाँ रामानुज और बलदेव कारण ब्रह्म से कार्य जगत् का अभेद सम्बन्ध मानते हैं, वहाँ निम्बार्क उक्त दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं। उक्त दृष्टिभेद का कारण यह है कि जहाँ रामानुज और बलदेव चिदचिद्विशिष्ट या चिदचिच्छक्तिमत् ब्रह्म को ही कारण और उसे ही कार्य मानते हैं, वहाँ निम्बार्क केवल परतत्त्व पर दृष्टि रखकर उसे इस रूप में अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानते हैं कि परतत्त्व अपनी चिदचित् शक्तियों के विक्षेप से जगदाकार में परिणत होता है और इस प्रकार जब वे कारण को देखते हैं, तब उनकी दृष्टि चिदचिच्छक्तिमत् परतत्त्व पर नहीं, अपितु केवल परतत्त्व पर रहती है और जब वे कार्य को देखते हैं तब भी उनकी दृष्टि चिदचिच्छमत् परतत्त्व पर नही, अपितु केवल चिदचिच्छक्ति के परिणाम जगत् पर रहती

है अर्थात् उनके अनुसार कारण केवल परतत्त्व और कार्य केवल चिदचिच्छक्ति-परिणाम जगत् है और यतः वे परतत्त्व और चिदचिच्छक्ति का भेदाभेद मानते हैं, अतः वे कारण परतत्त्व और कार्य जगत् का भी भेदाभेद मानते हैं; किन्तु निम्बार्क की उक्त दृष्टि सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होती। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है,[1] सूत्रकार की दृष्टि यह है कि कारण और कार्य का अभेद है, उन्होंने सू० २।१।१५ में स्पष्टतः 'तदनन्यत्वम्' कहा है। निम्बार्क ने उक्त सूत्र के उक्त पद का अर्थ अभिन्न करते हुए भी इतना और अपनी ओर से कह दिया है कि 'नत्वत्यन्तभिन्नत्वम्', और इतना ही सूत्रबाह्य है। सूत्रकार के अनुसार केवल परतत्त्व जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण नहीं, अपितु जीवजडयुक्त परतत्त्व या 'सत्' अर्थात् 'रूपवद् ब्रह्म' ही कारण और वही कार्य है। निम्बार्क के समान सूत्रकार ने रूपरहित केवल परतत्त्व को कारण और परतत्त्वरहित केवल रूप को कार्य नहीं माना और इसीलिए उन्होंने 'तदनन्यत्वम्' कहा। इस प्रकार निम्बार्क की अपेक्षा रामानुज और बलदेव की उक्त दृष्टि अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होती है, जो केवल परतत्त्व को नहीं, अपितु जीवजडयुक्त परतत्त्व को ही कारण और उसे ही कार्य मानकर कारण और कार्य में अभेद मानते हैं।

सूत्रकार ने अपने ब्रह्मकारणवाद पर किए हुए सांख्य के अन्य आक्षेपों का निराकरण करते हुए प्रतिपादित किया है कि 'सत्' की कारणावस्था में तत्त्वों का स्वरूपतः भेद होने से उसकी कार्यावस्था में भी उनका भोक्ता, भोग्य आदि के रूप में विभाग बना रहता है, कोई स्वरूप-सांकर्य नहीं होता (सू० २।१।१४)। सृष्टि करने के लिए परतत्त्व को अनेक कारक-कलाप के उपसंहार की भी कोई आवश्यकता नहीं है और न उसके 'विकरण' होने से उसके द्वारा उपादान-तत्त्व के अधिष्ठान को असम्भव समझ कर उसके जगत्कर्तृत्व पर आक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि उसे केवल निमित्त-कारण और उससे पृथक् स्थित किसी अन्य तत्त्व को उपादानकारण नहीं माना गया है, अपितु 'सत्' के रूप में उसे ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माना गया है, जिसमें कि उसका जीवजडमय रूप उससे सदा अपृथक्सिद्ध होते हुए उसके द्वारा स्वतः ही अधिष्ठित है। जिस प्रकार दूध कारककलापोपसंहार के विना विविध रूपों में परिणत हो जाता है अथवा कोई रूपवान् देव आदि अपने रूप को विकसित कर लेता है, उसी प्रकार 'सत्' या 'रूपवद् ब्रह्म' जगद्-

---

१. पृ० २११, २१८-२२० आदि।

रूप में परिणत हो जाता है अर्थात् अपने अव्याकृत रूप को व्याकृत या विकसित कर देता है और इस प्रकार उसे न तो कारककलापोपसंहार की अपेक्षा है और न स्वरूपतः 'विकरण' होने से कोई बाधा उपस्थित होती है। जहाँ तक उसके जगद्रूप में परिणत होने के लिए सामर्थ्य का प्रश्न है, वहाँ वह सर्वशक्तिसम्पन्न होते हुए सर्वभवनसामर्थ्य रखता है (सू० २।१।२४-२५, ३०, ३१)।

सूत्रकार ने आगे प्रतिपादित किया है कि ब्रह्मकारणवाद पर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता, क्योंकि अवाप्तसमस्तकाम परमात्मा का तो जगत्-सृष्टि से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, फिर वह उसमें क्यों प्रवृत्त होगा, क्योंकि जगत्सृष्टि परा देवता की लीला या क्रीड़ा है, जिसका कि कोई प्रयोजन नहीं होता, अपितु जो स्वयं ही प्रयोजनस्वरूप होती है। जिस प्रकार लोक में सम्पन्न व्यक्ति स्वयंप्रयोजनस्वरूप क्रीड़ा का आनन्द लेते हैं, उसी प्रकार परमात्मा अपने अव्याकृत रूप को व्याकृत करने और पुनः उसे अव्याकृत करने में क्रीड़ा का आनन्द लेता है। सूत्रकार के उक्त उत्तर पर इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जब जगत्सृष्टि परमात्मा की लीला मात्र है, तो वह जीवों को विषम एवं विविधदुःखपूर्ण स्थितियों में डाल कर अपने को वैषम्य और नैर्घृण्य का दोषी क्यों बनाता है? उक्त शंका का समाधान सूत्रकार ने यह किया है कि जीवों को परस्पर भिन्न या दुःखपूर्ण स्थितियों में रखने का उत्तरदायित्व परमात्मा का नहीं, अपितु स्वयं जीवों का ही है, जिनके कि कर्मों की अपेक्षा कर उन्हें तदनुसार स्थिति निष्पक्षता के साथ प्रदान की जाती है, परमात्मा तो केवल उक्त व्यवस्था का व्यवस्थापक मात्र है। यदि यह कहा जावे कि सृष्टि से पूर्व कर्मों का इस रूप में कोई विभाग नहीं था कि अमुक कर्म अमुक जीव से सम्बद्ध हैं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि कर्मों का उक्त विभाग प्रवाह रूप से अनादिकालीन है; और ऐसा मानना ही उपपन्न है, साथ ही उसमें श्रुति का प्रमाण भी है (सू० २।१।३२-३५)। वल्लभ के सादिसृष्टिवाद का सूत्रों से समर्थन नहीं होता। अस्तु! इस प्रकार सूत्रकार के अनुसार जिस प्रकार वर्तमान जगत् कर्मसंस्कारयुक्त जीवों और जड तत्त्वों से युक्त परतत्त्व या 'सत्' है, उसी प्रकार उसकी कारणावस्था अनादिकाल से उक्त रूप में कर्मसंस्कारयुक्त जीवों और सूक्ष्म जड़तत्त्व से युक्त परतत्त्व अर्थात् 'सत्' है। किसी कालविशेष में उक्त रूप 'सत्' की उत्पत्ति अनुपपन्न है (सू० २।३।६), और पूर्वोक्त प्रकार से उसका अभिन्न-निमित्तोपादानकारणत्व सर्वथा उपपन्न है (सू० २।१।३६)।

३. स्वरूपतः परस्पर-भिन्न तत्त्व

उक्त प्रकार से सूत्रकाराभिमत ब्रह्मकारणवाद का इस रूप में परिचय प्राप्त करने के बाद कि 'सत्' अर्थात् स्वापृथक्सिद्ध-स्वनियम्य-जीवजडात्मक-रूपयुक्त परतत्त्व जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, अब परतत्त्व और उसके रूपस्थानीय नियम्य तत्त्व—जीव और जडतत्त्व—के सूत्रकाराभिमत परस्पर-भेदक स्वरूप का परिचय प्राप्त करना उपयुक्त होगा।

(अ) **परतत्त्व**—सूत्रों के अध्ययन से परतत्त्व के विषय में सूत्रकार की निम्नलिखित मान्यताएँ प्रतीत होती हैं :—

(१) परतत्त्व ज्ञानानन्दस्वरूप है (सू० १।१।१६; १।१।२६)।

(२) वह उक्त प्रकार से ज्ञानस्वरूप होते हुए चिन्मात्र नहीं, अपितु स्वाभाविक रूप से चैतन्यगुणयुक्त एक चेतन या ज्ञाता परमात्मतत्व है (सू० १।१।५-६; १।१।१९; १।२।२; १।२।९; १।२।११; १।२।१९; १।२।२२; १।३।१; १।३।१०; १।३।१३; १।३।२३; १।३।४४; १।४।१९; १।४।२४; १।४।२६; २।१।३४; २।३।१४; २।३।४०; ३।२।४; ४।२।१६; ४।४।२१; आदि)।

जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[1] सूत्रकार ने सू० १।१।५ के द्वारा परतत्त्व में ईक्षण या संकल्प मान कर सू० १।१।६ के द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उक्त ईक्षण गौण या औपाधिक नहीं, अपितु मुख्य एवं स्वाभाविक है, क्योंकि परतत्त्व एक आत्मतत्त्व है और आत्मा में चैतन्यगुण स्वाभाविक एवं असाधारण रूप से रहता है। इसके अतिरिक्त उक्त सूत्रों में निर्दिष्ट परतत्त्व के अन्तर्यमन, प्रशासन, जीवानुग्रह, मुक्तभोगसाम्य आदि की तब तक उपपत्ति नहीं लग सकती, जब तक कि उसे एक चेतन परमात्मतत्त्व न माना जावे। इसी प्रकार सूत्रकार के मूल सिद्धान्त अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद की भी तब तक कोई उपपत्ति ही नहीं लग सकती, जब तक कि उसे ज्ञान से विशिष्ट न माना जावे। सूत्रकार ने कहीं भी सूत्रों में यह नहीं कहा कि उसका ज्ञान औपाधिक या अविद्याकल्पित है; उन्होंने सांख्याभिमत प्रधान के जगत्कारणत्व के निराकरण का सर्वप्रमुख आधार उसकी 'ज्ञशक्तिविहीनता' बताई है (सू० २।२।७), यदि उनका जगत्कारण ब्रह्म भी ज्ञशक्तिविहीन है तो उक्त निराकरण का कोई महत्त्व नहीं रहता, अपितु वह विप्रतिषिद्ध

१—पृष्ठ १६०-१६२।

हो जाता है। यदि परतत्त्व को चिन्मात्र मानते हुए उसकी 'ज्ञशक्ति' को गौण या औपाधिक माना जाता है तो सांख्य के पास उक्त परतत्त्व के समान चिन्मात्र और गौण 'ज्ञशक्ति' से सम्पन्न अनन्त पुरुष हैं, फिर सांख्य का निराकरण सूत्रकार किस प्रकार कर सकेंगे ?

(३) परतत्त्व आनन्दस्वरूप होते हुए आनन्दमात्र नहीं, अपितु स्वाभाविक रूप से आनन्दमय है (सू० १।१।१३-२०; १।१।१५; ३।३।११)।

सूत्र १।१।१३ में सूत्रकार ने परतत्त्व को आनन्दमय कहा है और सू० १।१।१४-१५ में यह स्पष्ट कर दिया है कि वह आनन्द का विकार नहीं, अपितु प्रचुरानन्दपूर्ण और आनन्द का मूल है। सू० १।२।१५ में उसके सुखविशिष्टत्व को ही एक असाधारण गुण माना गया है और सू० ३।३।११ में उसके स्वरूप-निरूपक गुणों में 'आनन्द' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सूत्रकार के अनुसार परतत्त्व स्वाभाविक रूप से आनन्दमय या आनन्दगुणयुक्त है।

उक्त प्रकार से सूत्रों के अनुसार परतत्त्व ज्ञानानन्दस्वरूप होते हुए स्वाभाविक रूप से ज्ञानानन्दगुणयुक्त है। परतत्त्व का उक्त स्वरूप सभी वैष्णव भाष्यकारों को ऐकमत्य से स्वीकृत है।

(४) परतत्त्व स्वभावतः सविशेष, सगुण या सधर्मक है (सू० १।१।२१; १।२।२; १।२।१२; १।२।१५; १।२।२२; १।२।२३; १।३।८)।

उक्त सूत्रों में परतत्त्व को शब्दशः सविशेष, सगुण या सधर्मक कहा गया है। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त प्रकार से उसके स्वाभाविक ज्ञानानन्द गुणों से युक्त होने के कारण यह पूर्णतया सिद्ध तथ्य है कि सूत्रकार के अनुसार परतत्त्व एक सविशेष तत्त्व है और इस प्रकार वैष्णव भाष्यकारों का सविशेष-वाद पूर्णतया सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

(५) परतत्त्व स्वरूपतः सत्य, नित्य, निर्विकार, अपहतपाप्मा एवं निर्दोष आदि रूप में श्रुतियों के निर्देश से सूत्रों में बताया गया है (सू० १।१।५-१२; १।१।१४; १।१।१६; १।१।२१; १।२।१३; १।२।१९; १।२।२२; ३।२।११ आदि) और उसके उक्त स्वरूप के सम्बन्ध में कोई विवाद ही नहीं है।

(६) परतत्त्व परिमाणतः विभु, अनन्त, महान् आदि रूप से श्रुतियों में निर्दिष्ट किया गया है और तदनुसार ही उसका उक्त परिमाण सूत्राभिमत है (सू० १।१।१६; १।२।१; १।२।२२; १।३।७; १।३।९; ३।२।२१ आदि) तथा सर्वभाष्यकारसम्मत है।

बलदेव ने सू० १।२।७ के भाष्य में अवश्य यह कहा है कि परतत्त्व का अणुत्व दो प्रकार का है—एक भाक्त और दूसरा मुख्य; किन्तु बलदेव के उक्त पक्ष का सूत्रों से कोई समर्थन नहीं होता। सूत्रों में सर्वत्र परतत्त्व के अल्पायतनत्व या अल्पपरिमाणत्व का यही उत्तर दिया गया है कि उपासना की दृष्टि से श्रुतियों में उसे यत्र-तत्र अल्पपरिमाण कह दिया है, किन्तु वस्तुतः वह वैसा नहीं है (सू० १।२।७; १।२।२०; १।३।२४ आदि)। इस प्रकार सूत्रों के अनुसार परतत्त्व का अणुत्व भाक्त ही है, मुख्य नहीं।

(७) परतत्त्व के स्वरूप में तारतम्यात्मक व्यूहभेद नहीं।

सूत्रकार ने परतत्त्व को विभिन्न स्थितियों में स्थित मानते हुए भी उसके स्वरूप में कोई तारतम्यात्मक व्यूहभेद नहीं माना, उनके अनुसार परतत्त्व स्वरूपतः एकरस होकर सब कार्य करता है। सूत्रों में अन्तर्यमन करने, जीवजडात्मकरूपयुक्त होकर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बनने, मोक्षप्रद होने और प्राप्य होने आदि विभिन्न स्थितियों में परतत्त्व को स्वरूपतः एकरस माना गया है, जैसा कि विगत अध्याय में श्रुतिवाक्य-समन्वय के प्रसंग से तत्तत् स्थानों पर स्पष्टतः देखा जा चुका है।

सूत्रकार के उक्त सिद्धान्त के प्रकाश में वल्लभ के इस सिद्धान्त की सूत्रानुकूलता प्रतीत नहीं होती कि परतत्त्व पुरुषोत्तम है और वह जब जगत्-सिसृक्षा करता है, तो उक्त इच्छा के करते ही उस से एक स्वरूप आविर्भूत होता है, जो अक्षरब्रह्म है। उक्त अक्षरब्रह्म किंचित्तिरोहितानन्द या गणितानन्द अथवा केवल सच्चिद्रूप है और उसका मूल पुरुषोत्तम पूर्णप्रकटसच्चिदानन्द है। पुरुषोत्तम परतत्त्व है और अक्षरब्रह्म उससे न्यून कोटि का होते हुए उसका चरणस्थानीय है। पुरुषोत्तम फल है और अक्षरब्रह्म साधन है। पुरुषोत्तम भक्तों के द्वारा प्राप्य है और अक्षरब्रह्म ज्ञानियों के द्वारा प्राप्य है। पुरुषोत्तम-प्राप्ति परा मुक्ति है और अक्षरब्रह्म-प्राप्ति न्यून कोटि की मुक्ति है। उक्त रूप में अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तम के तारतम्यात्मक व्यूहभेद के वर्णन से वल्लभभाष्य का एक बहुत बड़ा भाग व्याप्त है (वल्लभभाष्य० सू० १।१।१२; १।२।२१; १।४।३; १।४।७ तथा उक्त भाष्य का उत्तरार्द्ध)।

वस्तुतः सभी वैष्णवसम्प्रदायों में व्यूहभेद की मान्यता किसी न किसी रूप में है और उसी का एक रूप वल्लभ का उक्त अक्षरब्रह्म है। इसी प्रकार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध या ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि व्यूह वैष्णवों में मान्य है, जिनकी भिन्न-भिन्न स्थिति है। यद्यपि सभी वैष्णव भाष्यकार किसी न किसी रूप में परतत्त्व के स्वरूप में व्यूहभेद मानते हैं,

किन्तु अन्य भाष्यकारों ने प्रसंगवश उसकी चर्चा करने पर भी वल्लभ के समान उसका सूत्रप्रतिपाद्यत्व प्रदर्शित नहीं किया और वस्तुतः उसका प्रवेश सूत्रों में कराना उचित भी प्रतीत नहीं होता। सूत्रों में परतत्त्व के स्वरूप में किसी प्रकार के व्यूहभेद का प्रतिपादन नहीं है।

(८) परतत्त्व स्वरूपतः अरूप या निराकार है।

सूत्रों में सर्वत्र परतत्त्व को स्वरूपतः एक आत्मतत्त्व के रूप में अरूप या निराकार ही माना गया है और इस प्रकार वल्लभ और बलदेव की इस मान्यता का कि परतत्त्व स्वरूपतः साकार या आनन्दविग्रहवान् है,[1] सूत्रों से कोई समर्थन प्राप्त नहीं होता। यद्यपि हिरण्मय या हिरण्यश्मश्रु पुरुष को सू० १।१।२१ के द्वारा परतत्त्व बताया गया है, किन्तु उससे इतना ही प्रतिपादित होता है कि परतत्त्व यथावसर दिव्य रूप धारण कर सकता है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि सूत्रकार ने परतत्त्व को वल्लभ और बलदेव के समान स्वरूपतः साकार ही माना है। सू० ३।१।१४ में सूत्रकार ने परतत्त्व को स्पष्टतः 'अरूपवत्' ही कहा है। वस्तुतः यह सम्भावनीय ही नहीं कि सूत्रकार परतत्त्व को स्वरूपतः मूर्तिमान् मानते हों।

(९) परतत्त्व कोई विशिष्टव्यक्तित्वसम्पन्न देव नहीं।

सूत्रों में कहीं भी परतत्त्व को किसी विष्णु, शिव आदि देवों के नाम से निर्दिष्ट कर उसे विशिष्टव्यक्तित्वसम्पन्न देव नहीं बताया गया। यद्यपि सभी वैष्णव भाष्यकार परतत्त्व को एक विशिष्ट विग्रहवान् देव के रूप में भी मानते हैं, किन्तु रामानुज और निम्बार्क ने उसका उक्त रूप में सूत्रप्रतिपाद्यत्व प्रदर्शित नहीं किया, मध्व, वल्लभ और बलदेव ने अवश्य अपने-अपने इष्ट-देवों के प्रति सूत्रों की भक्ति को समर्पित कराने का प्रयत्न किया है, जिसमें सूत्रकार का किंचिन्मात्र भी योग प्रतीत नहीं होता।

(१०) परतत्त्व विश्वरूप होते हुए भी विश्वातीत है।

जैसा कि पूर्व में ब्रह्मकारणवाद के प्रसंग से देखा जा चुका है, सूत्रकार ने परतत्त्व को विश्वात्मा या विश्वरूप माना है, किन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वह विश्वरूप होते हुए भी विश्वातीत है; उसे न तो किसी सुख-दुःख या भोग की प्राप्ति होती है (सू० १।२।८) और न जगत् में स्थित होते हुए उसमें कोई दोष आता है, क्योंकि वह उभयलिंग अर्थात् विश्वरूप होते हुए

१. वल्लभ भाष्य सू० १।१।१९-२० आदि तथा बलदेवभाष्य सू० ३।२।१४-१७ आदि।

विश्वातीत है (सू० ३।२।११)। विश्वरूप और विश्वातीत परतत्त्व में कोई भेद नहीं है, वह एक ही है (सू० ३।२।१२)। वह स्वरूपतः अरूपवत् ही है, विश्व के नामरूपों का केवल निर्वहण करने के लिए उनके नियन्ता रूप से वह उनमें स्थित है, अतः वह उनके दोषों से अस्पृश्य है (सू० ३।२।१४)। फिर भी उसकी विश्व में स्थिति व्यर्थ नहीं, अपितु प्रकाश के समान सामान्य रूप से सब के लिए उपयोगी है (सू०३।२।१५)। उसके निर्दोष रहने की दृष्टि से ही उसे जलसूर्यक आदि की उपमा दी जाती है (सू० ३।२।१८)। फिर भी सूर्य तब निर्दोष रह पाता है, जब कि जल में उसकी स्थिति नहीं है, किन्तु परतत्त्व तो वस्तुतः जगत् में रहते हुए उसके दोषों से अस्पृश्य है (सू० ३।२।५६)। परतत्त्व के रूप का वृद्धि-ह्रास होता है, उसके स्वरूप का नहीं, किन्तु उक्त रूप के उसमें अन्तर्भूत होने से उसका भी वृद्धि-ह्रास कहा जाता है, जिससे उस एक ही तत्त्व के विश्वरूपत्व और विश्वतीतत्व का सामंजस्य बना रहता है (सू० ३।२।२०)। विश्वरूप होते हुए भी परतत्त्व का पूर्ण स्वरूप उक्त रूप में ही सीमित नहीं है, अपितु उससे भी अधिक अनन्त है; इस प्रकार वह विश्वरूप होते हुए भी विश्वातीत है (सू० ३।२।२१)।

भाष्यकारों ने सू० ३।२।११ के 'उभयलिंग' से विभिन्न निर्देश मानकर उक्त परवर्ती सूत्रों के विभिन्न अर्थ किए हैं, किन्तु वे सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होते। पूर्वसूत्रों (३।२।१-१०) में जीव की विविधदोषपूर्ण दशाओं का वर्णन किया जा चुका है, अतः वस्तुतः उक्त सूत्र ३।२।११ (न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंग सर्वत्र हि) से इसी विषय का प्रस्तावन प्रतीत होता है कि जगत् में स्थित रहते हुए भी परतत्त्व जीव के समान पूर्वोक्त दोषों से स्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि वह श्रुतियों में सर्वत्र उभयलिंग अर्थात् विश्वरूप होते हुए भी विश्वातीत रूप से प्रतिपादित है।

(११) परतत्त्व परात्पर है, उससे परतर अन्य कोई तत्त्व नहीं (सू० ३।२।३०–३६)।

(१२) परतत्त्व ही सर्वफलप्रद है (सू० ३।२।३७-४०)।

सूत्रकार ने आचार्य जैमिनि के इस मत का प्रतिवाद किया है कि फल की प्राप्ति कर्म से होती है। सूत्रकार के अनुसार अचेतन कर्म नहीं, अपितु परमचेतन परमेश्वर परतत्त्व ही कर्मानुसार फल का प्रदान करता है, वही फलाधिष्ठाता है।

परतत्त्व के परात्परत्व और सर्वफलप्रदत्व के विषय में किसी भाष्यकार की विप्रत्तिपत्ति नहीं है।

उक्त प्रकार से सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि वेदान्तभिमत परतत्त्व ही सभी दृष्टियों से सर्वोपरि तत्त्व है, वह जगदन्तरात्मा जगदीश्वर है और इसलिए वही जीव का एकमात्र उपास्य एवं प्राप्य है।

(आ) **जीवतत्त्व**—जीवात्मा के विषय में सूत्रकार की निम्नलिखित मान्यताएँ प्रतीत होती हैं।

(१) जीवात्मा नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती (सू० २।३।१८)।
(२) जीवात्मा ज्ञाता है और परिमाण में अणु है (सू० २।३।१९-३२)।
(३) जीवात्मा कर्ता है (सू० २।३।३३-३९)।
(४) जीवात्मा का कर्तृत्व परतत्त्व के अधीन है (सू० २।३।४०,४१)।

उक्त सिद्धान्त सभी वैष्णव भाष्यकारों को मान्य हैं और उनकी उक्त मान्यता पूर्णतया सूत्रानुकूल प्रतीत होती है। उक्त सिद्धान्तों में से प्रथम तो वैष्णव भाष्यकारों के साथ अन्य सभी भाष्यकारों के द्वारा स्वीकृत है और सूत्रकार ने सू० १।१।१० के द्वारा जीव का अपने कारण 'सत्' में जो 'स्वाप्यय' अर्थात् लय बताया है, उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि वह 'सत्' से सम्पन्न हो जाता है, उसकी चैतन्य-शक्ति सुप्त हो जाती है, किन्तु स्वरूपतः लय नहीं होता; सू० ३।२।९ में 'स्वाप्यय' के बाद 'सत्' से उसी जीव का प्रबोध माना गया है। इस प्रकार जीव की स्वरूपोत्पत्ति को न सूत्रकार मानते हैं और न कोई भाष्यकार। द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार जीव स्वरूपतः परिमाण में अणु होते हुए ज्ञानस्वरूप होने के साथ स्वाभावतः ज्ञानयुक्त है; सांख्य के पुरुष के समान उसका ज्ञानगुण प्रकृतिगुणप्रयुक्त गौण या औपाधिक नहीं और न वैशेषिक के 'आत्मा' के समान आगन्तुक है। सूत्रकार ने सू० १।१।६ में 'आत्मा' का चैतन्यगुण स्वाभाविक माना है और उसी के आधार पर 'सत्' का ईक्षण मुख्य सिद्ध किया है, जीव भी सूत्रकार के अनुसार 'आत्मा' (सू० २।३।१७) है, अतः स्पष्ट है कि सूत्रकार के अनुसार जीवात्मा भी परमात्मा के समान ज्ञानगुणयुक्त है। सू० २।३।१९ के द्वारा उसे स्पष्टतः 'ज्ञ' कहा गया है और परवर्ती सूत्रों (२।३।२०-३२) में जीव के अणुत्व के साथ ज्ञानगुणविशिष्टत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त सर्वोपाधिविनिर्मुक्त मुक्तजीव में भी सूत्रकार ने 'संकल्प' तथा 'भोग' माना है (सू० ४।४।८, ४।४।२९), जिससे सिद्ध है कि उसका ज्ञानगुण औपाधिक नहीं, अपितु स्वाभाविक है। इसी प्रकार श्रुतिवाक्य-समन्वय के प्रसंग से मीमांस्य श्रुतियों में अणुत्वव्यपदेश के आधार पर तत्प्रतिपादित तत्त्व के जीवत्व की आशंका की गई है (सू० १।२।७; १।३।२०) जिससे स्पष्ट है कि सूत्रकार 'अणुत्व' को जीव का लिंग मानते हैं।

इस प्रकार सूत्रकार के अनुसार जीवात्मा एक अणुपरिमाणक एवं स्वाभाविक रूप से ज्ञानगुणयुक्त आत्मतत्त्व है। तृतीय सिद्धान्त—जीव का कर्तृत्व—सूत्रकार ने सू० २।३।३३ (कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्) के द्वारा स्पष्टतः प्रतिपादित किया है और उसकी सिद्धि परवर्ती सूत्रों (२।३।३४-३९) में की है; साथ ही मुक्तजीव के उक्त 'संकल्प' और 'भोग' के प्रतिपादन से उसका कर्तृत्व सूत्रकाराभिमत ही सिद्ध होता है। चतुर्थ सिद्धान्त सू० २।३।४०, ४१ में स्पष्टतया प्रतिपादित है। इस प्रकार उक्त चारों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वैष्णव भाष्यकारों का पक्ष पूर्णतया सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

(इ)—**जीव का परतत्त्व से सम्बन्ध**—पूर्व में ब्रह्मकारणवाद के प्रसंग से यह देखा जा चुका है कि सूत्रकार जीव को परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न मानते हैं और उसीके आधार पर उन्होंने सांख्य के एक आक्षेप का निराकरण किया है (सू० २।१।२१-२३)। विगत अध्याय में श्रुतिवाक्य-समन्वय के प्रसंग से यह भी देखा जा चुका है कि सूत्रकार ने जीव को सर्वत्र परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न बताया है (सू० १।१।१७-१८; १।१।२२; १।१।३२; १।२।३-८; १।२।११-१२; १।२।१८; १।२।२१; १।२।२३; १।३।३-६; १।३।७; १।३।११; १।३।१७-२२; १।३।४२-४४)। स्वरूपाविर्भाव के बाद मुक्तावस्था में भी जीव का परतत्त्व के साथ 'भोगसाम्य' ही उन्होंने प्रतिपादित किया है (सू० ४।४।२१)। इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि सूत्रकार जीव को स्वरूपतः परतत्त्व से भिन्न मानते हैं।

सू० १।२।२१ में सूत्रकार ने परतत्त्व को जीव का अन्तर्यामी और जीव को परतत्त्व का नियम्य माना है और स्पष्टतः 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' कहा है। इस प्रकार स्वरूपभेद के साथ परतत्त्व और जीव का नियन्तृ-नियम्य-भाव सम्बन्ध है। जीव के कर्तृत्व को सूत्र २।३।३९ के द्वारा परतत्त्व के ही अधीन बताया गया है। इस प्रकार जीव के स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति आदि को सूत्रकार ने परतत्त्व के आयत्त माना हैं और इसी दृष्टि से उसे सू० २।३।४२ के द्वारा 'अंश' कहा है। उक्त सूत्र में प्रतिपादित 'अंशत्व' की भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार जीव परतत्त्व के स्वरूप का कोई 'अंश' अर्थात् भाग नहीं; किन्तु वल्लभ का मत है कि जीव परतत्त्व के स्वरूप का ही एक अंश है, उनके अनुसार वह अग्नि से विस्फुलिंग के समान ब्रह्म से व्युच्चरित या विनिर्गत अंश है और व्युच्चरित होते ही उक्त अंश का आनन्द तिरोहित हो गया है, जिससे वह जीव है। वल्लभ का उक्त मत सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं

होता। सूत्रकार ने सर्वत्र ही जीव का परतत्त्व से स्वरूप-भेद प्रतिपादित किया है। पूर्व में यह देखा जा चुका है कि सांख्य के द्वारा जीव के ब्रह्मस्वरूपांशत्व के आधार पर उठाए हुए आक्षेप के निराकरण में उन्होंने यही कहा कि परतत्त्व जीव से अतिरिक्त या भिन्न है (सू० २।१।२२)।[1] अंशत्वप्रतिपादक उक्त सूत्र (२।३।४२) के बाद भी उन्होंने सू० २।३।४५ में स्पष्ट कर दिया है कि 'प्रकाशादिवत्तु नैवं परः'; इस का चाहे तो यह अर्थ माना जावे कि जीव प्रकाश के समान अंश है और इस प्रकार वह स्वरूपतः परतत्त्व नहीं, चाहे यह अर्थ माना जावे कि जिस प्रकार प्रकाश सर्वत्र रहता हुआ भी स्थानगत दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार परतत्त्व भी अपने अंशभूत जीवों में रहते हुए उनके दोषों से अस्पृश्य है, और चाहे कोई भी अन्य अर्थ किया जावे, सूत्राक्षरों (नैवं परः) से इतना स्पष्ट है कि सूत्रकार यहाँ भी जीव से परतत्त्व को स्वरूपतः पृथक् प्रतिपादित कर रहे हैं। वल्लभ ने उक्त सूत्र के अर्थ में कहा है कि दुःख आदि भी ब्रह्मधर्म हैं, अतः ब्रह्म पर उनका उसी प्रकार कोई प्रभाव नहीं, जिस प्रकार अग्नि के धर्म ताप का अग्नि पर कोई प्रभाव नहीं, 'अंश' ही द्वैत-बुद्धि से दुःखी होता है; किन्तु उक्त उपपत्ति न तो सूत्रकाराभिमत प्रतीत होती है और न तार्किक दृष्टि से सन्तोषजनक ही। अन्य भाष्यकारों ने जीव का परतत्त्व से स्वरूप-भेद मानते हुए 'अंशत्व' की व्याख्या प्रमुखतः दो प्रकार से की है; मध्व ने अंशत्वप्रतिपादक उक्त सूत्र में अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, केवल उद्धरण रख दिए हैं, जो कि प्रायः यह प्रतिपादित करते हैं कि परतत्त्व पिता, भ्राता, सखा, स्वामी है, अतः अंशी है और जीव पुत्रादिवत् होने से अंश है; रामानुज, निम्बार्क और बलदेव का पक्ष यह है कि स्वरूप-भेद होते हुए भी जीव अपने स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति आदि में परतत्त्व के आयत्त होने के कारण परतत्त्व का अंश है। वस्तुतः, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[2] रामानुज, निम्बार्क और बलदेव का उक्त पक्ष ही अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है। सूत्रकार ने जीव को 'अंश' बताते हुए उक्त सूत्र (२।३।४२) में जो यह हेतु प्रस्तुत किया है कि श्रुतियों में भेदव्यपदेश और अभेदव्यपदेश दोनों के होने से जीव अंश है, उससे स्पष्ट है कि सूत्रकार स्वरूपभेद के साथ अभेद मानते हैं। वस्तुतः, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है, सूत्रकार परतत्त्व और जीव का भेद मानते हैं और 'सत्' और 'जीव' का

---

१. पृ० २१६।
२. पृ० २१९-२२२, २२५-२२६ आदि।

अभेद मानते हैं।[1] अंशत्व-प्रतिपादन के लिए उन्होंने सू० २।३।४३ में 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' को हेतु रूप में निर्दिष्ट किया है; उक्त मन्त्रवर्ण में सत् या रूपवद् ब्रह्म का ही प्रतिपादन है और जीव उसका एक अंश या भाग प्रत्यक्ष रूप से है। परतत्त्व की दृष्टि से देखा जावे तो उसका सम्पूर्ण जीवजडमय रूप उससे स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी तदात्मक एवं तद्व्याप्य है और उसीके साथ अपृथक्सिद्ध रूप से स्थित तथा उसीके द्वारा पूर्णतया अधिष्ठित है। परतत्त्व उक्त रूप में सूत्र या नियन्ता अन्तरात्मा के के रूप में प्रोत है, अतः परतत्त्व ही सब कुछ है और उक्त रूप उसका एक नियम्य अंश मात्र है। उक्त प्रकार से अंश होने के कारण उक्त सम्पूर्ण जीव-जडमय रूप या उसके किसी भाग—जीव या जडतत्त्व—का स्वरूप-परिचय यही होगा कि वह परतत्त्व है, भले ही वह स्वरूपतः परतत्त्व नहीं है। इसी स्वरूप-परिचय को प्राप्त कर जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' या इन्द्र से समान 'प्राणोऽस्मि' कहता है और जीव की यही दृष्टि सूत्रकार के द्वारा सू० १।१।३१ में निर्दिष्ट 'शास्त्रदृष्टि' प्रतीत होती है। जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है[2], उक्त सूत्र के मीमांस्य प्रकरण में इन्द्र के द्वारा अपने को 'प्राणोऽस्मि' कहने पर भी सूत्रकार ने 'प्राण' को परतत्त्व माना और वक्ता इन्द्र के लिए यह कहा कि वह स्वरूपतः उक्त 'प्राण' अर्थात् परतत्त्व नहीं, अपितु शास्त्रदृष्टि से अपने को 'प्राणोऽस्मि' कहता है। जीव या जडतत्त्व परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी उससे अपृथक्सिद्ध रूप में कैसे सम्बद्ध हैं, इसके लिए चाहे रामानुज के समान शरीरात्मभाव की समानता मानी जावे या निम्बार्क और बलदेव के समान शक्तिशक्तिमद्भाव की समानता मानी जावे अथवा अन्य किसी चिन्त्य या अचिन्त्य भाव की समानता मानी जावे, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; उक्त तीनों भाष्यकारों को जीव और जड का परतत्त्व से स्वरूप-भेद मान्य है, साथ ही उससे अपृथक्सिद्ध रूप में अभेद मान्य है और इतना सूत्रकाराभिमत प्रतीत होता है। जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि परतत्त्व अपने से स्वरूपतः भिन्न जीव और जड को किस प्रकार सर्वतो-भावेन स्वायत्त और स्वापृथक्सिद्ध बनाए हुए हैं, इसके लिए यही कहना होगा कि यह उसकी अचिन्त्य एवं अघटितघटनापटीयसी शक्ति की ही महिमा है, जिसे वैष्णव भाष्यकारों ने तो माना ही है, सूत्रकार ने भी सू० २।१।२८ के द्वारा उसमें अपना अभिमत प्रकट किया है।

---

१. पृ० २१९-२२२ आदि।
२. पृ० १७०-१७१।

(ई) **जडतत्त्व**—वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने परतत्व से स्वरूपतः भिन्न मूलजडतत्व को माना है और उसे एक प्रकार से सांख्याभिमत प्रधान के रूप में ही इस संशोधन के साथ स्वीकार किया है कि वह ब्रह्मात्मक है। वल्लभ ने परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न किसी जडतत्व को स्वीकार नहीं किया, उनके अनुसार जडतत्त्व परतत्त्व का ही एक अंश अर्थात् सदंश है। वल्लभ का पक्ष सूत्रानुकूल नहीं, यह पूर्व में देखा जा चुका है।[1] अन्य भाष्यकारों का यह पक्ष तो सूत्रानुकूल है कि जडतत्त्व परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न है, किन्तु उनका यह पक्ष कि वह स्वरूप में सांख्याभिमत प्रधान ही है, सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने सांख्याभिमत प्रधान का निराकरण सर्वत्र ही सूत्रों में किया है और उसका नामकरण ही इस रूप में कर दिया है कि वह केवल स्मृतिप्रतिपादित है, श्रुतिप्रतिपादित नहीं। अपने उक्त सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए उन्होंने श्रुतिवाक्य-समन्वय के द्वारा यह स्पष्टतः प्रदर्शित कर दिया है कि सांख्याभिमत प्रधान श्रुतियों में जगत्कारण रूप से तो प्रतिपादित है ही नहीं, उसका स्वरूप भी श्रुत्यभिमत नहीं। उन्होंने सू० १।४।१-१३ के द्वारा श्रुतियों में सांख्याभिमत प्रधान के सामान्य रूप से स्वरूपतः प्रतिपादन का भी निरास कर दिया है। इसी प्रकार श्रुतियों में सांख्याभिमत 'महत्' के प्रतिपादन को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया (सू० १।४।६), स्वयं भी उन्होंने सूत्रों में महत्, अहंकार आदि की कोई चर्चा नहीं की। इस प्रकार स्पष्ट है कि सूत्रकार को जडतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में सांख्याभिमत प्रक्रिया अभिमत नहीं, ऐसी दशा में रामानुज आदि का यह कहना कि सांख्यतन्त्रसिद्ध प्रक्रिया का केवल इतने अंश में निराश अभिप्रेत है कि सांख्य अपने प्रधान आदि तत्त्वों को ब्रह्मात्मक नहीं मानता, अन्यथा उनका स्वरूप स्वीकार है (सू० १।४।३-८), सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता।

सूत्रकार ने यद्यपि मूलजडतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट चर्चा नहीं की, फिर भी उन्होंने जो 'महतः परमव्यक्तम्' (कठ० १।३।११) वाक्य के 'अव्यक्त' को सांख्याभिमत प्रधान न मानकर 'सूक्ष्म' कहा है (स० १।४।३), उससे स्पष्ट है कि वे किसी न किसी रूप में मूलजडतत्त्व को मानते हैं, किन्तु उसे सांख्याभिमत प्रधान नहीं मानते। उन्होंने आकाश आदि जड तत्त्वों की उत्पत्ति 'सत्' से मानी है (सू० २।३।१-१७), उक्त जड तत्त्व निर्विकार परतत्त्व के तो विकार सूत्रकार के अनुसार माने नहीं जा सकते,

---

१. पृष्ठ २१६-२२५।

अतः स्पष्ट हैं कि वे 'सत्' के विकार होते हुए भी उसके नियन्ता अंश अर्थात् परतत्त्व के विकार न होकर उसके नियम्य अंश अर्थात् सूक्ष्म या मूल जडतत्त्व के विकार हैं, किन्तु यतः सूक्ष्म जडतत्त्व अपने नियन्ता परतत्त्व से अपृथक्सिद्ध होते हुए सर्वतोभावेन तदायत्त होने के कारण ईक्षणकर्ता 'सत्' अर्थात् सूक्ष्मजीव-जडयुक्त परतत्त्व के अन्तर्गत है, अतः सूत्रकार ने आकाश आदि का उत्पत्ति सूक्ष्मजडतत्त्व से न बतला कर 'सत्' से बतलाई और सू० २।३।९ के द्वारा 'सत्' की उत्पत्ति को अनुपपन्न बताकर यह स्पष्ट कर दिया कि सदन्तर्गत सूक्ष्म जडतत्त्व अनुत्पन्न एवं मूलतत्त्व है, उसकी अन्य किसी तत्त्व से उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उससे ही आकाश आदि जड तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। सत् से महत्, अहंकार आदि की उत्पत्ति न बताकर जो 'आकाश' की उत्पत्ति सर्वप्रथम बताई गई है, उससे सिद्ध है कि सांख्याभिमत तत्त्वों का स्वरूप सूत्रकार को मान्य नहीं। सूत्रकार द्वारा स्वीकृत जीव और सांख्याभिमत पुरुष के स्वरूप में जैसा अन्तर है, वैसा ही उनके द्वारा स्वीकृत सूक्ष्म जडतत्त्व और सांख्याभिमत प्रधान के स्वरूप में भी हो सकता है, किन्तु सूत्रों में कोई स्पष्ट चर्चा न होने के कारण सूत्रकार के सूक्ष्म जडतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसका अस्तित्व उन्हें अवश्य मान्य है। 'तेज एक्षत' (छान्दोग्य० ६।२।२-३) आदि वाक्यों में प्रतिपादित तेज आदि जड तत्त्वों के संकल्प को सूत्रकार ने सू० २।३।१४ के द्वारा तेज आदि में अन्तरात्मरूप से स्थित परतत्त्व का ही संकल्प बताया है और उसके आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि उसके संकल्प से एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप में विकृत होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जीव के समान मूल जडतत्त्व तथा उसके विकारभूत जड तत्त्वों के स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति आदि भी परतत्त्व के ही अधीन है और फलतः उसका परतत्व से वही सम्बन्ध है जो जीव का है।[1] सूक्ष्म जड तत्त्व भी जीव के समान परतत्त्व के साथ अपृथक्सिद्ध रूप में स्थित होते हुए सर्वतोभावेन तदायत्त है।

(उ) पंचभूत—मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकार सूत्रों के अनुसार आकाश आदि भूतों को उत्पन्न ही मानते हैं, किन्तु मध्व आकाश और वायु को उत्पन्न मानते हुए भी भागशः अनुत्पन्न भी मानते हैं, (मध्वभाष्य सू० २।३।४-८), किन्तु मध्व के उक्त मत का सूत्रों से समर्थन प्राप्त नहीं होता। सूत्रकार ने आकाश और वायु की उत्पत्ति पर पर्याप्त विचार किया है और

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ २३५-२३७।

श्रुतिवाक्यों के परस्पर समन्वय के फलस्वरूप एक सिद्धान्त के रूप में उक्त दोनों की उत्पत्ति को ही प्रतिपादित किया है (सू० २।३।१-८)।

सूत्रकार के अनुसार भूतों के सूक्ष्म अंशों की ही प्रथमतः उत्पत्ति प्रतीत होती है, क्योंकि उन्होंने उनके 'त्र्यात्मकत्व' का निर्देश किया है (सू० ३।१।२)। सूत्रकार को त्रिवृत्करण अभिप्रेत है या पंचीकरण, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। उन्होंने 'पंचीकरण' की चर्चा न कर 'त्रिवृत् या त्र्यात्मकत्व' का ही निर्देश किया है, जो कि छान्दोग्य के आधार पर प्रतीत होता है, जिसमें केवल तीन भूतों की उत्पत्ति का ही प्रतिपादन है; किन्तु जब उन्होंने तैत्तिरीय के आधार पर आकाश और वायु की भी उत्पत्ति को स्वीकार कर लिया तो 'पंचीकरण' स्वतः आ जाता है। इस प्रकार सूत्रों के अनुसार 'सत्' से सर्वप्रथम सूक्ष्माकाश की उत्पत्ति होती है, पुनः सूक्ष्म वायु आदि के क्रम से सूक्ष्म भूतों के उत्पन्न होने पर उनके मिश्रण से महाभूतों के स्वरूप की निष्पत्ति होती है, जो कि जगत् के भौतिक पदार्थ एवं शरीरों के उपादान बनते हैं। सभी भाष्यकारों को सामान्यतः उक्त प्रक्रिया मान्य है। भूतों के स्वरूप, गुण आदि के सम्बन्ध में सूत्रकार मौन है।

(ऊ) **जीवोपकरण**— सूत्रकार ने इन्द्रिय, प्राण और मन आदि जीवोपकरणों के सम्बन्ध में भी कोई विशेष चर्चा नहीं की; केवल इतना बताया है कि मन सहित इन्द्रियाँ संख्या में ११ हैं, परिमाण में अणु हैं और इनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देव हैं, जो परमात्म-संकल्प से इनका अधिष्ठान करते हैं। मुख्यप्राण भी परिमाण में अणु है और वह वायु या उसकी क्रिया मात्र नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट स्वरूप से युक्त है। इन्द्रियों के समान वह भी जीवोपकरण है। पंचवृत्ति होते हुए भी वह उसी प्रकार एक है, जिस प्रकार विविधवृत्ति युक्त मन एक है। परमात्म-संकल्प से ही जीव उक्त उपकरणों का अधिष्ठान करता है (सू० २।४।१-१६)।

वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार उक्त उपकरणों की स्वरूपतः उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु वल्लभ स्वरूपतः उत्पत्ति न मानकर उनका परतत्त्व से उसी प्रकार व्युच्चरण मानते हैं, जिस प्रकार वे जीवों का मानते हैं। इस प्रकार वल्लभ के अनुसार उपकरण जीवों के समान स्वरूपतः नित्य हैं, जीव और उनके उपकरणों में इतना ही अन्तर है कि जीव सच्चिद्रूप हैं और उपकरण जड हैं, उनमें 'चित् का भी तिरोधान है। अस्तु! वल्लभ के अनुसार तो स्वरूपतः सब कुछ ब्रह्म है, किन्तु यतः उपकरण जड है और सूक्ष्मजडतत्त्व

प्रकृतावस्था में एक ही है, जिसकी कि विकृतियाँ अन्य जड पदार्थ हैं, अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति ही सूत्रकाराभिमत प्रतीत होती है, क्योंकि उन्होंने स्पष्टतः 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (सू० २।३।७) कहा है। उक्त दृष्टि से देखने पर सू० २।४।१ (तथा प्राणाः) के द्वारा आकाशादि के समान ही मन सहित इन्द्रियों और सू० २।४।७ (श्रेष्ठश्च) के द्वारा मुख्यप्राण की उत्पत्ति का प्रतिपादन मानना उचित प्रतीत होता है, जैसा कि वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने माना है।

इस प्रकार सूत्रकार के अनुसार स्वरूपतः परस्पर-भिन्न तीन तत्त्व—परतत्त्व, जीवतत्त्व और सूक्ष्मजडतत्त्व—सिद्ध होते हैं। जीवतत्त्व सूक्ष्मजडतत्त्व और सर्वतोभावेन अपने नियन्ता आत्मा परतत्त्व के आयत्त हैं, जो कि अपने नियम्य उक्त दोनों तत्त्वों से युक्त रूप में 'सत्' पद का वाच्य है। उक्त 'सत्' ही अपने अव्याकृत रूप में जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है और अपने व्याकृत रूप में स्वयं जगत् है अर्थात् वही कारण और वही कार्य है।

(आचारमीमांसा)

४. परमनिःश्रेयस

(अ) ब्रह्मजिज्ञासा का प्रयोजन परमनिःश्रेयस—अब तक ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा का संक्षेप में परिचय प्राप्त किया गया। उक्त तत्त्वमीमांसा का क्या उद्देश्य है, यह सूत्रकार ने अपने शास्त्र के प्रारम्भ में ही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (सू० १।१।१) के द्वारा संक्षेप में प्रकट कर दिया है। सभी भाष्यकारों के अनुसार उक्त सूत्र के 'अतः' शब्द से सूत्रकार ने ब्रह्मजिज्ञासा या ब्रह्मतत्त्वमीमांसा का उद्देश्य या प्रयोजन संकेतित कर दिया है कि जीव की वर्तमान स्थिति विविध दुःखों से पूर्ण है, उसे अपने परमनिःश्रेयस की प्राप्ति नहीं हुई है, अतः उसे प्राप्त करने के लिए ब्रह्मतत्त्वमीमांसा की जावे। इसके करने से जीव को जो स्थिति प्राप्त होगी उसका स्वरूप सूत्रकार ने अपने शास्त्र के उपसंहार में 'अनावृत्तिः शब्दात्०' (सू० ४।४।२२) के द्वारा स्पष्टतः प्रतिपादित कर दिया है कि वह 'अनावृत्ति' है। इस प्रकार उन्होंने यह सूचित कर दिया है कि जीव की वर्तमान स्थिति 'आवृत्ति' है अर्थात् पुनः पुनः विविधदुःखपूर्ण जन्ममरणचक्र के अनुभव

की स्थिति है और ब्रह्मजिज्ञासास्वरूप इच्छा के विषय ब्रह्मज्ञान से जो स्थिति प्राप्त होगी वह 'अनावृत्ति' है अर्थात् अनादि जन्ममरणचक्र से मुक्ति की स्थिति है। यतः जीव की वर्तमान 'आवृत्ति' दशा विविधदुःखपूर्ण है, अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान से प्राप्य 'अनावृत्ति' दशा सकलदुःखरहित एवं निरतिशयानन्दपूर्ण है। अनावृत्ति अर्थात् जन्ममरणचक्रस्वरूप संसार के आवर्तन से मुक्ति ही जीव का परमनिःश्रेयस है, वही ब्रह्मजिज्ञासा का उद्देश्य या प्रयोजन है और वही अपने स्वरूप, साधन और प्राप्ति-प्रकार आदि के साथ ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा का एक मात्र प्रतिपाद्य है।

(आ) **परमनिःश्रेयस का स्वरूप**—अन्य आधुनिक विभिन्न आचारमीमांसाशास्त्रों के द्वारा स्वीकृत तथाकथित परमनिःश्रेयस के विविध स्वरूपों की अपेक्षा ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा के द्वारा स्वीकृत परमनिःश्रेयस का स्वरूप बहुत उत्कृष्ट है। वह असाधारण एवं लोकोत्तर है। वह तथाकथित 'आत्मा' (Self) के लिए नहीं, अपितु ब्रह्मसूत्रों के द्वारा स्वीकृत वास्तविक 'आत्मा' के लिए है, साथ ही वह आत्मा से अतिरिक्त कोई साध्य पदार्थ नहीं, अपितु स्वयं 'आत्मस्वरूप' ही है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का आविर्भाव ही ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा का परमनिःश्रेयस है और वह परतत्त्व की सम्पत्ति या प्राप्ति के साथ ही होता है (सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ४।४।१)। परतत्त्व की सम्पत्ति से स्वस्वरूपाविर्भाव हो जाने की स्थिति में आत्मा स्वस्वरूप को आवृत करने वाले कर्मसंस्कारस्वरूप अज्ञान और उसके फलस्वरूप होने वाले विविधदुःखपूर्ण जन्ममरणचक्रस्वरूप संसार के आवर्तन से मुक्त है (मुक्तः प्रतिज्ञानात् ४।४।२) एवं अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित है (आत्मा प्रकरणात् ४।४।३)। वह अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव इस रूप में प्राप्त करता है कि वह अपने अन्तरात्मा परतत्त्व से अविभक्त या अपृथक्सिद्ध है और इस प्रकार उसके स्वरूप का अनुभव स्वतः निरतिशयानन्दपूर्णपरतत्त्वानुभव पर्यन्त है (अविभागेन दृष्टत्वात् ४।४।३)। इस प्रकार मुक्तात्मा मुख्यतः परतत्त्व के ही अनुभव में आनन्दमग्न रहता है और उक्त परमनिःश्रेयस को प्राप्त कर पुनः कभी संसार-चक्र में नहीं पड़ता (अनावृत्तिः शब्दात्० ४।४।२२)। परमनिःश्रेयस के उक्त स्वरूप में सामान्यतः किसी भी वैष्णव भाष्यकार की विप्रतिपत्ति नहीं है और इससे अधिक उन्होंने जो मान्यताएँ प्रदर्शित की हैं, उनका साम्प्रदायिक महत्त्व ही है, सूत्रानुकूलता की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं।

(इ) **मुक्तावस्था में जीव का स्वरूप और स्थिति**—मुक्तावस्था में जीव का जो स्वरूप आविर्भूत होता हैं, उसके सम्बन्ध में आचार्य जैमिनि का मत है कि उक्त स्वरूप में सत्यसंकलपत्व, सत्यकामत्व आदि ब्राह्म गुण आविर्भूत होते हैं (सू० ४।४।५) और आचार्य औडुलोमि का मत है कि मुक्तात्मा का स्वरूप चिन्मात्र होता है (सू० ४।४।६), किन्तु ब्रह्मसूत्रकार का मत है कि उक्त दोनो मतों में कोई विरोध नहीं, क्योंकि मुक्तात्मा स्वरूपतः चिन्मात्र या ज्ञानस्वरूप होते हुए सत्यसंकलपत्वादिगुणविशिष्ट रहता है (सू० ४।४।७) और मुक्तात्मा के सत्यसंकल्प होने के कारण ही उसके संकल्पमात्र से यथाभिलषित पदार्थों के उपस्थित होने का वर्णन श्रुतियों में है (सू० ४।४।८) एवं उक्त प्रकार से सत्यसंकल्प होने के कारण ही वह अनन्याधिपति है अर्थात् किसी के परतन्त्र नहीं (सू० ४।४।९)। कुछ भाष्यकारों ने उक्त सूत्र में प्रतिपादित अनन्याधिपतित्व का अर्थ कर्मानधीनत्व किया है, किन्तु कर्माधीनता का निरास तो सू० ४।४।२ के द्वारा जीव के मुक्तत्वप्रतिपादन से ही हो गया, यहाँ उसका निरास मानना सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः वैष्णव भाष्यकारों को मुक्ति में परमपुरुषकैंकर्य अधिक अभीष्ट हैं, किन्तु सूत्रकार इतने भक्त नहीं हो पाए हैं, उन्हें 'परमं साम्यम्' का सिद्धान्त ही अधिक प्रिय है और तदनुसार वे मुक्तात्मा को अनन्याधिपति कहते हैं। परमसाम्य का सिद्धान्त मानते हुए भी इतना सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि मुक्तात्मा को परमात्मा के समान जगद्व्यापार का अधिकार नहीं है (जगद्व्यापारवर्जम्० ४।४।१६), उसे परमपुरुष के साथ केवल भोगसाम्य प्राप्त होता है (भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च ४।४।२१)।

उक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि सूत्रकार मुक्तात्मा को स्वरूपतः एक सत्यसंकलपत्वादिविशिष्ट चेतन मानते हैं और साथ ही उसे परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न मानते हैं। जहाँ तक एक चैतन्यगुणयुक्त चेतन के रूप में मुक्तात्मा के स्वरूप का सम्बन्ध है, सभी वैष्णव भाष्यकार ऐकमत्य से सहमत हैं और उनका उक्त पक्ष सूत्रानुकूल प्रतीत होता है, और जहाँ तक मुक्तात्मा के परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न होने का सम्बन्ध है, वल्लभ को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकार तो सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा मानते ही हैं, किन्तु वल्लभ का स्वरूपाभेद भी अपने एक वाद की दृष्टि से ही है, अन्यथा अपने द्वारा स्वीकृत परामुक्ति में वे भी परतत्त्व सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम से मुक्तात्मा का इस रूप में भेद मानते हैं कि उक्त दोनों कभी अभिन्न रूप में स्थित नहीं हो सकते [अर्थात् मुक्तात्मा

पुरुषोत्ताम में लीन नहीं हो सकता।[1] अस्तु! मुक्तावस्था में वैष्णव भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत स्वरूपभेद सूत्रानुकूल प्रतीत होता है।

मुक्तात्मा दिव्य विग्रह धारण करता है यां नहीं, इस सम्बन्ध में आचार्य बादरि का मत है कि वह विग्रहरहित रहता है (सू० ४।४।१०), आचार्य जैमिनि का मत है कि वह विग्रहसहित रहता है (सू० ४।४।११), ब्रह्मसूत्रकार का मत है कि उक्त दोनों सिद्धान्तों में से किसी एक को अनिवार्य रूप से नहीं माना जा सकता, अपितु जिस प्रकार द्वादशाह यज्ञ सत्र और अहीन दोनों रूपों में होता है, उसी प्रकार मुक्तात्मा अविग्रह और विग्रहवान् दोनों रूपों में स्वेच्छा से रहता है (सू० ४।४।१२), विग्रह के अभाव में वह मुक्ति के भोगों का अनुभव उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार स्वप्नावस्था में जीव शरीर की सहायता के विना अनुभव करता है, और विग्रह के सद्भाव में वह जाग्रदवस्था की तरह अनुभव करता है (सू०४।४। १३-१४)। एक ही मुक्तात्मा 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) के अनुसार अनेक विग्रहों को भी धारण कर उनका संचालन अपने ज्ञानगुण से करता है। उन विग्रहों में उसके ज्ञानगुण का आवेश उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार एकदेशस्थित प्रदीप के प्रकाश का आवेश अपने से बाहर स्थानों में होता है (सू० ४।४।१५)। ब्रह्मसम्पन्न जीव के आन्तर और बाह्य ज्ञान का जो लोप श्रुतियों में वर्णित है वह सुषुप्ति और उत्क्रान्ति के विषय में है, मुक्ति के विषय में नहीं (सू० ४।४।१६)।

उक्त प्रकार से स्पष्ट है कि सूत्रकार द्वारा स्वीकृत मुक्ति का स्वरूप निर्विशेष कैवल्य नहीं, अपितु सविशेष सायुज्य है और सामान्यतः वैष्णव भाष्यकारों के सिद्धान्त के अनुकूल है। उसमें एक प्रकार से वैष्णवसम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य और सालोक्य मुक्ति का बीज निहित है, किन्तु फिर भी उसमें वैष्णवों द्वारा स्वीकृत परमपुरुष के कैंकर्य या माधुर्य-रसानुभव के साथ विविध लीलाओं की चर्चा नहीं है और फलतः उनका सूत्रों में प्रवेश करना उचित प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार द्वारा स्वीकृत मुक्ति का स्वरूप स्वस्वरूपानुभवपूर्वक परतत्त्वानुभव है और उसमें मुक्तात्मा को परतत्त्व के साथ भोगसाम्य की स्थिति प्राप्त है।

(ई) **परमनिःश्रेयस की प्राप्ति का प्रतिबन्धक**—उक्त परमनिःश्रेयस के स्वरूप को देखने से स्पष्ट है कि वर्तमान दशा में जीव को वह प्राप्त नहीं

१. वल्लभभाष्य सूत्र ४।३।१४ आदि।

है। जीव की वर्तमान दशा विविधदुःखपूर्ण जन्ममरणचक्रस्वरूप आवृत्ति की दशा है और आवृत्ति से अनावृत्ति में पहुँचना ही ब्रह्मसूत्रों के अनुसार जीव का ध्येय होना चाहिए। आवृत्ति से अनावृत्ति में पहुँचने के लिये परतत्त्व की सम्पत्ति आवश्यक है (सू० ४।४।१)। परतत्व की सम्पत्ति का प्रतिबन्धक सूत्रकार के अनुसार जीव का कर्म है, जिसके अनिवार्यतः निःशेष रूप से क्षीण होने पर ही परतत्त्वसम्पत्ति होती है (क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते सू० ४।१।१९)। इस प्रकार जीव की वर्तमान दशा का एकमात्र मूल उसका कर्म है। सूत्रकार ने अपनी तत्त्वमीमांसा में यही कहा है कि जीव की वर्तमान विविधदुःखपूर्ण विषम स्थिति उसके कर्मों का फल है (सू० २।१।३४)। कर्म का संसर्ग जीव को कब से प्राप्त हुआ, इसके सम्बन्ध में सूत्रकार का मत है कि वह अनादि-काल से है (सू० २।१।३५)। आचारमीमांसा को इससे कोई प्रयोजन नहीं कि जीव को कर्म-संसर्ग और तत्फलस्वरूप संसार कब से प्राप्त हुआ, उसे तो केवल इतना अपेक्षित है कि वर्तमान दशा में परमनिःश्रेयस प्राप्त नहीं है और उसकी प्राप्ति में प्रतिबन्धक कर्म-संसर्ग है, जो कि उसकी वर्तमान दशा का मूल है, अतः कर्म-संसर्ग को दूर करने का उपाय होना चाहिये, उसके लिये कोई आचार अपनाना चाहिए। किन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, क्या उसे इच्छा-स्वातन्त्र्य प्राप्त है, जो कि उसे अपने किए हुये कर्मों के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया और जो कि वह परमनिःश्रेयस को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करे? सूत्रकार का उत्तर है कि जीव कर्त्ता है, उसे स्वाभाविक कर्त्तृत्व प्राप्त है, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जीव के कर्त्तृत्व को माने विना शास्त्र की कोई सार्थकता नहीं रह सकती (सू० २।३।३३-३९)। क्या जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, इसके सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि उसका कर्त्तृत्व यद्यपि परतत्त्व के अधीन है अर्थात् उसकी कर्त्तृत्व-शक्ति का आधार परतत्त्व है, किन्तु जहाँ तक उसके कर्म-स्वातन्त्र्य और इच्छा-स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध है, वह स्वतन्त्र है, परतत्त्व तो सभी जीवों की प्रवृत्ति का एक निरपेक्ष सामान्य आधार उसी प्रकार है, जिस प्रकार देश, काल और प्रकाश आदि हैं। जीव के इच्छा-स्वातन्त्र्य से किए हुए प्रयत्न की अपेक्षा कर परतत्त्व सहकारी हो जाता है। यदि ऐसा न माना जावेगा तो शास्त्र के विधि और निषेध व्यर्थ हो जावेंगे और जीव को उसके किए हुए कर्मों के प्रति उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता (सू० २।३।४०,४१)। सूत्रकार के उक्त उत्तर को देखते हुये उनके इस वचन का कि परतत्त्व के अभिध्यान या संकल्प से ही जीव का

बन्ध और मोक्ष है (सू० ३।२।४), तात्पर्य यही हो सकता है कि व्यवस्थापक परतत्त्व जीवकृत कर्म के अनुसार उसे बद्धावस्था में रखे हुए है और उसके किए हुए मोक्ष-प्रयत्न के अनुसार उसे मुक्त करता है और यही उन्होंने सू० २।२।३४ में कहा है कि परतत्त्व जीवकर्मसापेक्ष है। इस प्रकार परतत्त्व जीव के बन्धन और मोक्ष का एक निरपेक्ष व्यवस्थापक है, किन्तु प्रयत्न जीव को ही करना है और उसमें वह स्वतन्त्र है, करे या नहीं।

कर्म के स्वरूप पर सूत्रकार ने इस रूप में कोई विचार नहीं किया है कि जीव में रहने वाले कर्म से क्या तात्पर्य है, वह किस रूप में जीव में रहता है; किन्तु उन्होंने उक्त सूत्र (३।२।४) में कर्मसापेक्ष पराभिध्यान से जीवस्वरूप को तिरोहित माना है, इससे यही प्रतीत होता है कि उनके अनुसार कर्म-संस्कार जीव के ज्ञान में रहता है, जिससे उसका ज्ञान अनादि काल से आवृत या तिरोहित है और उक्त संस्कार के मिटने पर उसके स्वरूप का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार सूत्रकार के अनुसार जीव के अज्ञान का स्वरूप कर्म-संस्कार ही है और वही जीव में रहने वाले कर्म का स्वरूप है। इस प्रकार वैष्णव भाष्यकारों ने जो अविद्या को कर्मरूप कहा है (रा० भा० १।१।१ आदि), वह उचित एवं सूत्रानुकूल ही प्रतीत होता है।

किए जाने वाले कर्मों को सूत्रकार ने इष्टादि और अनिष्टादि भेद से द्विविध कहा है, उक्त शब्दों में 'आदि' शब्द के प्रयोग के कारण उनका तात्पर्य इष्टापूर्तादि और तद्व्यतिरिक्त कर्मों से प्रतीत होता है, केवल इष्ट और अनिष्ट से नहीं (सू० ३।१।६-१२)। उक्त कर्मों से होने वाले द्विविध संस्कारों को उन्होंने सुकृत और दुष्कृत या इतर और अघ कहा है (सू० ४।१।१३-१४), जो प्रचलित शब्दों में क्रमशः पुण्य और पाप भी कहे जा सकते हैं। अघ और उससे इतर अर्थात् पुण्य का उन्होंने नाश या अश्लेष माना है, अतः स्पष्ट है कि जीव में रहने वाले कर्म का स्वरूप कृतकर्मजन्य संस्कार है। उक्त कर्म या कर्म-संस्कार काल की दृष्टि से सूत्रकार ने दो प्रकार के माने हैं—(१) विद्योत्पत्ति से पूर्व के कर्म और (२) विद्योत्पत्ति से उत्तरकाल के कर्म। प्रथम प्रकार के कर्मों को फल-भोग की दृष्टि से उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है, अनारब्धकार्य और इतर अर्थात् आरब्धकार्य (सू० ४।१।१३-१९)।

उक्त प्रकार से सूत्रकार के अनुसार कर्मों के तीन भेद हैं—(१) अनारब्धकार्य कर्म, जिनमें विद्योत्पत्ति से पूर्व के संचित और क्रियमाण कर्म आते हैं, (२) आरब्धकार्य कर्म, जिनमें शरीरारम्भक प्रारब्ध कर्म आते हैं और (३)

उत्तरकालीन कर्म, जिनमें विद्योत्पत्ति के बाद के क्रियमाण कर्म आते हैं। उक्त तीनों प्रकार के कर्म सुकृत और दुष्कृत भेद से द्विविध हैं। कर्मों का यह विभाग सर्वभाष्यकारसम्मत है।

(ई) परमनिःश्रेयस-प्राप्ति का साधन—सूत्रकार ने परमनिःश्रेयस-प्राप्ति के प्रतिबन्धक कर्म के क्षय का एकमात्र उपाय ब्रह्मज्ञान बतलाया है (तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ० ४।१।१३) और परमनिःश्रेयस की प्राप्ति का उपाय भी ब्रह्मविद्या को बताया है (पुरुषार्थोऽतः शब्दात्० ३।४।१)। इस प्रकार सूत्रकार के अनुसार ब्रह्मज्ञान ही कर्मक्षय-पूर्वक परमनिःश्रेयस-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। आचार्य जैमिनि का मत है कि ब्रह्मविद्या से पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती, श्रुतियों में उससे जो पुरुषार्थ-प्राप्ति का वर्णन है, वह अर्थवाद मात्र है, ब्रह्मविद्या तो उसी प्रकार कर्म का शेष हैं, जिस प्रकार अन्य द्रव्य, गुण, संस्कार आदि हैं। उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए श्रुतियों में वर्णित ब्रह्मविदों के कर्मप्रधान आचार उनके लिए कर्म के विधान और ऐसे लिंगों को प्रस्तुत किया है, जिनसे विद्या का कर्माङ्गत्व सूचित होता है। ब्रह्मसूत्रकार ने आचार्य जैमिनि के उक्त मत का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि कर्म से जिस पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, उससे कहीं अधिक एवं उत्कृष्ट पुरुषार्थ की प्राप्ति विद्या से होती है, अतः स्वतः ही विद्या अपने पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए कर्माङ्ग नहीं मानी जा सकती, वह एक स्वतन्त्र साधन है। ब्रह्मविदों के कर्मप्रधान आचार का वर्णन इसलिए महत्त्व नहीं रखता कि उनके द्वारा किए हुए कर्म-परित्याग का भी वर्णन श्रुतियों में है। कर्म का जो नियमतः विधान किया गया है, वह स्वाध्याय करने वाले के लिए है, विद्वान् के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त श्रुतियों में ऐसे आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का दर्शन होता है, जिनमें पूर्ण रूप से अग्निहोत्रादि कर्मों का अभाव रहता है, जिससे सिद्ध है कि पुरुषार्थ-प्राप्ति कराने के लिए विद्या को अग्निहोत्रादि कर्मों की कोई अपेक्षा नहीं है (सू० ३।४।१-२५)।

ब्रह्मसूत्रकार ने आगे कहा है कि यद्यपि विद्या अपने पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने में एक कर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र साधन है, किन्तु अपने स्वरूप की उत्पत्ति में उसे कर्म एक सहकारी साधन के रूप में अवश्य अपेक्षित है और इसलिये जिन आश्रमों में कर्मों का विधान है, उनमें रहने वाले उपासकों को यज्ञ आदि आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए और साथ ही शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि विद्योपयोगी भावों का अभ्यास करना

चाहिए (सू० ३।४।२६-२७)। उपासक या विद्वान् को स्वेच्छाचार का अधिकार नहीं है और जब तक प्राणों के छूटने का ही कोई संशय पैदा न हो, तब तक स्वस्थ दशा में उसे भक्ष्याभक्ष्य का विचार रखना चाहिए (सू० ३।४।१८-३१)। विद्या के सहकारी उक्त यज्ञ आदि कर्मों का स्वरूप वही है, जो कि आश्रमांग यज्ञ आदि कर्मों का है अर्थात् वही कर्म उपासना के सहकारी रूप में भी उपासक के द्वारा किए जा सकते हैं और उपासनारहित केवलाश्रमी के द्वारा आश्रमांग रूप में भी किए जा सकते हैं (सू० ३।४।३२-३५)।

उक्त प्रकार से सूत्रकार के अनुसार ब्रह्मविद्या ही परमनिःश्रेयस-प्राप्ति का एकमात्र साधन है और कर्म पुरुषार्थ-प्राप्ति में सहकारी नहीं, अपितु विद्योत्पत्ति के लिए ही अपेक्षित है। ब्रह्मोपासना का सिद्ध स्वरूप ब्रह्मविद्या या ब्रह्मज्ञान है, अतः ब्रह्मोपासना को तो कर्मों का सहकारित्व अपेक्षित है, किन्तु उसके सिद्ध स्वरूप ब्रह्मविद्या को पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने के लिए कर्मों की कोई अपेक्षा नहीं। इस प्रकार ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वाद सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता। वैष्णव भाष्यकार भी उक्त वाद को न मानते हुए सूत्रानुकूल रूप में ब्रह्मविद्या को ही स्वतन्त्र साधन मानते हैं और कर्मों को केवल विद्योत्पत्ति में सहकारी मानते हैं।

प्रमुख ब्रह्मोपासनाएँ वहीं हैं जिनके प्रतिपादक प्रकरणों का समन्वय सूत्रकार ने समन्वयाध्याय में किया है, उक्त प्रकरण एक ही सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म के प्रतिपादक माने गए हैं, जो कि एक सविशेष या सगुण परतत्त्व है,[1] अतः विद्या या उपासनाओं का सगुण और निर्गुण, यह विभाग सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता और न ऐसी कोई चर्चा सूत्रों में की गई है। ब्रह्मोपासनाओं का उपास्य विषय एक ही है, फिर भी वे अपने स्वरूप में नाना या पृथक्-पृथक् हैं (सू० ३।३।५६)। उनमें से किसी एक को ग्रहण किया जा सकता है, उनके समुच्चय की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका एक ही अविशिष्ट रूप से समान फल—ब्रह्मज्ञानपूर्वक परमनिःश्रेयस-प्राप्ति—है (सू० ३।३।५७)। भिन्न-भिन्न प्रकरणों में पठित समान उपासनाएँ सर्ववेदान्तप्रत्यय न्याय से उसी प्रकार स्वरूपतः एक हैं, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न शाखाओं में विहित समान कर्म सर्वशाखाप्रत्यय न्याय से एक हैं (सू० ४।३।१-४)। उक्त प्रकार से समान उपासनाओं के एक होने से उनमें प्रतिपादित ब्रह्मगुण तथा अन्य

---

१. पृ० २०२, २३०।

विषयों का परस्पर उपसंहार करना चाहिए (सू० ३।३।५-६)। परतत्त्व के आनन्द आदि अर्थात् सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्तत्व, निर्मलत्व आदि स्वरूप-निरूपक गुणों का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिए और तदनुसार उनका अनुसंधान करना चाहिए (सू० ३।३।११-१७)।

सूत्रों में ब्रह्मोपासनाओं के मुख्यतः दो विभाग वर्णित होते हुए प्रतीत होते हैं—(१) पुरुषविद्या, (२) अक्षरविद्या (सू० ३।३।२४; ३।३।३३)। प्रथम वर्ग उन विद्याओं का है, जिनमें केवल परतत्त्व का उपास्यत्व है, जैसे—आनन्दमयविद्या, भूमविद्या, सत्यकामविद्या, दहरविद्या, अन्तर्यामिविद्या आदि; द्वितीय वर्ग उन विद्याओं का है, जिनमें 'सत्' अर्थात् जीव-जड-युक्त परतत्त्व का उपास्यत्व विहित है, जैसे—सद्विद्या, अक्षरविद्या आदि। द्वितीय वर्ग की विद्याओं के जीवयुक्त परतत्त्व की उपासना और जडयुक्त परतत्त्व की उपासना, ये दो भेद कर सूत्रकार ने 'उपासात्रैविध्य' भी माना है (सू० १।१।३२)। अक्षरविद्याओं के दो विभाग और प्रतीत होते हैं, एक में मूलावस्थावस्थित-जीव-जड-युक्त परतत्त्व अर्थात् कारण 'सत्' का उपास्यत्व है, जैसे—सद्विद्या या अक्षरविद्या और द्वितीय में नानानामरूपात्मक-जगद्रूप-युक्त परतत्त्व अर्थात् कार्य 'सत्' का उपास्यत्व है, जैसे—शाण्डिल्यविद्या, वैश्वानरविद्या आदि।

उक्त विविध उपासनाओं में विविधरूपयुक्त या केवल परतत्त्व का ही उपास्यत्व है, जो कि सर्वत्र एक और समान है। उसकी उपासना इस रूप में करनी चाहिए कि वह अपना आत्मा है (सू० ४।१।३)। परतत्त्व अव्यक्त है, उपासना करने से उसका एक प्रकाश मिलता है। (सू० ३।२।२२-२४)। उपासना की आवृत्ति शरीर-त्याग के समय तक करते रहना चाहिए (सू० ४।१।१; ४।१।१२); यदि कोई प्रतिबन्ध नहीं हुआ तो इसी जन्म में उसका सिद्ध स्वरूप ब्रह्मज्ञान या ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है, जिसकी कि प्राप्ति के समय पर ही मुक्ति का समय निर्भर करता है अर्थात् यदि इसी जन्म में ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया तो इसी जन्म में, अन्यथा जन्मान्तर में मुक्ति की प्राप्ति होगी (सू० २।४।५०-५१)।

उक्त प्रकार से स्पष्ट है कि सूत्रकार ने जैसा परमनिःश्रेयस का स्वरूप माना है, तदनुसार ही उसकी प्राप्ति का साधन माना है। रामानुज और निम्बार्क ने उक्त सूत्रानुकूल रूप में ही परमनिःश्रेयस और उसके साधन को स्वीकार किया है, उन्होंने उक्त दोनों के स्वरूप में कोई साम्प्रदायिकता नहीं आने दी है। इसके विपरीत मध्व ने अपनी विशिष्ट आचारसम्बन्धी मान्यताएँ स्वीकृत

की हैं और यह माना है कि मुक्ति में भी जीवों में तारतम्य रहता है, क्योंकि उनके साधन भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु सूत्रकार ने सू० ३।३।५७ (विकल्पोऽविशिष्ट-फलत्वात्) के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि किसी भी उपासना को स्वीकृत किया जा सकता है, सबका फल समान है, अतः मध्व द्वारा स्वीकृत साधनतारतम्य के आधार पर मुक्तिफल के तारतम्य की मान्यता का सूत्रों में कोई आधार नहीं है। इसी प्रकार मुख्यतः वल्लभ और सामान्यतः बलदेव के द्वारा भी स्वीकृत परमनिःश्रेयस के स्वरूप में उनकी अपनी विशिष्ट मान्यता होने से उनके द्वारा स्वीकृत साधनों में साम्प्रदायिकता बहुत आ गई है और एक प्रकार से सूत्र-प्रतिपादित साधनों का बहिष्कार ही हो गया है या उन्हें बहुत ही गौण स्थान प्राप्त हो गया है। वल्लभ द्वारा स्वीकृत अक्षर और पुरुषोत्तम के विभाग के आधार पर मुक्ति के विविध स्वरूप और उसके साधनों में मर्यादा-मार्ग और पुष्टिमार्ग आदि के विविध भेद हो गए हैं, उन सबको सूत्र-प्रतिपादित रूप में प्रदर्शित करने का वल्लभभाष्य में घोर प्रयत्न किया गया है, जो कथमपि सूत्रसम्मत नहीं माना जा सकता। वल्लभ जिसे मर्यादामार्ग कहते हैं, उसी में किंचित् परिवर्तन के साथ सूत्रानुकूलता आ सकती है, किन्तु उससे अधिक जो उन्होंने पुष्टिमार्ग माना है और तदनुसार विविध कल्पनाएँ की हैं, उनका सूत्रों से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता—सूत्रकार वल्लभीय पुष्टिमार्ग के अधिकारी प्रतीत नहीं होते! बलदेव ने उपासनाओं के सम्बन्ध में जो यह चर्चा की है कि भगवान् के तत्तद् अंगों में मन्दस्मित आदि भावों या चेष्टाओं का अनुसन्धान करना चाहिए या नहीं और इसी प्रकार जो विभिन्न भक्तिमार्गीय साम्प्रदायिक मान्यताओं पर विचार किया है, वहाँ तक ज्ञानमार्गी सूत्रकार की पहुँच प्रतीत नहीं होती। संक्षेप में, आचारमीमांसा की दृष्टि से मध्व, वल्लभ और बलदेव द्वारा प्रतिपादित साम्प्रदायिक विभिन्न सिद्धान्तों का सूत्रों की विषय-परिधि में भी प्रवेश असंभव है।

(अ) परमनिःश्रेयस-प्राप्ति का प्रकार—जीवात्मा के ब्रह्मज्ञान-सम्पन्न विद्वान् होने की स्थति में उसके पूर्वकृत 'संचित' और 'क्रियमाण' कर्मों का विनाश हो जाता है और आगे किए जाने वाले 'क्रियमाण' कर्मों का श्लेष अर्थात् उस पर कोई संस्कार नहीं जमता (सू० ४।१।१३-१४)। पूर्वकृत कर्मों में अनारब्धकार्य अर्थात् 'संचित' और 'क्रियमाण' कर्मों का विनाश होने पर भी 'प्रारब्ध' कर्म बने रहते है, जिनका कि भोग से क्षपण होता है, उक्त प्रकार से सभी कर्मों के क्षपण होने पर उसकी परतत्त्व से सम्पत्ति होती है (सू० ४।१।१५-१६)। परतत्त्व से सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक विवादास्पद प्रश्न है;

वैष्णव भाष्यकारों का मत है कि विद्वान् की अविद्वान् जीव के समान ही स्थूल शरीर से उत्क्रान्ति होती है अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ उसका बहिर्निष्क्रमण होता है, अन्य कुछ भाष्यकारों का मत है कि विद्वान् की उत्क्रान्ति नहीं होती, क्योंकि उसे यहीं 'ब्रह्मभाव' प्राप्त हो जाता है, उसका कहीं जाना नहीं होता, स्थूल शरीर के परित्याग के साथ ही उसके सूक्ष्म शरीर का भी नाश हो जाता है और वह जहाँ का तहाँ 'ब्रह्मभूत' हो जाता है। श्रुतियों में दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं; कुछ वचन विद्वान् की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध करते हैं[1] और कुछ उसका प्रतिपादन करते हैं,[2] किन्तु यह ब्रह्ममीमांसक के ऊपर निर्भर है कि वह उक्त दो प्रकार के वचनों में से किन्हें मुख्य मानता है। ब्रह्मसूत्रकार के अतिरिक्त ब्रह्ममीमांसक बादरि और जैमिनि आदि के मतों का संकेत मिलता है; यद्यपि उक्त आचार्यों के मतों का निर्देश गन्तव्य ब्रह्म के सम्बन्ध में किया गया है (सू० ४।३।६-१३), उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में नहीं, किन्तु उससे भी संकेत मिलता है कि आचार्य बादरि का झुकाव विद्वान् की उत्क्रान्ति के प्रतिषेध तथा जैमिनि का उसके स्वीकार की ओर है। ब्रह्म-मीमांसकों में अन्यतम ब्रह्मसूत्रकार का उक्त विषय में क्या मत है, यह जानने के उद्देश्य से जब सूत्रों पर ध्यान दिया जाता है तो वैष्णव भाष्यकारों का ही यह पक्ष कि विद्वान् की भी उत्क्रान्ति होती है, सूत्रकाराभिमत प्रतीत होता है। सू० ४।१।१३-१९ के द्वारा विद्वान् के कर्मक्षय के बाद उसकी सम्पत्ति को प्रस्तावित कर सू० ४।२।१-६ में इन्द्रिय, मन आदि उपकरणों की परस्पर-सम्पत्ति से सूक्ष्म शरीर के स्वरूप की निष्पत्ति को प्रदर्शित करते हुए सूत्रकार ने सू० ४।२।७ में स्पष्टतः कहा है कि 'समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य' अर्थात् गति के उपक्रम से पूर्व विद्वान् और अविद्वान् की उत्क्रान्ति समान है और 'अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते' (कठ० २।६।१४) आदि वाक्यों में प्रतिपादित विद्वान् को यहीं 'अमृतत्व' की प्राप्ति होने का तात्पर्य शरीरेन्द्रियादि-सम्बन्ध के पोषण के साथ अर्थात् उसके बने रहने पर ही ब्रह्मविद्या की सिद्धि मात्र से है। सूत्रकार ने उत्क्रान्तिप्रतिषेधक श्रुतियों का भी विचार किया है और स्पष्टतः उनके निर्देश को पूर्वपक्ष में रखकर अपने उक्त मत का समर्थन किया है कि 'प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात् स्पष्टो ह्येकेषाम्' (सू० ४।२।१२) अर्थात् यदि यह कहा जावे कि श्रुतियों में

---

१. कठोप० २।६।१४; बृहदारण्यक ४।४।६-७ आदि।

२. कठोप० २।६।१६, छान्दोग्य ८।६।५-६ आदि।

उत्क्रान्ति का प्रतिषेध है कि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदा० ४।४।६), तो यह उचित नहीं, क्योंकि उक्त श्रुतिवाक्य में शरीर से प्राणों के उत्क्रमण का निषेध नहीं, अपितु 'शारीर' अर्थात् जीव से प्राणों के उत्क्रमण का निषेध है, क्योंकि ऐसा ही दूसरी शाखा (माध्यान्दिन) के उक्त वाक्य में स्पष्ट है कि 'योऽकामो···आत्मकामो न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति'। उक्त श्रुतिवाक्यों का कुछ भी तात्पर्य हो और उनकी मीमांसा को कोई स्वतन्त्र मीमांसक किसी भी रूप में प्रस्तुत करे, किन्तु जहाँ तक मीमांसक ब्रह्मसूत्रकार का सम्बन्ध है, उन्होंने अपना मत स्पष्ट कर दिया है कि विद्वान् की भी उत्क्रान्ति होती है, और आगे सू० ४।२।८-११ में उन्होंने यही प्रतिपादित किया है कि गति द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के पूर्व तक संसार अर्थात् सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध रहता है, और तदनुसार उन्होंने सू० ४।२।१६ में विद्वान् के उत्क्रमण-प्रकार का ही प्रतिपादन किया है। वस्तुतः यदि उत्क्रान्ति के विना ही विद्वान् की ब्रह्मसम्पत्ति सूत्रकार को अभीष्ट होती तो वे सू० ४।१।१९ के द्वारा 'अथ सम्पद्यते' का प्रस्ताव करने के बाद ही 'सम्पद्याविर्भावः' (सू० ४।४।१) का प्रतिपादन करते, किन्तु वैसा न कर उन्होंने जो सू० ४।१।१९ के बाद मन, इन्द्रिय आदि की परस्पर-सम्पत्ति (सू० ४।२।१-६), सुषुम्ना नाडी द्वारा उत्क्रमण-प्रकार (सू० ४।२।१५-१७), अर्चिरादिगति (सू० ४।३।१-५) आदि की चर्चा करने के बाद 'सम्पद्याविर्भावः' कहा है, उससे स्पष्ट है कि सूत्रकार उत्क्रान्ति और गति के बाद ही विद्वान् की ब्रह्मसम्पत्ति मानने के पक्ष में है। साथ ही जैसा परमनिःश्रेयस का स्वरूप सूत्रकार ने माना है, जिसमें कि मुक्तात्मा संकल्प, भोग, और विकल्प से विग्रह के भाव से युक्त है, उससे स्पष्ट है उनकी दृष्टि में ब्रह्मसम्पत्ति का वह स्वरूप ही नहीं कि विद्वान् यहीं निर्विशेष चिन्मात्र हो जावे और फलतः उत्क्रान्त न हो।

सूत्रकार के अनुसार विद्वान् के इन्द्रिय, मन, प्राण और भूतों के सूक्ष्म अंशों से निर्मित सूक्ष्म शरीर की सम्पत्ति 'पर' में होती है (सू०४।२।१-१४)। उक्त सम्पत्ति लय नहीं, अपितु अविभाग है (सू० ४।२।१५)। उक्त सूक्ष्म शरीर से युक्त विद्वान् विद्या की सामर्थ्य और उसकी शेषभूत गति के अनुस्मरण-योग से हृदयस्थित परमपुरुष के द्वारा अनुगृहीत होते हुए सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से उत्क्रान्त होता है (सू० ४।२।१६) और सूर्यरश्मियों का अनुसरण करते हुए ऊर्ध्वगमन करता है (सू० ४।२।१७)। विद्वान् की उत्क्राति यदि रात में हो, तब भी वह रश्मियों का अनुसरण करता है, क्योंकि देह से उनका सम्बन्ध रात और दिन में समान रूप से रहता है (सू० ४।२।१८)। दक्षिणा-

यन में उत्क्रान्ति होने से भी अर्चिरादिगति की प्राप्ति में विद्वान् को कोई बाधा उपस्थित नहीं होती (सू० ४।२।१९)। योगियों के लिए स्मरणीय स्मृतिप्रतिपादित देवयान-पितृयाण गतियों में कालवाचक शब्द कालाभिमानी देवता के वाचक हैं, अतः उनसे यह संकेत प्राप्त नहीं करना चाहिये कि किसी कालविशेष में उत्क्रान्ति होने से विद्वान् की मुक्ति नहीं होती (सू० ४।२।२०)।

उक्त प्रकार से उत्क्रान्त विद्वान् अर्चिरादिगति को प्राप्त करता है (सू० ४।३।१), जिसमें क्रम से अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, वर्ष, वायु आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, वरुण, इन्द्र और प्रजापति हैं (सू० ४।३।१-३)। उक्त 'अर्चि' आदि आतिवाहिक पुरुष हैं (सू० ४।३।४)। विद्युत् तक पहुँचने पर वैद्युत पुरुष ही विद्वान् को ब्रह्म के पास पहुँचाता है और वरुण, इन्द्र, एवं प्रजापति तो अनुग्राहक मात्र हैं। (सू० ४।३।५)। अब यह विवादास्पद विषय उपस्थित होता है कि उक्त अर्चिरादिमार्ग कार्यब्रह्म अर्थात् ब्रह्मा या प्रजापति के पास पहुँचाता है या परब्रह्म तक पहुँचाता है। आचार्य बादरि का मत है कि उक्त मार्ग उपासक को कार्यब्रह्म तक पहुँचाता है, क्योंकि वह देशविशेष—अपने प्रजापतिलोक—में स्थित हैं, अतः उसके पास तक पहुँचने के लिए गति उपपन्न है, किन्तु परतत्त्व तो सर्वव्यापक होने के कारण सर्वत्र प्राप्त है, अतः किसी गमनमार्ग के द्वारा उसको प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता है (सू० ४।३।६)। श्रुतियों में विशेष रूप से प्रजापति की प्राप्ति का निर्देश भी है (सू० ४।३।७), कार्यब्रह्म के लोक को प्राप्त करने पर उसके अध्यक्ष के साथ विद्वान् को परतत्त्व की प्राप्ति होती है (सू० ४।३।९)। उक्त मत के विपरीत आचार्य जैमिनि का मत है कि उक्त अर्चिरादि मार्ग परतत्त्व की प्राप्ति करने के लिए है, क्योंकि 'ब्रह्म गमयति' आदि वाक्यों में निर्दिष्ट 'ब्रह्म' शब्द मुख्यतः परतत्त्व का ही वाचक है। श्रुतियों में स्पष्टतः भी कहा गया है कि उत्क्रान्त विद्वान् को परतत्त्व की प्राप्ति होती है (सू० ४।३।१२), साथ ही श्रुति में स्पष्टतः यह वर्णित है कि विद्वान् को अकृत ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और कार्यब्रह्म का लोक कृत है। इसके अतिरिक्त विद्वान का ध्येय परब्रह्म को प्राप्त करना है, न कि कार्यब्रह्म को, अतः उसे प्राप्त होने वाला मार्ग उसे परब्रह्म की ही प्राप्ति करावेगा (सू० ४।३।१४)।

उक्त दो मत परस्पर-भिन्न हैं; बादरि यहीं परतत्त्व की प्राप्ति मानकर उत्क्रान्ति और गति का प्रतिषेध करते हैं, जबकि जैमिनि विद्वान् की

उत्क्रान्ति मान कर गति द्वारा परतत्त्व की प्राप्ति मानते हैं। वैष्णव भाष्यकार प्रायः आचार्य जैमिनि का मत स्वीकार करते हैं और अन्य कुछ भाष्यकार आचार्य बादरि का मत मानते हैं। उक्त मतों में ब्रह्मसूत्रकार का कौन सा मत है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। उक्त दोनों मतों में से ब्रह्मसूत्रकार का कोई मत माना जावे या नहीं, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता कि ब्रह्मसूत्रकार के द्वारा पूर्व में उपन्यस्त मत उन का सिद्धान्त पक्ष माना जावे और बाद में उपन्यस्त मत उनका पूर्वपक्ष। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है,[1] सू० ४।४।१ के द्वारा परतत्त्व की प्राप्ति का प्रतिपादन कर सूत्रकार ने सू० ४।१।१२ द्वारा मुक्तात्मा का विग्रह भी विकल्प से माना है, जिससे सिद्ध है कि सूत्रकार बादरि के समान निर्विशेष चिन्मात्र मुक्ति के मानने के पक्ष में नहीं, अपितु सविशेष सायुज्य मानते हैं और तदनुसार यही सम्भव प्रतीत होता है कि सूत्रकार सांसारिक लोकों से अतीत या पार मुक्तात्मा का परतत्त्व से योग मानते हैं, जहाँ उसे भोगसाम्य भी प्राप्त होता है। उक्त प्रकार से कार्य-लोकों से पार पहुँचने के लिए परतत्त्व के उपासक विद्वान की गति मानना ही उपपन्न प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने सू० १।२।१३-१८ के द्वारा मीमांस्य श्रुतिवाक्य (छा० ४।१५) में प्रतिपादित अक्षिपुरुष को सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म बताया और अपनी मान्यता के लिए अनेक हेतुओं के साथ एक यह भी हेतु सू० १।२।१७ के द्वारा प्रस्तुत किया कि उक्त अक्षिपुरुष के विद्वान् को प्राप्त होने वाले अर्चिरादिमार्ग के वर्णन से भी यह सिद्ध होता है कि उक्त अक्षिपुरुष सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म है। सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत उक्त उपपत्ति से स्पष्ट है कि वे सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म के विद्वान् की अर्चिरादि-गति उस (सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म) तक मानते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सूत्रकार के अनुसार सूत्रजिज्ञास्य ब्रह्म कार्यब्रह्म या चतुर्मुख ब्रह्मा नहीं, अपितु परब्रह्म है और इस प्रकार स्पष्ट है कि सूत्रकार यह मानने के पक्ष में हैं कि परब्रह्मविद् विद्वान् अर्चिरादि मार्ग के द्वारा परब्रह्मसम्पन्न होता है। उक्त प्रकार से सूत्रकार के द्वारा प्रतिपादित पूर्वोत्तर बिषयों पर ध्यान देते हुए जब प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में उनके मत का प्रतिपादन करने वाले सूत्र (४।३।१४) पर ध्यान देते हैं, तो स्पष्टतः यह सिद्ध होता है कि वे तत्क्रतुन्याय से कार्यब्रह्म और परब्रह्म के उपासकों की अर्चिरादिगति से अपने-अपने उपास्य तक प्राप्ति या पहुंच मानते हैं, उन्होंने उक्त

---

१. पृष्ठ २४४।

सूत्र में 'कार्य' या 'पर', इस विकल्प का निर्देश नहीं किया, अपितु यह कहा है कि उक्त मार्ग 'अप्रतीकालम्बन' उसासकों को ले जाता है। कार्यब्रह्म के उपासकों को 'अप्रतीकालम्बन' माना जावे या नहीं, किन्तु परब्रह्म के उपासक तो 'अप्रतीकालम्बन' ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, अतः उनको उक्त मार्ग अवश्य ले जाता है, और कार्यब्रह्म के उपासक भी यदि अप्रतीकालम्बन माने जाते हैं तो उनको भी ले जाता है। साथ में सूत्रकार ने उक्त सूत्र में 'तत्क्रतुन्याय' का निर्देश कर स्पष्ट कर दिया है कि जो जिसका उपासक है, उसे अर्चिरादि मार्ग उस तक पहुँचाता है अर्थात् कार्यब्रह्म के उपासक को कार्यब्रह्म तक पहुँचाता है और परब्रह्म के उपासक को परब्रह्म तक पहुँचाता है। उक्त प्रकार से यही प्रतीत होता है कि वैष्णव भाष्यकारों का यह पक्ष कि अर्चिरादिमार्ग परब्रह्मविद् विद्वान् को परब्रह्म तक पहुंचाता है, सूत्रानुकूल है।

संक्षेप में ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा के अनुसार यही कहा जा सकता है कि वर्तमान विविधदुःखपूर्ण आवृत्ति-दशा के वास्तविक अनुभव से प्राप्तवैराग्य मुमुक्षु पुरुष ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्त होकर ब्रह्मोपासना करते हुए उसके सिद्ध स्वरूप ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करता है, पुनः उसके फलस्वरूप कर्मों के क्षीण होने से वह सूक्ष्म शरीर के साथ सुषुम्ना नाडी के द्वारा स्थूल शरीर से उत्क्रान्त होता है, पुनः रश्मियों का अनुसरण करता हुआ अर्चिरादिमार्ग के द्वारा कार्यजगत् से अतीत हो परतत्त्व का सायुज्य प्राप्त करता है और उक्त सायुज्य की प्राप्ति के साथ ही सूक्ष्मशरीरादिसर्वबन्धविनिर्मुक्त होकर आविर्भूतस्वरूप हो जाता है, यही उसकी मुक्त दशा है, जिसमें वह स्वस्वरूपानुभव के साथ स्वान्तरात्मा परतत्त्व के निरतिशयानन्दपूर्ण अनुभव में निरन्तर मग्न रहता है और फिर कभी उसकी संसार में आवृत्ति नहीं होती।

उपसंहारः—पूर्व पृष्ठों में ब्रह्मसूत्र-दर्शन की तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा का अध्ययन किया गया; उससे स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्रों की तत्वमीमांसा के अनुसार सत् अर्थात् जीवजडात्मकरूपवद् ब्रह्म स्वाभिन्न जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादनकारण है, वही प्रकृति और वही विकृति है। रामानुज और बलदेव द्वारा स्वीकृत प्रकार उक्त सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है निम्बार्क का प्रकार भी उक्त दोनों भाष्यकारों के समान सूत्रानुकूल होते हुए केवल इतने अंश में सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता कि कारण और कार्य का भेदाभेद सम्बन्ध है। सूत्रकार को उक्त दोनों—कारण और कार्य—का अभेद ही स्वीकार है।

वल्लभ द्वारा स्वीकृत परतत्त्व, जीव और जड का स्वरूपाभेद तथा अविकृत-परिमाणवाद के साथ ब्रह्मकारणवाद सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता और इसी प्रकार मध्व का केवलनिमित्तकारणवाद सूत्रों से समर्थित होता हुआ प्रतीत नहीं होता। वल्लभ को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत पर जीव, और जड का स्वरूपभेद सूत्रसम्मत होते हुए भी उनका यह पक्ष सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता कि जडतत्त्व स्वरूपतः सांख्याभिमत प्रधान ही है।

ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा के अनुसार परमनिःश्रेयस—मुक्ति—न तो निर्विशेष चिन्मात्र हो जाना है और न किसी विशिष्टव्यक्तित्वसम्पन्न विग्रहवान् देव के कैंकर्य या माधुर्य में रसविभोर होना है, अपितु कार्यजगत् से अतीत होकर परतत्त्व के निरवधिक निरतिशयानन्दपूर्ण अनुभव के रूप में उसके सविशेष सायुज्य को प्राप्त करना है। उक्त परमनिःश्रेयस को प्राप्त करने का एकमात्र साधन ब्रह्मज्ञान है, जो उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मोपासनाओं से प्राप्त होता है। उक्त प्रकार से ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा अपना एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। ब्रह्मसूत्रों की उक्तप्रकारक आचार-मीमांसा का अनुसरण मुख्य रूप से रामानुज और निम्बार्क ने अपने भाष्यों में किया है। अन्य भाष्यकारों ने सामान्य रूप से ब्रह्मसूत्रों की आचारमीमांसा के उक्त प्रकार को मानते हुए भी अपनी साम्प्रदायिक विशिष्ट साधन-पद्धति और मुक्ति के विशिष्ट स्वरूपों को सूत्रप्रतिपादित रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है, जो सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता।

अध्याय ६

ब्रह्मसूत्रों के अन्य विविध विषय

सामान्य परिचय

विगत अध्याय में ब्रह्मसूत्रों के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया गया और उनके प्रकाश में वैष्णव-भाष्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों की सूत्रानुकूलता का परिचय प्राप्त किया गया। उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त सूत्रों में अन्य विविध विषय हैं, जिनका मुख्य प्रतिपाद्य के सम्बन्ध से प्रसंगतः वर्णन किया गया है। उक्त विषयों में से कुछ तो किसी भी भाष्यकार ने नहीं माने; ऐसे विषय मुख्यतः ब्रह्मसूत्रों के तृतीयाध्याय के तृतीय और चतुर्थ पाद में वर्णित हैं। उक्त पादों में से तृतीय पाद के अधिकांश सूत्रों तथा चतुर्थ पाद के कुछ सूत्रों से उनके प्रतिपाद्य की स्पष्टतः सूचना नहीं मिलती। जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[1] भाष्यकारों ने उक्त सूत्रों में जिन परस्पर-भिन्न विषयों का प्रतिपादन माना है, उनमें से किसी का भी सूत्रों से स्पष्टतः प्रतिपादन होता हुआ प्रतीत नही होता। मध्व, वल्लभ और बलदेव ने उक्त सूत्रों में ऐसे परस्पर-भिन्न विषयों का प्रतिपादन माना है, जो ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि के भी अन्तर्गत नहीं आते, सूत्रों से समर्थन होना तो दूर की बात है! रामानुज और निम्बार्क ने शंकर, भास्कर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों के समान उक्त सूत्रों में ऐसे विषय माने हैं कि वे ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि के अन्तर्गत तो हैं, किन्तु तत्तत् प्रतिपादक सूत्रों से स्पष्टतः उनका प्रतिपादन होता हुआ प्रतीत नहीं होता। उक्त सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध में उक्त प्रकार से मतैक्य न होने तथा साथ ही किसी भी भाष्यकार द्वारा स्वीकृत विषयों के सूत्रप्रतिपादित रूप में प्रतीत न होने से स्वभावतः उनके सम्बन्ध में भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकता, क्योंकि समान और सूत्रप्रतिपादित प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में ही भाष्यकारों

---

१. पृष्ठ ६२-६६, ७२, ७३।

द्वारा प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्तों की सूत्रानुकूलता तुलनात्मक दृष्टि से देखी जा सकती है।

उक्त विषयों को छोड़ कर अन्य सूत्रानुकूल विषय या तो भाष्यकारों ने एकमत्य से माने हैं या बहुमत से स्वीकृत हैं, जिनका अध्ययन ही प्रस्तुत अध्याय का विषय है। यद्यपि उक्त विषयों के सम्बन्ध में भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों में विशेष भिन्नता नहीं है, फिर भी उनके सम्बन्ध में सूत्रकार के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करने के लिए विषयपूर्णता की दृष्टि से उनका अध्ययन आवश्यक समझा गया है।

उक्त विषय प्रमुखतः दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं :—

१—बद्ध जीव की विविध दशाओं से सम्बद्ध विषय।

२—उपासनासम्बन्धी विषय।

प्रथम वर्ग में निम्न विषय आते हैं :—

(अ) मरणोपरान्त सूक्ष्म शरीर से युक्त बद्ध जीव की स्थूल शरीर से उत्क्रान्ति।

(आ) स्थूल शरीर से उत्क्रान्त बद्ध जीव को लोकान्तर-गमन के लिए मार्गप्राप्ति।

(इ) लोकान्तर से आगमन और स्थूल शरीर की प्राप्ति।

(ई) स्वप्नदशा।

(उ) सुषुप्तिदशा।

(ऊ) मूर्च्छादशा।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत निम्न विषय हैं :—

(अ) देवों का उपासनाधिकार।

(आ) शूद्रों का उपासनाधिकार।

(इ) अनाश्रमी व्यक्तियों का उपासनाधिकार।

(ई) आश्रमप्रच्युतों का उपासनाधिकार।

(उ) ऊर्ध्वरेता आश्रम और उनका उपासनाधिकार।

२. बद्ध जीव की विविध दशाओं से सम्बद्ध विषय

(अ) मरणोपरान्त सूक्ष्म शरीर से युक्त बद्ध जीव की स्थूल शरीर से उत्क्रान्ति—सूत्रकार ने सभी भाष्यकारों की सम्मति में सू० ३।१।१ के द्वारा यह विषय प्रस्तुत किया है कि जीव एक शरीर का परित्याग करने पर

देहारम्भक भूतसूक्ष्मों के साथ लोकान्तर को गमन करता है या उनसे विरहित होकर 'केवल' जाता है। वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने उक्त विषय को सामान्य रूप से होने वाले जन्म-मरण के सम्बन्ध में माना है, वल्लभ का विचार है कि उक्त विषय सामान्यतः नहीं, अपितु विशेष रूप से ब्रह्मज्ञानौपयिक जन्म के सम्बन्ध में है, किन्तु वल्लभ के उक्त विशिष्ट विचार का सूत्रों में कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। अस्तु! सूत्रकार ने उक्त सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि एक स्थूल शरीर के परित्याग करने पर शरीरान्तर की प्रतिपत्ति के लिए जीव शरीरारम्भक भूतसूक्ष्मों के साथ लोकान्तर को प्रस्थित होता है (सू० ३।१।१-२)। श्रुतियों में उत्क्रममाण जीव के साथ प्राण और इन्द्रियों के उत्क्रमण का श्रवण है, जो कि तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि यह माना जावे कि भूतसूक्ष्म भी साथ जाते हैं, अन्यथा प्राण और इन्द्रियों की स्थिति आश्रय के विना कैसे सम्भव हो सकेगी (सू० ३।१।३)? मृत पुरुष की वागादि इन्द्रियों का अग्नि आदि में जो अप्यय या लय श्रुतियों में प्रतिपादित है, वह गौण हैं, क्योंकि अन्य श्रुतियों में इन्द्रियों का जीव के साथ लोकान्तरगमन मुख्य रूप से श्रुत है (सू० ३।१।४)। इस प्रकार सूत्रकार स्थूल शरीर के परित्याग करने पर भी जीव का ऐसे सूक्ष्म शरीर से संयोग मानते हैं, जो इन्द्रिय, मन, प्राण और भूतों के सूक्ष्म अंशों से युक्त है। स्थूल शरीर से उत्क्रान्ति के समय जीव की वागादि इन्द्रियाँ मन से सम्पन्न या अविभक्त हो जाती हैं, मन प्राण से सम्पन्न होता है और प्राण भूतों से सम्पन्न हो जाता है (सू० ४।२।१-६)। उक्त प्रकार से उपकरण और भूतों की परस्पर-सम्पत्ति से निष्पन्नस्वरूप सूक्ष्म शरीर से युक्त सभी जीव स्थूल शरीर से उत्क्रान्त होते हैं (सू० ४।२।७)। जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है[1], ब्रह्मविद्यासम्पन्न विद्वान् जीव सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उत्क्रान्त होता है (सू० ४।२।१६), अतः परिशेषतः अन्य जीव अन्य नाड़ियों से उत्क्रान्त होते हैं।

(आ) **स्थूल शरीर से उत्क्रान्त बद्ध जीव को लोकान्तर-गमन के लिए मार्गप्राप्ति**—उत्क्रान्त विद्वान् को अर्चिरादिमार्ग प्राप्त होता है, यह देखा जा चुका है।[2] अविद्वान् बद्ध जीवों को कृत कर्मों और तत्फलभूत मार्गप्राप्ति की दृष्टि से सूत्रकार ने दो निम्न श्रेणियों में विभक्त किया है:—

१. पृष्ठ २५२।
२. पृष्ठ २५३-२५५।

२—इष्टादिकारी जीव ।
२—अनिष्टादिकारी जीव ।

इष्टादिकारी या पुण्यात्मा जीव सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर से उत्क्रान्त होने पर धूमादिमार्ग को प्राप्त करता है (सू० ३।१।६) उक्त मार्ग धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, वर्ष, पितृलोक, आकाश और चन्द्रलोक के क्रम से पुण्यात्मा जीव को चन्द्रलोक ले जाता है। वहाँ जीव अनात्मविद् होने के कारण देवों के अधीन रहता है और अपने सुकृतों का फलभोग प्राप्त करता है (सू० ३।१।७)।

अनिष्टादिकारी या पापात्मा जीव का भी उक्त मार्ग के द्वारा चन्द्रलोक गमन होता है या नहीं, यह प्रश्न सूत्रकार के समक्ष उपस्थित होता है, क्योंकि कुछ श्रुतियाँ सामान्यतः सभी जीवों का गमन चन्द्रलोक तक प्रतिपादित करती हैं (सू० ३।१।१२)। उक्त श्रुतियों की उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि यह माना जावे कि पापात्मा जीव यमलोक में अपने कर्मों का भोग प्राप्त कर चन्द्रलोक तक उक्त मार्ग से ही आरोहण करते हैं (सू० ३।१।१३-१६)। सूत्रकार का मत है कि उक्त दो मार्ग—अर्चिरादि और धूमादि—क्रमशः विद्या और इष्टादि कर्म के फल रूप में श्रुतियों में प्रतिपादित हैं, अतः अनिष्टादिकारियों को जिस प्रकार विद्यारहित होने से अर्चिरादिमार्ग की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार इष्टादिकर्मरहित होने से धूमादिमार्ग की भी प्राप्ति नहीं होती (सू० ३।१।१७-१८)। अनिष्टादिकारियों को किस मार्ग की प्राप्ति होती है, उस मार्ग से किस लोक तक वे आरोहण करते हैं और उक्त लोक से उनका किस प्रकार अवरोहण होता है, इन विषयों पर सूत्रकार ने कोई स्पष्ट विचार प्रस्तुत नहीं किया है; उन्होंने केवल इष्टादिकारी जीवों के आरोहण और अवरोहण पर विचार किया है।

(इ) लोकान्तर से आगमन और स्थूल शरीर की प्राप्ति—इष्टादिकारी जीव चन्द्रलोक में अपने सुकृतों का फल-भोग कर निःशेषरूप से कर्मों को समाप्त कर लौटता है या कर्म-संस्कार के साथ ही लौटता है, इस विषय में सूत्रकार का यह मत है कि उक्त जीव कर्मानुशय या कर्म-संस्कार के साथ ही लौटता है, क्योंकि उसके अभाव में श्रुतियों के इस वर्णन की उपपत्ति नहीं लगेगी कि चन्द्रलोक से लौटने वाले रमणीयचरण जीव रमणीय योनि को प्राप्ति करते हैं और कपूयचरण जीव कपूय योनि को प्राप्त करते हैं; चन्द्रलोक से लौटने वाले

जीवों में उक्त द्विविध चरण क्रमशः सुकृत और दुष्कृत का ही वाचक है। इस प्रकार यही मानना उपपन्न है कि सुकृत-दुष्कृत कर्मों के संस्कार के साथ ही जीव चन्द्रलोक से लौटता है (सू० ३।१।८-११)। सूत्रकार के उक्त मत से यह तो स्पष्ट होता ही है कि पुण्यात्मा जीव चन्द्रलोक प्राप्त कर मुक्त नहीं हो जाता, अपितु बद्ध ही बना रहता है—उसकी आवृत्ति बनी रहती है, जिससे कि मुक्त होने का साधन पुण्यकर्म नहीं, अपितु एकमात्र ब्रह्मज्ञान है; किन्तु साथ में यह भी स्पष्ट होता है कि उक्त कर्मानुशय या कर्म-संस्कार उन सुकृत कर्मों का नहीं, जिनका फल उसने चन्द्रलोक में भोगा है, क्योंकि उक्त कर्मों का अनुशय मानने पर कपूयचरण नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो केवल रमणीयचरण ही होगा, अतः उक्त कर्मानुशय संचित कर्मों का है, जो सुकृत और दुष्कृत दोनों प्रकार के हैं, किन्तु सूत्रकार या किसी भाष्यकार ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि चन्द्रलोक से लौटने वाले जीवों में सुकृत और दुष्कृत दोनों प्रकार के ही कर्मों का अनुशय होने पर भी किसी जीव को रमणीयचरण और अन्य को कपूयचरण किस आधार पर माना जाता है, फिर भी सूत्रकार के उक्त प्रतिपादन से इतना स्पष्ट है कि पुण्यात्मा जीवों के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं कि वे चन्द्रलोक से लौटकर रमणीय योनि में ही जन्म ग्रहण करें, वे कपूय योनि में भी उत्पन्न हो सकते हैं।

उक्त कर्मानुशय के साथ जीव चन्द्रलोक से लौटता हुआ क्रमशः आकाश, वायु, धूम, अभ्र, मेघ, व्रीहियवादि और वीर्य, इन पदार्थों के भाव या रूप को धारण करता है और तब योनि-प्राप्ति के बाद ही स्वकर्मानुरूप-सुखदुःखोपभोगसाधन स्थूल शरीर को प्राप्त करता है (सू० ३।१।२२-२७)। योनि-प्राप्ति के द्वारा स्थूल शरीर की प्राप्ति से पूर्व जिन आकाशादि रूपों को उक्त जीव धारण करता है, वे देव, मनुष्य आदि भाव या रूपों के समान स्वयं उसके शरीर नहीं हैं, उनके साथ तो केवल सूक्ष्मशरीर से युक्त जीव की सादृश्यापत्ति होती है (सू० ३।१।२२)। इस प्रकार उक्त रूप चन्द्रलोक से लौटने वाले जीव के कर्मफलभोग के साधन नहीं, अपितु अन्य जीवों के द्वारा स्वकर्म-फल-भोग के लिए अधिष्ठित हैं, जिनसे कि लौटने वाला जीव आश्रयणार्थ केवल संश्लेष प्राप्त करता है (सू० ३।१।२४)। उक्त विषयों के सम्बन्ध में भाष्यकारों में परस्पर प्रायः मतैक्य ही है।

(ई) **स्वप्नदशा**—सूत्रकार ने सू० ३।२।१-६ में बद्ध जीव की स्वप्न-दशा का निरूपण किया है। रामानुज और निम्बार्क उक्त दशा को सत्य

मानते हुए उसके निरूपण में इस प्रकार विकल्प उपस्थित करते हैं कि स्वाप्निक सृष्टि जीवकृत है या परमात्मकृत, और यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि उक्त सृष्टि परमात्मकृत है। बलदेव ने रामानुज और निम्बार्क के समान उक्त विकल्प और सिद्धान्त स्थापित करने के अतिरिक्त यह विकल्प भी स्थापित किया है कि स्वाप्निक सृष्टि मिथ्या है या सत्य और यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि उक्त सृष्टि सत्य है। इस प्रकार उक्त तीनों भाष्यकार प्रकार-भेद से एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वाप्निक सृष्टि सत्य और परमात्मकृत है। मध्व ने उक्त दशा के सम्बन्ध में किसी विकल्प के विना ही यह प्रतिपादित किया है कि परमात्मा के विना स्वप्न भी प्रतीत नहीं होता, परमात्मा ही स्वेच्छा से जीव को उसके मनोगत अनादि संस्कारों को दिखाता है, इस प्रकार उन के अनुसार स्वप्नकर्त्ता परमात्मा होते हुए भी स्वाप्निक सृष्टि मनोगत संस्कारों के अनुरूप एक प्रतीति मात्र है। वल्लभ ने यह विकल्प उपस्थित कर कि स्वाप्निक सृष्टि सत्य है या मिथ्या, यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि उक्त सृष्टि मायामात्र अर्थात् मिथ्या है।

उक्त सूत्रों में रामानुज, निम्बार्क और बलदेव द्वारा स्वीकृत इस विकल्प का तो कोई संकेत नहीं मिलता कि स्वप्न सृष्टि जीवकृत है या परमात्मकृत। सू० ३।२।१-२ में यही पूर्वपक्ष स्थापित किया हुआ प्रतीत होता है कि स्वप्न में सृष्टि है अर्थात् स्वाप्निक सृष्टि सत्य है और सू० ३।२।३ के द्वारा उत्तर दिया गया है कि उक्त सृष्टि मायामात्र है, क्योंकि उसका स्वरूप जाग्रत् के समान अभिव्यक्त नहीं। इस प्रकार मध्व तथा वल्लभ और विशेषकर केवल वल्लभ का उक्त पक्ष अधिक सूत्रसम्मत प्रतीत होता है। सूत्रकार ने जगन्नास्तित्ववादिनी बौद्ध शाखा के निराकरण में भी यही कहा है कि जगत् स्वप्न आदि से विधर्म या विषम होने के कारण स्वप्न के समान अभाव मात्र नहीं (सू० २।२।२७-२८)। स्वप्न का दर्शयिता परमात्मा है, इस विषय में कोई सन्देह ही नहीं है।

(४) **सुषुप्तिदशा**—सूत्रकार के अनुसार जीव सुषुप्तिदशा में नाड़ियों के अन्तर्गत पुरीतत् में स्थित सत् या प्राज्ञ से सम्पन्न होता है और उसी से उसका प्रबोध होता है। सुषुप्ति में सत् या प्राज्ञ से सम्पन्न होने पर भी जीव का विलय नहीं हो जाता, अपितु सोने के बाद वही जीव उठता है (सू० ३।२।७-९)। उक्त विषय के सम्बन्ध में भी कोई विवाद नहीं है।

(५) **मूर्च्छादशा**—जीव की मूर्च्छादशा अर्धमरणावस्था है, क्योंकि उक्त

दशा में मरण के समान प्राण, इन्द्रिय आदि के व्यापार उपरत हो जाते हैं, किन्तु मरण से विपरीत सूक्ष्मप्राण का अस्तित्व बना रहता है और पुनर्जीवन भी प्राप्त हो जाता है (सू० ३।२।१०)।

३. उपासनासम्बन्धी विषय

(अ) देवों का उपासनाधिकार—सूत्रकार ने सू० १।३।२३-४० के द्वारा मीमांस्य श्रुति-प्रकरण के ब्रह्मपरक समन्वय के प्रसंग से उक्त प्रकरण में प्रतिपादित पुरुष के अंगुष्ठमात्रत्व की सू० १।३।२४ के द्वारा यह उपपत्ति प्रस्तुत की कि मनुष्य का उपासना में अधिकार है, अतः उसके अगुंष्ठमात्र हृदय के परिमाण के अनुसार उपास्य परतत्त्व का अगुंष्ठमात्रत्व उक्त प्रकरण में प्रतिपादित किया गया है। मनुष्यों के उक्त उपासनाधिकार के प्रसंग से उन्होंने इस विषय पर भी विचार प्रस्तुत किया है कि मनुष्यों से उत्कृष्ट योनि वाले देवों का भी उपासना में अधिकार है या नहीं। आचार्य जैमिनि देवों का कोई विग्रह न मानकर उनका स्वरूप मान्त्रवर्णिक अर्थात् केवल मन्त्रमय मानते है, अतः स्वभावतः वे देवों का उपासना में अधिकार नहीं मानते। आचार्य जैमिनि के उक्त मत के विपरीत सूत्रकार का सिद्धान्त है कि देवों का भी उपासना में अधिकार है, क्योंकि उपासना के लिए अर्थित्व और सामर्थ्य की अपेक्षा है और देवों में उक्त दोनों अपेक्षित योग्यताएँ हैं, उन्हें भी अमृतत्व-प्राप्ति की इच्छा है और साथ हो विग्रहवान् होने के कारण वे सामर्थ्य-सम्पन्न भी हैं (सू० १।३।२५)। आगे सूत्रकार ने अपने उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा कि यदि यह आपत्ति उपस्थित की जावे कि देवों को विग्रहवान् मानने से कर्म में विरोध होगा, क्योंकि वे पुनः वे एक साथ आहूत होने पर विभिन्न स्थलों पर उपस्थित नहीं हो सकते, तो यह युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि देव शक्तिमान् होने के कारण एक साथ अनेक शरीरों को धारण कर सकते हैं (सू० १।३।२६)। यदि यह कहा जावे कि इन्द्रादि देवों के विग्रहवान् होने से उनका नाश होने पर देववाचक वैदिक शब्दों में विरोध उपस्थित होगा, क्योंकि तब तो वे अर्थशून्य और फलतः अनित्य हो जावेंगे; तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि वैदिक शब्द व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं, अपितु आकृति के वाचक हैं, अतः एक व्यक्ति के नष्ट होने पर भी उनका आकृतिरूप अर्थ बना रहेगा और फलतः वे अर्थशून्य या अनित्य नहीं हो सकेंगे। वैदिक शब्दों के आकृतिरूप अर्थों का स्मरण करके ही प्रजापति व्यक्तियों का सृजन करता है; इस प्रकार वेद एक प्रकार से स्वयं जगन्मूल हैं और फलतः नित्य है

(सू० १।३।२७-२८)। महाप्रलय में सम्पूर्ण जगत् के अव्याकृत या अव्यक्त होने के कारण प्रजापति के भी नष्ट होने पर वेद के नित्यत्व में कोई विरोध नहीं आ सकता, क्योंकि सम्पूर्ण शब्दमय वेद सर्वज्ञ परमपुरुष के ज्ञान का विषय बना रहता है, जिसको कि वह दूसरी सृष्टि में पूर्वानुपूर्वीविशिष्टक्रम से आविष्कृत करता है और पूर्वसृष्टि के समान ही नामस्वरूपयुक्त व्यक्तिरूप पदार्थों के सृजन के कारण वैदिक शब्दों का अर्थशून्यत्व भी कभी नहीं हो सकता (सू० १।३।२९)।

पूर्वमीमांसा वेद के नित्यत्व का प्रतिपादन करने के लिए देवों को विग्रहवान् नहीं मानती, जगत् का प्रयल न मान कर उसे प्रवाहतः नित्य मानती है और वेदों में पौरुषेयत्व की गन्ध भी न आने देने के लिए किसी जगत्कारण परतत्त्व को नहीं मानती। ब्रह्मसूत्रों ने पूर्वमीमांसा के विपरीत परतत्त्व और उसके जगत्कारणत्व, जगत की सृष्टि और प्रलय तथा देवों का विग्रहवत्त्व मानते हुए भी वेद के नित्यत्व का समर्थन अपने स्वतन्त्र प्रकार से उक्त रूप में किया है और देवों को भी उक्त प्रकार से विग्रहवान् मानकर उनका उपासनाधिकार प्रतिपादित किया है। आचार्य जैमिनि ने देवों के उपासनाधिकार के विरोध में यह तर्क भी उपस्थित किया है कि 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छान्दोग्य ३।१।१) आदि प्रकरणों में प्रतिपादित मधु आदि ऐसी विद्याओं में, जिनमें देव ही उपास्य बताए गए हैं, उन्हीं देवों का उपासकत्व संभव नहीं, अतः यही सिद्ध होता है कि देवों का उपासनाधिकार नहीं। सूत्रकार ने उक्त तर्क का उत्तर दिया है कि उक्त उपासनाओं में भी देवों का उपासकत्व इसलिए संभव है कि उनमें उपास्य कोई देव नहीं, अपितु देवान्तर्यामी परतत्त्व है, जो कि उपासक देवों के द्वारा भी प्राप्य है और यही कारण है है कि उक्त प्रकरण में आदित्य का उपासक स्वयं आदित्य को भी बताया गया है (सू० १।३।३०-३२)।

उक्त प्रकार से सूत्रकार के अनुसार देवों का भी उपासनाधिकार है, जिस के सम्बन्ध में भाष्यकारों की कोई सैद्धान्तिक विप्रतिपत्ति नहीं।

शूद्रों का उपासनाधिकार—देवों के उपासनाधिकार के प्रसंग से ही सूत्रकार ने शूद्रों के उपासनाधिकार का भी विचार सू० १।३।३३-३९ में किया है। परम्परा के अनुसार शूद्रों का वैदिक स्वाध्याय, यज्ञोपवीत-संस्कार एवं वैदिक कर्मानुष्ठान में अधिकार नहीं माना जाता है और फलतः उनका वेद के अंगभूत उपनिषदों के स्वाध्याय और तत्प्रतिपादित उपासनाओं में स्वतः अनधिकार हो जाता है, किन्तु छन्दोग्योपनिषद् के एक प्रकरण

(४।१-३) में रैक्व के द्वारा जानश्रुति पौत्रायण को उपासना के उपदेश का वर्णन है और वहाँ जानश्रुति को रैक्व द्वारा 'शूद्र' शब्द से सम्बोधित किया गया है, जिससे यह आशंका होती है कि क्या शूद्र का भी औपनिषद उपासनाओं में अधिकार है? उक्त आशंका की निवृत्ति के लिये सूत्रकार उक्त प्रकरण के ही आधार पर यह प्रतिपादित करते हैं कि जानश्रुति पौत्रायण जाति से शूद्र नहीं था, अपितु हंसों के द्वारा अपना अनादर सुनने से तथा विद्या की प्राप्ति के लिए आचार्य रैक्व के पास शीघ्रता से जाने पर भी विद्या का लाभ न होने से उसे 'शोक' हो गया था, जिसके कारण रैक्व ने उसे 'शूद्र' कह कर सम्बोधित किया है (सू० १।३।३३)। उक्त प्रकरण में जानश्रुति के सम्बन्ध में सूचित लिंगों से उसके क्षत्रियत्व की सूचना मिलती है (सू० १।३।३४-३५), उपनिषदों में उपासना का उपदेश देने से पूर्व उपनयन-संस्कार करने का परामर्श है और शूद्र का उक्त संस्कार होता नहीं है, इसके अतिरिक्त उपनिषदों में गुरुओं ने शिष्यों को उपासना का उपदेश तभी दिया है, जब कि यह निर्धारित कर लिया है कि शिष्य शूद्र नहीं हैं, साथ ही वेद के श्रवण और अध्ययन का भी शूद्र के लिए प्रतिषेध किया गया है, अतः यही सिद्ध होता है कि शूद्र का उपासना में अधिकार नहीं (सू० १।३।३६-३९)।

उक्त प्रकार से सूत्रकार ने शूद्रों के उपासनाधिकार का प्रतिषेध कर यह स्पष्ट कर दिया है कि औपनिषद ब्रह्मोपासनाएँ अनुष्ठेयत्व की दृष्टि से वैदिक कर्मों के ही समान हैं, इनके भी अनुष्ठान की एक विशिष्ट विधि है और इनमें उन्हीं का अधिकार है, जिनका वैदिक कर्मों में अधिकार है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या शूद्र अपने अन्तर्यामी परतत्त्व की उपासना से वंचित ही रह जावेंगे! सूत्रकार ने जो सू० १।३।२४ में उपासना में मनुष्य का अधिकार बताकर यह प्रतिपादित किया हैं कि उसका हृदय अंगुष्ठामात्र है, अतः परतत्त्व उसके हृदय में अंगुष्ठप्रमित रूप में स्थित है, तो क्या शूद्र का हृदय उक्त परिमाण का नहीं? और क्या परतत्त्व उसके हृदय में स्थित नहीं है? सूत्रकार को यही उत्तर देना पड़ेगा कि वह सबके हृदय में स्थित है, यदि ऐसा है तो शूद्र स्वहृदयस्थित अन्तर्यामी का अनुसन्धान किस प्रकार करे, यह उन को स्पष्ट करना था। सभी प्राणियों की परतत्त्व के अनुसंधान में रुचि हो सकती है और होनी चाहिए, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर वैष्णवसम्प्रदायों ने शूद्रसमेत सभी प्राणियों के लिए परतत्त्वानुसन्धान-प्रकार का उपदेश देकर जो उपकार किया है, वह वस्तुतः उनकी सर्वभूतदया और उदारता का परिचायक

तो है ही, साथ ही 'वेदान्तदर्शन' की एक खटकने वाली कमी को भी पूर्ण करने वाला है।

(इ) **अनाश्रमी व्यक्तियों का उपासनाधिकार**—मध्व और वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार सू० ३।४।३६-३९ में सूत्रकार ने इस विषय पर विचार किया है कि विधुर आदि आश्रमविहीन व्यक्तियों का उपासना में अधिकार है या नहीं और यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि उक्त व्यक्तियों का भी उपासनाधिकार है, क्योंकि उपनिषदों में रैक्व आदि ऐसे ब्रह्मविदों का वर्णन है, जो अनाश्रमी थे। साथ में सूत्रकार ने यह भी प्रतिपादित किया है कि अनाश्रमित्व से आश्रमित्व श्रेष्ठ है (सू० ३।४।३९)।

(ई) **आश्रमप्रच्युतों का उपासनाधिकार**—केवल रामानुज और निम्बार्क के अनुसार सू० ३।४।४०-४३ में सूत्रकार ने इस विषय पर विचार किया है कि नैष्ठिक, वैखानस आदि आश्रमों से प्रच्युत व्यक्तियों का उपासना में अधिकार है या नहीं और जैमिनि के साथ एकमत होकर यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि जो व्यक्ति एक बार नैष्ठिक, वैखानस आदि आश्रमों में प्रविष्ट होकर पुनः उक्त आश्रमों को छोड़कर आश्रमभ्रष्ट होता है, उसका उपासना में अधिकार नहीं, क्योंकि उक्त व्यक्ति का कोई भी प्रायश्चित नहीं बताया गया है। उक्त आश्रमभ्रष्ट व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अनाश्रमी रहने वाले रैक्व आदि ब्रह्मविदों की श्रेणी में नहीं आ सकते, उन्हें तो अपने-अपने आश्रमों में रह कर ही उपासना करनी चाहिए।

ऊर्ध्वरेता आश्रम और उनका उपासनाधिकारः—सूत्रकार ने आचार्य जैमिनि के इस सिद्धान्त का कि विद्या कर्म का अंग है, प्रतिवाद करते हुए सू० ३।४।१-२५ में यह प्रतिपादित किया है कि विद्या अपने पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने में स्वतन्त्र साधन है, वह कर्म का अंग नहीं। उक्त सिद्धान्त के समर्थन में अनेक हेतुओं के साथ सू० ३।४।१७ में उन्होंने यह भी एक हेतु प्रस्तुत किया है कि ऊर्ध्वरेता आश्रमों में अग्निहोत्रादि कर्मों का अभाव होता है, किन्तु उनमें ब्रह्मविद्या का दर्शन श्रुतियों से ज्ञात होता है, अतः सिद्ध है कि विद्या कर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र साधन है, साथ ही उक्त सूत्र में सूत्रकार ने यह भी कह दिया है कि ऊर्ध्वरेता आश्रम श्रुतियों से सिद्ध होते हैं। उक्त प्रसंग में आचार्य जैमिनि ने यह प्रतिवाद उपस्थित किया कि श्रुतियों में ऊर्ध्वरेता आश्रमों का परामर्श मात्र है, विधान नहीं (सू० ३।४।१८), जिसका कि सूत्रकार ने यह उत्तर दिया कि जिस प्रकार अन्य आश्रमों का श्रुतियों में

श्रवण है, उसी प्रकार साथ ही ऊर्ध्वरेता आश्रमों का समान रूप से श्रवण है, अतः अन्य आश्रमों के समान ही इनका भी अनुष्ठेयत्व सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वरेता आश्रमों के प्रतिपादक वाक्य को अप्राप्त का प्रतिपादक होने के कारण 'विधि' भी माना जा सकता है (सू० ३।४।१६-२०)।

उक्त प्रकार से स्पष्ट है कि सम्भवतः आचार्य जैमिनि प्रमुखतः दो ही आश्रमों—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य—को श्रुति से विहित मानते थे और किसी ऐसे आश्रम को मानने के पक्ष में नहीं थे, जिसमें अग्निहोत्रादि कर्मों का अभाव विहित रूप से रह सके, किन्तु सूत्रकार उक्त दोनों आश्रमों के अतिरिक्त ऐसे आश्रमों को भी मानते थे, जिनमें अग्निकर्मों के अनुष्ठान का अभाव श्रुत्यभिमत रूप से रह सकता है।

सूत्रार्थ, विषय-प्रतिपादन-प्रकार और कहीं कहीं निष्कर्ष तक में भिन्नता होते हुए भी उक्त सभी विषयों के सम्बन्ध में भाष्यकारों में परस्पर कोई विशेष उल्लेखनीय सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है।

अध्याय ७

परमत-निराकरण

प्रस्तावना

अब तक पूर्व पृष्ठों में सूत्रकार के स्वाभिमत सिद्धान्तों का अध्ययन किया गया। अब यह क्रम प्राप्त है कि उनके द्वारा प्रस्तुत परमत-निराकरण के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जावे। सूत्रकार ने अपने द्वारा प्रस्तुत श्रुति-वाक्य-समन्वय और स्वसिद्धान्त-स्थापन के प्रसंग से जो परमत-निराकरण किया है, उसका परिचय पूर्व पृष्ठों में तत्तद्विषयों के अध्ययन के साथ प्राप्त किया जा चुका है। अब उक्त निराकरण का नहीं, अपितु सूत्रकार के द्वारा तर्कपाद (अ० २।२) में प्रस्तुत ऐसे निराकरण का परिचय प्राप्त करना है, जो स्वसिद्धान्त-स्थापन के प्रसंग से नहीं, अपितु स्वतन्त्र रूप से विपक्षी मतों के सिद्धान्तों की अनुपपन्नता को प्रदर्शित करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। तर्कपाद में निराकरण के लिए अन्य सूत्रों में निर्दिष्ट ब्रह्ममीमांसकों के मतों का परिग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि सूत्रकार और उक्त मीमांसकों में परस्पर श्रुतियों के तात्पर्य के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी मूल दर्शन के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है। श्रुतिप्रतिपादित 'वेदान्तदर्शन' और उसका प्रमुख सिद्धान्त 'ब्रह्मकारणवाद' सभी को समान रूप से मान्य है, फलतः विभिन्न मीमांसकों के मत दार्शनिक दृष्टि से उन विपक्षी मतों की कोटि में नहीं आते जो श्रुति-प्रतिपादित वेदान्तदर्शन को न मान कर उससे व्यतिरिक्त अपना स्वतन्त्र दर्शन रखते हैं और फलतः अपनी तत्त्वनिष्ठा और आचारनिष्ठा के सम्बन्ध में श्रुतियों के ऊपर निर्भर न रहते हुए पूर्णतया स्वतन्त्र हैं।

उक्त पाद में सूत्रकार ने सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत और पांचरात्र, इन छः मतों के विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों का निराकरण किया है। उक्त मतों में बौद्ध और जैन स्पष्टतः श्रुतिविरोधी हैं। अवशिष्ट मतों में सांख्य सूत्रकार के समय में, जैसा कि सूत्रों के साक्ष्य से ज्ञात है, श्रुति-प्रामाण्य को मानते हुए साथ में यह भी दावा करता था कि श्रुतियों में उसी के

दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। अन्य मत—वैशेषिक, पाशुपत और पांचरात्र—भी सूत्रकार के समय में श्रुति-प्रामाण्य को मानते थे या नहीं, इस सम्बन्ध में सूत्रों से कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। भले ही उक्त तीनों मत भी सांख्य के समान श्रुति-प्रामाण्य को मानते हों और अपने सिद्धान्तों का सांख्य के समान ही श्रुतियों से समर्थन करते हों, किन्तु इतना स्पष्ट है कि सूत्रकार की दृष्टि में वे सांख्य के समान ही श्रुतिप्रतिपादित वेदान्तदर्शन नहीं, अपितु उससे स्वरूपतः भिन्न स्वतन्त्र दर्शन हैं और इसीलिए उन्होंने तर्कपाद में स्पष्टतः श्रुतिविरोधी बौद्ध और जैन मतों के समान ही उनकी भी आलोचना की। उन्होंने तर्कपाद में निराकृत सभी मतों को श्रुतियों से स्वतन्त्र मान कर उनका निराकरण किया है और इसीलिए उनके निराकरण में कहीं भी श्रुतिविरोध को हेतु रूप में प्रयुक्त न कर, स्वतन्त्र रूप से युक्तियों के द्वारा उनके सिद्धान्तों की अनुपपन्नता और विप्रतिषिद्धता उन्होंने प्रदर्शित की है।

सूत्रकार ने तर्कपाद में उक्त मतों के केवल तत्त्वनिष्ठासम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की है, उनके आचारनिष्ठासम्बन्धी सिद्धान्तों की कोई चर्चा नहीं की। तत्त्वनिष्ठासम्बन्धी सिद्धान्तों में से भी केवल तत्तन्मतों के प्रमुख और विशिष्ट सिद्धान्तों को ही उन्होंने निराकृत किया है। उक्त निराकृत सिद्धान्त स्पष्टतः ब्रह्मसूत्रों के द्वारा प्रस्तुत वेदान्तदर्शन के विरुद्ध पड़ते हैं और इस लिए उनका प्रतिपादन करने वाले मत चाहे बौद्ध और जैन के समान स्पष्टतः श्रुतिविरोधी हों, चाहे अन्य मतों के समान श्रुतिप्रामाण्यवादी या श्रुतियों की ओर से उदासीन हों, दार्शनिक दृष्टि से वे सब सूत्रकार की दृष्टि में विपक्षी और फलतः निराकरणीय हैं। सूत्रकार ने सर्वमान्य सामान्य तर्कों का प्रयोग करते हुए भी जहाँ तक हो सका है वहाँ तक अपनी ओर से बाह्य युक्तियों का प्रयोग न कर निराकरणीय मत के विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर ही उनमें परस्पर विप्रतिषेध और अनुपपत्ति प्रदर्शित करने का संक्षिप्त किन्तु साथ ही मार्मिक रूप में प्रयत्न किया है।

यद्यपि सभी भाष्यकारों की तर्कपाद में निराकृत मतों पर समान रूप से प्रायः निराकरणात्मक दृष्टि ही रही है, अतः कोई सोद्देश्य मतभेद उपस्थित नहीं हो सका है; फिर भी यतः उन्होंने उक्त मतों के स्वरूप और उनके निराकरण को सर्वत्र समान रूप से उपस्थित नहीं किया है और सम्भवतः कहीं कहीं सूत्रानुकूलता भी उसमें नहीं है, अतः यह देखना आवश्यक हो जाता है कि सूत्रकार द्वारा निराकृत मतों और उनके

निराकरण का वास्तविक स्वरूप क्या है और विभिन्न भाष्यकारों ने उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसमें सूत्रानुकूलता कहाँ तक प्रतीत होती है ?

२. सांख्यमत-निराकरण
(सू० २।२।१-९)

सू० २।२।१—उक्त सूत्र में सूत्रकार ने सांख्याभिमत अचेतन प्रधान के जगत्कारणत्व का निराकरण करने के लिए सर्वप्रथम एक प्रमुख हेतु—रचनानुपपत्ति—प्रस्तुत किया। उक्त सूत्र से पूर्व उन्होंने अपने 'ब्रह्मकारणवाद' पर प्रमुखतः सांख्य की ओर से होने वाले आक्षेपों का निराकरण कर उपसंहार में सू० २।१।३६ द्वारा 'सर्वधर्मोपपत्ति 'हेतु के बल पर ब्रह्म के जगत्कारणत्व को स्थापित किया था और उसके बाद ही उलट कर उक्त सूत्र (२।२।१) के द्वारा सांख्य के 'प्रधानकारणवाद' पर यह आक्षेप किया कि 'रचनानुपपत्ति' के कारण प्रधान का जगत्कारणत्व युक्तियुक्त नहीं और इस प्रकार यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्मकारणवाद में तो 'सर्व-धर्मोपपत्ति' है, किन्तु प्रधानकरणवाद में सर्वधर्मोपपत्ति की बात तो दूर, केवल 'रचनोपपत्ति' भी नहीं वन सकती !

रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने उक्त हेतु—रचनानुपपत्ति—को इस रूप में प्रयुक्त किया है कि किसी चेतन से अनधिष्ठित अचेतन पदार्थ के द्वारा रचना के अनुपपन्न होने से प्राज्ञानधिष्ठित अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता। मध्व यह कहते हैं कि अचेतन की स्वतः प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से अचेनन प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता। वल्लभ यह कहते हैं कि चेतनकर्तृक रचना केवल अचेतन प्रधान के द्वारा उपपन्न नहीं।

उक्त अर्थों के द्वारा निराकरणीय सांख्य मत का निराकरण होने पर भी उनमें से कोई भी अर्थ पूर्णतया सूत्राक्षरानुकूल और सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता। रामानुज, निम्बार्क और बलदेव द्वारा प्रस्तुत अर्थ के अनुसार यह तात्पर्य निकलता है कि प्राज्ञानधिष्ठित नहीं, किन्तु प्राज्ञाधिष्ठित प्रधान जगत्कारण हो सकता है और इस प्रकार प्राज्ञाधिष्ठान के साथ सांख्याभिमत प्रधान का स्वरूपतः अभ्युपगम हो जाता है, जो उक्त भाष्यकारों को भले ही अभीष्ट हो, किन्तु सूत्रकाराभिमत नहीं माना जा सकता। उक्त अर्थ के अनुसार साथ ही सेश्वर सांख्य या योग के मत का समर्थन स्वतः हो जाता है, जिसका कि निराकरण सूत्रकार को अभीष्ट है (सू० २।१।३)। वस्तुतः

उक्त सूत्र (२।२।१) में 'चेतनाधिष्ठान' या 'प्राज्ञाधिष्ठान' के प्रतिबन्ध की कोई चर्चा ही नहीं है। मध्व ने 'रचनानुपपत्ति' का अर्थ 'प्रवृत्यनुपपत्ति' स्वीकृत किया है, जो स्पष्टतः अनुचित है, क्योंकि 'प्रवृत्यनुपपत्ति' को तो हेतु रूप में सूत्रकार ने स्वयं ही पृथक् उपन्यस्त किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो प्रवृत्ति का 'स्वतः' और वल्लभ ने प्रधान का 'केवल' विशेषण लगा दिया है, उससे भी 'चेतनाधिष्ठान' के प्रतिबन्ध की ध्वनि निकलती है, जिसका कि सदोषत्व ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है, अन्यथा वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ अधिक सूत्रानुकूल था।

सूत्रकार ने सू० २।२।७ में स्पष्टतः स्वयं प्रधान के ही 'ज्ञशक्ति-वियोग' को उसके जगत्कारणत्व की अनुपपत्ति का प्रमुख हेतु माना है, अतः 'रचनानुपपत्ति' का केवल इतना ही अर्थ सूत्रकाराभिमत हो सकता है कि सांख्याभिमत प्रधान के अचेतन होने के कारण उसके द्वारा एक व्यवस्थित-कार्यरूप जगत् की रचना अनुपपन्न है, अतः उसे जगत्कारण नहीं माना जा सकता। रचना अर्थात् किसी कार्य के उपादानभूत तत्त्वों या पदार्थों का एक व्यवस्थित रूप में सन्निवेश अचेतन के द्वारा नहीं हो सकता, अतः सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत उक्त 'रचनानुपपत्ति' हेतु पूर्णतया युक्तियुक्त है।

सूत्रकार ने प्रधान के जगत्कारणत्व में दूसरा हेतु 'प्रवृत्तेश्च' प्रस्तुत किया है, जो कि रामानुज के अनुसार उक्त सूत्र (२।२।१) का ही एक अंश है और अन्य भाष्यकारों के अनुसार स्वयं एक पृथक् सूत्र है। उक्त हेतु के भाष्यकारों ने जो विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं वे भी यत्किंचित् अंश में उनके द्वारा प्रस्तुत 'रचनानुपपत्ति' के अर्थों के समान ही सदोष प्रतीत होते हैं। उक्त हेतु का सूत्रकाराभिमत तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि अचेतन प्रधान-में प्रवृत्ति अर्थात् संकल्पपूर्वक कार्यारम्भचेष्टा अनुपपन्न है, अतः उसे जगत्-कारण नहीं माना जा सकता।

सू० २।२।२—उक्त सूत्र के द्वारा सांख्य का यह वाद पूर्वपक्ष में उपन्यस्त किया गया है कि जिस प्रकार गौ आदि के स्तन्य दूध और नदी आदि के जल में अचेतन होते हुए भी प्रवृत्ति का दर्शन होता है, उसी प्रकार अचेतन प्रधान में प्रवृत्ति उपपन्न है। सांख्य के उक्त वाद का प्रतिवाद उक्त सूत्र में 'तत्रापि' के द्वारा किया गया है। उक्त प्रतिवाद का तात्पर्य सभी भाष्यकारों के अनुसार यह है कि उक्त पदार्थों में भी चेतनाधिष्ठान से प्रवृत्ति है। वल्लभ

को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त चेतनाधिष्ठान श्रुतियों में प्रतिपादित अन्तर्यामी परमात्मा का अधिष्ठान है और वल्लभ के अनुसार सामान्यतः चेतन का अधिष्ठान है ।

जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, चेतनाधिष्ठान की पूर्व-सूत्र (२।२।१) में कोई चर्चा नहीं, अतः 'तत्रापि' से उसका परामर्श मानना सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त उक्त पदार्थों में परमात्मा का अधिष्ठान सूत्रकार का स्वाभ्युपगत सिद्धान्त ही है, सर्वाभ्युपगत या सांख्या भ्युगत सिद्धान्त नहीं, और यतः विवादास्पद स्वाभ्युपगत सिद्धान्त का विपक्षी मत के निराकरण में कोई महत्त्व नहीं, अतः यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि सूत्रकार ने उक्त रूप में एक दुर्बल एवं अनुपयोगी तर्क का प्रयोग किया होगा । उक्त हेतु का यही तात्पर्य सूत्रकाराभिमत और पूर्वापरप्रसंग के अनुकूल प्रतीत होता है कि पूर्वसूत्र (२।२।१) में निर्दिष्ट प्रवृत्ति अर्थात् संकल्पपूर्वक चेष्टा 'तत्रापि' अर्थात् दूध और जल में भी अनुपपन्न है और इस प्रकार दृष्टान्तासिद्धि है ।

सू० २।२।३—उक्त सूत्र के द्वारा भी सभी भाष्यकार पूर्वोक्त प्रकार से भिन्न-भिन्न रूप में प्राज्ञाधिष्ठान या चेतनाधिष्ठान के विरह के आधार पर सांख्य का निराकरण करते हैं, जो कि, जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, उपयुक्त एवं सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता । उक्त सूत्र में प्रस्तुत युक्ति का इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि सांख्याभिमत प्रधान के अचेतन होने के कारण निरपेक्ष होने से उसमें प्रवृत्ति का उपराम भी अनुपपन्न है । इस प्रकार सूत्रकार ने अब तक यह स्पष्ट कर दिया कि किसी कार्य की रचना के लिए प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा और रचना होने के बाद उक्त प्रवृत्ति का उपराम, ये दोनों ही आवश्यक हैं, किन्तु प्रधान के अचेतन होने के कारण उसमें उक्त दोनों ही अनुपपन्न हैं, अतः उसे जगत्कारण नहीं माना जा सकता ।

मध्व के अनुसार प्रस्तुत मत का निराकरण उक्त सूत्र में ही समाप्त हो जाता है, अन्य भाष्यकारों के अनुसार वह सू० २।२।६ तक चलता है, जो कि उचित प्रतीत होता है ।

सू० २।२।४—उक्त सूत्र में मध्व को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों के अनुसार सांख्य का यह वाद सूत्रकार ने पूर्वपक्ष में उपन्यस्त किया है कि जिस प्रकार पयस्विनी गौ आदि के द्वारा भक्षित अचेतन तृण आदि स्वाभाविक रूप से दूध में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अचेतन प्रधान स्वाभाविक

रूप से जगत् में परिणत हो जावेगा। सांख्य के उक्त वाद का प्रतिवाद सूत्रकार ने 'अन्यत्राभावात् न' के द्वारा किया है, जिसका तात्पर्य भाष्यकारों ने किंचित् प्रकार-भेद से यह माना है कि उक्त दृष्टान्त में भी प्राज्ञाधिष्ठान का प्रतिबन्ध है, प्राज्ञ ही अपने संकल्प से गौ आदि के द्वारा भक्षित तृण को दूध में परिणत करता है और यही कारण है कि पयस्विनी गौ आदि से अतिरिक्त पशुओं के द्वारा भक्षित तृण दूध में परिणत नहीं होता।

जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, प्राज्ञाधिष्ठान का प्रतिबन्ध न तो उचित प्रतीत होता है और न उक्त सूत्र में उसका कोई निर्देश ही है। उक्त हेतु का अभिप्राय इतना ही सूत्रकाराभिमत प्रतीत होता है कि पयस्विनी गौ आदि से अतिरिक्त पशुओं के द्वारा भक्षित होने या बिल्कुल ही अभक्षित रूप में रखे रहने पर तृण दूध के रूप में परिणत नहीं होता, अतः यही सिद्ध होता है कि दूध तृण का स्वाभाविक परिणाम नहीं; अतः दृष्टान्तासिद्धि है।

सूत्र २।२।५—उक्त सूत्र के द्वारा सभी भाष्यकारों की सम्मति में सूत्रकार ने सांख्य के इस वाद को पूर्वपक्ष में उपस्थित किया है कि जिस प्रकार नेत्रयुक्त पंगु व्यक्ति के साहाय्य या संनिधान से गतिसमर्थ अन्धे व्यक्ति की प्रवृत्ति उपपन्न है अथवा अयस्कान्त मणि के संनिधान से लोहे की प्रवृत्ति उपपन्न है, उसी प्रकार पुरुष के संनिधान से अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति उपपन्न है। सांख्य के उक्त वाद का प्रतिवाद सूत्रकार ने 'तथापि' के द्वारा किया है, जिसका तात्पर्य सभी भाष्यकारों के अनुसार यह है कि उक्त प्रकार से भी अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं, क्योंकि गमन-शक्ति-विकल पंगु पुरुष में भी मार्गदर्शन, तदुपदेश आदि विशेषताएँ हैं, जो कि निष्क्रिय, निर्विकार, चिन्मात्र और कूटस्थ सांख्याभिमत पुरुष में संभव नहीं; इसके अतिरिक्त अन्धा व्यक्ति चेतन होने के कारण पंगु व्यक्ति के उपदेश को समझ कर प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रधान के अचेतन होने के कारण उसमें उपदेशावबोध की संभावना नहीं, इस प्रकार दृष्टान्तवैषम्य है और यदि अयस्कान्त मणि के समान पुरुष के संनिधान मात्र से प्रधान में प्रवत्ति मानी जावेगी तो पुरुष-संनिधान के नित्य होने से नित्यसृष्टि का प्रसंग होगा, जो सांख्य को अभीष्ट नहीं।

सूत्र २।२।६—रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार सूत्रकार ने यह कहा है कि सत्त्व आदि गुणों के उत्कर्षापकर्षनिबन्धन अंगागिभाव के आधार पर भी प्रधान की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि सृष्टि-प्रवर्तन से पूर्व प्रलय-काल में साम्यावस्थ गुणों का परस्पर न्यूनाधिक्य न होने

के कारण उनका अंगागिभाव संभव नहीं और यदि उक्त काल में भी गुणों का वैषम्य माना जावे तो नित्य-सृष्टि का प्रसंग होगा।

सूत्र २।२।७—उक्त सूत्र में प्रायः सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार ने यह कहा है कि पूर्वनिराकृत तर्कों के अतिरिक्त अन्य किसी तर्क के आधार पर भी सांख्य स्वाभिमत प्रधान की प्रवृत्ति को इसलिए उपपन्न सिद्ध नहीं कर सकता कि वह उसमें 'ज्ञशक्ति' का वियोग मानता है।

सूत्र २।२।८—सांख्याभिमत प्रधान में जगद्-रचना के लिए प्रवृत्ति मानने पर भी उसके निष्प्रयोजन होने से प्रधान का जगत्कारणत्व उपपन्न नहीं; अचेतन प्रधान का अपना तो कोई प्रयोजन ही नहीं, चैतन्यमात्रवपु, निष्क्रिय, निर्विकार एवं निर्मल होने से नित्यमुक्त पुरुष का भी कोई प्रयोजन नहीं।

सूत्र २।२।९—सांख्याभिमत प्रधानकारणवाद स्वयं अपने स्वरूप में विप्रतिषिद्ध होने से असमंजस है।

निराकृत मत का स्वरूप—

(१) प्रधान ज्ञशक्तिवियुक्त अर्थात् अचेतन है (सू० २।२।७)।

(२) उक्त अचेतन प्रधान जगत्कारण है; वह जगद्-रचना में प्रवृत्त होकर सृष्टि करता है (सू० २।२।१)।

(३) अचेतन प्रधान में जगद्-रचना के लिए स्तन्य दूध आदि के समान स्वाभाविक प्रवृत्ति है (सू० २।२।२)।

(४) जगत् प्रधान का स्वाभाविक परिणाम है (सू० २।२।४)।

(५) पुरुष का संनिधान और गुणों का अंगागिभाव प्रधान की प्रवृत्ति में एक अपेक्षित परिस्थिति है (सू० २।२।५, ६)।

(६) प्रधान की प्रवृत्ति प्रयोजनवती है (सू० २।२।८)।

(७) प्रधान की प्रवृत्ति में उपराम भी होता है जिसके कि होने पर प्रलय-काल उपस्थित होता है; उस समय गुण साम्यावस्था में रहते हैं (सू० २।२।३, ६)।

उक्त सिद्धान्त सांख्यमत के प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं। यद्यपि उक्त मत के प्राचीन ग्रन्थों के उपलब्ध न होने से यह कहना कठिन है कि सूत्रकार ने किस ग्रन्थ को दृष्टि में रखकर उक्त मत का निराकरण प्रस्तुत किया है; फिर भी इतना निश्चित है कि उक्त निराकरण 'सांख्यकारिका' से पूर्ववर्ती है, क्योंकि सूत्रों में निराकृत सांख्य सूत्रकार के समय में यह वाद उपस्थित करता था

कि श्रुतियों में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित परतत्त्व ब्रह्म तदभिमत अचेतन प्रधान है, किन्तु 'सांख्यकारिका' में उक्त वाद का कोई संकेत नहीं मिलता और न ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही मिलता है जिससे यह सिद्ध हो सके कि 'साख्यकारिका' के समय सांख्य उक्त वाद को रखता था। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्रों में निराकृत होने के बाद सांख्य ने उक्त वाद का परित्याग ही कर दिया है और फलतः 'साख्य-कारिका' के समय तक उसका कोई अवशेष ही नहीं रह गया है। बहुत संभव है कि 'सांख्यकारिका' (का० ७२) में निर्दिष्ट प्राचीन 'षष्टितन्त्र' उक्त वाद को समर्थित करता हो और उसी को दृष्टि में रख कर सूत्रकार ने उसका उक्त निराकरण प्रस्तुत किया हो।

३. वैशेषिकमत-निराकरण

(सूत्र २।२।१०-१६)

सूत्र २।२।१०—रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार उक्त सूत्र में सूत्रकार ने यह कहा है कि परमाणु और द्वयणुक से महद्दीर्घ अर्थात् त्र्यणुक की उत्पत्ति के समान वैशेषिकमत द्वारा स्वीकृत अन्य सभी सिद्धान्त असमंजस हैं। मध्व ने उक्त सूत्र का जो अर्थ किया है उसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्रतिपक्षी के मत से महत्त्व और दीर्घत्व से महत्त्व और दीर्घत्व रूप समान कार्य होता है, उसी प्रकार ह्रस्वत्व और पारिमाण्डल्य से ह्रस्वत्व और पारिमाण्डल्य रूप समान कार्य होना चाहिए, अन्यथा महत्त्व और दीर्घत्व से भी समान कार्य नहीं होना चाहिए। वल्लभ उक्त सूत्र में निराकरणीय मत पर कोई आक्षेप न मान कर केवल उसके सिद्धान्त का इस प्रकार अनूदन मात्र मानते हैं कि ह्रस्व और परिमण्डल परिमाण से युक्त दो परमाणुओं के संयोग से, यदि वे ऊपर नीचे मिलेंगे तो द्वयणुक 'महत्' होगा, और यदि आगे पीछे मिलेंगे तो 'दीर्घवत्' होगा।

वल्लभ द्वारा प्रस्तुत उक्त अर्थ न तो सूत्राक्षरसंगत प्रतीत होता है, और न उससे किसी विशिष्ट प्रतिपाद्य का प्रतिपादन ही होता है। वल्लभ का यह कहना कि सूत्रकार ने केवल प्रतिपक्षी के मत का अनूदन किया है, उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सूत्रकार ने निराकरणीय मत के सिद्धान्त का अनूदन मात्र अन्यत्र कहीं नहीं किया। इसके अतिरिक्त यह एक प्रश्न उपस्थित ही बना रहता है कि क्या उक्त अनूदन वैशेषिकमत के सिद्धान्त का वास्तविक अनूदन है? क्या उक्त मत परमाणु को 'ह्रस्व' और द्वयणुक को 'महद्दीर्घ'

मानता है ? मध्व द्वारा स्वीकृत अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए सूत्राक्षर पर्याप्त प्रतीत नहीं होते। अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ अधिक सूत्रानुकूल प्रतीत होता है, किन्तु उन्होंने 'वा' शब्द से वैशेषिक द्वारा स्वीकृत त्र्यणुकोत्पत्ति के साथ उसके ही अन्य सिद्धान्तों का जो समुच्चय माना है, उसकी अपेक्षा वैशेषिकमत का पूर्वसूत्रों में निराकृत सांख्यमत से समुच्चय मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है और तदनुसार यह अर्थ होगा कि जिस प्रकार प्रधानकारणवाद असमंजस है, उसी प्रकार परमाणु-द्व्यणुक-क्रम से त्र्यणुकोत्पत्तिवाद अर्थात् परमाणुकारणवाद भी असमंजस है। उक्त असामंजस्य का कारण सूत्रकार आगे स्पष्ट करेंगे।

सूत्र २।२।११—सभी भाष्यकारों की सम्मति में उक्त सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने यह कहा है कि 'परमाणु' में 'उभयथा' भी कर्म सम्भव नहीं, अतः पूर्वसूत्र (२।२।१०) में निर्दिष्ट त्र्यणुकोत्पत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। उक्त 'उभयथा' का तात्पर्य किंचित् प्रकार-भेद से रामानुज, निम्बार्क और बलदेव के अनुसार 'परमाणुगत और आत्मगत अदृष्ट' से है, मध्व के अनुसार ईश्वरेच्छा के नित्यत्व और अनित्यत्व एवं वल्लभ के अनुसार महद्रूप और दीर्घरूप से है। वल्लभ का पक्ष तो स्पष्टतः युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता और यतः उक्त सूत्रों में ऐसा कोई संकेत नहीं कि प्रतिपक्षी ईश्वर को मानता है, अतः मध्व का पक्ष भी उचित प्रतीत नहीं होता। अन्य भाष्यकारों का पक्ष अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रस्तुत मत परमाणु में कर्म को अदृष्टकारित मानता है।[1] तदनुसार उक्त सूत्र का यह तात्पर्य हुआ कि परमाणुओं में न तो स्वगत अदृष्ट से कर्म हो सकता है और न आत्मगत अदृष्ट से। उक्त दोनों विकल्पों में प्रथम के अनुसार इसलिए नहीं कि आत्मा के पुण्य-पाप से होने वाले अदृष्ट का परमाणुगतत्व नहीं हो सकता और द्वितीय के अनुसार इसलिए नहीं कि आत्मगत अदृष्ट परमाणुकर्मोत्पत्ति में अकिंचित्कर है। उक्त प्रकार से कर्माभाव होने के कारण परमाणुओं का परस्परसंयोगाभाव है और फलतः महद्दीर्घ रूप कार्य की उत्पत्ति असंभव है। उक्त 'उभयथा' में यह विकल्प भी माना जा सकता है कि परमाणुओं में कर्म न स्वतः सम्भव है और न अदृष्टकारित रूप से।

सू० २।२।१२—उक्त सूत्र में सभी भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तुत मत पर यह आक्षेप किया गया है कि समवायसम्बन्ध को स्वीकृत करने के कारण भी उक्त मत असमंजस है, क्योंकि जिस प्रकार जाति, गुण आदि की क्रमशः

---

१. वैशेषिकदर्शन सू० ५।२।१३।

व्यक्ति, द्रव्य आदि में स्थिति की उपपन्नता के लिए समवायसम्बन्ध की कल्पना की गई है, उसी प्रकार समवायाश्रय माने जाने वाले सम्बन्धियों में समवाय की स्थिति की उपपन्नता के लिए समवायान्तर को मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था होगी। उक्त प्रकार से केवल 'समवाय' का निराकरण हुआ, किन्तु पूर्वप्रस्तुत प्रसंग के सम्बन्ध से किसी विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि होती हुई प्रतीत नहीं होती, अतः इतना और सूत्रकाराभिमत माना जा सकता है कि समवाय के अभ्युपगम से भी परमाणुओं में कर्म की सत्ता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि जिस उक्त सम्बन्ध से परमाणुओं में कर्म की स्थिति मानी जाती है उसकी कल्पना ही स्वयं उक्त प्रकार से अनवस्था-दोष-ग्रस्त है।

सूत्र २।२।१३—उक्त सूत्र में निम्बार्क और वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने पूर्वसूत्र (२।२।१२) का ही निर्देश मान कर तदनुसार यह अर्थ प्रस्तुत किया है कि समवाय एक सम्बन्ध है, अतः उसके नित्य होने से तदाश्रय सम्बन्धी जगद्रूप कार्य के नित्यत्व का प्रसंग होगा और फलतः परमाणुओं के जगत्कारणत्व पर आघात होने से परमाणुकारणवाद स्वतः प्रतिषिद्ध हो जावेगा। निम्बार्क ने यह कहा है कि परमाणुओं को प्रवृत्तिस्वरूप मानने पर प्रवृत्ति के भाव से नित्यसृष्टिप्रसंग होगा। वल्लभ ने कहा है कि परमाणु और कारणान्तर के नित्य होने से कार्य-नित्यत्व का प्रसंग होगा। उक्त अर्थों का फलितार्थ प्रायः समान ही निकलता है, फिर भी निम्बार्क और वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ पूर्वसूत्रप्रसंगानुकूलता की दृष्टि से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

सूत्र २।२।१४—सभी भाष्यकारों की सम्मति में उक्त सूत्र के द्वारा परमाणुकारणवाद पर यह आक्षेप किया गया है कि उक्त मत के अनुसार परमाणु नित्य है, किन्तु उनको रूपादिमान् माना गया है, जिससे उनका अनित्य होना स्वाभाविक है और इस प्रकार उक्त मत विप्रतिषिद्ध है।

सूत्र २।२।१५—और यदि परमाणुओं को रूपादिहीन माना जावे, तो उक्त मत के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त—कारणगुणपूर्वक कार्यगुणारम्भ—के अनुसार कार्य रूपादिहीन होगा, इस प्रकार 'उभयथा' दोष है।

सू० २।२।१६—शिष्टों के द्वारा अपरिगृहीत होने से परमाणुकारण-वाद अत्यन्त उपेक्षणीय है। उक्त सूत्र से, जैसा कि भाष्यकारों ने भी ध्यान दिया है, यह ध्वनि निकलती है कि सूत्रकार के समय में सांख्यप्रक्रिया किसी न किसी अंश में शिष्टों के द्वारा सम्मानित भी थी, किन्तु परमाणुवाद तो पूर्णतया उपेक्षित था।

निराकृत मत का स्वरूप—

(१) परमाणु-द्व्यणुक-क्रम से त्र्यणुकादि का आरम्भ (सू० २।२।१०)।
(२) प्रथमतः परमाणुओं में कर्म और तब परस्परसंयोगपूर्वक द्व्यणुकादि का आरम्भ (सू० २।२।११)।
(३) नित्य समवायसम्बन्ध का स्वीकार (सू० २।२।१२,१३)।
(४) परमाणुओं का रूपादिमत्त्व और साथ ही नित्यत्व (सू० २।२।१४)।
(५) कारणगुणपूर्वक कार्यगुणारम्भ (सू० २।२।१५)।
(६) प्रलय का भी स्वीकार (सू० २।२।१३)।

उक्त सिद्धान्त वैशेषिकमत के प्रमुख एवं विशिष्ट सिद्धान्तों के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये वर्तमान वैशेषिकसूत्रों में भी प्राप्त होते हैं और बहुत सम्भव है कि सूत्रकार की दृष्टि उक्त सूत्रों पर ही हो। उक्त मत के निराकरणपरक सूत्रों में सूत्रकार ने प्रशस्तपादभाष्य के इस सिद्धान्त की कोई चर्चा नहीं की कि महेश्वर की सिसृक्षा के बाद परमाणुओं में कर्मोत्पत्ति होती है,[1] वैशषिकसूत्रों में भी उक्त सिद्धान्त की चर्चा नहीं है, अतः यह तो सम्भव है कि वैशेषिकसूत्रों का ही निराकरण सूत्रकार ने किया हो, किन्तु प्रशस्तपाद-भाष्य का सूत्रों को कोई परिचय निश्चित रूप से नहीं है।

४. बौद्धमत-निराकरण

(सूत्र २।२।१७-३०)

(अ) जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण (सू० २।२।१७-१७)

सूत्र २।२।१७—उक्त सूत्र का भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ प्रस्तुत किया है। इसके 'उभयहेतुकेऽपिसमुदाये', इस अंश का तात्पर्य मध्व को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार उक्त विचारधारा के द्वारा स्वीकृत परस्परभिन्नहेतुक दो समुदायों से है। मध्व के अनुसार द्विहेतुक एक समुदाय से है। मध्व का उक्त अर्थ न तो निराकरणीय मत की मान्यता के अनुकूल प्रतीत होता है और न सूत्राक्षरों के। उक्त अंश का वही अर्थ उचित प्रतीत होता है जो अन्य भाष्यकारों ने माना है। उक्त दो समुदाय रामानुज को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार आन्तर और बाह्य समुदाय हैं, जिनमें प्रथम विज्ञानादिस्कन्धहेतुक और द्वितीय परमाणुहेतुक है। रामानुज के अनुसार

---

१. **प्रशस्तपादभाष्य, सृष्टि-वर्णन, पृष्ठ २७७।**

उक्त दो समुदाय अणुहेतुक पृथिव्यादिभूतरूप समुदाय और पृथिव्यादिहेतुक शरीरेन्द्रियविषयरूप समुदाय हैं। रामानुज की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का पक्ष अधिक उपयुक्त एवं बौद्ध मान्यता के अनुकूल है। रामानुज के अनुसार एक ओर तो बौद्धों के द्वारा स्वीकृत आन्तर समुदाय छूट जाता है और दूसरी ओर उनके द्वारा स्वीकृत दोनों समुदायों के मौलिक रूप से अणुहेतुक बाह्य समुदाय के अन्तर्गत होने से सूत्राभिमत 'उभयहेतुक' का निर्वाह नहीं हो पाता।

उक्त सूत्र के 'अप्राप्ति' अंश का तात्पर्य वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों के अनुसार 'समुदाय' के स्वरूप की निष्पत्ति के अभाव से है और वल्लभ के अनुसार उक्त समुदायों की जीव को प्राप्ति के अभाव से है। वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का पक्ष अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। सूत्रकार जिस प्रकार पूर्व में सांख्य और वैशेषिक के अनुसार कार्य के स्वरूप की निष्पत्ति को अनुपपन्न बता चुके हैं, उसी प्रकार वे यहाँ बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार कार्य—समुदायात्मक वस्तु—के स्वरूप की निष्पत्ति को अनुपपन्न बता रहे हैं और, जैसा कि आगे स्पष्ट है, परवर्ती सूत्र (२।२।१८) से भी इसी का समर्थन होता है। इस प्रकार उक्त सूत्र का यह अभिप्राय हुआ कि बौद्धों द्वारा स्वीकृत परमाणुहेतुक बाह्य समुदाय और विज्ञानादिस्कन्धहेतुक आन्तर समुदाय की निष्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् बौद्धों का संघातवाद भी अनुपपन्न है। क्यों अनुपपन्न है, इसके लिए भाष्यकारों ने विभिन्न युक्तियाँ दी हैं, किन्तु सूत्र में कुछ नहीं कहा गया, सूत्रकार ने उक्त सूत्र में केवल 'समुदायाप्राप्ति' की प्रतिज्ञा की है और उसका हेतु वे परवर्ती सूत्रों में क्रमशः स्पष्ट करेंगे।

सूत्र २।२।१८—उक्त सूत्र का पाठ भाष्यकारों ने समान रूप से नहीं माना है; रामानुज और निम्बार्क के अनुसार इसका पाठ "इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात्' है और अन्य भाष्यकारों के अनुसार 'इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्' है। वैष्णव भाष्यकारों से पूर्ववर्ती भाष्यकारों में शंकर उक्त पाठों में से द्वितीय को मानते हैं और भास्कर प्रथम को।[1] यदि ध्यान से देखा जावे तो द्वितीय पाठ मौलिक प्रतीत होता है और प्रथम पाठ उसका संशोधित रूप। उक्त सूत्र के पूर्वपक्षांश में बौद्धों का यह वाद उपस्थित किया गया है कि हेतुओं के 'इतरेतरप्रत्ययत्व'

१. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य सू० २।२।१९; ब्रह्मसूत्र-भास्करभाष्य सू० २।२।१९।

से समुदाय की निष्पत्ति हो सकती है, उसके उत्तर में सूत्रकार ने मौलिक रूप से यह कहा होगा कि उक्त 'इतरेतरप्रत्ययत्व' उत्पत्तिमात्र के प्रति ही निमित्त हो सकता है। उक्त कथन के साथ ही यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वह 'संघातभाव' के प्रति निमित्त नहीं हो सकता, अतः किसी सुधारक ने उक्त ध्वनि को पूर्णतया स्पष्ट करने की दृष्टि से सूत्र में उक्त संशोधन कर दिया[1] और पूर्वपक्षांश में 'उपपन्नम्' पद भी जोड़ दिया, जो कि अनावश्यक ही प्रतीत होता है! किन्तु फिर भी उक्त दोनों पाठों के अनुसार सूत्र का वास्तविक भाव यही हुआ कि पूर्वसूत्र में निर्दिष्ट समुदायों के हेतुओं का 'इतरेतरप्रत्ययत्व' पूर्वोत्तरक्रम से एक दूसरे की उत्पत्ति का निमित्त भले ही माना जावे, वह उनके परस्पर संघातभाव के प्रति निमित्त नहीं हो सकता और इस प्रकार वल्लभ को छोड़कर, जिन्होंने कि उक्त रूप में ही सूत्रानुकूल अर्थ प्रस्तुत किया है, अन्य भाष्यकारों ने अपने अपने पाठों के अनुसार जो विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं, वे स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होते।

उक्त प्रकार से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार उत्पत्ति, जिसका भी निराकरण वे आगे सू० २।२।२५ में करेंगे, मानते हुए भी संघातभाव को अनुपपन्न बताया, किन्तु उसका कोई हेतु प्रस्तुत नहीं किया, जिसे कि वे अग्रिम सूत्र में कर रहे हैं।

सूत्र २।२।१९—उक्त सूत्र को प्रायः सभी भाष्यकारों ने उत्पत्ति के निराकरण में लगाया है, किन्तु, जैसा कि पूर्वसूत्रों (२।२।१७-१८) में देखा जा चुका है, अभी तक सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से समुदाय या संघात की अनुपपत्ति के लिए कोई हेतु प्रस्तुत नहीं किया और इस प्रकार सू० २।२।१७ से प्रस्तुत समुदायाप्राप्ति का प्रतिपादन अभी अपूर्ण है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र (२।२।१९) को उत्पत्ति के निराकरण की अपेक्षा पूर्वप्रस्तुत समुदायप्राप्ति के निराकरण से ही सम्बद्ध मानना उचित प्रतीत होता है। इसके विपरीत यदि प्रस्तुत सूत्र को 'उत्पत्ति' के निराकरण में लगाया जाता है, तो एक ओर तो उक्त प्रकार से पूर्वप्रस्तुत विषय अपूर्ण रह जावेगा और दूसरी ओर उत्पत्ति का निराकरण करने वाले सू० २।२।२५ में पुनरावृत्ति का दोष होगा। वस्तुतः यदि प्रस्तुत सूत्र (२।२।१९) में उत्पत्ति का निराकरण सूत्रकाराभिमत होता तो इसका स्वरूप 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्, की अपेक्षा 'नचोत्तरोत्पादः पूर्वनिरोधात्' के समान होता, अतः प्रस्तुत सूत्र का यही प्रतिपाद्य प्रतीत

---

१. डा० बेलवलकर—ब्रह्मसूत्राज् आव् बादरायण०, पृ० ७३।

होता है कि प्रतिपक्षी के अनुसार पूर्वसूत्र (२।१।१८) में निर्दिष्ट 'इतरेतर-प्रत्ययत्व' नियम के अनुसार पूर्वहेतु से उत्तरोत्पाद में पूर्व का निरोध होने से पूर्वोत्तर का कभी संघात बन ही नहीं सकता। यहाँ उक्त हेतु—उत्तरोत्पाद से पूर्वनिरोध—के द्वारा सूत्रकार ने यह स्पष्ट रूप से ध्वनित कर दिया है कि समुदाय के हेतुभूत परमाणु तथा विज्ञान आदि के 'क्षणिक' होने से कभी संघात बन ही नहीं सकता।

सू० २।२।२०—भाष्यकारों ने पूर्वसूत्र (२।२।१९) में जो प्रतिपाद्य माना है, उसी के अनुसार उन्होंने प्रस्तुत सूत्र (२।२।२०) के विभिन्न अर्थ किए हैं और इसलिए वे उनके द्वारा स्वीकृत पूर्वसूत्र के प्रतिपाद्य के समान ही स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होते। जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, सूत्रकार ने पूर्वसूत्र (२।२।१९) के द्वारा उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध होने के कारण समुदायप्राप्ति की अनुपपत्ति प्रदर्शित की है, उसी के प्रसंग से प्रस्तुत सूत्र (२।२।२०) का यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि 'असति' अर्थात् उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध के न होने पर 'प्रतिज्ञोपरोधः' अर्थात् क्षणिकत्वप्रतिज्ञा का बाध होगा और 'अन्यथा' अर्थात् यदि यह माना जावे कि क्षणिकत्व-प्रतिज्ञा भी सुरक्षित रहे और उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध भी न हो तो 'यौगपद्यम्' अर्थात् कारण और कार्य का समानकालीनत्व मानना पड़ेगा, जो कि कार्य-कारण-सम्बन्ध के सर्वमान्य सिद्धान्त—कारण और कार्य का क्रमशः पूर्वोत्तरकालीनत्व—के विरुद्ध है। इस प्रकार सूत्रकार ने चार सूत्रों (२।२।१७-२०) में यह स्पष्टतया प्रतिपादित कर दिया कि 'सर्वं क्षणिकम्' के सिद्धान्त को मानने वाले बौद्धों के अनुसार संघात की निष्पत्ति कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती—क्षणिकवाद के साथ संघातवाद स्वयं अपने स्वरूप में ही विप्रतिषिद्ध होने के कारण अनुपपन्न है।

सू० २।२।२१—सभी भाष्यकारों की सम्मति में उक्त सूत्र के द्वारा बौद्धों द्वारा स्वीकृत निरोधद्वय—प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या—की प्राप्ति अनुपपन्न बताई गई है, जो स्वयं सूत्र से ही स्पष्टतः प्रकट है। भाष्यकारों ने उक्त दोनों निरोधों का स्वरूप भावों या पदार्थों का 'विनाश' मान कर प्रायः निम्न रूप से उनकी परस्पर-भेदक विशेषताएँ बताई हैं :—

प्रतिसंख्यानिरोध—निरन्वय या निःसन्तान, बुद्धिपूर्वक, स्थूल, उपलब्धियोग्य, सहेतुक विनाश।

अप्रतिसंख्यानिरोध—सान्वय या ससन्तान, अबुद्धिपूर्वक, सूक्ष्म, उपलब्ध्ययोग्य, निर्हेतुक विनाश।

उक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि वैष्णव भाष्यकारों ने उक्त दोनों निरोधों का स्वरूप वही माना है जो उनके पूर्ववर्ती भाष्यकार शंकर ने माना है[1] और इस प्रकार शंकर की उक्त निरोधद्वय के स्वरूप से सम्बद्ध मान्यता की जो आलोचना जापानी बौद्ध लेखक यामाकामी सोगन ने की है, वह स्वभावतः वैष्णव भाष्यकारों की मान्यता पर भी लागू होती है। उक्त लेखक ने कहा है कि शंकर उक्त दोनों निरोधों के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ थे, अन्यथा वे यह नहीं कहते कि अप्रतिसंख्यानिरोध प्रतिसंख्यानिरोध से विपरीत है और प्रतिसंख्यानिरोध भावों का बुद्धिपूर्वक विनाश है। उसने आगे कहा है कि उक्त निरोध एक दूसरे के विपरीत नहीं, अपितु बिल्कुल पृथक् धर्म हैं।[2] वस्तुतः निरोधद्वय का शंकर और वैष्णव भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत स्वरूप बौद्ध मान्यता के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। बौद्ध-परम्परा के प्रामाणिक विद्वान आचार्य वसुबन्धु ने प्रतिसंख्या अर्थात् प्रज्ञा से सास्रव धर्मों या क्लेशों के पृथक्-पृथक् वियोग या क्षय को 'प्रतिसंख्यानिरोध' कहा है और इस प्रकार उक्त निरोध सर्वास्तिवादियों के अनुसार निर्वाण का ही नामान्तर है। उक्त निरोध से बिल्कुल भिन्न एक दूसरे निरोध को उन्होंने 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहा है जो धर्मों के उत्पाद का अत्यन्त विरोधी है और प्रत्ययवैकल्य से होता है।[3]

वस्तुतः, यदि ध्यान से देखा जावे तो भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत उक्त निरोधों का स्वरूप स्वयं सूत्रकार के द्वारा अभिमत प्रतीत नहीं होता। जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, भाष्यकारों ने अप्रतिसंख्यानिरोध का स्वरूप वही माना है, जो कि सू०, २।२।१९ के द्वारा निर्दिष्ट 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध' के रूप में स्वतः होता रहता है; यदि उक्त 'पूर्वनिरोध' का ही निराकरण प्रस्तुत सूत्र (२।२।२१) में सूत्रकाराभिमत होता तो इसमें प्रतिज्ञा का स्वरूप केवल 'न च निरोधः' या 'न च निरोधप्राप्तिः' के रूप में ही पर्याप्त था, किन्तु उसके स्थान पर जो बौद्धों द्वारा स्वीकृत विशिष्ट निरोधों का नाम-निर्देश कर प्रतिज्ञा को इतना विशाल रूप दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट दोनों ही निरोध सू० २।२।१९ में निर्दिष्ट सामान्य 'पूर्वनिरोध' से भिन्न और विशिष्ट स्वरूप रखते हैं और इस प्रकार भाष्यकारों ने निरोध-

१. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य सू० २।२।२२।
२. यामाकामी सोगन—सिस्टम आफ बुद्धिस्टिक थाट, पृ० १६७।
३. अभिधर्मकोश, श्लो० १।६; २।५७।

द्वय का स्वरूप सामान्यतः पदार्थ-विनाश मानकर तदनुसार प्रस्तुत सूत्र के जो अर्थ किए है, वे स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होते ।

प्रामाणिक बौद्ध-परम्परा के द्वारा स्वीकृत उक्त स्वरूप से युक्त निरोध-द्वय की प्राप्ति के निराकरण में प्रस्तुत सूत्र की संगति निम्न प्रकार से उचित प्रतीत होती है—

सू० २।२।१६ में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिपक्षी क्षणिकवाद का सिद्धान्त मान कर उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध मानता है, आगे सू० २।२।२५ में प्रतिपक्षी के ऊपर यह आक्षेप किया गया है कि असत् हेतु से उत्पत्ति संभव नहीं, जिससे स्पष्ट है कि सूत्रकार के अनुसार 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध' का तात्पर्य यह निकलता है कि पूर्वनिरुद्ध अर्थात् असत् हेतु से उत्तरोत्पाद होता है । सू० २।२।१७-२० में उन्होंने यह स्पष्टतः प्रदर्शित कर दिया है कि प्रतिपक्षी के अनुसार पूर्वनिरुद्ध हेतु से उत्तरोत्पाद को स्वीकार करने पर भी उत्पत्तिमात्र ही उपपन्न होती है, संघात नहीं बन सकता । प्रस्तुत सूत्र (२।२।२१) में अब वे यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि उक्त प्रकार से हेतु के निरुद्ध हो जाने पर भी उत्तरोत्पाद की अविच्छिन्न परम्परा मानने से प्रतिपक्षी के द्वारा अभ्युपगत निरोधद्वय—प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या निरोधों—की कभी प्राप्ति हीं नहीं हो सकती, क्योंकि 'निरुद्ध हेतु से भी तत्प्रत्यय कार्य की उत्पत्ति' के सिद्धान्त के अनुसार प्रज्ञा या प्रतिसंख्या से अविद्या के निरुद्ध होने पर भी अविद्याप्रत्यय संस्कार की उत्पत्ति होती रहेगी और पुनः संस्कार के निरुद्ध होने पर भी संस्कारप्रत्यय रागद्वेषादि की उत्पत्ति होगी, इस प्रकार अविद्या आदि द्वादशांगों की निरन्तर अविच्छिन्न परम्परा के चलने से प्रतिसंख्यानिरोधापरपर्याय निर्वाण कभी प्राप्त नहीं हो सकता और इसी प्रकार जब कार्योत्पत्ति में प्रमुख रूप से अपेक्षित वस्तु तदुपादान के निरुद्ध होने पर भी कार्योत्पत्ति की अविच्छिन्न परम्परा चलती रहती है, तो किसी कार्य के उत्पाद या अनुत्पाद में प्रत्ययसहकार या प्रत्ययवैकल्य के अकिंचित्कर होने से प्रत्ययवैकल्य के कारण होने वाला उत्पादात्यन्त-विरोधिस्वरूप अप्रतिसंख्यानिरोध भी कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।

प्राचीन बौद्धमत 'सर्वमनित्यम्' की घोषणा करने पर भी उत्तरकालीन बौद्धमत के समान दार्शनिक दृष्टि से 'सर्वं क्षणिकम्' का उपासक नहीं और फलतः वह हेतु के निरुद्ध होने पर उत्पाद नहीं मानता, अतः उसके अनुसार यह सिद्धान्त उपपन्न हो सकता है कि साधनविशेष से अविद्या का निरोध होने पर तदुत्तर तत्प्रत्यय संस्कार आदि का उत्पाद न होने से प्रति-

संख्यानिरोध या निर्वाण प्राप्त हो जावेगा, किन्तु उक्त सूत्रों में निराकृत उत्तरकालीन बौद्धमत घोर क्षणिकवादी होने के कारण निरुद्ध या असत् हेतु से भी तत्प्रत्यय उत्तरोत्पाद मानते हुए हेतु-कार्य की अविच्छिन्न परम्परा मानता है, अतः यह स्वाभाविक था कि सूत्रकार उसकी निरोधद्वयसम्बन्धिनी मान्यता को 'अविच्छेदात्' हेतु के ही आधार पर अनुपपन्न प्रदर्शित करते।

सूत्र २।२।२२—पूर्वसूत्र (२।२।२१) की संगति के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का यही स्वाभाविक अर्थ होगा कि यदि प्रतिपक्षी उक्त निरोधद्वय की प्राप्ति को उपपन्न सिद्ध करने के लिए यह माने कि हेतु का निरोध होने पर तत्कार्य का उत्पाद नहीं होगा, तो उसे जो अपनी क्षणिकत्व-प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए निरुद्ध हेतु से ही कार्य का उत्पाद मानना पड़ता है, उसका परित्याग करना पड़ेगा, जिससे उसके यहाँ किसी कार्य का उत्पाद ही उपपन्न न हो सकेगा और इस प्रकार 'उभयथादोष' उपस्थित होता है।

पूर्वसूत्र (२।२।२१) में भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत प्रतिपाद्य के पूर्वोक्त प्रकार से अयथार्थ होने के कारण तदनुसार उनके द्वारा प्रस्तुत सूत्र (२।२।२२) में स्वीकृत किए हुए विभिन्न अर्थ स्वतः ही उपेक्षणीय हो जाते हैं।

सूत्र २।२।२३—सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र का प्रायः यह अर्थ माना है कि प्रतिपक्षी के द्वारा स्वीकृत आकाश की निरुपाख्यता भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि उसके द्वारा भावरूप से अभ्युपगत पृथिवी आदि के समान आकाश का भी भावरूपत्व अविशिष्ट रूप से प्रतीतिसिद्ध है। उक्त अर्थ 'आकाश' को निरुपाख्य मानने वाले केवल सौत्रान्तिकों के निराकरण में ही संगत माना जा सकता है, आकाश को भावरूप मानने वाले सर्वास्तिवादियों के निराकरण में नहीं। यदि सामान्य रूप से उक्त दोनों शाखाओं के निराकरण में उक्त सूत्र को प्रयुक्त करना है और उसके 'च' और 'अविशेष' पद के अनुरोध पर उसको अपने से पूर्ववर्ती सूत्रों से सम्बद्ध रखना है, तो उसका केवल इतना ही अर्थ पर्याप्त होगा कि पूर्वसूत्रों में निराकृत मान्यताओं के समान अविशेष रूप से प्रतिपक्षी की आकाशसम्बन्धिनी मान्यता भी सदोष है। सर्वास्तिवादियों की यह मान्यता सदोष है कि आकाश असंस्कृत अर्थात् अनुत्पन्न है और सौत्रान्तिकों की यह कि आकाश निरुपाख्य है। उक्त विषय के विशेष महत्त्वपूर्ण न होने के कारण सूत्रकार ने कोई विशिष्ट युक्ति प्रयुक्त न कर सामान्यतः ही प्रतिपक्षी की उक्त मान्यता को एक चलते ढंग से सदोष बता दिया है।

सू० २।२।२४—सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र में प्रतिपक्षी के द्वारा स्वीकृत 'क्षणिकवाद' का निराकरण माना है। भाष्यकारों के अनुसार सूत्रकार का कहना है कि 'अनुस्मृति' अर्थात् प्रत्यभिज्ञान से प्रमाता और प्रमेय दोनों के स्थिरत्व की सिद्धि होती है। 'स एवाहम्', इस प्रत्यभिज्ञान से प्रमाता चेतन और 'तदेवेदम्', इस प्रत्यभिज्ञान से प्रमेय पदार्थों का स्थिरत्व सिद्ध होता है। यदि प्रमाता और प्रमेय क्षणिक माने जावें तो उक्त अबाधित प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति नहीं लग सकती।

पूर्वसूत्रों (२।२।१७-२०) में सूत्रकार ने क्षणिकवाद का निराकरण किए विना ही यह प्रदर्शित किया था कि क्षणिकवाद के साथ संघातवाद की उपपत्ति कथमपि नहीं लग सकती, दोनों वाद परस्पर-विरुद्ध हैं और फलतः प्रतिपक्षी के द्वारा स्वीकृत प्रक्रिया के अनुसार समुदायात्मक वस्तु के स्वरूप की निष्पत्ति नहीं हो सकती। प्रस्तुत सूत्र में अब उन्होंने स्वतन्त्र रूप से वस्तु के क्षणिकत्व का निराकरण किया है।

सूत्र २।२।२५-२६—रामानुज और बलदेव ने उक्त सूत्र के द्वारा सौत्रान्तिकों के इस सिद्धान्त का निराकरण माना है कि अनुभूत पदार्थ क्षण-भर में असत् होने पर भी अपने आकार को ज्ञान में छोड़ जाता है, जिसके वैचित्र्य से अर्थवैचित्र्य का अनुमान किया जाता है। निम्बार्क और वल्लभ ने इसमें असत् से सत् की उत्पत्ति का निराकरण माना है। मध्व ने निम्बार्क और वल्लभ के समान सूत्र का उक्त प्रतिपाद्य मान कर भी यह कहा है कि इसमें शून्यवाद का निराकरण है।

सू० २।२।२६ का सभी भाष्यकारों ने ऐकमत्य से यह अर्थ माना है कि असत् से सत् की उत्पत्ति मानने पर तो उद्योगहीन उदासीन व्यक्तियों की भी सिद्धि हो जानी चाहिए, जो कि, जैसा कि उक्त सूत्र के स्वरूप से स्पष्ट है, पूर्णतया सूत्रानुकूल है, किन्तु साथ में उसके 'एवम्' पद से यह भी स्पष्ट है कि वह अपने से पूर्ववर्ती सूत्र २।२।२५ के प्रतिपाद्य से अनिवार्यतः सम्बद्ध है और इस प्रकार सू० २।२।२५ में रामानुज और बलदेव की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत अर्थ ही पूर्वापरप्रसंग के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है। वैसे भी सूत्राक्षरों से जिसने स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से असत् से सत् की उत्पत्ति का निराकरण प्रतिपादित होता हुआ प्रतीत होता है, उतना रामानुज और बलदेव द्वारा स्वीकृत प्रतिपाद्य नहीं।

मध्व को छोड़कर सभी भाष्यकारों ने प्रस्तुत सूत्रों (२।२।२५-२६) का पूर्वसूत्रों में निराकृत मत से ही सम्बन्ध माना है, जो कि उचित है। मध्व इनमें

असद्हेतुकोत्पत्तिवाद का निराकरण मानते हुए भी उक्त वाद को शून्यवाद का सिद्धान्त समझते हैं, जो कि स्पष्टतः तथ्यविपरीत है। शून्यवाद अनिरोधमनुत्पादम्' के सिद्धान्त को मानता है और तदनुसार 'सत्' या 'असत्' सभी से उत्पत्ति का स्पष्टतः निराकरण करता है।[1] वस्तुतः जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, पूर्वसूत्रों (२।२।१७-२४) में निराकृत जगदस्तित्ववादिनी बौद्ध विचारधारा के द्वारा स्वीकृत क्षणिकवाद का ही स्वाभाविक परिणाम असद्धेतुकोत्पत्तिवाद है। सूत्रकार ने स्पष्टतः सू० २।२।२० में कह दिया है कि इसे न मानने पर 'सर्वं क्षणिकम्' प्रतिज्ञा की रक्षा ही नहीं हो सकती।

इस प्रकार अब तक सूत्रकार ने मुख्य रूप से प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत क्षणिकत्व पर दृष्टि रख कर कहा है कि इसे मानने पर न तो उत्पाद ही बन सकता है और न संघात ही।

निराकृत मत का स्वरूप—

(१) वस्तु समुदाय या संघात है। उक्त समुदायात्मक वस्तु आन्तर और बाह्य समुदाय के रूप में मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त है (सू० २।२।१७)।

(२) हेतुभूत तत्त्वों के इतरेतरप्रत्ययत्व से समुदायात्मक वस्तु के स्वरूप की निष्पति होती है (सू० २।२।१८)।

(३) समुदाय के हेतुभूत तत्त्व क्षणिक हैं और इसलिए उनके इतरेतर-प्रत्ययत्व से होने वाले उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध होता है (सू० २।२।१९-२०)।

(४) प्रमाता और प्रमेय, सब कुछ क्षणिक है (सू० २।२।२५)।

(५) उक्त प्रकार से हेतु के क्षणिकत्व के कारण उसके निरुद्ध या असत् होने पर भी तत्प्रत्यय कार्य के उत्पाद में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, अपितु हेतु-कार्य की अविच्छिन्न सन्तति या परम्परा चलती रहती है (सू० २।२।२५-२६)।

---

१. नागार्जुन—माध्यमिककारिका—

न स्वतो नापि परतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन। १।१
नैवासतो नैव सतः प्रत्ययोऽर्थस्य युज्यते।
असतः प्रत्ययः कस्य सतश्च प्रत्ययेन किम्? १।६
न भावाज्जायते भावो भावोऽभावान्न जायते। १६।१२
न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते। २१।१३

(६) उक्त प्रकार से हेतु-कार्य की अविच्छिन्न सन्तति या परम्परा के चलने पर भी ऐसी स्थिति भी प्राप्त हो सकती है, जब कि प्रतिसंख्यानिरोध के रूप में साधन के बल से उक्त सन्तति का आत्यन्तिक रूप से निरोध हो जाता है या अप्रतिसंख्यानिरोध के रूप में प्रत्यय-वैकल्य के कारण उत्पाद में विघ्न के उपस्थित होने से कार्य का अनुत्पाद होता है (सू० २।२।२१)

(७) 'आकाश' किसी भी दृष्टि से उक्त निरोधद्वय के समान है (सू० २।२।२३)।

उक्त सिद्धान्त महात्मा गौतमबुद्ध के मूल से प्रवर्तित ऐतिहासिक मतविशेष के सिद्धान्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु साथ में इतना भी स्पष्ट है कि ये गौतमबुद्ध द्वारा उपदिष्ट प्राचीनकालीन मूल बौद्धमत के सिद्धान्त नहीं, अपितु उसकी परम्परा में विकसित उत्तरकालीन शाखाविशेष के सिद्धान्त हैं। मूल बौद्धमत समुदायवाद या संघातवाद तथा इतरेतरप्रत्ययत्व या प्रतीत्य-समुत्पाद के साथ 'सर्वमनित्यम्' के सिद्धान्त को मानते हुए भी संभवतः दार्शनिक क्षणिकवाद को नहीं मानता था और फलतः असद्हेतुकोत्पत्तिवाद का समर्थन नहीं करता था।

उत्तरकाल में विकसित होने वाली विभिन्न बौद्धमत-शाखाओं का परस्पर-स्वरूप-भेदक परिचय पूर्ण रूप से आज प्राप्त नहीं है, अतः निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि उक्त सिद्धान्त किस शाखाविशेष के सिद्धान्त हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि ये किसी जगदस्तित्ववादिनी बौद्ध विचारधारा के सिद्धान्त हैं। जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा को मानने वाली दो शाखाएँ—सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिक—प्रसिद्ध हैं, और जैसा कि, 'कथावत्थु' के साक्ष्य से ज्ञात है,[1] अन्य अनेक शाखाओं के साथ उक्त दोनों शाखाएँ भी अशोक के समय (तृतीय शताब्दी ई० पू०) में अपना अस्तित्व रखती थीं। यद्यपि इन शाखाओं के प्राचीन ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी उनके आधार पर प्रामाणिक परम्परा के द्वारा लिखे हुए बाद के ग्रन्थों से इनके सिद्धान्तों का कुछ परिचय मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूत्रों में निराकृत उक्त सिद्धान्त इन्हीं शाखाओं के सामान्य सिद्धान्त हैं। उक्त दोनों शाखाओं को संस्कृत-धर्मों के सम्बन्ध में संघातवाद और क्षणिक-वाद मान्य हैं और असंस्कृत-धर्मों—निरोधद्वय और आकाश—के सम्बन्ध में यद्यपि यह मतभेद है कि सर्वास्तिवादी उन्हें भावरूप मानते हैं और

---

१. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन—बौद्धदर्शन, पृ० ७७-८८।

सौत्रान्तिक अभावरूप, किन्तु निरोधद्वय की प्राप्ति दोनों को अभीष्ट है और दोनों ही अपने अपने द्वारा स्वीकृत उक्त निरोधद्वय के समान आकाश को भावरूप असंस्कृत-धर्म (सर्वास्तिवादी) या अभावरूप (सौत्रान्तिक) मानते हैं। यदि यह देखा जावे कि उक्त सिद्धान्त उक्त दोनों शाखाओं में से विशिष्टत: किस शाखा से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, तो सम्भवतः यही कहना उपयुक्त होगा कि वे सर्वास्तिवादियों की अपेक्षा सौत्रान्तिकों के अधिक समीप हैं। सूत्रों में निर्दिष्ट क्षणिकत्व-प्रतिज्ञा का इतने कठोर रूप से पालन करना कि उसकी रक्षा के लिए हेतु के निरुद्ध या असत् होने पर भी उत्तरोत्पाद को उपपन्न मानना सर्वास्तिवादियों की अपेक्षा सौत्रान्तिकों को ही अधिक अभीष्ट है।[१]

यहाँ इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि जो यह मान्यता है कि सौत्रान्तिक मत की स्थापना कुमारलात ने ईसा की द्वितीय या तृतीय शताब्दी में की,[२] वह तथ्यानुकूल प्रतीत नहीं होती। कुमारलात ने भले ही अपने द्वारा प्रचार से सौत्रान्तिक मत को विशेष बल दिया हो, किन्तु मौलिक रूप से उन्होंने उसकी स्थापना नहीं की। उक्त मत निश्चित रूप से कुमारलात से बहुत पूर्व ही अस्तित्व में आचुका था; प्रथम शताब्दी ईसवी की रचना 'विभाषा' सौत्रान्तिक और सौत्रान्तिकविशेष 'दार्ष्टान्तिकों' से परिचित है[३] और उससे भी पूर्व अशोककालीन रचना 'कथावत्थु' अन्य विभिन्न शाखाओं तथा सर्वास्तिवादियों के साथ सौत्रान्तिक शाखा का भी स्वतन्त्र रूप से परिगणन करती है,[४] जिससे सिद्ध है कि सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादियों के साथ ही अशोककाल में अस्तित्व प्राप्त कर चुके थे और बहुत सम्भव है कि स्वयं सौत्रान्तिकों ने ही 'सर्वास्तिवादियों' का नामकरण किया हो, क्योंकि सर्वास्तिवादी सब का अस्तित्व मानते थे और सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादियों के द्वारा स्वीकृत कई पदार्थों को भावरूप नहीं मानते थे; और यतः सौत्रान्तिक केवल मूल 'सूत्रान्त' में विश्वास करते थे, बाद में अस्तित्व प्राप्त करने वाले 'अभिधर्म' को नहीं मानते थे, इससे यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक

---

१. वसुबन्धु—अभिधर्मकोश, यशोमित्र—अभिधर्मकोशव्याख्या तथा आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्धधर्मदर्शन, पृ० २३८, ३७९, ३८३ आदि।
२. भारतीयदर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० २०७ में निर्दिष्ट टी० वाटर्स द्वारा सम्पादित युआनच्वांग यात्रा-विवरण भाग २, पृ० २२५।
३. आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ३७२।
४. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन—बौद्धदर्शन, पृ० ७७-७८।

सर्वास्तिवादियों से पूर्व ही अस्तित्व में आगए हों, किन्तु कम से कम उनसे बाद में तो कथमपि नहीं आए।

(आ) जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण (सू० २।२।२७-३०)

सूत्र २।२।२७—सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र का प्रायः यह प्रतिपाद्य माना है कि बाह्य जगत् का अभाव नहीं, क्योंकि वह उपलब्ध होता है।

सूत्र २।२।२८—सभी भाष्यकारों ने यत्किंचित् प्रकार-भेद से उक्त सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादित माना है कि जागरितज्ञान या जागरितकालोपलब्ध पदार्थ स्वप्नज्ञान या स्वप्नकालोपलब्ध पदार्थों के समान नहीं माने जा सकते, क्योंकि उक्त दोनों में परस्पर-वैधर्म्य है।

मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों ने उक्त सूत्र तथा परवर्ती सू० २।२।२९ में यह प्रदर्शित करने का भी प्रयत्न किया है कि स्वनोपलब्धि जाग्रत् से विधर्म होने पर भी यथार्थ है और फलतः उसमें उपलब्ध पदार्थ भी अस्तित्व रखते हैं, किन्तु यह सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने सू० २।२।२७ के द्वारा जागतिक पदार्थों के अभाव का निराकरण कर अर्थात् उनकी वास्तविक सत्ता मान कर सूत्र २।२।२८ में जो यह कहा है कि जागतिक पदार्थ विधर्म होने के कारण स्वाप्निक पदार्थों के समान नहीं है, उससे स्पष्ट है कि वे जागतिक पदार्थों को भावरूप और स्वाप्निक पदार्थों को अभावरूप मानते है।

सूत्र २।२।२९—रामानुज के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि अर्थशून्य केवल ज्ञान की सत्ता सम्भव नहीं, क्योंकि अकर्तृक अर्थात् आश्रयरहित और अकर्मक अर्थात् निर्विषय ज्ञान की कहीं भी उपलब्धि नहीं होती। निम्बार्क, वल्लभ और बलदेव के अनुसार इसका प्रतिपाद्य यह है कि प्रतिपक्षी को जो ज्ञानवैचित्र्य के लिए वासनाओं की सत्ता अभिप्रेत है, वह इसलिए असम्भव है कि उसके मत में बाह्यार्थ की अनुपलब्धि है और बाह्यार्थ को उपलब्ध किए विना वासनाओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। मध्व यह कहते हैं कि विज्ञान मात्र जगत् नहीं, क्योंकि इस प्रकार के अनुभव का अभाव है।

यद्यपि सभी भाष्यकारों के अनुसार सूत्र का यही फलितार्थ निकलता है कि प्रतिपक्षी के द्वारा अभिमत बाह्यार्थशून्य केवल ज्ञान की सत्ता उपपन्न नहीं, तथापि सूत्रार्थ की दृष्टि से भाष्यकारों में मतभेद है; उन्होंने सूत्र के 'भाव' शब्द से अभिप्रेत निराकरणीय वस्तु को समान रूप से नहीं माना। रामानुज के अनुसार उक्त वस्तु 'अर्थशून्य ज्ञान', मध्व के अनुसार 'विज्ञान-

मात्र जगत्' और अन्य भाष्यकारों के अनुसार 'वासना' है। सूत्र में किसी वस्तु का निर्देश न होने के कारण वस्तुतः यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि यहाँ किस वस्तु की सत्ता का निराकरण सूत्रकाराभिमत है।

मध्व को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने प्रस्तुत सूत्र को पूर्वसूत्रों (२।२।२७-२८) में निराकृत मत से सम्बद्ध माना है, किन्तु मध्व का पक्ष यह है कि पूर्वसूत्रों में एक ऐसी जगदभाववादिनी विचारधारा का निराकरण हैं, जो जगत् को शून्य मानती है और प्रस्तुत सूत्र में उससे भिन्न एक ऐसी विचारधारा का निराकरण है जो जगत् को विज्ञानमात्र मानती है और इसीलिए वे प्रस्तुत सूत्र में विज्ञानमात्र जगत् का निर्देश मानते हैं; किन्तु उनका उक्त पक्ष सूत्रानुकूल एवं युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उनके अनुसार भी जब प्रस्तुत सूत्र में ऐसी विचारधारा का निराकरण किया गया है जो जगदभाववादिनी है, तो स्पष्टतः जगदभाव-निराकरणपरक सूत्रों (२।२।२७-२८) को भी उक्त धारा के निराकरण से सम्बद्ध न मानना किस प्रकार युक्तियुक्त माना जा सकता है? इसके अतिरिक्त यदि उनके अनुसार प्रस्तुत सूत्र में सूत्र २।२।२७-२८ के द्वारा निराकृत विचारधारा से भिन्न जगदभाववादिनी विचारधारा का निराकरण है, तो सूत्रकार ने उसके भी जगदभावत्व का स्पष्टतः निराकरण न कर उसके विपरीत 'न भावः' के द्वारा ऐसे रूप में उसका निराकरण क्यों प्रस्तुत किया जिससे स्वयं उनके अपने ही सिद्धान्त के प्रतिकूल यह प्रतिपाद्य निकल सकता है कि जगत् का भाव नहीं है, क्योंकि वह अनुपलब्ध होता है? यदि मध्व के अनुसार यह माना जावे कि सूत्रकार को पूर्वसूत्रों में जगत् के अभाव अर्थात् शून्यत्व का निराकरण करना है और प्रस्तुत सूत्र में जगत् के शून्यत्व का नहीं, अपितु जगत् के विज्ञानमात्रत्व का निराकरण करना है, तो जिस प्रकार जगत् के अभाव का निराकरण सू० २।२।२७ में 'नाभावः' कह कर किया गया, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र में 'न विज्ञानमात्रम्' न कहकर 'न भावः' कह कर जगत् के विज्ञानमात्रत्व का निराकरण क्यों किया गया और मध्व के अनुसार 'न भावः' को पूर्वसूत्रों से असम्बद्ध रख कर उसका 'न विज्ञानमात्रं जगत्' अर्थ कैसे निकल आया, यह समझना कठिन होगा।

मध्व के विपरीत यदि अन्य भाष्यकारों के अनुसार प्रस्तुत सूत्र को पूर्वसूत्रों से सम्बद्ध माना जाता है, तो उक्त सभी सूत्रों (२।२।२७-२९) का इस रूप में सुसंगत एवं युक्तियुक्त प्रतिपाद्य हो सकता है कि उनमें एक ऐसी बौद्ध विचारधारा का निराकरण किया गया है, जो जगत् का अभाव मानती है और साथ ही किसी वस्तु का भाव मानती है, और यतः, जैसा कि सू० २।२।२८

से स्पष्ट है, उक्त विचारधारा जागतिक पदार्थों की उपलब्धि स्वप्नवत् मानती है, अतः यह स्वयंसिद्ध है कि उक्त विचारधारा पदार्थों की सत्ता न मानते हुए भी उनकी उपलब्धि को स्वीकार करती है, और इसलिए साथ में ही यह भी स्पष्ट है कि वह उक्त उपलब्धि के रूप में अयथार्थ अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान को मानने के कारण विशुद्ध रूप में ऐसे ज्ञान की सत्ता मानती है, जो उक्त उपलब्धि के समान भ्रमात्मक न हो और साथ ही उसका मूलाधार हो, क्योंकि सामान्यतः 'ज्ञान' की सत्ता स्वीकार किए विना उक्तोपलब्धिस्वरूप भ्रमात्मक विशिष्ट ज्ञान की उपपत्ति ही नहीं हो सकती। उक्त प्रकार से सू० २।२।२७-२८ के द्वारा ही इतना स्पष्ट होने पर कि उनमें निराकृत विचार-धारा जागतिक पदार्थों की वास्तविक सत्ता न मानते हुए भी उनकी उपलब्धि को स्वप्नादि के समान किसी प्रकार उपपन्न मानती है और फलतः विशुद्ध रूप में निर्विषय केवल ज्ञान की सत्ता मानती है, प्रस्तुत सूत्र (२।२।२९) उक्तरूप उपलब्धि या निर्विषय केवल ज्ञान की सत्ता की उपपन्नता का निरा-करण करता हुआ पूर्वसूत्रों से सुसंगत तथा युक्तियुक्त रूप में सम्बद्ध हो जाता है और इस प्रकार मध्व की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों का ही पक्ष अधिक समीचीन प्रतीत होता है, जो इसे पूर्वसूत्रों से ही सम्बद्ध करते हैं। प्रस्तुत सूत्र को पूर्वसूत्रों से सम्बद्ध मानने पर ही मध्व के द्वारा प्रस्तुत अर्थ की भी अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थों के समान उपपन्नता हो सकती है और फिर चाहे रामानुज और मध्व के समान निर्विषय ज्ञान या विज्ञानमात्र का निराकरण प्रस्तुत सूत्र में माना जावे, चाहे अन्य भाष्यकारों के समान पदार्थों की सत्ता न होते हुए भी उनकी उपलब्धि की उपपादिका वासना की सत्ता का निराकरण माना जावे, फलितार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

उक्त सूत्र के बाद रामानुज को छोड़ कर अन्य सभी भाष्यकारों ने 'क्षणिकत्वाच्च' सूत्र को अधिक माना है। वैष्णव भाष्यकारों से पूर्ववर्ती भाष्यकारों में शंकर उक्त सूत्र को मानते हैं और भास्कर नहीं मानते, किन्तु विचार करने पर यह मौलिक सूत्रपाठ का अंश प्रतीत नहीं होता। सू० २।२।२९ का पाठ 'न भावोऽनुपलब्धेः' है और यदि उसके बाद 'क्षणिकत्वाच्च' माना जाता है, तो स्वाभाविक रूप से सू० २।२।२९ के 'अनुपलब्धेः' हेतु के साथ 'क्षणिकत्वात्' हेतु को समुच्चित करते हुए उक्त दोनों हेतुओं को समान-साध्यक मानना होगा, और इस प्रकार 'अनुपलब्धि' हेतु का साध्य 'न भावः' ही 'क्षणिकत्व' हेतु का भी साध्य होगा; किन्तु जब किसी वस्तु के भाव को उसकी अनुपलब्धि के कारण निराकृत कर दिया, तब उसी वस्तु के भाव को

उसके क्षणिकत्व के कारण निराकृत मानना कथमपि युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि क्षणिकत्व से तो उक्त वस्तु के भाव का निराकरण न होकर उसके विपरीत उसका भाव ही सिद्ध होगा। सूत्रकार उक्त रूप में परस्पर-विरुद्ध हेतुओं को प्रस्तुत करेंगे, ऐसा कथमपि सम्भव प्रतीत नहीं होता। जो भाष्यकार 'क्षणिकत्वाच्च' सूत्र को मानते हैं वे इससे पूर्ववर्ती सू० २।२।२९ का प्रायः यह अर्थ करते हैं—'वासनानां न भावः, (प्रतिपक्षिमते) पदार्थानामनुपलब्धेः', उक्त अर्थ के अनुसार समानसाध्यक होने से 'क्षणिकत्वात्' का यही अर्थ करना पड़ेगा—'वासनानां न भावः' (प्रतिपक्षिमते) पदार्थानां क्षणिकत्वात्', तब भी उक्त दोनों हेतु परस्पर-विरुद्ध पड़ते हैं, क्योंकि यह कैसे सम्भव है कि प्रतिपक्षी पदार्थों को मानता भी न हो और उन्हें क्षणिक भी मानता हो? उक्त भाष्यकार 'अनुपलब्धि' का सम्बन्धकारक 'पदार्थों' को और 'क्षणिकत्व' का 'आश्रय' को मानते हैं, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उक्त दोनों हेतुओं में जब किसी विशिष्ट सम्बन्धकारक का निर्देश नहीं है, तो परस्पर-समुच्चित होने के कारण उक्त दोनों हेतुओं में एक ही सम्बन्धकारक मानना युक्तियुक्त है, फिर भी उनके अर्थ के अनुसार किसी विशिष्ट साध्य की सिद्धि नहीं होती, वे 'क्षणिकत्वाच्च' सूत्र का यह अर्थ करते हैं—'वासनानां न भावः, (प्रतिपक्षिमते) वासनाश्रयस्य क्षणिकत्वात्', किन्तु जब एक प्रबल हेतु—पदार्थानुपलब्धि—के आधार पर वासनाओं का अभाव प्रतिपादित कर दिया, तब वासनाश्रय का क्षणिकत्व वासनाभावरूप साध्य का साधन करता हुआ भी पूर्व हेतु के साथ कोई विशिष्ट सहयोग नहीं दे रहा है, क्योंकि जब पदार्थ अनुपलब्ध ही हैं, उनकी सत्ता ही नहीं है, तो आश्रय का क्षणिकत्व या नित्यत्व क्या करेगा? पदार्थों के अनुपलब्ध होने पर तो आश्रय को नित्य मानने पर भी संस्कारों की उपपन्नता नहीं हो सकती। क्षणिकत्व हेतु पूर्वोक्त साध्य के साधन में सहयोग देने के विपरीत सूत्रकार के पक्ष को दुर्बल ही बनाता है, क्योंकि यदि आश्रय के क्षणिकत्व को वासना के अभाव का हेतु माना जाता है, तो जिसके मत में आश्रय नित्य है, उसके यहाँ पदार्थों के अनुपलब्ध होने पर भी वासनाओं की सत्ता उपपन्न हो सकेगी, जो कि सूत्र-काराभिमत नहीं हो सकती, क्योंकि वह उनके द्वारा सू० २।२।२७ से प्रस्तुत साध्य के विपरीत पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'क्षणिकत्वाच्च' सूत्र ऐसे ही किसी मत का प्रसाद है जो पदार्थों की सत्ता न मानते हुए भी उनकी उपलब्धि के आश्रय को नित्य मानता है! किन्तु आश्रय को नित्य माना जावे या क्षणिक, सूत्रकार अपने सिद्धान्त को सू० २।२।२७-२८ के द्वारा स्पष्टतः

प्रतिपादित कर चुके हैं कि उपलब्ध पदार्थों का अभाव नहीं, अपितु वास्तविक भाव हैं।

सू० २।२।३०—मध्व और वल्लभ को छोड़ कर अन्य भाष्यकार उक्त सूत्र को पूर्वसूत्रों के प्रतिपाद्य से पृथक् कर इसमें एक भिन्न विचारधारा—शून्यवाद—का निराकरण मानते हैं। मध्व और वल्लभ इसे पूर्वसूत्रों से ही सम्बद्ध रखते हैं, जो कि उचित प्रतीत होता है, क्योंकि जैसा कि सूत्र के स्वरूप 'सर्वथानुपपत्तेश्च' से स्पष्ट है, इसमें अपने से पूर्वसूत्रों में निराकृत मत को सर्वथानुपपन्न प्रदर्शित कर उसके निराकरण का उसी प्रकार सामान्य-निन्दात्मक उपसंहार किया गया है, जिस प्रकार सू० २।२।६ और सू० २।२।१६ में अपने-अपने पूर्वसूत्रों में निराकृत मत के निराकरण का उपसंहार किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र में ऐसा कोई संकेत भी नहीं, जिससे इसमें किसी विशिष्ट मत का निराकरण माना जा सके।

उक्त प्रकार से सूत्र २।२।२७-३० में एक ही मत का निराकरण सिद्ध होता है।

निराकृत मत का स्वरूप—

(१) जगत् का अभाव है (सू० २।२।२७)।

(२) किसी वस्तु का भाव है (सू० २।२।२६)।

(३) उक्त दोनों संकेतों के साथ जब सू० २।२।२८ से प्राप्त होने वाले इस संकेत पर ध्यान दिया जाता है कि उक्त मत जगत् के वस्तुतः न होते हुए भी उसकी उपलब्धि स्वप्नोपलब्धि के समान मानता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त मत को उक्त अयथार्थ या भ्रमात्मक उपलब्धि मान्य है और फलतः उसे ऐसे विशुद्ध 'निर्विषय ज्ञान' की सत्ता मान्य है, जो किसी कारणविशेष से अशुद्ध होने पर उक्त सविषय उपलब्धि का स्वरूप धारण कर लेता है।

बौद्धमत में जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा के साथ जगन्नास्तित्व-वादिनी विचारधारा भी किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही रही है, विद्वानों का विचार है कि उक्त द्वितीय धारा बुद्ध के परिनिर्वाण काल के बाद से ही मूल रूप में प्रसूत हो चली है।[1] यद्यपि बौद्धमत की विभिन्न प्राचीन-

---

१. डा० मूर्ति—सैन्ट्रल फिलासफी आव् बुद्धिज्म, पृ० ५०, ५३ आदि और वहीं निर्दिष्ट सर्व श्री किमूरा, कर्न, कीथ और पुसें के मत।

कालीन शाखाओं के दार्शनिक स्वरूप का परिचय प्राप्त न होने से यह कहना कठिन है कि सूत्रकार ने किस शाखा को दृष्टि में रखकर उसका निराकरण उक्त सूत्रों में प्रस्तुत किया है, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि सम्भवतः उक्त शाखा वही होगी, जिसके सिद्धान्तों को 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' ने लेखबद्ध किया है।

'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' सभी धर्मों अर्थात् पदार्थों को अस्वभाव या अभावस्वभाव बतलाती है,[1] उन्हें मायोपम तथा स्वप्नोपम कहती है[2] और यह उपदेश देती है कि बोधिसत्त्व को ऐसी भावना करनी चाहिए कि आध्यात्मिक और बाह्य सभी धर्म वस्तुतः नहीं है, वे उपलब्ध नहीं होते हैं;[3] साथ ही यह कहती है कि साधक को जब 'प्रज्ञापारमिता' की प्राप्ति हो जाती है तो स्वतः ही उसे अभावस्वभाव पदार्थों की उपलब्धि नहीं होती, सब धर्मों का अनुपलम्भ ही 'प्रज्ञापारमिता' है। जब पदार्थों की संज्ञा, समज्ञा, प्रज्ञप्ति और व्यवहार नहीं होता है, तभी 'प्रज्ञापारमिता' कही जाती है।[4] प्रज्ञापारमिताप्राप्त बोधिसत्व अनुत्तरा सम्यक्सम्बोधि के ही आसन्न होता है और अनुत्तरा सम्यक्सम्बोधि ही तथता अर्थात् वस्तुओं का वास्तविक स्वभाव या स्वरूप है।[5]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' के उक्त सिद्धान्त उक्त सूत्रों (२।२।२७-३०) में निराकृत जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा के उक्त स्वरूप से भिन्न प्रतीत नहीं होते। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा-

---

१. 'एवमस्वभावानां (पाठान्तर—अभावस्वभावानां) सर्वधर्माणाम्···', अ० सा० प्र० पा०, पृ० २६।

२. 'सर्वधर्मा अपि···देवपुत्रा मायोपमाः स्वप्नोपमाः', अ० सा० प्र० पा०, पृ० ३६।

३. 'बोधिसत्त्वेन···एवं चित्तमुत्पादयितव्यं यथा······सर्वधर्मा न संविद्यन्ते नोपलभ्यन्ते। एवमाध्यात्मिकबाह्येषु सर्वधर्मेषु संज्ञोत्पादयितव्या।', अ० सा० प्र० पा०, पृ० २८-२६।

४. 'योऽनुपलम्भः सर्वधर्माणां सा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते। यदा न भवति संज्ञा समज्ञा प्रज्ञप्तिर्व्यवहारस्तदा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते।', अ० सा० प्र० पा०, पृ० ७७ :

५. 'तथतैषा सुभूतेऽनुत्तरा सम्यक्सम्बोधिः···एवं हि सुभूते बोधिसत्त्वो··· आसन्नीभवति अनुत्तरायाः सम्यक्सम्बोधेः।', अ०सा०प्र० पा०, पृ० ३५०।

पारमिता, जो कम से कम प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व की रचना मानी जाती है, उक्त विचारधारा की प्रवर्तक नहीं, अपितु अपने पूर्वकाल से ही चली आती हुई विचारधारा को व्यवस्थित रूप में केवल निबद्ध करने वाली रचनाओं में अन्यतम है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है,[1] अशोककालीन 'प्रज्ञप्तिवाद' शाखा के भी सिद्धान्त अभाववादी प्रतीत होते है, अतः बहुत सम्भव है कि उक्त ग्रन्थ 'प्रज्ञप्तिवाद' शाखा के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादक हो और सूत्रकार की दृष्टि में उक्त शाखा ही हो। उक्त शाखा के सूत्रप्रस्तुत निराकरण से स्पष्ट है कि उसको अस्तित्ववादी शाखा के समान न तो दार्शनिक प्रौढता प्राप्त हो पाई है और न वह स्वयं बौद्धमत की ही कोई प्रमुख शाखा समझी जाती है, अतः यह भी सम्भव है कि अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता से पूर्व ही सूत्रों ने उसका निराकरण प्रस्तुत किया हो। प्रज्ञापारमिताओं में तो वह विचार जो बौद्धमत के साथ ही आविर्भूत हुआ था, पूर्णता को प्राप्त कर फलित हो गया है।[2]

सूत्रों में निराकृत मत के उक्त स्वरूप के साथ नागार्जुन के शून्यवाद का सामंजस्य न होने पर भी प्रो० जैकोबी ने केवल इस आधार पर कि शाबरभाष्य (पू० मी० सू० १।१।५) में उद्धृत वृत्तिकार-ग्रन्थ का एक अंश, जो कि उनके अनुसार नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण करता है, उन्हें ब्रह्मसूत्रों (२।२।२७-३०) का ही व्याख्यान प्रतीत होता है, उक्त सूत्रों में नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण माना है।[3] प्रो० जैकोबी की उक्त धारणा पर डा० बेलवलकर ने विस्तृत रूप से विचार कर उसकी अस्वीकरणीयता को उचित एवं युक्तियुक्त रीति से प्रदर्शित कर दिया है,[4] अतः उस पर यहाँ पुनः विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः किसी काल्पनिक आधार की अपेक्षा सूत्रों के आधार पर ही यह देखने का प्रयत्न होना चाहिए कि क्या उनमें वस्तुतः नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण है, और सूत्रों में निराकृत मत के स्वरूप से स्पष्ट है कि उनमें उक्त वाद पर कोई दृष्टि ही नहीं है। वैसे तो—

अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।

---

१. पृष्ठ १९।
२. डा० मूर्ति—सैन्ट्रल फिलासफी आव् बुद्धिज्म, पृ० ८३।
३. जे० ए० ओ० एस०, अंक ३१, सन् १९११, पृ० १-२९।
४. डा० बेलवलकर—ब्रह्मसूत्राज् आव् बादरायण, पृ० १०१-१०४।

तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः। (मा० का० १५।१०)
सर्वं तथ्यं न वा तथ्यं तथ्यं चातथ्यमेव च।
नैवातथ्यं नैव तथ्यमेतद्बुद्धानुशासनम्। (मा० का० १८।८)

कहने वाले नागार्जुन को न तो सूत्रकार के 'नाभावः' से कोई आपत्ति है, और न उनके 'न भावः' से; फिर भी यदि यह कहा जावे कि 'भावानां निःस्वभावानां न सत्ता विद्यते यतः' (मा० का० १।१०) के अनुसार नागार्जुन के ही अभाववादी विचार का सू० २।२।२७ में निराकरण है, तो फिर भी इस जिज्ञासा का समाधान कठिन होगा कि नागार्जुन किस 'भाव' की सिद्धि करने का प्रयत्न करते हैं, जिसका कि निराकरण सूत्रकार ने 'न भावोऽनुपलब्धेः' (सू० २।२।२६) के द्वारा किया है? इसके अतिरिक्त जो नागार्जुन 'यदि च प्रमाणतस्तेषां तेषां प्रसिद्धिरर्थानाम्, तेषां पुनः प्रसिद्धिं ब्रूहि कथं ते प्रमाणानाम्' (विग्रहव्यावर्तनी ३२) के अनुसार प्रमाणमात्र की सिद्धि को स्वीकार नहीं करते और फलतः किसी प्रमाण के आधार पर पदार्थ की सिद्धि को स्वीकार नहीं करते, उनका निराकरण करने के लिए क्या सूत्रकार किसी प्रबल प्रमाण को उपस्थित न कर केवल यह कहेंगे कि पदार्थ उपलब्ध होते हैं, अतः उनकी सत्ता है, और ऐसा कहकर क्या वे यह मान कर संतुष्ट हो जावेंगे कि उतने मात्र से नागार्जुन की युक्तियों का निराकरण हो गया! वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार तथा अन्य आलोचकों के द्वारा प्राचीन बौद्धशाखा के अभाववादी विचारों का 'उपलब्धि' के बल पर निराकरण होने पर नागार्जुन ने ही उक्त आलोचकों को यह उत्तर दिया है कि—

'यदि किंचिदुपलभेयम् प्रवर्तयेयं निवर्तयेयं वा।
प्रत्यक्षादिभिरर्थैस्तदभावान्मेऽनुपालम्भः ।'

(विग्रहव्यावर्तनी ३०)

वस्तुतः सूत्रों में प्रस्तुत निराकरण के सामान्य स्वरूप और नागार्जुन के द्वारा सूक्ष्म और सर्वग्रासिनी तर्क-पद्धति पर स्थापित शून्यवाद के प्रौढ स्वरूप को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यही सिद्ध होता है कि सूत्रप्रस्तुत निराकरण शून्यवाद से पूर्ववर्ती है और इसलिए इस सम्भावना का भी औचित्य प्रतीत नहीं होता कि नागार्जुन से परवर्ती विज्ञानवाद का निराकरण सूत्रों में किया गया होगा। यद्यपि शून्यवाद की अपेक्षा विज्ञानवाद के निराकरण में सूत्रों की निश्चित रूप से अधिक संगति है, फिर भी सूत्रों में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उनमें 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' की मूलभूत शाखा के प्राचीनकालीन विज्ञान-

वाद या प्रज्ञप्तिवाद का निराकरण न होकर असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग या धर्मकीर्ति के ही उत्तरकालीन विज्ञानवाद का निराकरण है, अपितु उसके विपरीत उक्त सूत्रों में निराकृत विचारधारा की अप्रौढता, महत्त्वहीनता तथा तदनुरूप उसके उपेक्षात्मक सामान्य निराकरण के स्वरूप को देखते हुए यही सिद्ध होता है कि सूत्रों में दार्शनिक दृष्टि से प्रौढ, प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण उत्तरकालीन विज्ञानवाद का निराकरण न होकर 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' से भी पूर्ववर्ती अप्रौढ, दुर्बल एवं महत्त्वहीन प्रज्ञप्तिवाद का निराकरण है।

५. जैनमत निराकरण
(सू० २।२।३१-३४)

सूत्र २।२।३१—उक्त सूत्र में सभी भाष्यकारों के अनुसार जैनमत द्वारा स्वीकृत वस्तु के अनेकान्तत्व का निराकरण करते हुए कहा गया है कि एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व, नित्यत्व और अनित्यत्व एवं भिन्नत्व और अभिन्नत्व आदि परस्परविरुद्ध धर्मों की स्थिति सम्भव नहीं।

सूत्र २।२।३२—उक्त सूत्र में सभी भाष्यकारों के अनुसार जैनमत के एक विशिष्ट सिद्धान्त—आत्मा का देहपरिमाणत्व—का निराकरण करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार वस्तु का अनेकान्तत्व सदोष है, उसी प्रकार आत्मा का अनेकान्त परिमाण अर्थात् देहानुरूप परिमाण मानना भी सदोष है, क्योंकि इस प्रकार आत्मा का अकात्स्न्र्य होगा अर्थात् वृहच्छरीर को छोड़कर तत्परिमाण आत्मा लघु शरीर में पूर्ण रूप से नहीं आ सकती और लघु शरीर को छोड़कर तत्परिमाण आत्मा वृहच्छरीर को पूर्ण नहीं कर सकती।

सूत्र २।२।३३—यदि यह कहा जावे कि आत्मा के शरीरानुरूप उपचयापचयरूप पर्याय से यह संभव हो सकेगा कि आत्मा प्राप्त होने वाले शरीर के समान परिमाण वाला हो जावेगा, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार आत्मा में विकार आदि मानने पड़ेंगे और फलतः आत्मा के अनित्यत्व का प्रसंग होगा।

सूत्र २।२।३४—भाष्यकारों ने उक्त सूत्र के विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं, किन्तु सूत्र का प्रतिपाद्य इतना ही प्रतीत होता है कि यदि यह कहा जावे कि आत्मा पर्यायात्मना अनित्य होते हुए भी द्रव्यात्मना नित्य है और मोक्षावस्था में किसी पर्याय के न होने के कारण आत्मा नित्य स्वरूप से अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होगा, तो यह भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं—संसार और मोक्ष—में आत्मा के स्वरूपतः नित्य होने से उसके

परिमाण में कोई विशेषता या अन्तर नहीं माना जा सकता अर्थात् मोक्षावस्था में आत्मा अपने वास्तविक नित्य स्वरूप में स्थित रहता है तो उक्त मोक्षावस्थ परिमाण के नित्य एवं स्वाभाविक होने से संसारावस्था में भी वही परिमाण मानना चाहिए; अन्यथा संसारावस्था में परिमाण का परिवर्तन मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से पुनः आत्मा के अनित्यत्व और विकारवत्त्व का प्रसंग होगा।

निराकृत मत का स्वरूप—

(१) वस्तु अनेकान्त है (सू० २।२।३१)।

(२) जीवात्मा देहपरिमाण है (सू० २।२।३२)।

(३) संसारावस्था में आत्मा के स्वरूप में पर्याय होते रहते हैं (सू० २।२।३४)।

(४) मोक्षावस्था में आत्मा पर्यायहीन नित्य स्वरूप में स्थित रहता है और फलतः तब उसका परिमाण स्थिर रहता है (सू० २।२।३४)।

उक्त सिद्धान्त निर्विवाद रूप से जैनमत के प्रसिद्ध एवं विशिष्ट सिद्धान्त है[1] और, जैसा कि प्राचीनकालीन जैनागमों के वर्णन से स्पष्ट है,[2] ये उक्त मत में प्राचीन काल से ही मान्य हैं।

६. पाशुपतमत-निराकरण

(सू० २।२।३५-३८)

सू० २।२।३५—उक्त सूत्र के द्वारा रामानुज, निम्बार्क और बलदेव ने पाशुपतमत के निराकरण को प्रस्तुत मान कर इसका प्रायः यह अर्थ किया है कि पाशुपतमत आदरणीय नहीं, क्योंकि उसमें अन्योन्यव्याघात और वेदविरोध के कारण असामंजस्य है। वेद नारायण को ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बता कर उसके वेदन या उपासन को ही मोक्षसाधन बताते हैं, किन्तु पाशुपतमत वेद से विरुद्ध पशुपति और उसके केवलनिमित्तकारणत्व आदि तत्त्वनिष्ठासम्बन्धी एवं श्मशान-भस्म-स्नान आदि आचारनिष्ठासम्बन्धी

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी) सूत्र ५।१५, १६, ३० आदि।

२. द्रष्टव्य—भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय) के पृष्ठ १५६ में उद्धृत मूल स्याद्वाद का प्रतिपादक भगवतीसूत्र और पृष्ठ १६४ में आत्मा के देहपरिमाणत्व की प्रतिपादक द्रव्य-संग्रह-गाथा।

सिद्धान्तों को मानता है, अतः वह उपेक्षणीय है। मध्व भी उक्त भाष्यकारों के समान पाशुपतमत का निराकरण मानते हुए यह अर्थ करते हैं कि श्रुतियों में पशुपति (रुद्र) के परतन्त्र रूप से प्रतिपादित होने के कारण वह ईश्वर और जगत्कर्ता नहीं माना जा सकता। वल्लभ ने उक्त सूत्र को सामान्यतः तार्किकादि मतों के निराकरण से सम्बद्ध मानकर यह अर्थ प्रस्तुत किया है कि असामंजस्य हेतु के कारण 'पतित्व' रूप से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि वल्लभ को छोड़कर अन्य सभी भाष्यकारों ने उक्त सूत्र में एक विशिष्ट मत—पाशुपतमत—का निराकरण माना है और वल्लभ ने पाशुपतमत का निराकरण न मानकर सामान्यतः तार्किकादि मतों का निराकरण माना है, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उक्त दोनों प्रकारों से ही आनुमानिकेश्वरवाद का निराकरण हो जाता है, किन्तु यतः तर्कपाद में सूत्रकार की दृष्टि विशिष्ट मतों के निराकरण पर रही है और 'पत्युः' शब्द से 'पशुपति' का विशिष्ट निर्देश प्राप्त होता है, अतः वल्लभ की अपेक्षा अन्य भाष्यकारों के अनुसार पाशुपतमत का निराकरण मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। दूसरी ओर अन्य भाष्यकारों की अपेक्षा वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ इतने अंश में अधिक सूत्रानुकूल एवं स्वीकरणीय है कि अन्य भाष्यकारों के अर्थ में साम्प्रदायिकता झलक रही है, जबकि वल्लभ के अर्थ में यह बात नहीं है। अन्य भाष्यकारों का यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न है कि श्रुतियाँ नारायण या विष्णु को जगत्कारण बताती हैं, पशुपति या शिव को नहीं, किन्तु, जैसा कि पूर्व में श्रुतिवाक्य-समन्वय के प्रसंग से देखा जा चुका हैं,[1] सूत्रकार ने सभी श्रुतियों में जगत्कारण रूप से प्रतिपादित तत्त्व को सूत्रजिज्ञास्य वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म माना है, जो कि कोई विशिष्ट-व्यक्तित्वसम्पन्न साम्प्रदायिक देव नहीं, अतः उनकी दृष्टि में यह विचार ही नहीं है कि श्रौत जगत्कारणतत्त्व वैष्णवों का विष्णु है या पाशुपतों का पशुपति है और इसलिये उक्त सूत्र के अर्थ में भाष्यकारों की जो साम्प्रदायिक दृष्टि रही है वह उचित नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी भाष्यकारों ने जो 'असामंजस्य' के अर्थ में वेदविरोध को सम्मिलित किया है, वह भी सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता। तर्कपाद में निराकृत मत भले ही वेद को प्रमाण मानते हों, किन्तु सूत्रकार उन्हें ऐसा न मानकर अर्थात् उन्हें श्रुतियों पर आधारित न मानकर वैदिकदर्शन—स्वाभिमत वेदान्तदर्शन—से

---

१. 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' शीर्षक अध्याय पूर्ण एवं पृ० २३२।

भिन्न या विरुद्ध समझते हुए स्वतन्त्र रूप से उनका निराकरण कर रहे हैं, अतः वे स्वतः ही किसी निराकरणीय मत के समक्ष यह नहीं कह सकते कि वह वेद या वेदान्त के विरुद्ध है, अतः वह उपपन्न नहीं, क्योंकि यह कहना उसी प्रकार युक्तिहीन होगा, जैसे कि कोई वादी केवल अपने सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण प्रतिवादी के मत को अनुपपन्न कहे। वैसे भी 'असामंजस्य' का 'वेदविरोध' अर्थ करना शब्द के वास्तविक अर्थ के अनुकूल नहीं; उक्त शब्द का 'विप्रतिषेध' या 'परस्पर-विरोध' अर्थ करना ही उचित है और इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र २।२।३५ का यही अर्थ सूत्रानुकूल प्रतीत होता है कि पाशुपतमत के द्वारा जगत्कारण रूप से स्वीकृत पशुपति से भी जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं अर्थात् पाशुपतमत का केवलनिमित्तकारणवाद भी उपपन्न नहीं, क्योंकि उसमें असामंजस्य या विप्रतिषेध है। उक्त विप्रतिषेध का भी प्रदर्शन भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है, किन्तु सूत्र में कुछ नहीं कहा गया।

प्रस्तुत सूत्र के बाद रामानुज को छोड़ कर अन्य भाष्यकार 'सम्बन्धानुपपत्तेश्च' सूत्र को अधिक मानते हैं, किन्तु रामानुज नहीं मानते। वैष्णव भाष्यकारों से पूर्ववर्ती भाष्यकारों में शंकर उक्त सूत्र को मानते है और भास्कर नहीं मानते। ध्यान से देखा जावे तो उक्त सूत्र की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सर्वसम्मति से स्वीकृत परवर्ती सूत्र २।२।३६ (अधिष्ठानानुपपत्तेश्च) में वह एक प्रकार से गतार्थ हो जाता है।

सूत्र २।२।३६—उक्त सूत्र में सूत्रकार ने 'अधिष्ठानानुपपत्ति' हेतु के आधार पर पशुपति के केवलनिमित्तकारणत्व का निराकरण किया है। उक्त हेतु का भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ प्रस्तुत किया है। रामानुज का कहना है कि प्रतिपक्षी को केवलनिमित्तेश्वर पशुपति की कल्पना अनुमान के आधार पर करनी है, अतः वह दृष्टानुसार उपपत्ति देने को बाध्य है, किन्तु दृष्टानुसार पशुपति द्वारा उपादानभूत प्रधान के अधिष्ठान की उपपत्ति नहीं लग सकती, क्योंकि दृष्टानुसार सशरीर ही कुलाल आदि मृदादि उपादान का अधिष्ठान करते हैं, किन्तु पशुपति तो अशरीर है। निम्बार्क ने यह कहा है कि पशुपति का शरीर मानना अनुपपन्न है, अतः वह जगत्कारण नहीं; इस प्रकार उन्होंने 'अधिष्ठान' का अर्थ शरीर किया है। मध्व ने यह अर्थ किया है कि पृथ्वी आदि अधिष्ठान में स्थित होकर ही कुलाल आदि घटादि कार्य करते हैं, किन्तु पशुपति का कोई अधिष्ठान नहीं; इस प्रकार मध्व ने अधिष्ठान का अर्थ आधार किया है। वल्लभ ने यह अर्थ किया है कि लोक

में किसी के द्वारा अधिष्ठित अर्थात् नियन्त्रित व्यक्ति ही कुछ कार्य करता है, किन्तु पशुपति किसी के द्वारा अधिष्ठित नहीं, उसे भी अधिष्ठित मानने पर मतविरोध और अनवस्था होगी। बलदेव 'अधिष्ठान' का अर्थ तो मध्व के समान 'आधार' ही करते हैं, किन्तु सूत्रार्थ इस प्रकार करते हैं कि सदेह ही पृथ्वी आदि पर अधिष्ठित होकर कार्य करता हुआ देखा गया है, किन्तु पशुपति तो अदेह है।

उक्त अर्थों में रामानुज द्वारा प्रस्तुत अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। निम्बार्क ने अधिष्ठान का 'शरीर' अर्थ किया है, जो संभव होने पर भी शब्द का साक्षात अर्थ प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षी को 'पशुपति' के शरीर की उपपत्ति दिखाना कोई अभीष्ट नहीं, जो कि सूत्रकार को उसकी अनुपपत्ति दिखाना आवश्यक प्रतीत हो। बलदेव ने अधिष्ठान का जो 'आधार' अर्थ माना है, वह माना तो जा सकता है, किन्तु जगत्कारण स्वाधार तत्त्व के लिए उसकी अनुपपत्ति दिखाना विशेष उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। बलदेव ने वस्तुतः मध्व का अनुकरण किया है, जिन्होंने कि पाशुपतमत के समान अपने सिद्धान्त के भी केवल निमित्तकारणवाद होने के कारण उसे आलोच्य होने से बचाने के लिए शब्द के वास्तविक अर्थ को उपेक्षित कर भिन्न अर्थ मान लिया है। वल्लभ ने 'अधिष्ठान' शब्द का रामानुज के समान ही मुख्य अर्थ 'नियन्त्रण' किया है, किन्तु उन्होंने जो किसी अन्य के द्वारा पशुपति के अधिष्ठान की अनुपपत्ति दिखाई हैं, वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होती; न तो प्रतिपक्षी वल्लभोक्तप्रकारक अधिष्ठान की उपपत्ति दिखाना चाहता है, जो कि सूत्रकार उसकी अनुपपत्ति प्रदर्शित करें और न लोकन्याय से यह कोई अनिवार्य प्रतिबन्ध ही है कि किसी के द्वारा अधिष्ठित होने पर ही कोई कर्त्ता कार्य करे। इसके अतिरिक्त सभी सिद्धान्तों के द्वारा स्वीकृत जगत्कारण तत्त्व अन्य किसी के द्वारा अनधिष्ठित होकर स्वतन्त्र रूप से ही जगत्सृष्टि करते हैं, अन्यथा उनका जगत्कारणत्व ही कैसे सुरक्षित रहेगा? अन्याधिष्ठितत्व को जगत्कारणत्व का मापदण्ड माना जावेगा तो स्वयं सूत्रकार के ही ब्रह्म का जगत्कारणत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी अन्याधिष्ठित नहीं है। परवर्ती सूत्र (२।२।३७) में उठाए गए 'करणवत् चेत्' विकल्प, अधिष्ठान शब्द के मुख्यार्थ और पशुपति द्वारा अपने से पृथक् उपादानतत्त्व के अधिष्ठान के सम्बन्ध में प्रतिपक्षी के अभ्युपगम की दृष्टि से रामानुज द्वारा प्रस्तुत यह अर्थ ही वस्तुतः अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि विकरण या अशरीर पशुपति के द्वारा उपादानभूत प्रधान का अधिष्ठान अनुपपन्न होने के कारण

उसका कर्तृत्व अनुपपन्न है। (सूत्रकार अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद मानते हैं, जिस पर उक्त आलोचन लागू नहीं होता।)[1]

सूत्र २।२।३७—उक्त सूत्र का रामानुज ने यह अर्थ प्रस्तुत किया है कि यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि जिस प्रकार अशरीर जीव करणकलेवरादि का अधिष्ठान करता है, उसी प्रकार अशरीर पशुपति के द्वारा प्रधान का अधिष्ठान संभव है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि जीव के द्वारा करणकलेवरादि का अधिष्ठान कर्मफलभोग के लिए कर्मजन्यादृष्टकारित है, पशुपति के द्वारा भी उक्त प्रकार का अधिष्ठान मानने पर उसे भी सुख-दुःख-भोग की प्रसक्ति होगी। निम्बार्क और वल्लभ के अनुसार सूत्र का यह अर्थ है कि पशुपति को भी करणकलेवरयुक्त मानने पर उसमें भोगादि की प्रसक्ति होगी। मध्व ने यह कहा है कि यह जगत् ही पशुपति का करणवत् अधिष्ठानादि रूप माना जावे, तो यह उचित नहीं, क्योंकि तब तो पशुपति को जगद्रूप अधिष्ठान से सम्बद्ध उत्पत्ति, विनाश और सुख-दुःख की प्राप्ति होगी। बलदेव ने भी प्रायः मध्व का ही अनुगमन किया है।

मध्व और बलदेव ने अपने द्वारा पूर्वसूत्र (२।२।३६) में स्वीकृत 'अधिष्ठान' शब्द के 'आधार' अर्थ के अनुसार, जिसकी कि अस्वीकरणीयता अभी पूर्व में प्रदर्शित की जा चुकी है, प्रस्तुत सूत्र का उक्त अर्थ किया है और इसलिए वह तत्समान ही अस्वीकरणीय है; इसके अतिरिक्त उनके अर्थ में सूत्र के 'करणवत्' शब्द की संगति नहीं बैठती। रामानुज के अनुसार यह तात्पर्य निकलता है कि जीव को करणकलेवराद्यधिष्ठान की शक्ति अदृष्ट से ही प्राप्त होती है, किन्तु यह सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सूत्रकार अपने मुक्तजीव में विग्रह धारण करने की शक्ति अदृष्ट के विना ही स्वाभाविक रूप से मानते हैं (सू० ४।४।१०-१५)। वस्तुतः सूत्र का साक्षात् अर्थ वही प्रतीत होता है जो निम्बार्क और वल्लभ ने माना है कि पशुपति को करणकलेवर से युक्त मानने पर उसमें भोगादि की प्रसक्ति होगी।

सू० २।२।३८—उक्त सूत्र के भाष्यकारों ने जो विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं, वे उपयुक्त प्रतीत नहीं होते, सूत्र का प्रतिपाद्य इतना ही प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त प्रकार से पशुपति के द्वारा उपादान का अधिष्ठान अनुपपन्न है, साथ ही यह आपत्ति है कि यदि निमित्तकारण पशुपति अपने से पृथक् स्थित उपादान का अधिष्ठान करता है, तो उसे यह जानना पड़ेगा कि इतना

---

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ २२७–२२८।

वह स्वयं है और यह उससे पृथक् उपादानतत्त्व है, इस प्रकार पशुपति का अन्तवत्त्व अर्थात् परिच्छिन्नत्व होगा, और यदि नहीं जानता है तो उसकी असर्वज्ञता होगी।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पाशुपत केवलनिमित्तकारण-वाद का उक्त निराकरण मध्व द्वारा स्वीकृत वैष्णव केवलनिमित्तकारण-वाद पर भी समान रूप से व्यवहरणीय है। मध्व ने जो यह कहा है कि 'विष्णोस्तु श्रुत्यैव सर्वे विरोधाः परिहृताः,[1] उससे कुछ उनका बचाव होता हुआ प्रतीत नहीं होता।

निराकृत मत का स्वरूप—

(१) पशुपति या पति जगत् का निमित्तकारण या कर्त्ता है (सू० २।२।३५-३६)।

(२) वह अपने से पृथक् उपादानतत्त्व का अधिष्ठान कर जगत् की रचना करता है (सू० २।२।३६)।

(३) वह विकरण, अनन्त और सर्वज्ञ है (सू० २।२।३६,३८)।

यद्यपि पाशुपतमत का कोई विशिष्ट साहित्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु फिर भी जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उससे इतना तो निश्चित रूप से सिद्ध है कि उक्त सिद्धान्त पाशुपतमत के ही सिद्धान्त हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक सभाष्य 'पाशुपतसूत्र' प्राप्त हुआ है।[2] यद्यपि उक्त 'पाशुपतसूत्र' में पाशुपतमत की योगविधि का ही मुख्य रूप से वर्णन है, उसमें 'पशुपति' के निमित्तकारणत्व की स्पष्ट चर्चा नहीं है, किन्तु उसके भाष्य—कौण्डिन्यकृत पंचार्थभाष्य—में उक्त सिद्धान्तों का स्पष्ट वर्णन है।[3] उक्त भाष्य में पाशुमतमत के दार्शनिक सिद्धान्तों की भी चर्चा होने से कम से कम यह तो निश्चित हो जाता है कि पाशुपतमत के दार्शनिक सिद्धान्त क्या हैं और साथ ही यह संकेत मिलता है कि जिस प्रकार उपलब्ध उक्त 'पाशुपत-सूत्र' पाशुपतयोग का वर्णन करता है, उसी प्रकार पाशुपतमत के अन्य भी ऐसे सूत्र-ग्रंथ होंगे, जो पाशुपतज्ञान या पाशुपतदर्शन से मुख्यतः सम्बद्ध होंगे, जिनके कि आधार पर उक्त भाष्य ने पाशुपतमत के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन

---

१. मध्वभाष्य सू० २।२।४१।

२. द्रष्टव्य—पाशुपतसूत्र, भूमिका।

३. पाशुपतसूत्र-पंचार्थभाष्य सू० १।१, २१-२५; २।५-६, ११, २३-२७ आदि।

किया है और बहुत सम्भव है कि उक्त अनुपलब्ध पाशुपतदर्शनसूत्रों को ही दृष्टि में रखकर सूत्रकार ने उनका उक्त निराकरण प्रस्तुत किया हो।

कौण्डिन्यकृत 'पंचार्थभाष्य' से ज्ञात होता है कि पाशुपतमत जगन्निमितकारण पशुपति की सिद्धि अनुमान के बल पर ही स्वतन्त्र रूप से करता है[1] और ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतन्त्र रूप से अनुमान के बल पर ईश्वर की सिद्धि और उसके निमित्तकारणत्व का प्रतिपादन करने वाला प्राचीन मत प्रमुखतः पाशुपत ही है। ब्रह्मसूत्रकालीन वैशेषिकमत में तो ईश्वर की मान्यता का कोई संकेत नहीं मिलता और न वर्तमान वैशेषिकसूत्रों में ही उसका कोई विशिष्ट संकेत है। न्यायसूत्र और पातंजलयोगसूत्र में भी ईश्वर की सिद्धि के लिए न तो वैसा अभिनिवेश है और न ईश्वर के परत्व का वैसा प्रतिपादन है, जैसा पाशुपतमत में है। अनुमान से ईश्वर को सिद्ध करने की प्रवृत्ति शैवागमों में भी प्राप्त होती है,[2] जो किसी न किसी दृष्टि से पाशुपतमत से सम्बद्ध ही हैं, क्योंकि उक्त मत भी अन्य शैवमतों के समान शैवागमों में श्रद्धा रखता है, और उन्हें प्रामाणिक मानता है।[3] इस प्रकार आनुमानिकेश्वरवाद का प्रमुख प्रतिनिधि पाशुपतमत ही है और सम्भवतः यही कारण है कि ब्रह्मसूत्रों ने उक्त मत को ही आनुमानिकेश्वर के निमित्तकारणत्ववाद का प्रमुख प्रतिनिधि बना कर उसका निराकरण किया। उत्तरकालीन उद्योतकर, व्योमशिवाचार्य आदि न्यायवैशेषिकाचार्य पाशुपत होकर जो ईश्वर की सिद्धि अनुमान के बल पर करते थे, उससे भी यही सिद्ध होता है कि आनुमानिकेश्वरवाद मौलिक रूप से पाशुपतमत का विशिष्ट सिद्धान्त है और न्यायवैशेषिक ने उक्त वाद की प्रेरणा पाशुपतमत से ही ली है। ईश्वर की चर्चा करने वाले सर्वप्रथम वैशेषिक-ग्रन्थ 'प्रशस्तपादभाष्य' ने जो ईश्वर को 'महेश्वर' कहा है,[4] उससे भी उक्त भाष्य पर पाशुपतमत का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

---

१. पाशुपतसूत्र-पंचार्थभाष्य सू० १।१, पृ० ७।

२. मृगेन्द्रागम, २।३-४, ३।१-१४; ६।३-आदि।

३. पाशुपतसूत्र-पंचार्थभाष्य सू० १, पृष्ठ ७।

४. प्रशस्तपादभाष्य, सृष्टिवर्णन, पृष्ठ २७७ ('''महेश्वरस्य सिसृक्षानन्तरं '''परमाणुषु कर्मोत्पत्तौ''')।

७. पांचरात्रमत-निराकरण
(सू० २।२।३६-४२)

उक्त सूत्रों में कुछ भाष्यकारों ने पांचरात्रमत और कुछ ने शाक्तमत का निर्देश माना है और तदनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ प्रस्तुत किए हैं। उक्त रूप में मौलिक मतभेद होने के कारण उक्त दोनों ही प्रकार के अर्थों को देखना आवश्यक हो जाता है।

सूत्र २।२।३६—रामानुज और वल्लभ के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य प्राय: यह है कि पांचरात्रमत की जो यह मान्यता है कि 'परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते', वह उचित नहीं, क्योंकि स्वरूपत: नित्य तत्त्व जीव की उत्पत्ति असंभव है। निम्बार्क, मध्व और बलदेव उक्त सूत्र को शाक्तमत के निराकरण में प्रयुक्त मानकर प्राय: यह अर्थ प्रस्तुत करते हैं कि शाक्तमत द्वारा जगत्कारण रूप से स्वीकृत 'शक्ति' से जगदुत्पत्ति संभव नहीं, क्योंकि पुरुष से अनुगृहीत हुए विना किसी स्त्री से उत्पत्ति नहीं देखी गई।

उक्त सूत्र का स्वरूप केवल 'उत्पत्त्यसंभवात्' है, किन्तु यत: उक्त प्रकार से सभी भाष्यकारों की सम्मति में यह किसी न किसी एक विशिष्ट मत का निराकरण प्रस्तुत करता है, अत: इसमें जैनमत का निराकरण प्रस्तुत करने वाले सू० २।२।३१ (नैकस्मिन्नसंभवात्) से 'न' की अनुवृत्ति सभी भाष्यकारों की सम्मति में उसी प्रकार आती है, जिस प्रकार उससे पाशुपतमत का निराकरण प्रस्तुत करने वाले सू० २।२।३२ (पत्युरसामंजस्यात्) में आती है, जो कि उचित है। उक्त प्रकार से 'न' की अनुवृत्ति आने पर प्रस्तुत सूत्र का स्वरूप 'नोत्पत्यसम्भवात्' हो जाता है, जिसमें 'न' साध्यांश है और 'उत्पत्यसंभवात्' हेत्वंश है। उक्त साध्यांश से किसी मत के निराकरण की सूचना मिलने पर भी किसी विशिष्ट निराकरणीय मत की सूचना नहीं मिलती और यदि हेत्वंश का यह सामान्य अर्थ माना जाता है कि अमुक मत के द्वारा जगत्कारण रूप से स्वीकृत अमुक तत्त्व से जगत् की उत्पत्ति असंभव है, तो प्रस्तुत सूत्र चाहे किसी मत के निराकरण का प्रस्तावकसूत्र हो सकता है और फलत: यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें सूत्रकार अमुक विशिष्ट मत का ही निराकरण प्रस्तुत कर रहे हैं; किन्तु उनकी ओर से निराकरणीय मत की सूचना अवश्य मिलनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने तर्कपाद में निराकृत अन्य सभी मतों के

निराकरण को प्रस्तुत करने वाले सूत्रों (२।२।१, १०, १७, २७, ३१, ३५) में तत्तन्मतों के निराकरण के प्रस्तावन की सूचना निराकरणीय मत के क्रमश: 'आनुमान' (प्रधान), 'ह्रस्व-परिमण्डल', 'समुदाय' (संघात), 'अभाव', 'एक' (एक में अनेक विरुद्ध धर्म) और 'पति', इन विशिष्ट नाम, सिद्धान्त या पारिभाषिक शब्दों के द्वारा दे दी है, अत: यह संभावना करना उचित प्रतीत होता है कि प्रस्तुत सूत्र में भी उन्होंने निराकरणीय मत के किसी विशिष्ट सिद्धान्त की सूचना दे दी है और फलत: सूत्र के एकमात्र पद 'उत्पत्त्यसंभवात्' का उक्त सामान्य अर्थ—जगदुत्पत्ति का असंभव—न होकर अन्य ही कोई ऐसा अर्थ सूत्रकाराभिमत है, जो निराकरणीय मत के किसी विशिष्ट सिद्धान्त को प्रकट कर सके। उक्त दृष्टि से विचार करने पर प्रस्तुत सूत्र शाक्तमत के निराकरण की अपेक्षा पांचरात्रमत के निराकरण के प्रस्तावन में अधिक संगत होता है। इसमें शाक्तमत के निराकरण का प्रस्तावन मानने पर 'उत्पत्त्यसंभवात्' का उक्त सामान्य अर्थ ही करना पड़ता है कि अमुक तत्त्व (शक्ति) से जगत् की उत्पत्ति असंभव है, अत: वह जगत्कारण नहीं; और फलत: इसमें निराकरणीय मत की सूचना नहीं मिलती, क्योंकि उक्त 'शक्ति' पद तो सूत्रबाह्य है। यदि सूत्रकार को 'उत्पत्त्यसंभव' का उक्त सामान्य अर्थ ही अभिप्रेत होता और उसके आधार पर वे शक्ति के जगत्कारणत्व का निराकरण करते तो वे प्रस्तुत सूत्र में निराकरणीय मत की सूचना देने के लिए 'शक्ति' पद का प्रयोग उसी प्रकार करते, जिस प्रकार उन्होंने अन्य मतों के निराकरण को प्रस्तुत करने वाले सूत्रों में तत्तत् निराकरणीय मत की सूचना देने के लिए उक्त आनुमान (प्रधान) आदि विशिष्ट या पारिभाषिक पदों का प्रयोग अनिवार्यत: किया है। प्रस्तुत सूत्र में उन्होंने 'शक्ति' या शाक्तमत के अन्य किसी पारिभाषिक शब्द या विशिष्ट सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया है, तो यह मानने का क्या आधार होगा कि इसमें शाक्तमत का निराकरण प्रस्तुत है? दूसरी ओर यदि यह माना जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में पांचरात्रमत के निराकरण का प्रस्तावन है, तो 'उत्पत्त्यसंभव' हेतु से ही उक्त मत के 'संकर्षणो नाम जीवो जायते' इस जीवोत्पत्तिसम्बन्धी विशिष्ट सिद्धान्त की सूचना उसी प्रकार प्राप्त हो जाती है, जिस प्रकार सू० २।२।३१ के 'एकस्मिन्नसंभव' हेतु से जैनमत के विशिष्ट सिद्धान्त 'एक में अनेक विरुद्ध धर्म' अर्थात् अनेकान्तवाद की सूचना प्राप्त हो जाती हैं और जिस प्रकार सू० २।२।३१ एक में अनेक विरुद्ध धर्मों को असंभव बताने के द्वारा जैनमत की उक्त एक विशिष्ट मान्यता के निराकरण में संगत होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत

सूत्र जीवोत्पत्ति को असंभव बताने के द्वारा पांचरात्रमत की उक्त विशिष्ट मान्यता के निराकरण में संगत हो जाता है।

उक्त प्रकार से निम्बार्क, मध्व और बलदेव द्वारा प्रस्तुत शाक्तमत-सम्बन्धी अर्थ की अपेक्षा रामानुज और वल्लभ द्वारा प्रस्तुत पांचरात्रमत-सम्बन्धी अर्थ ही अधिक सूत्रसंगत प्रतीत होता है और जैसा कि आगे स्पष्ट है, परवर्ती सू० २।२।४० से भी वह संगत सिद्ध होता है।

सूत्र २।२।४०—रामानुज और वल्लभ के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य प्रायः यह है कि पांचरात्रमत की जो यह मान्यता है कि 'संकर्षणाद् जीवात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते', वह भी उपपन्न नहीं, क्योंकि कर्ता से करण की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् कर्त्ता करण का उपादानकारण नहीं हो सकता, जबकि उक्त मान्यता के अनुसार कर्त्ता (जीव) को करण (मन) का उपादान माना गया है। निम्बार्क, मध्व और बलदेव के अनुसार उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य प्रायः यह है कि यदि शाक्तमत यह कहे कि शक्ति अपने अनुग्राहक पुरुष से अनुगृहीत होकर जगत्सृष्टि में समर्थ हो सकेगी, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि 'पुरुष' करणहीन होने के कारण 'शक्ति' का अनुग्रह नहीं कर सकता।

अभी पूर्व में यह देखा जा चुका है कि पूर्वसूत्र (२।२।३९) में शाक्त-मत के निराकरण का प्रस्तावन प्रतीत नहीं होता, अतः प्रस्तुत सूत्र में निम्बार्क, मध्व और बलदेव द्वारा स्वीकृत शाक्तमतनिराकरणसम्बन्धी अर्थ स्वतः ही उपेक्षणीय हो जाता है; किन्तु फिर भी यदि यह मान लिया जावे कि पूर्वसूत्र में शाक्तमत का निराकरण है, तब भी प्रस्तुत सूत्र में उक्त भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ पूर्वापरप्रसंग और स्वयं सूत्र के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। उक्त भाष्यकार पूर्वसूत्र (२।२।३९) में इस उपहासास्पद युक्ति को लेकर चले थे कि 'शक्ति' स्त्री है, अतः पुरुष (पुंस्त्वविशिष्ट व्यक्ति) के अनुग्रह के विना उससे उत्पत्ति कैसे होगी ! और उसी प्रसंग से वे प्रस्तुत सूत्र में यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि 'पुरुष' करणहीन होने से 'शक्ति' का अनुग्राहक नहीं हो सकता किन्तु प्रश्न यह है कि पूर्वसूत्र (२।२।३९) में पूर्वोक्त युक्ति कहाँ उपन्यस्त की गई है, जो कि उसके प्रसंग से प्रस्तुत सूत्र का उक्त प्रतिपाद्य माना जावे ? पूर्वसूत्र में केवल 'उत्पत्त्यसंभवात्' कहा गया है, जिसका अर्थ, उसमें शाक्तमत का निराकरण न होते हुए भी उसे मानने पर, केवल इतना ही होता है कि शक्ति का जगत्कारणत्व उपपन्न नहीं, क्योंकि उससे जगदुत्पत्ति असंभव है; क्यों असंभव है, यह सूत्र ने नहीं कहा। प्रस्तुत सूत्र ने केवल 'न च कर्तुः करणम्' कहा है। इसमें 'पुरुष' का निर्देश

कहाँ से मान लिया गया और फलतः इससे यह अर्थ कैसे निकल आया कि पुरुष के करण नहीं है, अतः वह शक्ति का अनुग्रह नहीं कर सकता ? प्रस्तुत सूत्र के 'कर्त्तुः' पद से तो उसी तत्त्व का निर्देश माना जा सकता है जो पूर्वसूत्र में निराकरणीय मत के द्वारा कर्त्ता माना गया हो, जो कि उक्त भाष्यकारों के अनुसार 'शक्ति' है, पुरुष नहीं। यदि प्रस्तुत सूत्र के 'कर्त्तुः' से उक्त भाष्यकारों को शक्त्यनुग्राहक 'पुरुष' का निर्देश मानना है तो पूर्वसूत्र में भी उसी के कर्त्तृत्व का निराकरण मानना चाहिए; और यदि पूर्वसूत्र में 'शक्ति' के कर्त्तृत्व का निराकरण मानना है तो प्रस्तुत सूत्र में 'कर्त्तुः' से उसी का निर्देश मानना चाहिए; किन्तु वे मानें कैसे ! उन्हें तो पूर्वसूत्र में सूत्रबाह्य इस व्यंग्य का आनन्द लेना है कि 'शक्ति' स्त्री है, अतः केवल उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती ! अब वे प्रस्तुत सूत्र में 'कर्त्तुः' से यदि शक्ति का निर्देश मानते है, तो एक तो उक्त शब्द का पुंलिंगत्व बाधक है और दूसरे जिस शक्ति को वे स्त्री मान चुके हैं, उसी के सम्बन्ध में यह कैसे कहें कि वह करणहीन है ! अतः वे प्रस्तुत सूत्र में पूर्वसूत्र की संगति पर ध्यान न देकर 'कर्त्तुः' से पुरुष का निर्देश मानने लगते हैं, किन्तु यह वे भूल जाते हैं कि यदि उनके अनुसार 'शक्ति' स्वरूपतः कोई तत्त्व नहीं, अपितु स्त्री है, तो 'पुरुष' भी स्वरूपतः कोई तत्त्व नहीं, अपितु पुंस्त्वविशिष्ट पुरुष है, फिर उसे करणहीन बता कर उसके अनुग्राहकत्व का प्रतिषेध क्यों किया जा रहा है !

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पूर्वसूत्र में स्वतन्त्र शक्ति के कर्त्तृत्व का निराकरण मान कर भी, प्रस्तुत सूत्र में पुरुषानुग्रह का कल्प उठाने वाले उक्त भाष्यकारों के अनुसार यह तो सुनिश्चित हो ही नहीं पाता कि निराकरणीय मत 'स्वतन्त्रशक्तिवाद' को मानता है या 'पुरुषानुगृहीत-शक्तिवाद' को।

वस्तुतः यदि प्रस्तुत सूत्र में कर्त्ता के करणाभाव के आधार पर कार्य का प्रतिषेध होता तो सूत्र में यद्यपि इतने पदों के प्रयोग की आवश्यकता न थी, उसका स्वरूप 'विकरणत्वात्' ही पर्याप्त था, किन्तु फिर भी यदि सूत्र का उक्त प्रतिपाद्य ही माना जाता है तो सूत्रकार ने जिस प्रकार पशुपति के करणाभाव के आधार पर सू० २।२।३६ में उसके द्वारा अधिष्ठानरूप कार्य का प्रतिषेध करने के बाद परवर्ती सू० २।२।३७ में 'करणवत्चेत्' का विकल्प उठा-कर भोगादिप्रसक्ति प्रदर्शित की है, उसी प्रकार वे प्रस्तुत सूत्र के बाद भी उक्त विकल्प उठा कर भोगादिप्रसक्ति प्रदर्शित करते, जो कि उन्होंने नहीं की है, जिससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र का उक्त प्रतिपाद्य नहीं है। उक्त भाष्यकारों ने

जो सू० २।२।४१ के द्वारा करणाभाव की पूर्ति करने के लिए 'विज्ञानादिभाव' का विकल्प माना है, वह सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सू० २।२।३८ तथा पाशुपतसूत्र-भाष्य के साक्ष्य से[१] पशुपति के सर्वज्ञ होने के कारण उसमें विज्ञानादिभाव के होने पर भी उसके करणाभाव के आधार पर सू० २।२।३६ के द्वारा 'अधिष्ठानानुपपत्ति' प्रदर्शित कर सू० २।२।३७ के द्वारा 'करणवत् चेत्' के विकल्प से सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि करणाभाव का विकल्प 'करणवत्त्व' ही हो सकता है, 'विज्ञानादिभाव' नहीं—उनकी दृष्टि में विज्ञान आदि का भाव करणाभाव की पूर्ति नहीं कर सकता। इस प्रकार यदि सूत्रकार के द्वारा सू० २।२।४० में कर्त्ता के करणाभाव के आधार पर ही कोई अनुपपत्ति प्रदर्शित की गई होती तो सू० २।२।४१ में 'विज्ञानादिभावे वा' न होकर 'करणवत् चेत्' के समान ही विकल्प होता।

यदि पूर्वोक्त बाधक कारणों की उपेक्षा कर सू० २।२।४० में कर्त्ता (पुरुष या शक्ति) के करणाभाव के आधार पर उसके द्वारा जगत्-सृष्टि के प्रतिषेध का ही प्रतिपादन माना जाता है, तो फिर यह मानना पड़ेगा कि सूत्रकार उक्त सूत्र के द्वारा सू० २।२।३६ के समान उक्त जगत्कर्ता के द्वारा उससे भिन्न उपादानतत्त्व के अधिष्ठान की अनुपपत्ति प्रदर्शित कर रहे हैं और फलतः यही सिद्ध होगा कि यहाँ भी वे पुरुष या शक्ति के केवल-निमित्तकारणत्व का निराकरण कर रहे हैं, क्योंकि अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणत्व में उक्त अनुपपत्ति का प्रदर्शन सूत्रकाराभिमत नहीं (सू० २।१।३१), तो, क्या निराकरणीय शाक्तमत केवलनिमित्तकारणवाद को मानता था ? यदि ऐसा है तो वह सूत्रकार के काल में पाशुपत शैवमत के रूप में ही होगा, क्योंकि उक्त मत अपने जगन्निमित्तकारण भगवान् महेश्वर की शक्ति को सनातनी मानकर उसी में सम्पूर्ण कार्य को स्थित और उसी के द्वारा पशुपति का सर्वकार्याधिष्ठान मान कर उसको महत्त्वपूर्ण स्थान देता है,[१] अतः यह संभावना नहीं की जा सकती कि केवलनिमित्तकारणवाद को मानते हुए शाक्त मत पाशुपतमत से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व रखता होगा और यतः पाशुपतमत के केवलनिमित्तकारणवाद का निराकरण सू० २।२।३५-३८ में किया ही जा चुका है, अतः उसकी पुनरावृत्ति मानना

---

१. पाशुपतसूत्र-पंचार्थभाष्य सू० १।१, २१-२५ आदि।

१. पाशुपतसूत्र-पंचार्थभाष्य सू० २।५-६।

उचित नहीं। यदि यह माना जाता है कि शाक्तमत सूत्रकार के काल में केवल निमित्तकारणवाद को मानते हुए भी पाशुपतमत से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता था और सूत्रकार को उसका निराकरण भी करना था, तो भी वे पाशुपतमत के निराकरण के बाद केवल 'एतेन शक्तिः प्रत्याख्याता' या 'एतेन शाक्तोऽपि प्रत्याख्यातः' कह कर शाक्तमत का निराकरण कर देते, उन्हीं युक्तियों की पुनरावृत्ति न करते।

उक्त प्रकार से प्रस्तुत सूत्र (२।२।४०) की संगति किसी प्रकार भी शाक्तमत के निराकरण में नहीं लगती। दूसरी ओर पांचरात्रमत की उक्त मान्यता—जीव से मन की उत्पत्ति—के निराकरण में सूत्र की संगति इस प्रकार साक्षात् और स्पष्ट हो जाती है कि जीव से मन की उत्पत्ति भी उपपन्न नहीं, क्योंकि कर्त्ता से करण की उत्पत्ति नहीं होती। पांचरात्रमत की 'संकर्षणो जीवो जायते' मान्यता के साथ ही 'संकर्षणात् जीवात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते', यह मान्यता है। पूर्वसूत्र (२।२।३९) में प्रथम मान्यता को अनुपपन्न बताया गया और उसके प्रसंग से साथ ही प्रस्तुत सूत्र (२।२।४०) में द्वितीय मान्यता की अनुपपन्नता प्रदर्शित की गई। इस प्रकार पूर्वप्रसंग और स्वयं सूत्राक्षरों की अनुकूलता तो बनी ही रहती है, साथ ही पूर्वसूत्र के निषेध्य के साथ प्रस्तुत सूत्र के निषेध्यान्तर-समुच्चय-बोधक प्रयोग 'न च' का इस प्रकार स्वारस्य बना रहता है कि 'न जीवोत्पत्तिरुपपन्ना, न च जीवात् कर्तुः मनसः करणस्योत्पत्तिरुपपन्ना'।

सू० २।२।४१-४२—निम्बार्क, मध्व और बलदेव ने सूत्र २।२।४१ में यह प्रतिपाद्य माना है कि यदि शाक्तमत शक्ति या तदनुग्राहक पुरुष को विज्ञानादियुक्त माने, तो उसका प्रतिषेध नहीं करना है, क्योंकि तब तो वह शक्तिवाद न होकर ब्रह्मवाद ही हो गया; किन्तु यह सूत्रकाराभिमत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कोई मत या वाद अपने द्वारा स्वीकृत जगत्कर्त्ता को केवल विज्ञानादियुक्त मानने से हो सूत्रकार की दृष्टि में ब्रह्मवाद नहीं हो सकता और न केवल उतना मानने से वह इस स्थिति को ही प्राप्त कर सकता है कि सूत्रकार उसके सम्बन्ध में यह कह दें कि वह अप्रतिषेध्य या अनिराकरणीय हो गया; यदि ऐसा ही होता तो वे पाशुपतमत के सम्बन्ध में भी 'विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः' कह देते, क्योंकि उक्त मत भी अपने द्वारा स्वीकृत जगतकर्त्ता पशुपति को विज्ञानादियुक्त मानता है।[1] उक्त प्रकार

१. पाशुपतसूत्र-पंचार्थभाष्य सू० १।१, २१-२५ आदि।

से शाक्तमत के निराकरण में न तो प्रस्तुत सूत्र २।२।४१ संगत होता है और न, जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, पूर्वसूत्र (२।२।३९-४०) संगत होते हैं, और परवर्ती सूत्र २।२।४२ (विप्रतिषेधाच्च) का कोई विशेष प्रतिपाद्य ही नहीं, वह तो अपने से पूर्ववर्ती सूत्रों में निराकृत मत के निराकरण का केवल सामान्यनिन्दात्मक उपसंहार करता है। इस प्रकार निम्बार्क, मध्व और बलदेव का यह पक्ष सूत्रानुकूल एवं युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि उक्त सूत्रों (२।२।३९-४२) में शाक्तमत का निराकरण है। वैसे भी स्यात् ही शाक्तमत सूत्रकार के समय में प्राचीन शैवमत या पाशुपतमत से स्वतन्त्र ऐसा दार्शनिक प्रौढ रूप प्राप्त कर सका हो कि उनकी दृष्टि में वह निराकरणीय प्रतीत होने लगा हो।[1] वस्तुतः, जैसा कि अभी पूर्व में देखा जा चुका है, सू० २।२।३९-४० की साक्षात् संगति पांचरात्रमत की उक्त विशिष्ट मान्यताओं के निराकरण में ही है और पूर्ववर्ती सूत्रों (२।२।३५-३८) में निराकृत पाशुपतमत के साथ प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य में उक्त मत का परिगणन होने से यह बहुत संभव भी प्रतीत होता है कि वह सूत्रकार की दृष्टि में हो।[2]

पूर्वोक्त प्रकार से रामानुज और वल्लभ पूर्वसूत्रों (२।२।३९-४०) में पांचरात्रमत की उक्त मान्यताओं का प्रतिवाद मानने पर भी यह मतभेद रखते हैं कि उक्त प्रतिवाद सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है या सिद्धान्त-पक्ष के रूप में। रामानुज का मत है कि सूत्रकार ने पांचरात्रमत के समर्थन की दृष्टि से उक्त प्रतिवाद को अपनी ओर से नहीं, अपितु पूर्वपक्षियों की ओर से उपस्थित कर बाद के दो सूत्रों (२।२।४१-४२) में उक्त मान्यताओं के समर्थन में अपना सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया है और तदनुसार वे सूत्र २।२।४१ का

---

१. डा० करमरकर ने अपने 'कम्पेयरीजन आव् दी भाष्याज्०' (पृ० ६१) में जो अपनी यह सम्मति प्रकट की है कि उक्त सूत्रों में शाक्तमत का ही निराकरण है, स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होती। उन्होंने अपनी उक्त सम्मति का कोई भी आधार प्रस्तुत नहीं किया है जिस पर कि पृथक् रूप से विचार किया जा सके। उन्होंने केशव काश्मीरी द्वारा प्रस्तुत उक्त सूत्रों के एक व्याख्यान को स्वीकृत किया है, जो कि निम्बार्क, मध्व और बलदेव के व्याख्यानों के ही समान है, जिनकी कि सूत्रप्रतिकूलता प्रदर्शित की जा चुकी है।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय ३४९, श्लोक ६४-६८ आदि।

यह अर्थ करते हैं कि पूर्वसूत्रों (२।२।३९-४०) में निर्दिष्ट पांचरात्रमत की उक्त मान्यताओं का अभिप्राय जीव, मन आदि की उत्पत्ति से नहीं, अपितु परब्रह्म वासुदेव के संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में आविर्भूत होने से है और इस प्रकार पांचरात्रमत में उक्त संकर्षण आदि के परब्रह्मभाव के प्रतिपादित होने से तत्प्रतिपादनपरक शास्त्र—पंचरात्र—के प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं करना है। सू० २।२।४२ में वे यह अर्थ करते हैं कि पंचरात्रशास्त्र में जीव की उत्पत्ति का प्रतिषेध भी है। वल्लभ रामानुज के समान पूर्वोत्तरपक्ष के रूप में विभाजन न करते हुए सभी सूत्रों (२।२।३९-४२) में सूत्रकार का सिद्धान्तपक्ष मान कर उनमें पांचरात्रमत का निराकरण उसी प्रकार मानते हैं, जिस प्रकार पूर्वनिराकृत अन्य मतों का निराकरण तत्तत् सूत्रों में सिद्धान्ततः माना गया है, और तदनुसार वे पूर्वसूत्रों (२।२।३९-४०) में पांचरात्रमत की उक्त मान्यताओं का सिद्धान्ततः निराकरण मान कर प्रस्तुत सूत्रों में भी तत्समान ही निराकरण मानते हुए सू० २।२।४१ का इस प्रकार अर्थ प्रस्तुत करते हैं कि यदि निराकरणीय पांचरात्रमत यह कहे कि वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी ईश्वर हैं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार अनेक ईश्वरों का परस्पर अप्रतिषेध अर्थात् अनियमन होगा और फलतः स्वातन्त्र्यदोष होगा, इसके अतिरिक्त अनेकेश्वर कल्पना युक्त भी नहीं। सू० २।२।४२ में वे सामान्यनिदात्मक उपसंहार मानते हुए यह अर्थ करते हैं कि बहुकल्पना और वेदनिन्दा के कारण भी उक्त मत आदरणीय नहीं।

प्रस्तुत सूत्रों में से अन्तिम सूत्र २।२।४२ में 'विप्रतिषेध' हेतु के बल पर पूर्वसूत्रालोचित मत की आलोचना का उपसंहार उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार उक्त हेतु के ही बल पर सू० २।२।९ में तत्पूर्वसूत्रालोचित सांख्यमत की आलोचना का उपसंहार किया गया है। सू० २।२।९ (विप्रतिषेधाच्चासमंजसम्) में 'विप्रतिषेध' हेतु से पूर्वसूत्रालोचित सांख्यमत को सूत्रकार ने असममंजस बताया है, अतः स्पष्ट है कि वे यहाँ पर भी पूर्वसूत्रालोचित पांचरात्रमत को 'विप्रतिषेध' हेतु से असमंजस बता रहे हैं। रामानुज ने उक्त सूत्र (२।२।४२) में जो यह अर्थ किया है कि पंचरात्रशास्त्र में जीव की उत्पत्ति का प्रतिषेध किया गया है, अतः उक्त शास्त्र की पूर्वप्रस्तुत आलोचना उचित नहीं, वह यथाकंथचित् तभी सम्भव हो सकता था, जबकि उक्त सूत्र में 'विप्रतिषेधाच्च' न होकर 'प्रतिषेधाच्च' होता। 'विप्रतिषेध' शब्द का साक्षात् अर्थ 'परस्परविरोध' होता है, जिसे कि स्वयं रामानुज ने भी सूत्र २।२।९ में स्वीकार किया है। उक्त प्रकार से सू० २।२।३९ में निराकरण के द्वारा ही

प्रस्तावन और सू० २।२।४२ में निराकरण के द्वारा ही उपसंहार के होने से इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि सूत्रकार ने उक्त सभी सूत्रों (२।२।३९-४२) में पांचरात्रमत का निराकरण किया है और इस प्रकार वल्लभ का ही यह पक्ष अधिक सूत्रसंगत एवं स्वीकरणीय प्रतीत होता है कि उक्त सभी सूत्रों में उक्त मत का निराकरण है; फिर भी इतना अवश्य है कि वल्लभ ने जो 'विप्रतिषेध' शब्द के अर्थ में वेदनिन्दा या वेदविरोध को भी सम्मिलित कर लिया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'वेदविरोध' न तो 'विप्रतिषेध' शब्द का साक्षात् अर्थ ही है और, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[1] न तर्कपाद में निराकृत मतों के निराकरण में वेद की दुहाई देना सूत्रकाराभिमत है, क्योंकि उक्त दुहाई का परमतनिराकरण में कोई उपयोग नहीं। उक्त सूत्र (२।२।४२) का सू० २।२।६ के आधार पर केवल इतना ही अर्थ सूत्राक्षरसंगत हो सकता है कि पांचरात्रमत की मान्यताओं में विप्रतिषेध अर्थात् परस्परविरोध होने के कारण वह असमंजस है।

अब समस्या केवल सू० २।२।४१ (विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः) के अर्थ के सम्बन्ध में रह जाती है। रामानुज ने उक्त सूत्र के 'विज्ञानादि' की 'विज्ञानं च आदि च विज्ञानादि', यह व्युत्पत्ति कर उसका 'परब्रह्म' अर्थ किया है, जो कि एक क्लिष्टकल्पना ही प्रतीत होती है, सूत्रकार ने 'विज्ञान' शब्द का ब्रह्मसूत्रों में कहीं भी 'ब्रह्म' के अर्थ में प्रयोग नहीं किया है, उन्होंने उक्त शब्द को 'मन' के साथ परिगृहीत किया है (सू० २।३।१६), जिससे स्पष्ट है कि उसका अर्थ बुद्धि, ज्ञान आदि ही उन्हें अभिप्रेत है। यदि यह कहा जावे कि सूत्रकार ने 'विज्ञानादि' शब्द को 'ब्रह्म' के अर्थ में पंचरात्रशास्त्र के किसी पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त किया है, तो रामानुज ने उक्त शास्त्र से ऐसा कोई प्रमाण भी प्रस्तुत नहीं किया है, जिसमें परब्रह्म या वासुदेव को 'विज्ञानादि' कहा गया हो। इस प्रकार उक्त शब्द का रामानुज द्वारा प्रस्तुत अर्थ अस्वीकरणीय ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ भी उचित प्रतीत नहीं होता; उन्होंने भी उसका अर्थ विज्ञानादियुक्त ईश्वर किया है, जो कि प्रकार-भेद से रामानुज द्वारा प्रस्तुत अर्थ के ही समान है और फलतः तत्समान ही उपेक्षणीय है। सूत्र के अवशिष्ट अंश का उक्त दोनों भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ न्यूनाधिक रूप में स्वीकरणीय होने पर भी पूर्णतः ग्राह्य प्रतीत नहीं होता।

---

१. पृ० २६६, २९९-३००।

उक्त सूत्र (२।२।४१) का कुछ भी अर्थ हो, किन्तु उसके पूर्ववर्ती (सू० २।२।३९-४०) और परवर्ती (सू० २।२।४२) सूत्रों में पूर्वोक्त प्रकार से निराकरण के ही प्रस्तावन और निराकरण के ही उपसंहार के होने से यह सम्भावना तो की ही नहीं जा सकती कि मध्यवर्ती इस सूत्र (२।२।४१) में सूत्रकार आलोच्य मत का समर्थन प्रस्तुत कर रहे हैं, और साथ ही पूर्वसूत्रों में 'उत्पत्ति' के प्रतिषेध के बाद इस सूत्र में 'वा' और 'अप्रतिषेध' का प्रयोग होने से यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इसमें आलोच्य मत की किसी मान्यता का प्रतिषेध किया गया होगा। उक्त दोनों स्थितियों के मध्य में सूत्र के होने से यही प्रतीत होता है कि इसमें निराकरणीय मत की किसी मान्यता के सम्बन्ध में सूत्रकार ने अपना उपेक्षात्मक विकल्प प्रस्तुत किया है और बहुत सम्भव है कि उन्होंने अव्यवहित रूप से पूर्ववर्ती सूत्र (२।२।४०) में जीव से मन की उत्पत्ति की मान्यता को निराकृत करने के बाद उसके सम्बन्ध में यह विकल्प प्रस्तुत किया हो कि यदि निराकरणीय मत उक्त मान्यता—जीव से मन की उत्पत्ति—का तात्पर्य यह मानता है कि जीव से 'मनस्तत्त्व' नहीं, अपितु 'मनः' पद से अभिप्रेत 'विज्ञान' अर्थात् जीव के धर्म-भूत विशिष्ट ज्ञान का आदिभाव या आविर्भाव जीव से होता है, तो वह अप्रतिषेध्य है। उपनिषदों में ज्ञान के विभिन्न रूपों को भी 'मनः' कहा गया है,[1] अतः बहुत सम्भव है कि सूत्रकार ने उक्त रूप में उपेक्षात्मक विकल्प उपस्थित कर दिया हो; किन्तु साथ ही उक्त सूत्र के 'वा' शब्द से यह अन्तर्निहित पूर्वकल्प ध्वनित होता है कि जीव से मन की उत्पत्ति को 'विज्ञानादिभाव' अर्थात् जीव से विशिष्ट धर्मभूत ज्ञान के आविर्भाव के रूप में ही मानने पर उक्त मान्यता अप्रतिषेध्य है, किन्तु यदि मन कोई भिन्न तत्त्व माना जाता है तो वह भी प्रतिषेध्य है, क्योंकि जीव किसी तत्त्वान्तर का उपादान नहीं; और जीवोत्पत्ति तो सर्वथा प्रतिषेध्य है ही।

उक्त प्रकार से विचार करने पर पांचरात्रमतनिराकरणपरक सूत्रों (२।२।३९-४२) का अर्थ संक्षेपतः निम्न रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है :—

सूत्र २।२।३९—पांचरात्रमत की 'वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते', यह मान्यता उचित नहीं, क्योंकि नित्य तत्त्व जीव की उत्पत्ति असम्भव है।

सूत्र २।२।४०—उक्त मत की 'संकर्षणाद् जीवात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो

---

१. एतरेयोपनिषद् ५।२; बृह० उप० १।५।३।

जायते', यह मान्यता भी उचित नहीं, क्योंकि कर्त्ता से करण की उत्पत्ति अनुपपन्न है ।

सूत्र २।२।४१—उक्त द्वितीय मान्यता के अनुसार यदि जीव से अपने धर्मभूत विशिष्ट ज्ञान का आविर्भाव माना जाता है तो वह अप्रतिषेध्य है, (अन्यथा वह उक्त प्रकार से प्रतिषेध्य ही है) ।

सूत्र २।२।४२—उक्त मत की मान्यताओं में विप्रतिषेध अर्थात् परस्पर-विरोध होने से वह असमञ्जस है ।

उक्त प्रकार से प्रस्तुत सूत्रों में पांचरात्रमत की मान्यताओं का निराकरण होने पर भी रामानुज ने जो यह युक्ति दी है कि जिन सूत्रकार ने स्वरचित महाभारत में पंचरात्रशास्त्र या पांचरात्रमत की प्रशंसा की है, वे स्वयं ही उसका निराकरण कैसे करेंगे, वह विशेष बल रखती हुई प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसमें कोई निश्चित प्रमाण नहीं कि महाभारतकार वेदव्यास ही सूत्रकार थे, अपितु उसके विपरीत, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[1] यही सम्भव प्रतीत होता है कि महाभारतकार वेदव्यास और ब्रह्मसूत्रकार बादरायण भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे । दूसरे, महाभारत में तो सांख्य, योग और पाशुपत की भी प्रशंसा की गई है,[2] किन्तु ब्रह्मसूत्रों में उनका निराकरण किया गया है । रामानुज का यह कथन कि 'वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते' आदि वाक्य का तात्पर्य जीवोत्पत्ति से नहीं है, क्योंकि 'पंचरात्र' में जीवोत्पत्ति का साक्षात् निषेध किया गया है और इसलिए सूत्रकार उक्त वाक्य के आधार पर 'पांचरात्रमत' का निराकरण नहीं करेंगे, स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि सूत्रकार की दृष्टि में उक्त वाक्य का तात्पर्य जीवोत्पत्ति से न होता और वे केवल एक आपातप्रतीत आशंका का निराकरण कर 'पंचरात्रशास्त्र' का समर्थन करते, तो उस शास्त्र को ऐसे पाद—तर्कपाद—में आलोचित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी जिसके सम्बन्ध में स्वयं रामानुज कहते हैं कि 'परपक्षप्रतिक्षेपो ह्यस्मिन् पादे क्रियते' (सू० २।२।१०), उसके लिए उपयुक्त स्थान यह था कि जब सूत्रकार ने सू० २।३।१८ के द्वारा श्रुतियों के आधार पर जीव की उत्पत्ति का निषेध कर उसके नित्यत्व का प्रतिपादन किया है, तब वहीं वे उक्त आशंका को 'स्मृतेरितिचेत्' के द्वारा पूर्व-पक्ष में रख कर पंचरात्रशास्त्र के उक्त वाक्य का भाव स्पष्ट कर देते, जिससे

---

१. विषय-प्रवेश, पृ० १३–१७ ।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४९ आदि ।

उक्त आशंका का निराकरण हो जाता और साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता कि सूत्रकार को उक्त शास्त्र का कितना प्रामाण्य मान्य है कि वे उसके प्रतिपाद्य के भी समन्वय की चिन्ता रखते हैं ! जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि 'पंचरात्र' में जीवोत्पत्ति का निषेध किया गया है, वह अवश्य ठीक है; किन्तु रामानुज द्वारा उद्धृत जीवोत्पत्तिनिषेधक वाक्य 'पंचरात्रशास्त्र' की जिस संहिता—परमसंहिता—का है,[1] उसमें 'वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते' आदि वाक्य हैं ही नहीं; यदि उक्त दोनों वाक्य एक ही संहिता के होते, तो यद्यपि सू० २।२।४२ में प्रदर्शित दोष—विप्रतिषेध—पांचरात्रमत पर यथावत् ही बना रहता, किन्तु फिर भी यह माना जा सकता था कि जीवोत्पत्तिप्रतिपादक उक्त वाक्य के आधार पर सूत्रकार उक्त मत का निराकरण नहीं कर रहे हैं; किन्तु जीवोत्पत्तिप्रतिपादक वाक्य के जीवोत्पत्ति निषेधक संहिताओं में न होने से स्पष्ट है कि आज उपलब्ध होने वाली ये जीवोत्पत्तिनिषेधक 'परमसंहिता' आदि संहिताएँ सूत्रकार की दृष्टि में हैं ही नहीं, उनकी दृष्टि में केवल वही प्राचीन संहिता है, जिसमें उक्त जीवोत्पत्तिप्रतिपादक वाक्य था।

निराकृत मत का स्वरूप—

(१) परमकारण से जीव की उत्पत्ति होती है (सू० २।२।३९)।

(२) जीव से मन की उत्पत्ति होती है (सू० २।२।४०)।

यद्यपि उक्त मान्यताओं का प्रतिपादन 'पंचरात्रशास्त्र' की वर्तमान संहिताओं में उपलब्ध नहीं होता है[2] और न ये अब पांचरात्रमत में स्वीकृत हैं, और इसलिए इनके आधार पर सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत निराकरण अब उक्त मत पर प्रयुक्त नहीं होता; किन्तु उक्त मान्यताओं के प्रतिपादन को इस रूप में कि वासुदेव से सकर्षण जीव और संकर्षण जीव से प्रद्युम्न मन की उत्पत्ति होती है, शंकर और भास्कर ही नहीं, अपितु स्वयं पांचरात्रमतानुयायी आचार्य यामुन, रामानुज और वेङ्कटदेशिक के द्वारा भी 'पंचरात्रशास्त्र' के एक प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकृत करने से[3] इसमें कोई सन्देह

---

१. रामानुजभाष्य सू० २।२।४२; परमसंहिता, अध्याय २ श्लोक १९।

२. डा० दासगुप्ता, हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी, तृतीय पुस्तक, पृ० ५६ तथा डा० गोपीनाथ कविराज—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य-भूमिका, पृ० ६९।

३. शांकरभाष्य सू० २।२।४१; भास्करभाष्य सू० २।२।४१; आगमप्रामाण्य (आचार्य यामुन) पृ० ५७; रामानुजभाष्य सू० २।२।३९; पंचरात्ररक्षा (वेङ्कटदेशिक), पृ० १।

नहीं रहता कि उक्त प्रतिपाद्य 'पंचरात्रशास्त्र' की सूत्रकारकालीन किसी प्राचीन संहिता का प्रतिपाद्य है। उक्त प्रतिपाद्य का तात्पर्य पांचरात्रमतानुयायी उक्त आचार्यों ने इस रूप में किया है कि संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमशः जीव, मन और अहंकार नहीं, अपितु परमकारण वासुदेव के ही व्यूहावतार हैं और यतः वे जीव आदि के अधिष्ठाता हैं, अतः उनका अभिधान जीव आदि शब्दों से किया गया है।[1] 'पंचरात्रशास्त्र' की वर्तमान संहिताओं में भी संकर्षण आदि को जीव आदि तत्त्वों का अधिष्ठाता ही बताया गया है।[2] किन्तु सूत्रकार ने उक्त प्रतिपाद्य का तात्पर्य जीव आदि तत्त्वों की उत्पत्ति ही मान कर जो उसका निराकरण किया है, उससे स्पष्ट है कि सूत्रकार के काल में पांचरात्र-मत सूत्रनिराकृत उक्त मान्यताओं को स्वीकार करता था और बाद में उक्त मत ने उनमें परिष्कार कर लिया है, जिसके फलस्वरूप वह सूत्रप्रस्तुत आलोचना का विषय नहीं रहा। जहाँ तक परब्रह्म के स्वरूप में व्यूहभेद का सम्बन्ध है, वह सूत्रकार को मान्य नहीं; सूत्रकार के अनुसार, जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है,[3] सूत्रजिज्ञास्य वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म अपने निर्व्यूढ एकरस स्वरूप से ही जगज्जन्मादिकारण, जीव और जड तत्त्वों का अन्तर्यामी अधिष्ठाता, मुमुक्षुओं के द्वारा उपास्य एवं मुक्तों के द्वारा प्राप्य है। परतत्त्व के स्वरूप में व्यूहभेद की मान्यता आगमिक मतों की ही अपनी एक विशिष्ट मान्यता है, ब्रह्मसूत्रों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

उपसंहार—पूर्वपृष्ठों में सूत्रकार द्वारा 'तर्कपाद' में निराकृत मतों और उनके निराकरण के स्वरूप का परिचय प्राप्त किया गया और साथ में यह देखा गया कि भाष्यकार कहाँ तक सूत्रकार के मन्तव्य को प्रकाशित करते हुए प्रतीत होते हैं। यदि यह विचार छोड़ कर कि भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान सूत्रानुकूल हैं या नहीं, केवल यह देखा जावे कि उन्होंने निराकरणीय मतों का अपनी ओर से जो स्वतन्त्र निराकरण प्रस्तुत किया है, वह उचित है या नहीं, तो एक दो अपवाद के साथ वह उचित ही प्रतीत होता है। भाष्यकारों को प्रतिपक्षी मतों के सिद्धान्तों की प्रायः जानकारी है और उनके निराकरण के लिए उन्होंने जो कुछ कहा है, वह प्रायः ठीक है। किन्तु फिर भी कुछ अपवाद ये हैं कि किसी भी भाष्यकार ने बौद्धों द्वारा स्वीकृत

---

१. आगमप्रामाण्य, रामानुजभाष्य सू० २।२।४२; पंचरात्ररक्षा आदि ग्रन्थ।
२. तत्त्वत्रय (श्रीलोकाचार्य) के पृ० १०४-१०५ में उद्धृत संहितावाक्य।
३. 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' शीर्षक अध्याय सम्पूर्ण तथा पृ० २३१।

निरोधद्वय—प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध— के वास्तविक स्वरूप का परिचय नहीं दिया; मध्व ने नागार्जुन के शून्यवाद के सिद्धान्तों को अयथार्थ रूप से समझा है, जब कि रामानुज ने उक्त वाद के सिद्धान्तों से अपना पर्याप्त परिचय सूत्र २।२।३० में प्रकट किया है; वल्लभ ने वैशेषिकमत द्वारा स्वीकृत परमाणु को जो 'परिमण्डल' मानते हुए भी 'ह्रस्व' माना है, वह भी उक्त मत के अनुकूल नहीं।

यदि इस दृष्टि से देखा जावे कि 'तर्कपाद' में भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान कहाँ तक सूत्रानुकूल हैं या कहाँ तक वे सूत्रों में प्रस्तुत निराकरण को वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर सके हैं, तो निराशा ही होती है। भाष्यकारों ने सांख्याभिमत प्रधानकारणवाद के निराकरण को प्रायः ऐसा रूप दे दिया है कि वह निरीश्वरसांख्यमत का निराकरण होते हुए भी सेश्वरसांख्यमत और उसके केवलनिमित्तकारणवाद के समर्थन के रूप में परिणत हो जाता है और साथ ही जिस 'प्रधान' का सूत्रकार सूत्रों में सर्वत्र बहिष्कार करते रहे हैं उसके स्वरूप का अभ्युपगम हो जाता है। वस्तुतः वल्लभ को छोड़कर जो एकमात्र परतत्त्व को मानते हैं, अन्य भाष्यकारों को सांख्याभिमत प्रधान स्वरूपतः स्वीकार है, अतः उन्होंने जिस प्रकार प्रधानकारणवाद का निराकरण प्रस्तुत किया है, वह उनके सिद्धान्त के अनुकूल तो हो सकता है, किन्तु वह सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता। फलतः सांख्यनिराकरणपरक सूत्रों (२।२।१-९) में से सू० २।२।१-४ के सभी भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ न्यूनाधिक रूप में अग्राह्य ही प्रतीत होते हैं। वैशेषिकमत का निराकरण भाष्यकारों ने प्रायः सूत्रानुकूल रूप में ही प्रस्तुत किया है, किन्तु सू० २।२।१०-११ में मध्व और वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होते। बौद्धमतनिराकरणपरक सूत्रों के जो अर्थ भाष्यकारों ने किए हैं, उनमें सूत्रानुकूलता बहुत कम है। उक्त मत की जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण करने वाले सूत्रों (२।२।१७-२६) में से सू० २।२।१९-२३ के अर्थ तो किसी भी भाष्यकार के द्वारा सर्वांशतः सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत नहीं हो सके हैं, किन्तु सू० २।२।२४, २६ में उनके द्वारा प्रस्तुत अर्थ स्वीकरणीय हैं। अवशिष्ट सूत्रों में से सू० २।२।१७ का केवल निम्बार्क और बलदेव तथा कुछ संशोधन के साथ रामानुज द्वारा प्रस्तुत अर्थ स्वीकरणीय है। सू० २।२।१८ का केवल वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ ग्राह्य है। सू० २।२।२५ का रामानुज और बलदेव को छोड़ कर अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ स्वीकरणीय है। पूर्ण रूप में देखने पर उक्त विचारधारा का निराकरण किसी भी

भाष्यकार के द्वारा सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत नहीं हो सका है। इसी प्रकार उक्त मत (बौद्धमत) की प्राचीनकालीन जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण करने वाले सूत्रों को भाष्यकारों ने प्रायः उत्तरकालीन विज्ञानवाद के निराकरण में लगा दिया है और वह भी असंग और वसुबन्धु के विज्ञानवाद में नहीं, अपितु उससे भी बाद के दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद में, जो कथमपि उचित नहीं; किन्तु यह केवल शंकर द्वारा प्रवर्तित परम्परा के अनुसार उन्होंने किया है, इसमें उनका कोई मौलिक प्रयास प्रतीत नहीं होता। सूत्रों की संगति न होने पर भी वल्लभ को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने नागार्जुन के शून्यवाद के निराकरण के लिए उन में स्थान निकाल लिया है, किन्तु उसमें सूत्रों का कोई सहयोग नहीं। जैनमत का निराकरण प्रायः सूत्रानुकूल रूप में ही प्रस्तुत हो सका है, किन्तु सू० २।२।३४ में मध्व, वल्लभ और बलदेव द्वारा प्रस्तुत अर्थ तो किंचिन्मात्र भी सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होता, अन्य भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत अर्थ भी किंचित् संशोधनीय ही प्रतीत होता है। पाशुपतमत के निराकरण में भाष्यकारों की साम्प्रदायिक भावना अधिक जग गई है, जो कि सूत्रानुकूल प्रतीत नहीं होती। उक्त मत का निराकरण करने वाले सूत्रों के अर्थ विशेष सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होते, किन्तु फिर भी उनमें से सू० २।२।३४ में केवल रामानुज द्वारा और सू० २।२।३८ में निम्बार्क और वल्लभ द्वारा स्वीकृत अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है। मध्व ने तो उक्त मत का निराकरण करने वाले सूत्रों के वास्तविक लक्ष्य केवलनिमित्तकारणवाद के निराकरण की ओर से स्वभावतः उपेक्षा कर भिन्न ही अर्थ किए हैं, जो बिल्कुल अस्वीकरणीय हैं। पांचरात्र-मत का निराकरण करने वाले सूत्रों (२।२।३९-४२) में निम्बार्क, मध्व और बलदेव ने एक भिन्न ही मत—शाक्तमत—का निराकरण माना है, जो किंचिन्मात्र भी सूत्रसंगत प्रतीत नहीं होता। उक्त सूत्रों में से सू० २।२।३९-४० के रामानुज और वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ स्वीकरणीय हैं, किन्तु रामानुज का यह कहना कि उक्त दो सूत्रों में सूत्रकार का सिद्धान्त नहीं, अपितु पूर्वपक्ष है, उचित प्रतीत नहीं होता। सू० २।२।४१ में उक्त दोनों भाष्यकारों में से किसी के द्वारा प्रस्तुत अर्थ स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होता। सूत्र २।२।४२ में रामानुज द्वारा प्रस्तुत अर्थ तो स्वीकरणीय है ही नहीं, वल्लभ द्वारा प्रस्तुत अर्थ भी संशोधनीय है। उक्त प्रकार से स्पष्ट है कि 'तर्कपाद' में निराकृत मतों में से वैशेषिक और जैनमत का निराकरण अन्य मतों के निराकरण की अपेक्षा बहुत कुछ सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत हो सका है, किन्तु अन्य

चार—सांख्य, बौद्ध, पाशुपत और पांचरात्र मतों के निराकरण को भाष्यकारों ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसमें सूत्रानुकूलता बहुत कम प्रतीत होती है। सूत्रकार ने उक्त मतों पर जो दृष्टि रक्खी है और उनके विभिन्न सिद्धान्तों को जिस क्रम से युक्तियुक्त रूप में निराकृत किया है, उसका वास्तविक प्रकाशन भाष्यकारों द्वारा नहीं हो सका है; यह दूसरी बात है कि किन्हीं सूत्रों में कुछ भाष्यकारों ने अधिक उपयुक्त अर्थ प्रस्तुत किए हैं, जबकि दूसरे सूत्रों में दूसरे भाष्यकारों ने।

उपसंहार

अध्ययन का निष्कर्ष

ब्रह्मसूत्र

यहाँ तक ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों की सूत्रानुकूलता को परखने का एक लघु प्रयास किया गया और उसके लिए यह देखा गया कि ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों, उनके आधारभूत श्रुतिग्रन्थ और मीमांस्य श्रुतिवाक्यों, उनके द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय, उनके दार्शनिक तथा अन्य विविध सिद्धान्तों एवं उनके द्वारा प्रस्तुत परमत-निराकरण का स्वरूप क्या है और भाष्यकारों ने उसे किस रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्व में प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रत्येक ग्रन्थ के समान ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों की भी अपनी एक परिधि है, उसमें केवल उन्हीं विषयों का मुख्यत: समावेश है जो प्राचीन उपनिषदों के प्रतिपाद्य हैं; इतना अवश्य है कि औपनिषद प्रतिपाद्य को एक सुव्यवस्थित दर्शन का रूप देने के कारण स्वपक्ष-स्थापन के साथ परमत-निराकरण का भी उक्त परिधि में समावेश हो गया है। ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत उन श्रुतिग्रन्थों की भी, जिनके कि प्रतिपाद्यों का सूत्रों में वर्णन है, एक परिधि है, जिसकी पूर्वसीमा से संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक बहिर्गत हैं और उत्तरसीमा से श्वेताश्वतर समेत सभी अर्वाचीन तथाकथित उपनिषद् बहिर्गत हैं। उक्त परिधि के अन्तर्गत केवल वही उपनिषद् आते हैं जो प्राचीन श्रुतिसाहित्य—संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक—के अंगभूत होने के साथ उपनिषदों के रूप में अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। उक्त प्राचीन उपनिषदों के ही आधार पर ब्रह्मसूत्रों में विभिन्न विषयों का वर्णन है और उन्हीं के विभिन्न वाक्यों को समन्वयाध्याय में मीमांसित कर परस्पर समन्वित किया गया है। सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय की पृष्ठभूमि में उनके समानकालीन सांख्यमत का यह वाद रहा है कि श्रुतियाँ सांख्याभिमत प्रधान

को जगत्कारण रूप से प्रतिपादित करती हैं और सांख्याभिमत प्रक्रिया के अनुसार ही तत्त्वों का प्रतिपादन करती हैं। सूत्रकार ने सांख्य के उक्त वाद का प्रतिवाद करते हुए श्रुतिवाक्य-समन्वय के द्वारा यह सिद्ध किया है कि श्रुतियों में जगत्कारणरूप से प्रतिपादित तत्त्व सांख्याभिमत अचेतन प्रधान नहीं, अपितु तद्व्यतिरिक्त सूत्रजिज्ञास्य वेदान्ताभिमत परमचेतन परतत्त्व ब्रह्म है और भिन्न-भिन्न श्रुति-प्रकरणों में प्रतिपादित विभिन्न विशेषताएँ उक्त ब्रह्म में ही समन्वित होती हैं। साथ ही सूत्रकार ने यह सिद्ध किया है कि उक्त प्रकार से सांख्याभिमत प्रधान का जगत्कारण रूप से तो श्रुतियों में प्रतिपादन है ही नहीं, उसका तथा सांख्याभिमत महत्, अहंकार आदि अन्य तत्त्वों का सामान्य रूप से स्वरूपतः प्रतिपादन भी नहीं है अर्थात् सांख्याभिमत प्रक्रिया और तदनुसार प्रतिपादित तत्त्वों का स्वरूपमात्र भी श्रुतियों को स्वीकृत नहीं। ब्रह्मसूत्रों का मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त ब्रह्मकारणवाद है, जिसके अनुसार जगत् सत्य है और उसका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। सूत्रों के उक्त वाद का तात्पर्य यह नहीं कि वेदान्ताभिमत परतत्त्व स्वरूपतः चेतनाचेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होता है और इस प्रकार वह उक्तरूप जगत् का उपादान बनता है, अपितु यह तात्पर्य है कि 'सत्' अर्थात् सूक्ष्मरूपवद् ब्रह्म (स्वनियम्य और स्वापृथक्सिद्ध जीव और सूक्ष्म जडतत्त्व से युक्त परतत्त्व) स्वेच्छा से कार्यसत् अर्थात् स्थूलरूपवद् ब्रह्म (स्वनियम्य एवं स्वापृथकूसिद्ध जीवजडमयनानानामरूपात्मक जगत् से युक्त परतत्त्व) हो जाता है। इस प्रकार वह स्वयं ही निमित्त और उपादान कारण है तथा कारण भी जीवजडयुक्त परतत्त्व है और कार्य भी जीवजडयुक्त परतत्त्व है। परतत्त्व से जीव और जडतत्त्व स्वरूपतः भिन्न हैं, किन्तु सर्वदा उससे नियम्य एवं अपृथक्सिद्ध हैं; वे परतत्त्व के रूपस्थानीय हैं और परतत्त्व उनका नियन्ता आत्मा है। उक्त दोनों ही दशाओं—कारण और कार्य अवस्थाओं—में परतत्त्व स्वरूपतः अविकृत रहता है, विकार उसके उक्त रूप में ही रहते हैं। परतत्त्व स्वरूपतः ज्ञानानन्दस्वरूप एवं सत्य, नित्य, अनन्त, निर्दोष और निर्विकार होते हुए निरुपाधिक या स्वाभाविक रूप से परमचेतन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और निरतिशयानन्दमय सगुण या सविशेष तत्त्व है। वह चेतनाचेतनात्मक जगत् का कर्त्ता, पालक, संहर्त्ता, आधार एवं नियन्ता परमात्मा है। वह परमोपास्य एवं परमप्राप्य है। जीव परतत्त्व से निरुपाधिक या स्वाभाविक रूप से स्वरूपतः भिन्न तत्त्व है। वह एक ऐसा चेतन तत्त्व है जो कि ज्ञानस्वरूप होते हुए स्वाभाविक रूप से ज्ञाता है, परिमाणतः अणु है एवं कर्त्ता तथा

भोक्ता है। वह अपने अन्तरात्मा परतत्त्व के द्वारा सदा नियम्य है और इस प्रकार उससे स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी उससे अपृथक्सिद्ध या अभिन्न है। जीव के समान जडतत्त्व भी परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न होते हुए उससे सर्वदा नियम्य और फलतः अपृथक्सिद्ध या अभिन्न है। सूत्रकार जड या अचित् तत्त्व को मानते हुए भी उसे सांख्याभिमत प्रधान के रूप में समझते हुए प्रतीत नहीं होते और न वे सांख्य के समान महत्, अहंकार आदि तत्त्वों को मानते हैं, वे सूक्ष्म जडतत्त्व से सर्वप्रथम सूक्ष्म आकाश की उत्पत्ति मानते हैं। जीव का कर्मसम्बन्ध अनादि है और फलतः कर्मजन्य जन्ममरणचक्रस्वरूप आवृत्ति या संसारदशा भी अनादि है। वर्तमान आवृत्तिदशा से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन ब्रह्मज्ञान है, जो कि उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्मोपासनाओं से प्राप्त होता है; दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वह ब्रह्मोपासनाओं का सिद्ध रूप है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त होते ही विद्वान् जीव के प्रारब्ध कर्मों को छोड़ कर अन्य सभी पूर्वकर्म विनष्ट हो जाते हैं और उत्तरकर्मों का आगे श्लेष नहीं होता। प्रारब्ध कर्मों का भी भोग से क्षय होने पर सूक्ष्मशरीर से युक्त विद्वान् जीव सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा स्थूलशरीर से उत्क्रान्त होकर सूर्य-रश्मियों का अनुसरण करता हुआ ऊर्ध्वगमन करता है और अर्चिरादिमार्ग से कार्यजगत् को पार कर परतत्त्वसम्पन्न होता है, जब कि उसको सूक्ष्मशरीर से भी छुटकारा मिल जाता है और उसका वास्तविक स्वरूप आविर्भूत होता है। उक्त दशा में वह मुक्त एवं आत्मस्वरूप में स्थित है। मुक्तावस्था में वह परतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी उससे अविभक्त या अपृथक्सिद्ध रूप में अपना अनुभव करता है और निरतिशयानन्दपूर्ण परतत्त्व के अनुभव में अनवरत रूप से मग्न रहता है। मुक्तात्मा चिन्मात्र न होकर अपने स्वाभाविक ज्ञान एवं सत्यसंकल्पत्व आदि गुणों से युक्त होता है। वह अनन्याधिपति है, उसे परतत्त्व से परमसाम्य प्राप्त है, किन्तु उक्त साम्य भोगसाम्य तक ही सीमित है, जगद्व्यापार का उसे अधिकार नहीं। एक बार मुक्त होने पर उस का पुनः कभी संसार में आवर्तन नहीं होता।

सूत्रकार ने अपने मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त ब्रह्मकारणवाद की उपपन्नता को सिद्ध कर विपक्षी मतों के सिद्धान्तों की अनुपपन्नता भी प्रदर्शित की है। उन्होंने अपने समय में प्रचलित सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत और पांचरात्र मतों के विशिष्ट तत्त्वमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्तों का परीक्षण किया है और यह सिद्ध किया है कि वे उपपन्न नहीं।

२. ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में वैष्णव-भाष्य

वैष्णव-भाष्यों ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में प्रतिपाद्य-विषयों, मीमांस्य श्रुतिवाक्यों, श्रुतिवाक्य-समन्वय, दार्शनिक सिद्धान्तों और परमत-निराकरण के सम्बन्ध में कहाँ तक ब्रह्मसूत्रों का अनुगमन किया है, यह देखने के लिए जो प्रयत्न किया गया उसका फल पूर्व में तत्तद् अध्यायों के अन्त में दिया जा चुका है और संक्षेप में पुनः निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. मध्वभाष्य—

ब्रह्मसूत्रों का सबसे कम अनुगमन मध्वभाष्य ने किया है। ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य-विषयों के सम्बन्ध से देखा जावे तो मध्वभाष्य में सूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्य-विषयों को बहुत कम स्वीकृत किया गया है। सू० १।१।५ से ही उसमें सूत्रों के वास्तविक प्रतिपाद्यों के स्थान पर सूत्रबाह्य स्वतन्त्र विषयों का आरोप प्रारंभ कर दिया गया है और तदनुसार उसमें सू० १।१।५-१२ के वास्तविक विषय श्रुतिवाक्य-समन्वय के स्थान पर शांकरसम्प्रदाय की एक मान्यता का निराकरण आरोपित कर दिया गया है। इसी प्रकार सू० १।१।१४-२२ में श्रुतिवाक्य-समन्वय नहीं माना गया। सू० १।४।२३-२९ में ब्रह्मसूत्रों के मुख्य विषय—ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व—के प्रतिपादन को न मानकर उक्त सूत्रों को एक व्यर्थ विषय में अन्वित कर दिया गया है और फलतः द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में उक्त विषय—ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व—पर होने वाले आक्षेपों का निराकरण न मान कर प्रायः सम्पूर्ण पाद को सूत्रबाह्य विषयों का प्रतिपादक मान लिया गया है। उक्त अध्याय के द्वितीय पाद में यद्यपि सूत्रबाह्य विषय मानने की संभावना नहीं थी, फिर भी कुछ सूत्रों में सूत्रबाह्य विषयों को स्वीकृत किया गया है। उक्त अध्याय के तृतीय और चतुर्थ पादों में यद्यपि उक्त भाष्य में बहुत कुछ सूत्रानुकूल विषयों को माना गया है, फिर भी कुछ सूत्रों में अपने स्वतन्त्र विषयों को आरोपित कर दिया गया है। तृतीयाध्याय के प्रथम पाद में सामान्य रूप से यद्यपि सूत्रानुकूल विषय स्वीकृत किए गए हैं, फिर भी वे भिन्न रूप में ही माने गए हैं। उक्त अध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों में मध्वभाष्य द्वारा स्वीकृत केवल दो-चार विषय ही सूत्रानुकूल हैं, अन्यथा प्रायः पौराणिक और साम्प्रदाहिक विषय ही स्वीकृत किए गए हैं। चतुर्थाध्याय में अवश्य सूत्रानुकूल विषय माने गए हैं, किन्तु उसके द्वितीय पाद में स्वीकृत विषयों में से एकाध ही सूत्रानुकूल प्रतीत होता है। इस प्रकार

मध्वभाष्य द्वारा स्वीकृत विषयों का एक बहुत बड़ा भाग सूत्रप्रतिकूल हो गया है।

सूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों की दृष्टि से देखते हैं, तो मध्वभाष्य ने ऐसे श्रुति-ग्रन्थों को प्रस्तुत किया है जिनका सूत्रों से कोई सम्बन्ध तो है ही नहीं, साथ ही उनका पता भी अभी तक नहीं चल सका है और यह देख कर आश्चर्य होता है कि मध्व द्वारा निर्दिष्ट उक्त श्रुति-ग्रन्थ एकमात्र उन्हीं को कैसे ज्ञात थे जबकि अन्य किसी आचार्य को उनका परिचय नहीं! समन्वयाध्याय में मीमांस्य श्रुतिवाक्यों की दृष्टि से देखते हैं, तो मध्वभाष्य में जिन २८ प्रकरणों की मीमांसा मानी गई है, उनमें केवल १६ ही सूत्रानुकूल हैं।

श्रुतिवाक्य-समन्वय की दृष्टि से देखने पर भी निराशा होती है, जिन सूत्रानुकूल १६ प्रकरणों को उन्होंने स्वीकृत किया है, उनका भी प्रायः सूत्रानुकूल रूप में समन्वय प्रस्तुत नहीं किया। ब्रह्मपरक प्रकरणों का सूत्रजिज्ञास्य वेदान्ताभिमत परतत्त्व ब्रह्म में समन्वय न कर अपने इष्टदेव 'विष्णु' में समन्वय किया गया है, जिससे स्वतः ही सूत्रप्रस्तुत समन्वय का वास्तविक युक्तियुक्त स्वरूप उपस्थित नहीं हो सका है। सांख्यनिराकरणपरक समन्वयसूत्रों में प्रस्तुत श्रुतिवाक्य-समन्वय पूर्णरूप से सूत्रिप्रतिकूल हो गया है।

दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से देखा जावे, तो मध्वभाष्य द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तो में से कुछ ही सूत्रानुकूल हैं, उसमें ब्रह्मसूत्र-दर्शन के मुख्य सिद्धान्त अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद को नहीं माना गया और जिस केवलनिमित्तकारणवाद को माना गया है, उसका स्वयं सूत्रों ने स्पष्टतः निराकरण किया है और इसीलिए मध्वमाष्य द्वारा स्वीकृत जीव और जडतत्त्व का परतत्त्व से स्वरूपतः भेद सूत्रसम्मत होते हुए भी उक्त भाष्य की यह दृष्टि सूत्रसम्मत नहीं कि जीव और जड तत्त्वों का परतत्त्व से नितान्त भेद या द्वैत ही है। उक्त भाष्य में सूत्रजिज्ञास्य वेदान्ताभिमत परतत्त्व को सर्वत्र 'विष्णु' मानकर उसके जगत्कारणत्वादि का निरूपण किया गया है, जो सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार उक्त भाष्य द्वारा स्वीकृत आकाश और वायु के उत्पन्नत्व के साथ अनुत्पन्नत्व, जीवों का मोक्ष में भी तारतम्य, सांख्याभिमत प्रधान का स्वरूपतः अभ्युपगम तथा अन्य आचारमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्तों का सूत्रों से समर्थन नहीं होता।

परमत-निराकरण के सम्बन्ध में तो न्यूनाधिक रूप से सभी भाष्यों की समान ही स्थिति है कि जैनमत और वैशेषिकमत को छोड़ कर अन्य मतों के निराकरण को कोई भी भाष्य उस रूप में यथावत् प्रस्तुत नहीं कर सका

है जिस रूप में सूत्रों ने उसे प्रस्तुत किया था, यद्यपि कतिपय विशिष्ट सूत्रों के अर्थ कुछ भाष्यकारों द्वारा अधिक उपयुक्त रीति से प्रस्तुत किए जा सके हैं। सूत्रार्थ की दृष्टि से देखा जावे तो परमत-निराकारक सूत्रों के मध्वभाष्य द्वारा प्रस्तुत अर्थ सबसे अधिक असंगत हो गए हैं। उक्त ४२ सूत्रों में से सू० २।२।१-११, १७-२३, ३४-४२, इन २७ सूत्रों के अर्थ सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत नहीं हो सके हैं। सू० २।२।२५-२८ इन चार सूत्रों के अर्थ स्वीकरणीय होने पर भी उनमें जिन विचारधाराओं का निराकरण माना गया है उनका सूत्रों में निराकरण प्रतीत नहीं होता।

उक्त भाष्य की सूत्र-व्याख्यान-पद्धति को देखा जाता है तो और भी अधिक निराशा होती हैं। प्रायः सर्वत्र ही अस्पष्टता है, अधिकतर सूत्रों के अर्थ के स्थान पर केवल अप्रसिद्ध श्रुतियों तथा पौराणिक वाक्यों को लिख दिया गया है। सूत्राक्षरों के अनुकूल सूत्र के भाव को स्पष्ट कर उसके सोपपत्तिक समर्थन का तो प्रायः सर्वत्र ही अभाव है।

इस प्रकार प्रतिपाद्य और प्रतिपादन-पद्धति, इन दोनों ही दृष्टियों से मध्वभाष्य ब्रह्मसूत्रों के एक भाष्य के रूप में सफल नहीं हो सका है।

२. वल्लभभाष्य—

यद्यपि उक्त भाष्य मध्वभाष्य की अपेक्षा अधिक सफल है, फिर भी इसमें सूत्रानुकूलता की मात्रा अधिक नहीं आ सकी है। यद्यपि प्रस्तुत भाष्य में सू० १।१।४-१२ तथा कुछ अन्य सूत्रों को छोड़कर प्रारंभ से लेकर तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद तक सूत्रानुकूल प्रतिपाद्य-विषयों को ही प्रायः ग्रहण किया गया है, किन्तु उक्त अध्याय के तृतीय पाद से लेकर समाप्ति पर्यन्त बहुत कम विषय सूत्रानुकूल हैं। उक्त स्थल (सू० ३।३—४।४) अर्थात् सूत्रों के अन्तिम ६ पादों में प्रायः ऐसे विषय सूत्रों पर आरोपित कर दिए गए हैं जो सूत्रों की विषय-परिधि से भी बाहर हैं, वे केवल वल्लभसम्प्रदाय के ही अपने असाधारण साम्प्रदायिक विषय हैं।

समन्वयाध्याय में दो-चार स्थलों को छोड़कर अन्यत्र मीमांस्य श्रुति-वाक्य तो प्रायः सूत्रानुकूल ही ग्रहण किए गए हैं, किन्तु तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में सूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों की परिधि से बहिर्गत कृष्णपरक उपनिषदों को ही मुख्यतः ग्रहण किया गया है।

श्रुतिवाक्य-समन्वय प्रायः सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत हो सका है, किन्तु कई स्थलों पर सिद्धान्त, पूर्वपक्ष, सूत्रार्थ तथा समन्वय-प्रकार के सम्बन्ध में सूत्रानुकूलता नहीं आ सकी है।

दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से देखा जावे, तो वल्लभभाष्य में सूत्रानुकूलता बहुत कम प्रतीत होती है। यद्यपि उक्त भाष्य में सूत्रों के प्रमुख सिद्धान्त अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद को स्वीकार किया गया है, किन्तु उसकी उपपत्ति जिस प्रकार प्रदर्शित की गई है उसका सूत्रों से समर्थन नहीं होता। उक्त भाष्य के अनुसार एकमात्र परतत्त्व ही स्वरूपतः जीव और जडतत्त्व के रूप में परिणत हो जाता है और साथ ही अविकृत रहता है। उक्त सिद्धान्त—अविकृतपरिणामवाद—अपने स्वरूप में तो अनुपपन्न एवं विप्रतिषिद्ध प्रतीत होता ही है, साथ ही वह सूत्रों के अनुकूल भी सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार उक्त भाष्य में प्रतिपादित परतत्त्व का स्वरूपतः साकारत्व, उसके स्वरूप में पुरुषोत्तम और अक्षरब्रह्म के रूप में व्यूहभेद और तदनुसार उक्त दोनों स्वरूपों का परस्पर उत्कर्षापकर्षसूचक तारतम्य एवं इन्द्रिय और प्राण का जीव के समान स्वरूपतः नित्यत्व आदि तत्त्वमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्तों का सूत्रों से समर्थन नहीं होता। उक्त भाष्य में ज्ञानमार्ग, मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग आदि साधनभेद और तदनुसार साध्यभेद की जो विस्तृत चर्चा की गई है उसका सूत्रों से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, वह केवल अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का सूत्रों पर आरोपण मात्र ही है। वस्तुतः वल्लभभाष्य के आचारमीमांसासम्बन्धी विशिष्ट सिद्धान्तों का ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि में भी प्रवेश असम्भव प्रतीत होता है।

परमत-निराकरण के सम्बन्ध में वल्लभभाष्य मध्वभाष्य की अपेक्षा तो अधिक सूत्रानुकूल है ही, किन्तु इन बातों में अन्य भाष्यों की भी अपेक्षा अधिक सूत्रसंगत प्रतीत होता है कि उसमें सू० २।२।२७-३० में केवल एक ही जगन्नास्तित्ववादिनी बौद्ध विचारधारा तथा सू० २।२।३९-४२ में पांचरात्रमत का निराकरण माना गया है, किन्तु बहुत से सूत्रों के अर्थ उक्त भाष्य में भी सूत्रानुकूल रूप में नहीं दिए गए हैं। पूर्ण रूप में देखने पर अन्य भाष्यों के समान उक्त भाष्य के द्वारा भी परमत-निराकरण सूत्रानुकूल रूप में प्रस्तुत नहीं हो सका है।

उक्त प्रकार से स्पष्ट है कि वल्लभभाष्य का अन्तिम षट्पादीय अंश (सू० ३।३—४।४) जो कि विट्ठलकृत कहा जाता है, सूत्रानुकूल प्रतिपाद्य-विषयों से ही प्रायः शून्य है। ब्रह्मसूत्रों के उक्त अंश में उनकी आचारमीमांसा है, जिसके स्थान पर उक्त भाष्य में अपनी साम्प्रदायिक आचारमीमांसा आरोपित कर दी गई है, और इसी अंश में ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों से बहिर्गत कृष्णपरक उपनिषदों, मुख्यतः 'गोपालतापनी' को आधार बनाया

गया है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से वल्लभभाष्य का उक्त अंश ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में नगण्य महत्त्व रखता है। अवशिष्ट अंश (सू० १।१—३।२) प्रतिपाद्य-विषयों, मीमांस्य श्रुतिवाक्यों और उनके समन्वय की दृष्टि से कुछ अपवादों के साथ प्रायः सूत्रानुकूल होने पर भी मुख्य प्रतिपाद्य—वेदान्तदर्शन के तत्त्वमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्त—की दृष्टि से बहुत कम सूत्रानुकूल हो सका है।

उक्त भाष्य की सूत्र-व्याख्यान-पद्धति में कहीं-कहीं अस्पष्टता, वक्रता, अपूर्वता तथा अस्थिरता या अनिश्चयात्मकता के होने पर भी सामान्य रूप से उसमें प्रायः सरलता और स्पष्टता है, साथ ही सूत्र का जो भाव प्रकट किया गया है उसका प्रायः सोपपत्तिक प्रदर्शन भी किया गया है। सम्पूर्ण रूप में देखने पर वल्लभभाष्य मध्वभाष्य की अपेक्षा उत्कृष्ट होते हुए भी ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में एक सफल भाष्य नहीं कहा जा सकता है।

३. बलदेवभाष्य—

ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में मध्वभाष्य और वल्लभभाष्य की अपेक्षा बलदेवभाष्य अधिक उत्कृष्ट है। उक्त भाष्य में यद्यपि तृतीयाध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों में प्रायः सूत्रबाह्य साम्प्रदायिक विषयों को सूत्रों पर आरोपित कर दिया गया है और अवशिष्ट ब्रह्मसूत्रों में से सू० १।१।५-१२ तथा द्वितीयाध्याय के प्रथम तथा द्वितीय पादों के कुछ सूत्रों में मध्व का अनुकरण कर एवं अन्यत्र कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप से भी सूत्रबाह्य विषयों को स्वीकृत किया गया है, किन्तु फिर भी उक्त स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र सूत्रानुकूल विषयों को ही प्रायः परिगृहीत किया गया है। समन्वयाध्याय में मीमांस्य श्रुतिवाक्य भी सूत्रानुकूल ही माने गए हैं, किन्तु अन्यत्र सूत्रों में 'गोपालतापनी' आदि उपनिषदों को आधार बनाया गया है, जो कि ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत श्रुति-ग्रन्थों की सीमा से बहिर्गत हैं। श्रुतिवाक्य-समन्वय प्रायः सूत्रानुकूल रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

उक्त भाष्य के तत्त्वमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्त प्रायः सूत्रानुकूल ही प्रतीत होते हैं। इसमें अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद को मान कर उसकी जो उपपत्ति प्रदर्शित की गई है, वह सूत्रसम्मत प्रतीत होती है, किन्तु सांख्याभिमत प्रधान का जो स्वरूपतः अभ्युपगम कर लिया गया है, वह सूत्रानुकूल नहीं। इसके अतिरिक्त वल्लभभाष्य के समान उक्त भाष्य में भी जो परतत्त्व के स्वरूपतः साकारत्व आदि का प्रतिपादन किया गया है, वह भी

सूत्रसमर्थित प्रतीत नहीं होता। बलदेवभाष्य के आचारमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्तों में साध्यसम्बन्धी सिद्धान्त प्रायः एक दो अपवाद के साथ सूत्रानुकूल ही प्रतीत होते हैं, किन्तु साधनसम्बन्धी सिद्धान्तों का सूत्रों से समर्थन नहीं होता। उक्त भाष्य में स्वनिष्ठ, परिनिष्ठित और निरपेक्ष आदि साधक तथा उनके साधन एवं साध्य के तारतम्य की जो साम्प्रदायिक चर्चा की गई है, उसका सूत्रों से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। उक्त भाष्य में भी मध्वभाष्य के समान सामान्यतः 'विष्णु' और वल्लभभाष्य के समान विशिष्टतः 'गोपाल-कृष्ण' के प्रति सूत्रों की भक्ति समर्पित कराने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसमें सूत्रों की रुचि प्रतीत नहीं होती।

परमत-निराकरण की दृष्टि से उक्त भाष्य की भी न्यूनाधिक रूप में वही स्थिति है जो अन्य भाष्यों की है। इसके अतिरिक्त इसमें सू० २।२।३० तथा सू० २।२।३९-४२ में क्रमशः शून्यवाद और शाक्तमत का निराकरण माना गया है, जिसमें कि सूत्र संगत होते हुए प्रतीत नहीं होते।

उक्त भाष्य की सूत्र-व्याख्यान-पद्धति सरल, स्पष्ट एवं प्रांजल है और प्रौढता तथा सोपपत्तिक प्रदर्शन में रामानुजभाष्य को छोड़ कर अन्य सभी वैष्णव-भाष्यों से उत्कृष्ट है।

उक्त प्रकार से स्पष्ट है कि केवल इतनी सूत्रप्रतिकूलता को छोड़ कर कि साम्प्रदायिक आचारमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्तों को सूत्रों पर आरोपित कर दिया गया है तथा कुछ सूत्रबाह्य विषय मान लिए गये हैं, बलदेव भाष्य प्रतिपाद्य और प्रतिपादन-पद्धति दोनों दृष्टियों से ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में बहुत कुछ सफल हो सका है और मध्वभाष्य एवं वल्लभभाष्य की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है।

४. निम्बार्कभाष्य—

निम्बार्कभाष्य में जो प्रतिपाद्य-विषय स्वीकृत किए गए हैं वे प्रायः सूत्रानुकूल ही प्रतीत होते हैं; इसमें किसी सूत्रबाह्य साम्प्रदायिक विषय का सूत्रों पर आरोप करने का प्रयत्न नहीं किया गया। तृतीयाध्याय के तृतीयपाद और चतुर्थ पाद के कुछ सूत्रों में अवश्य ऐसे विषय स्वीकृत किए गये हैं जो सूत्रों से प्रतिपादित होते हुए प्रतीत नहीं होते, किन्तु वे सूत्रों की विषय-परिधि के अन्तर्गत हैं और पूर्ववर्ती भाष्यकारों की परम्परा द्वारा स्वीकृत हैं, उक्त विषयों का सोद्देश्य आरोप नहीं किया गया है। सूत्रों में उन्हीं श्रुति-ग्रंथों का निर्देश माना गया है जो उनके आधारभूत श्रुति-ग्रंथों की

सीमा के अन्तर्गत हैं। समन्वयाध्याय में मीमांस्य श्रुतिवाक्य भी प्रायः सूत्रानुकूल ही ग्रहण किए गए हैं। उक्त श्रुतिवाक्यों का समन्वय-प्रकार भी प्रायः सूत्रानुकूल है। आचारमीमांसासम्बन्धी सभी सिद्धान्त सूत्रानुकूल प्रतीत होते हैं, उनमें साम्प्रदायिकता का लेशमात्र नहीं। सूत्रों के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद को स्वीकार किया गया है और उसकी उपपत्ति बहुत कुछ सूत्राकूल रूप में ही प्रदर्शित की गई है, किन्तु उक्त भाष्य में कारण और कार्य में जो अभेद और भेद दोनों को माना गया है, उसका सूत्रों से समर्थन नहीं होता। उक्त भाष्य के अनुसार परतत्त्व अपने से भिन्नाभिन्न चेतनाचेतनात्मक जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माना गया है, जबकि सूत्रों के अनुसार चेतनाचेतनात्मक सूक्ष्म जगत् से युक्त परतत्त्व ही चेतनाचेतनात्मक स्थूल जगत् से युक्त परतत्त्व का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है और फलतः कारण और कार्य में अभेद है। उक्त भाष्य में भी सांख्याभिमत प्रधान का स्वरूपतः अभ्युपगम कर लिया गया है, जो कि सूत्रसम्मत नहीं। उक्त भाष्य के अन्य तत्त्वमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्तों में प्रायः सूत्रानुकूलता ही प्रतीत होती है। परमत-निराकरण के सम्बन्ध में उक्त भाष्य की स्थिति भी न्यूनाधिक रूप में अन्य भाष्यों के ही समान है; सू० २।२।३० और सू० २।२।३९-४२ में क्रमशः शून्यवाद और शाक्तमत का निराकरण माना गया है, जो सूत्रसंगत नहीं।

उक्त भाष्य की सूत्र-व्याख्यान-पद्धति संक्षिप्त होते हुए भी सरल और स्पष्ट है। सूत्रों के शब्दार्थमात्र को बोधगम्य रूप में अतिसंक्षिप्त रीति से प्रकट कर दिया गया है, फलतः उसमें एक भाष्य के समान उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता एवं पूर्वोत्तरपक्षविचार के साथ सूत्रों के प्रतिपाद्य की उपपत्ति का प्रदर्शन नहीं है और इसीलिए उक्त भाष्य स्वयं निम्बार्कसम्प्रदाय में 'ब्रह्मसूत्रवाक्यार्थ' के रूप में ही प्रसिद्ध है। उक्त भाष्य की व्याख्यान-पद्धति स्वरूप में यद्यपि मध्वभाष्य से भी अधिक संक्षिप्त है, किन्तु जहाँ मध्वभाष्य में क्लिष्टता और अस्पष्टता है, वहाँ निम्बार्कभाष्य में पूर्णतया सरलता और स्पष्टता है।

उक्त प्रकार से यद्यपि निम्बार्कभाष्य में ब्रह्मसूत्रों के मुख्य सिद्धान्त—अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद—की उपपत्ति में कुछ सूत्रप्रतिकूल दृष्टिभेद है और एक भाष्य के समान प्रौढता के साथ सूत्रार्थ का सोपपत्तिक प्रदर्शन नहीं है, फिर भी साम्प्रदायिक प्रभाव से पूर्णतया मुक्त रहने एवं तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रायः सूत्रानुकूल रूप में प्रकाशित करने की दृष्टि से उक्त भाष्य ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में अधिक सफल हो सका है।

५. रामानुजभाष्य—

रामानुजभाष्य सभी दृष्टियों से वैष्णव-भाष्यों में सर्वाधिक सफल भाष्य कहा जा सकता है। इसमें सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय प्रायः सूत्रानुकूल रूप में ही स्वीकृत किये गए हैं, साम्प्रदायिक विषयों का कहीं भी आरोपण नहीं किया गया। तृतीयाध्याय के तृतीय एवं चतुर्थ पाद के कुछ सूत्रों में जो विषय माने गए हैं, वे यद्यपि सूत्रप्रतिपादित प्रतीत नहीं होते, किन्तु वे ब्रह्मसूत्रों की विषय-परिधि के अन्तर्गत होते हुए पूर्ववर्ती भाष्यकारों की परम्परा द्वारा समर्थित हैं। प्रायः सभी सूत्रों में श्रुतियों का निर्देश सूत्रानुकूल रूप में ही माना गया है और समन्वयाध्याय में उन्हीं श्रुतिवाक्यों की मीमांसा मानी गई है, जो वस्तुतः समन्वयसूत्रों के मीमांस्य प्रतीत होते हैं। उक्त अध्याय में मीमांस्य वाक्यों का समन्वय-प्रकार प्रायः सूत्रानुकूल होते हुए अन्य सभी भाष्यों की अपेक्षा अधिक प्रौढ, विस्तृत एवं सोपपत्तिक है। उक्त भाष्य में अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद को स्वीकृत करते हुए उसकी जो उपपत्ति प्रदर्शित की गई है, वह सूत्रानुकूल प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त उक्त भाष्य में सूत्रों के तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रायः उनके वास्तविक रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु जो सांख्याभिमत प्रधान का स्वरूपतः अभ्युपगम कर लिया गया है, वह सूत्रसम्मत प्रतीत नहीं होता। परमत-निराकरण के सम्बन्ध में उक्त भाष्य की भी वही स्थिति है जो अन्य भाष्यों की है; सू० २।२।३० और सू० २।२। ४१-४२ में क्रमशः शून्यवाद का निराकरण और पांचरात्रमत का समर्थन मान लिया गया है, जो कि सूत्रसंगत प्रतीत नहीं होता। इतना अवश्य है कि उक्त भाष्य के द्वारा प्रस्तुत परमत-निराकरण अन्य भाष्यों की अपेक्षा अधिक प्रौढ, विस्तृत एवं दार्शनिक दृष्टि से उत्कृष्ट है।

उक्त भाष्य की सूत्र-व्याख्यान-पद्धति ब्रह्मसूत्रों के समान गम्भीर एवं गौरवपूर्ण ग्रन्थ के पूर्णतया अनुरूप है। सूत्रों के भाव को सरलता और स्पष्टता के साथ तो प्रकट किया ही गया है, साथ ही उसे विस्तृत रूप में उक्तानुक्तचिन्तन और पूर्वोत्तरपक्षस्थापन के द्वारा पूर्णतया बोधगम्य बनाते हुए विविध उपपत्तियों के प्रदर्शन से सुसंगत एवं उपपन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः उक्त भाष्य की व्याख्यान-पद्धति में सरलता और स्पष्टता के साथ ही गम्भीरता, प्रौढता, सोपपत्तिकता, अर्थगौरव, सूक्ष्म-विचार तथा भाषा-सौष्ठव का अपूर्व समन्वय दर्शनीय है।

इस प्रकार प्रतिपाद्य और प्रतिपादन-पद्धति दोनों ही दृष्टियों से रामानुजभाष्य ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में अन्य सभी वैष्णव-भाष्यों की अपेक्षा अधिक सफल हो सका है।

जगत्सत्यत्व और परतत्त्व के सविशेषत्व के स्वीकार की दृष्टि से सभी वैष्णव-भाष्य सूत्रानुकूल हैं। परतत्त्व, जीव और जडतत्त्व के परस्पर स्वरूप-भेद के स्वीकार की दृष्टि से वल्लभभाष्य को छोड़कर अन्य सभी भाष्य सूत्रानुकूल हैं। जीव और जडतत्त्व के परतत्त्व से स्वरूपतः भेद के साथ उससे अभेद के स्वीकार की दृष्टि से रामानुजभाष्य, निम्बार्कभाष्य और बलदेवभाष्य सूत्रानुकूल हैं। ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व के स्वीकार की दृष्टि से मध्वभाष्य को छोड़ कर अन्य सभी वैष्णवभाष्य सूत्रानुकूल हैं। उक्त सिद्धान्त की उपपत्ति के प्रदर्शन की दृष्टि से रामानुजभाष्य, निम्बार्कभाष्य और बलदेवभाष्य सूत्रानुकूल हैं, किन्तु उक्त सिद्धान्त से सम्बद्ध सूत्रस्वीकृत सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य में नियमतः केवल अभेद के स्वीकार की दृष्टि से रामानुजभाष्य और बलदेवभाष्य ही सूत्रानुकूल हैं। सूत्रों के आचारमीमांसासम्बन्धी सिद्धान्तों की दृष्टि से केवल रामानुजभाष्य और निम्बार्कभाष्य सूत्रानुकूल हैं।

वैष्णवभाष्यों के स्वरूप को देखा जावे तो रामानुजभाष्य और मध्वभाष्य एक दूसरे से पृथक् अपना स्वतन्त्र एवं मौलिक स्वरूप रखते हैं और अन्य भाष्य—निम्बार्कभाष्य, वल्लभभाष्य और बलदेवभाष्य—अपने स्वरूप के लिए उक्त दोनों भाष्यों में से ही किसी न किसी के न्यूनाधिक रूप में ऋणी हैं। कालक्रमानुसार रामानुजभाष्य वैष्णव-भाष्यों में सर्वप्रथम अस्तित्व में आया है, अतः स्वभावतः उसे शंकर, भास्कर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों के सिद्धान्तों एवं उनके द्वारा प्रस्तुत सूत्र-व्याख्यानों का प्रबल रूप से प्रतिवाद करना पड़ा है। उक्त भाष्य में प्रथम सूत्र के व्याख्यान-प्रसंग से शंकर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों के सिद्धान्तों की विद्वत्तापूर्ण विस्तृत आलोचना की गई है और आगे भी प्रायः सम्पूर्ण भाष्य में सूत्रों का स्वाभिमत व्याख्यान प्रस्तुत करने के साथ शंकर आदि के द्वारा प्रस्तुत व्याख्यानों का प्रतिवाद किया गया है। उक्त रूप में पूर्ववर्ती भाष्यकारों से सिद्धान्तगत मतभेद होते हुए भी रामानुजभाष्य में सूत्रों के प्रतिपाद्य-विषय, मीमांस्य श्रुतिवाक्य और आधारभूत श्रुति-ग्रन्थ प्रायः वही माने गए हैं जो भाष्यकारों की पूर्वपरम्परा के द्वारा स्वीकृत हैं, श्रुतिवाक्य-समन्वय और परमत-निराकरण भी प्रायः पूर्वपरम्परा के ही

अनुसार हैं। इस सम्बन्ध में रामानुजभाष्य को अवश्य ही पूर्ववर्ती भाष्यों से पथ-प्रदर्शन प्राप्त हुआ है।

मध्वभाष्य में पूर्वपरम्परा से प्रायः विच्छेद कर अपने स्वतन्त्र रूप से प्रतिपाद्य-विषय, मीमांस्य श्रुतिवाक्य और आधारभूत श्रुति-ग्रंथ माने गए हैं और श्रुतिवाक्य-समन्वय, परमत-निराकरण एवं सूत्र-व्याख्यान का प्रकार भी स्वतन्त्र अपनाया गया है। सूत्रों के वास्तविक पूर्वपक्षी सांख्य के स्थान पर शैवमत को माना गया है और अपने वैष्णवमत को सर्वत्र स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। कहीं-कहीं सूत्रों को इस प्रकार भी अन्वित कर दिया गया है कि मानो सूत्रकार ही स्वयं शंकर के सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर उसका निराकरण कर रहे हैं (मध्वभाष्य सू० १।१।५-११ आदि)। इस प्रकार मध्वभाष्य अपने विशिष्ट एवं साम्प्रदायिक स्वरूप में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं।

निम्बार्कभाष्य रामानुजभाष्य का अनुगमन करता है। इसमें प्रतिपाद्य-विषय, मीमांस्य श्रुतिवाक्य, श्रुतिवाक्य-समन्वय, परमत-निराकरण तो प्रायः रामानुजभाष्य के अनुसार हैं ही, कुछ अपवादों के साथ सूत्रार्थ भी रामानुज-भाष्य के ही अनुसार हैं। प्रायः सभी दार्शनिक सिद्धान्त भी रामानुजभाष्य के अनुसार हैं, केवल कहने भर का नामभेद और दृष्टिभेद है। रामानुजभाष्य और निम्बार्कभाष्य में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ रामानुजभाष्य में पूर्ववर्ती भाष्यों के सिद्धान्तों का निराकरण और सूत्रों का विस्तृत रूप से सोपपत्तिक व्याख्यान है, वहाँ निम्बार्कभाष्य में विना किसी निराकरण या विस्तार के सूत्रों का भाव संक्षिप्त रीति से प्रकट कर दिया गया है। इस प्रकार स्वरूप की दृष्टि से निम्बार्कभाष्य कुछ अपवादों के साथ रामानुज-भाष्य का ही एक अतिसंक्षिप्त रूप कहा जा सकता है।

वल्लभभाष्य को मध्वभाष्य से बहुत कुछ पथ-प्रदर्शन प्राप्त हुआ है। सूत्रों पर स्वतन्त्र साम्प्रदायिक विषयों के आरोप, सूत्रों से स्वतन्त्र श्रुति-ग्रन्थों के ग्रहण और सूत्रकार द्वारा शंकर के सिद्धान्तों को निराकृत कराने की परम्परा इसे मध्वभाष्य से ही प्राप्त हुई है जिसका कि इसमें अपने ढंग से विकास हुआ है। यदि मध्वभाष्य में 'विष्णु' और 'वैष्णवमत' को प्रतिष्ठित किया गया है, तो वल्लभभाष्य में 'पुरुषोत्तम कृष्ण' और 'पुष्टिमार्ग' की महिमा का गान है। इस प्रकार वल्लभभाष्य ने मध्वभाष्य से निर्देशन प्राप्त कर स्वाभिमत सिद्धान्त के अनुसार अपना साम्प्रदायिक स्वरूप संघटित किया है।

स्वरूप की दृष्टि से बलदेव भाष्य की स्थिति वैष्णव-भाष्यों के मध्य में है। ईक्षत्यधिकरण, द्वितीयाध्याय के प्रथम और द्वितीय पादों के कुछ अधिकरण, तृतीयाध्याय के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पादों को छोड़कर अन्यत्र प्रायः सर्वत्र वह रामानुजभाष्य का अनुगमन करता है और उक्त स्थलों के सम्बन्ध में वह मध्वभाष्य या वल्लभभाष्य से निर्देशन प्राप्त करता है। तत्त्वमीमांसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में वह रामानुजभाष्य के साथ है और आचारमीमांसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में वह वल्लभभाष्य के अधिक सन्निकट है, किन्तु अनेक स्थलों पर प्रतिपाद्य-विषयों और सूत्रार्थ की दृष्टि से वह मध्वभाष्य का ही दूसरा रूप है। इस प्रकार बलदेवभाष्य का अन्य वैष्णव-भाष्यों के आधार पर संघटित एक मिश्रित स्वरूप है जो बहुत कुछ विशुद्ध होते हुए भी साम्प्रदायिकता से मुक्त नहीं रह सका है।

यदि वैष्णव-भाष्यों को ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में न देख कर केवल एक दार्शनिक प्रबन्ध के रूप में देखा जावे तो यद्यपि दार्शनिक विषयों की प्रचुरता एवं प्रतिपादन-शैली की गरिमा की दृष्टि से रामानुजभाष्य के स्थान को अन्य कोई वैष्णव-भाष्य नहीं पा सका है, किन्तु फिर भी उक्त सभी भाष्यों का अपना-अपना स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण स्थान है। सबने परम्परागत विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं को नवीन बल देने के साथ अनेक मौलिक दार्शनिक एवं भक्ति-सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया है, जिनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग प्रभावित हो सका है और हो रहा है। इसके अतिरिक्त उक्त प्रबन्धों के मूल से जो एक प्रौढ, गम्भीर और विशाल साहित्य प्रस्तुत हुआ है, उससे अपनी सरस्वती के कोष की वृद्धि में बहुत कुछ योग मिला है और मिल रहा है।

उक्त प्रबन्ध, जो कि परिस्थितिवश ब्रह्मसूत्र-भाष्य के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, भले ही कितनी भी मात्रा में सूत्रानुकूल हो पाए हों, किन्तु जहाँ तक उनमें प्रतिपादित विचारधाराओं का सम्बन्ध है, वे जनमंगल की भावना से प्रतिपादित की गई हैं; तदनुसार जनमंगल ही उनसे हुआ है और हो रहा है। विद्वद्वर्ग सदा ही उनके निरपेक्ष चिन्तन से लाभ उठाता रहा है और उठा रहा है। वस्तुतः, दर्शन, धर्म और भक्ति का समन्वित रूप प्रस्तुत करने वाले उक्त प्रबन्ध सर्वदा अनुशीलनीय हैं और उनके प्रस्तावक आचार्य सर्वदा वन्दनीय हैं।

परिशिष्ट 'क'

ब्रह्मसूत्रपाठ

[यहाँ रामानुजभाष्य के अनुसार ब्रह्मसूत्रों का पाठ दिया जा रहा है; अन्य वैष्णव-भाष्यों के अनुसार जो पाठभेद है उसे पाद-टिप्पणी में प्रदर्शित कर दिया गया है।]

अध्याय १ पाद १

(१।१)

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।
२. जन्माद्यस्य यतः।[1]
३. शास्त्रयोनित्वात्।
४. तत्तु समन्वयात्।
५. ईक्षतेर्नाशब्दम्।
६. गौणश्चेन्नात्मशब्दात्।
७. तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्।
८. हेयत्वावचनाच्च।
९. प्रतिज्ञाविरोधात्।[2]
१०. स्वाप्ययात्।
११. गतिसामान्यात्।
१२. श्रुतत्वाच्च।
१३. आनन्दमयोऽभ्यासात्।
१४. विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्।
१५. तद्धेतुव्यपदेशाच्च।
१६. मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते।[3]
१७, नेतरोऽनुपपत्तेः।
१८. भेदव्यपदेशाच्च।[4]
१९. कामाच्च नानुमानापेक्षा।
२०. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।
२१. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्।
२२. भेदव्यपदेशाच्चान्यः।
२३. आकाशस्तल्लिङ्गात्।
२४. अत एव प्राणः।
२५. ज्योतिश्चरणाभिधानात्।

---

१. सूत्र २ और ३ मिलकर एक ही सूत्र (जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्) —वल्लभ।

२. यह सूत्र नहीं—मध्व, वल्लभ और बलदेव।

३. 'गीयते' के स्थान पर 'गम्यते'—वल्लभ।

४. अन्तिम 'च' नहीं—बलदेव।

२६. छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् ।[1]
२७. भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।
२८. उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।
२९. प्राणस्तथानुगमात् ।
३०. न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।
३१. शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।
३२. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।

अध्याय १ पाद २
(१।२)

१. सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।
२. विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।
३. अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।
४. कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।
५. शब्दविशेषात् ।
६. स्मृतेश्च ।
७. अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।
८. सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।
९. अत्ता चराचरग्रहणात् ।
१०. प्रकरणाच्च ।
११. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।
१२. विशेषणाच्च ।
१३. अन्तर उपपत्तेः ।
१४. स्थानादिव्यपदेशाच्च ।
१५. सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।
१६. अत एव च स ब्रह्म ।[2]
१७. श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।
१८. अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।
१९. अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।[3]
२०. न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च ।[4]
२१. उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।
२२. अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।
२३. विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।
२४. रूपोपन्यासाच्च ।[5]

---

१. 'निगमात्' के स्थान पर 'निगदात्'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

२. 'अत एव च तद् ब्रह्म'—निम्बार्क ।
यह सूत्र ही नहीं—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

३. 'अन्तर्याम्यधिदेवादिलोकादिषु०' निम्बार्क ।
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु०— मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

४. 'शारीरश्च', यह अंश सू० २० के अन्त में न होकर सू० २१ के प्रारम्भ में— निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

५. इसके बाद 'प्रकरणाच्च', यह एक अधिक सूत्र—बलदेव ।

२५. वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।
२६. स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।
२७. शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्टयुपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।[1]
२८. अत एव न देवता भूतं च ।
२९. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।
३०. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।
३१. अनुस्मृतेर्बादरिः ।[2]
३२. सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ।
३३. आमनन्ति चैनमस्मिन् ।

अध्याय १ पाद ३

(१।३)

१. द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।
२. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ।[3]
३. नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च ।[4]
४. भेदव्यपदेशात् ।[5]
५. प्रकरणात् ।
६. स्थित्यदनाभ्यां च ।
७. भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।
८. धर्मोपपत्तेश्च ।
९. अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।
१०. सा च प्रशासनात् ।
११. अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।
१२. ईक्षतिकर्म व्यपदेशात् सः ।[6]
१३. दहर उत्तरेभ्यः ।
१४. गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्च ।[7]
१५. धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।
१६. प्रसिद्धेश्च ।
१७. इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ।
१८. उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।
१९. अन्यार्थश्च परामर्शः ।
२०. अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।

---

१. 'प्रतिष्ठानात्' के बाद 'च' नहीं—निम्बार्क ।
उक्त 'च' नहीं, साथ ही 'पुरुषमपि' के स्थान पर 'पुरुषविधमपि'—मध्व ।
उक्त 'च' है, किन्तु 'पुरुषमपि' के स्थान पर 'पुरुषविधमपि'—बलदेव ।

२. 'अनुस्मृतेरिति बादरिः'—बलदेव ।

३. अन्तिम 'च' नहीं—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

४. 'प्राणभृच्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

५. 'भेदव्यपदेशाच्च'—निम्बार्क और बलदेव ।

६. 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः', इस रूप में पदयोग—मध्व और बलदेव ।

७. 'तथाहि' में 'हि' नहीं—बलदेव (किन्तु यह लिपिक या मुद्रण की अशुद्धि प्रतीत होती है, क्योंकि व्याख्यान में 'तथाहि' ही है) ।

२१. अनुकृतेस्तस्य च ।
२२. अपि स्मर्यते ।[1]
२३. शब्दादेव प्रमितः ।
२४. हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।
२५. तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ।[2]
२६. विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।
२७. शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।
२८. अत एव च नित्यत्वम् ।[3]
२९. समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।[4]
३०. मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ।
३१. ज्योतिषि भावाच्च ।
३२. भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।
३३. शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।
३४. क्षत्रियत्वगतेश्च ।[5]
३५. उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।
३६, संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।
३७. तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।
३८. श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ।[6]
३९. स्मृतेश्च ।
४०. कम्पनात् ।
४१. ज्योतिर्दर्शनात् ।
४२. आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।
४३. सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।
४४. पत्यादिशब्देभ्यः ।

अध्याय १ पाद ४

(१।४)

१. आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।
२. सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।
३. तदधीनत्वादर्थवत् ।
४. ज्ञेयत्वावचनाच्च ।
५. वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।[7]
६. त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।[8]

---

१. 'अपि तु स्मर्यते'—निम्बार्क ।
२. 'तदुपर्यपि च०—वल्लभ ।
३. 'अत एव' के बाद 'च' नहीं—निम्बार्क ।
४. 'नामरूपत्वात्' के बाद 'च' नहीं—वल्लभ ।
५. 'क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्', इस रूप में सू० ३४ और ३५ मिलकर एक ही सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
६. सू० ३८ और ३९ मिलकर एक ही सूत्र—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
७. 'प्रकरणात्', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व ।
८. 'त्रयाणामेवमुपन्यासः०'—वल्लभ ।

७. महद्वच्च ।

८. चमसवदविशेषात् ।

९. ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ।[1]

१०. कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।

११. न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।

१२. प्राणादयो वाक्यशेषात् ।

१३. ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।

१४. कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।

१५. समाकर्षात् ।

१६. जगद्वाचित्वात् ।

१७. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ।[2]

१८. अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।

१९. वाक्यान्वयात् ।

२०. प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।

२१. उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ।

२२. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।

२३. प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।

२४. अभिध्योपदेशाच्च ।[3]

२५. साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।

२६. आत्मकृतेः ।[4]

२७. परिणामात् ।

२८. योनिश्च हि गीयते ।

२९. एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।

अध्याय २ पाद १

(२।१)

१. स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

२. इतरेषां चानुपलब्धेः ।

३. एतेन योगः प्रत्युक्तः ।

४. न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।[5]

५. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।

६. दृश्यते तु ।[6]

७. असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।

८. अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।

९. न तु दृष्टान्तभावात् ।

१०. स्वपक्षदोषाच्च ।[7]

---

१. 'ज्योतिरुपक्रमात्तु०'—मध्व और वल्लभ ।

२. 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गादिति चेत्०'—मध्व और वल्लभ ।

३. अन्तिम 'च' नहीं—निम्बार्क ।

४. सू० २६ और २७ मिलकर एक ही सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

५. इसके बाद 'दृश्यते तु', यह एक अधिक सूत्र—मध्व ।

६. 'दृश्यते च'—मध्व ।

७. 'स्वपक्षे दोषाच्च'—निम्बार्क और बलदेव ।

११. तर्काप्रतिष्ठानादपि ।[१]
१२. अन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।[२]
१३. एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।[३]
१४. भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।
१५. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।
१६. भावे चोपलब्धेः ।
१७. सत्त्वाच्चापरस्य ।[४]
१८. असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेश्शब्दान्तराच्च ।[५]
१९. पटवच्च ।
२०. यथा च प्राणादिः ।[६]
२१. इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।
२२. अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।
२३. अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।
२४. उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ।[७]
२५. देवादिवदपि लोके ।
२६. कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।[८]
२७. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।
२८. आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।
२९. स्वपक्षदोषाच्च ।[९]
३०. सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।[१०]
३१. विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।
३२. न प्रयोजनवत्त्वात् ।
३३. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।
३४. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।
३५. न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।[११]
३६. सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।

---

१. सूत्र ११ और १२ मिलकर एक ही सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
२. 'अनिर्मोक्षप्रसङ्गः' के स्थान पर 'अविमोक्षप्रसङ्गः'––वल्लभ ।
३. 'एतेन शिष्टा अपरिग्रहा अपि०'––मध्व ।
४. 'सत्त्वाच्चावरस्य'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
५. 'युक्तेश्शब्दान्तराच्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
६. 'यथा प्राणादिः—मध्व
७. 'चेत्' के बाद 'न' नहीं (उपसंहारदर्शनान्नेति चेत् क्षीरवद्धि)—मध्व ।
८. 'कोपः' के स्थान पर 'व्याकोपः'—बलदेव ('निरवयवत्व' में 'त्व' भी नहीं, किन्तु वह मुद्रण की अशुद्धि प्रतीत होती है) ।
९. 'स्वपक्षे दोषाच्च'—निम्बार्क और बलदेव ।
१०. 'सर्वोपेता च सा तद्दर्शनात्'—निम्बार्क ।
११. 'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

अध्याय २ पाद २

(२।२)

१. रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च ।[1]
२. पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ।
३. व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ।
४. अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।[2]
५. पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।
६. अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।[3]
७. अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।
८. अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ।
९. विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।
१०. महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।
११. उभयधापि न कर्मातस्तदभावः ।[4]
१२. समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ।
१३. नित्यमेव च भावात् ।
१४. रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्
१५. उभयधा च दोषात् ।[5]
१६. अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।
१७. समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः।
१८. इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात् ।[6]
१९. उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।
२०. असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।
२१. प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।
२२. उभयधा च दोषात् ।[7]
२३. आकाशे चाविशेषात् ।
२४. अनुस्मृतेश्च ।
२५. नासतोऽदृष्टत्वात् ।

---

१. 'प्रवृत्तेश्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

२. इसके बाद सू० ८ (अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्) के पाठ का क्रम—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

३. अन्तिम 'च' नहीं—मध्व ।

४. 'उभयधा' के स्थान पर 'उभयथा'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

५. 'उभयथा च दोषात्'—निम्बार्क, मध्व और बलदेव ।
'उभयथाऽपि च दोषात्'—वल्लभ ।

६. 'इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्'—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

७. 'उभयथा च दोषात्'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

२६. उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।
२७. नाभाव उपलब्धेः ।
२८. वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।
२९. न भावोऽनुपलब्धेः ।[१]
३०. सर्वथानुपपत्तेश्च ।
३१. नैकस्मिन्नसम्भवात् ।
३२. एवं चात्माऽकात्स्र्न्यम् ।
३३. न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।
३४. अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।[२]
३५. पत्युरसामञ्जस्यात् ।[३]
३६. अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।
३७. करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।
३८. अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।
३९. उत्पत्त्यसम्भवात् ।
४०. न च कर्त्तुः करणम् ।
४१. विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।
४२. विप्रतिषेधाच्च ।

अध्याय २ पाद ३

(२।३)

१. न वियदश्रुतेः ।
२. अस्ति तु ।
३. गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च ।[४]
४. स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।
५. प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् ।[५]
६. शब्देभ्यः ।
७. यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ।
८. एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।
९. असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।
१०. तेजोऽतस्तथा ह्याह ।
११. आपः ।
१२. पृथिवी ।[६]

---

१. इसके बाद एक अधिक सूत्र जिसका कि पाठ 'क्षणिकत्वाच्च'—मध्व, वल्लभ और बलदेव; 'क्षणिकत्वात्'—निम्बार्क ।

२. 'अविशेषः' के स्थान पर 'अविशेषात्'—मध्व और बलदेव ।

३. इसके बाद 'सम्बन्धानुपपत्तेश्च', यह एक अधिक सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

४. 'शब्दाच्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व और वल्लभ ।

५. सूत्र ५ और ६ मिलकर एक ही सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

६. सूत्र १२ और १३ मिलकर एक ही सूत्र—मध्व, वल्लभ और बलदेव । सू० १२ एक पृथक् ही सूत्र, किन्तु सू० १३ के प्रारम्भ में भी 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग और इस प्रकार सू० १२ (पृथिवी) एक अधिक सूत्र—निम्बार्क ।

१३. अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।[१]
१४. तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ।[२]
१५. विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।[३]
१६. अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।
१७. चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।[४]
१८. नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।[५]
१९. ज्ञोऽत एव ।[६]
२०. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।
२१. स्वात्मना चोत्तरयोः ।
२२. नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।
२३. स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।
२४. अविरोधश्चन्दनवत् ।
२५. अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमाद्धृदिहि ।
२६. गुणाद्वाऽऽलोकवत् ।[७]
२७. व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति ।[८]
२८. पृथगुपदेशात् ।
२९. तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।[९]
३०. यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ।
३१. पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।
३२. नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ।
३३. कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ।
३४. उपादानाद् विहारोपदेशाच्च ।[१०]
३५. व्यपदेशाच्च क्रियायां नचेन्निर्देशविपर्ययः ।
३६. उपलब्धिवदनियमः ।
३७. शक्तिविपर्ययात् ।

---

१. 'शब्दान्तरेभ्यः' के स्थान पर 'शब्दान्तरादिभ्यः—मध्व ।
२. 'तदभिध्यानात्तु०'—निम्बार्क ।
३. अन्तिम 'च' नही—वल्लभ ।
४. 'भाक्तः' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'अभाक्तः' भी पाठ—रामानुज । 'भाक्तः' के स्थान पर 'अभाक्तः' ही एकरूप पाठ—बलदेव ।
५. 'श्रुतेः' के स्थान पर 'अश्रुतेः'—निम्बार्क, मध्व और वल्लभ ।
६. इसके बाद 'युक्तेश्च', यह एक अधिक सूत्र—मध्व ।
७. 'गुणाद्वा लोकवत्', इस रूप में पदच्छेद—वल्लभ ।
८. 'तथा च' के स्थान पर 'तथाहि'—निम्बार्क और बलदेव । 'तथा च दर्शयति', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—वल्लभ ।
९. 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यप०'—बलदेव ।
१०. अन्तिम 'च' नहीं, साथ ही 'विहारोपदेशात्' और 'उपादानात्', इस क्रम-विपर्यय के साथ दो पृथक्-पृथक् सूत्र–निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

३८. समाध्यभावाच्च ।
३९. यथा च तक्षोभयधा ।[1]
४०. परात्तु तच्छ्रुतेः ।
४१. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।[2]
४२. अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ।
४३. मन्त्रवर्णात् ।
४४. अपि स्मर्यते ।[3]
४५. प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ।[4]
४६. स्मरन्ति च ।
४७. अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।
४८. असन्ततेश्चाव्यतिकरः ।
४९. आभास एव च ।[5]
५०. अदृष्टानियमात् ।[6]
५१. अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।
५२. प्रदेशभेदाति चेन्नान्तर्भावात् ।[7]

अध्याय २ पाद ४

(२।४)

१. तथा प्राणाः ।
२. गौण्यसम्भवात्तत्प्राक्श्रुतेश्च ।[8]
३. तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।
४. सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।
५. हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।
६. अणवश्च ।
७. श्रेष्ठश्च ।
८. न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।
९. चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।
१०. अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ।
११. पंचवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ।[9]
१२. अणुश्च ।

---

१. 'उभयधा' के स्थान पर 'उभयथा'--निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
२. 'विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' के स्थान पर 'विहितप्रतिषेधावैयर्थ्यादिभ्यः'--मध्व ।
३. 'अपि च स्मर्यते'—निम्बार्क ।
४. 'प्रकाशादिवन्नैवं परः'--मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
५. 'आभासा एव च', ऐसा भी वैकल्पिक पाठ--रामानुज ।
'आभासा एव च', ऐसा ही एकरूप पाठ--निम्बार्क ।
६. 'अदृष्टनियमात्'--वल्लभ ।
७. 'प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्--निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
८. 'तत्प्राक्श्रुतेश्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र--निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
'गौण्यसंभवात्' और 'तत्प्राक्०' के बीच में 'प्रतिज्ञानुपरोधाच्च', यह एक अधिक सूत्र—मध्व ।
९. 'पञ्चवृत्ते०'—वल्लभ ।

१३. ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् प्राणवता शब्दात् ।[१]

१४. तस्य च नित्यत्वात् ।[२]

१५. त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।

१६. भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।[३]

१७. संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।

१८. मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।

१९. वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।

अध्याय ३ पाद १

(३।१)

१. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

२. त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।

३. प्राणगतेश्च ।

४. अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।

५. प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।[४]

६. अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।

७. भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ।

८. कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।[५]

९. चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।[६]

१०. आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।

११. सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।

१२. अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।

१३. संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ।

१४. स्मरन्ति च ।

१५. अपि सप्त ।

१६. तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः ।[७]

१७. विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।

१८. न तृतीये तथोपलब्धेः ।

१९. स्मर्यतेऽपि च लोके ।

२०. दर्शनाच्च ।

२१. तृतीयशब्दावरोधस्संशोकजस्य ।[८]

---

१. 'प्राणवता शब्दात्', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

२. 'तस्य नित्यत्वात्—निम्बार्क ।

३. 'वैलक्षण्याच्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व, वल्लभ और बलदेव।

४. 'अश्रवणात्' के स्थान पर 'श्रवणात्'—मध्व ।

५. 'यथेतमनेवं च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व और बलदेव ।

६. 'चेन्न' के बाद 'तत्' नहीं—वल्लभ ।

७. 'तत्रापि च तद्०'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

८. 'तृतीये शब्दा०'—मध्व और वल्लभ ।
इस सूत्र के बाद 'स्मरणाच्च', यह एक अधिक सूत्र—मध्व ।

२२. तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।[१]
२३. नातिचिरेण विशेषात् ।
२४. अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ।
२५. अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।
२६. रेतस्सिग्योगोऽथ ।
२७. योनेश्शरीरम् ।

अध्याय ३ पाद २
(३।२)

१. सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।
२. निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।
३. मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।[२]
४. पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।
५. देहयोगाद्वा सोऽपि ।
६. सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।
७. तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।[३]
८. अतः प्रबोधोऽस्मात् ।
९. स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।[४]
१०. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ।
११. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।
१२. भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।[५]
१३. अपि चैवमेके ।
१४. अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।[६]
१५. प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।[७]
१६. आह च तन्मात्रम् ।
१७. दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।
१८. अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।
१९. अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।
२०. वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवं दर्शनाच्च ।[८]
२१. प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।
२२. तदव्यक्तमाह हि ।

---

१. 'साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः'—वल्लभ ।
२. इसके बाद सू० ६ (सूचकश्च हि०) का पाठ—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
३. अन्तिम 'च' के स्थान पर 'हि'—मध्व ।
४. 'तु' के स्थान पर 'च'—मध्व ।
५. 'न भेदादिति०'—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
६. 'एव' के बाद 'हि' नहीं—बलदेव ।
७. 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्'—मध्व और बलदेव ।
८. 'दर्शनाच्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

२३. अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।
२४. प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।[1]
२५. अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ।
२६. उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।
२७. प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।
२८. पूर्ववद्वा ।
२९. प्रतिषेधाच्च ।
३०. परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।
३१. सामान्यात्तु ।[2]
३२. बुद्धयर्थः पादवत् ।
३३. स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।
३४. उपपत्तेश्च ।
३५. तथान्यप्रतिषेधात् ।[3]
३६. अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।[4]
३७. फलमत उपपत्तेः ।
३८. श्रुतत्वाच्च ।
३९. धर्मं जैमिनिरत एव ।
४०. पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्

अध्याय ३ पाद ३
(३।३)

१. सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।
२. भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।[5]
३. स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ।[6]
४. दर्शयति च ।

---

१. 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्' के स्थान पर 'प्रकाशवच्चावैशेष्यात्' और इतना ही अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व और बलदेव (मध्वभाष्य में 'अवैशेष्यम्' छपा है, किन्तु वह मुद्रण की अशुद्धि प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें व्याख्या 'अवैशेष्यात्' के अनुसार ही की गई है) ।
२. यह सूत्र नहीं, इसके स्थान पर 'दर्शनात्', इस रूप में एक भिन्न सूत्र—मध्व ।
३. 'तथान्यत्प्रतिषेधात्'—मध्व ।
४. 'अनेन सर्वगतत्वमायामयशब्दादिभ्यः—मध्व ।
५. 'भेदादिति चेन्नैकस्यामपि'—बलदेव ।
६. 'तथात्वे हि' के स्थान 'तथात्वेन हि'—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
'तथात्वे' के स्थान पर 'तथात्वेन', किन्तु उसके बाद 'हि' नहीं—वल्लभ ।
'सववच्च' के स्थान पर 'सलिलवच्च' और 'सलिलवच्च तन्नियम :', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व ।
'सववच्च' के स्थान पर वैकल्पिक रूप से 'सलिलवच्च' और 'सववच्च (सलिलवच्च) तन्नियमः, इतना अंश एक पृथक् सूत्र—बलदेव ।

५. उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च ।
६. अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।[1]
७. न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।
८. संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।
९. व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।[2]
१०. सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।
११. आनन्दादयः प्रधानस्य ।
१२. प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।
१३. इतरे त्वर्थसामान्यात् ।
१४. आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।
१५. आत्मशब्दाच्च ।
१६. आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।
१७. अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।
१८. कार्याख्यानादपूर्वम् ।
१९. समान एवं चाभेदात् ।
२०. सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।
२१. न वा विशेषात् ।[3]
२२. दर्शयति च ।
२३. सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।
२४. पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।[4]
२५. वेधाद्यर्थभेदात् ।
२६. हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ।
२७. साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।[5]
२८. छन्दत उभयाविरोधात् ।
२९. गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ।[6]
३०. उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।[7]
३१. यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।
३२. अनियमस्सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।[8]

---

१. 'अन्यथात्वं च शब्दा०'—मध्व ।
२. 'प्राप्तेश्च०'—मध्व ।
३. 'न वाऽविशेषात्'—बलदेव ।
वैभाषिक रूप में 'अविशेषात्' और 'विशेषात्' दोनों—वल्लभ ।
४. पुरुषविद्यायामिव चेतरेषा०'—वल्लभ और बलदेव ।
५. 'साम्पराये' के स्थान पर 'सम्पराये'—वल्लभ ।
६. 'उभयधा' के स्थान पर 'उभयथा'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
७. क्रमविपर्यय से इसके बाद सू० ३२ (अनियमः०) का पाठ—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
८. 'अनियमः सर्वासामविरोधः०'—वल्लभ ।
'अनियमः सर्वेषामविरोधात्०'—मध्व और बलदेव ।

३३. अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ।[१]
३४. इयदामननात् ।
३५. अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ।[२]
३६. व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ।
३७. सैव हि सत्यादयः ।
३८. कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।[३]
३९. आदरादलोपः ।
४०. उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।[४]
४१. तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ।[५]
४२. प्रदानवदेव तदुक्तम् ।[६]
४३. लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।
४४. पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात्क्रिया मानसवत् ।
४५. अतिदेशाच्च ।
४६. विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।[७]
४७. श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।
४८. अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ।[८]
४९. न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ।
५०. परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।
५१. एक आत्मनः शरीरे भावात् ।
५२. व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ।[९]
५३. अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्

---

१. 'अक्षरधियां त्वविरोधः०'—मध्व ।
'औपसदवत्' के स्थान पर 'औपासनवत्—वल्लभ ।

२. 'उपदेशवत्' के स्थान पर 'उपदेशान्तरवत्'-निम्बार्क, वल्लभ और बलदेव ।
'स्वात्मनः' के स्थान पर 'इति चेत्तदुक्तम्'—मध्व ।
'अन्यथा······नोपदेशवत्', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व ।
'अन्यथा···नोपदेशान्तरवत्', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—वल्लभ और बलदेव ।

३. 'कामादितरत्र तत्र०'—मध्व ।

४. 'उपस्थितेस्तद्वचनात्'—मध्व ।

५. 'तन्निर्धारणार्थनियमः०'—मध्व ।

६. 'प्रदानदेव हि तद्रुक्तम्'—मध्व ।

७. 'दर्शनाच्च', इतना अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
'विद्यैव तु तन्निर्धारणात्'—बलदेव ।

८. 'अनुबन्धादिभ्यः', इतना अंश एश पृथक् सूत्र—मध्व शौर बलदेव ।
'दृष्टश्च' के स्थान पर 'दृष्टिश्च'—मध्व और बलदेव ।

९. 'व्यतिरेकस्तद्भावाभावि०'—वल्लभ ।

५४. मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ।
५५. भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ।[1]
५६. नाना शब्दादिभेदात् ।
५७. विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।[2]
५८. काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा पूर्वहेत्वभावात् ।
५९. अंगेषु यथाश्रयभावः ।
६०. शिष्टेश्च ।
६१. समाहारात् ।
६२. गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।
६३. न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।
६४. दर्शनाच्च ।

अध्याय ३ पाद ४

(३।४)

१. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।
२. शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।
३. आचारदर्शनात् ।
४. तच्छ्रुतेः ।
५. समन्वारम्भणात् ।
६. तद्वतो विधानात् ।
७. नियमात् ।[3]
८. अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।
९. तुल्यं तु दर्शनम् ।[4]
१०. असार्वत्रिकी ।
११. विभागः शतवत् ।
१२. अध्ययनमात्रवतः ।
१३. नाविशेषात् ।
१४. स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।
१५. कामकारेण चैके ।
१६. उपमर्दं च ।
१७. ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।
१८. परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ।[5]
१९. अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।
२०. विधिर्वा धारणवत् ।
२१. स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।
२२. भावशब्दाच्च ।[6]
२३. पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।
२४. तथा चैकवाक्योपबन्धात् ।[7]
२५. अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।
२६. सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।

---

१. 'तथाहि' के स्थान पर 'तथा च'—मध्व ।
२. 'अविशिष्टफलत्वात्' के स्थान पर 'विशिष्टफलत्वात्'—मध्व ।
३. 'नियमाच्च'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
४. 'तुल्यं दर्शनम्'—वल्लभ ।
५. 'परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि'—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
६. यह सूत्र नहीं—वल्लभ ।
७. 'तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्'—निम्बार्क, वल्लभ और बलदेव ।

२७. शमदमाद्युपेतस्स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात् ।[१]

२८. सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।

२९. अबाधाच्च ।

३०. अपि स्मर्यते ।[२]

३१. शब्दश्चातोऽकामकारे ।[३]

३२. विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ।

३३. सहकारित्वेन च ।

३४. सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ।[४]

३५. अनभिभवं च दर्शयति ।

३६. अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।

३७. अपि स्मर्यते ।[५]

३८. विशेषानुग्रहश्च ।[६]

३९. अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ।[७]

४०. तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ।[८]

४१. न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ।

४२. उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् ।[९]

४३. बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।[१०]

४४. स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।

४५. आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि हि परिक्रियते ।[११]

४६. सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।

४७. कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।

४८. मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।

४९. अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।

---

१. 'तेषाम्' के बाद 'अपि' नहीं—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

२. 'अपि च स्मर्यते'—निम्बार्क ।

३. 'शब्दश्चातोऽकामचारे'—मध्व और बलदेव ।

४. 'सर्वथापि तु त एवो०'—मध्व ।

५. अपि च स्मर्यते'—निम्बार्क ।

६. 'विशेषानुग्रहं च'—मध्व ।

७. अन्तिम 'च' नहीं—निम्बार्क ।

८. 'नियमात्तद्रूपा०' के स्थान पर 'नियमातद्रूपा०'—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
'नातद्भावः' के स्थान पर 'तद्भावः'—मध्व ।

९. 'उपपूर्वमपि त्वेके०'—निम्बार्क वल्लभ और बलदेव ।
'भावमशनवत्' के स्थान पर 'भावशमनवत्'—मध्व ।

१०. 'उभयधा' के स्थान पर 'उभयथा'—निम्बार्क, मध्व और बलदेव ।
'उभयथा' के बाद 'अपि' नहीं—बलदेव ।

११. परिक्रियते' के स्थान पर 'परिक्रीयते'—निम्बार्क, वल्लभ और बलदेव ।
इसके बाद 'श्रुतेश्च', यह एक अधिक सूत्र—वल्लभ और बलदेव ।

५०. ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।[१]
५१. एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।

अध्याय ४ पाद १
(४।१)

१. आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।
२. लिङ्गाच्च ।
३. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।
४. न प्रतीके न हि सः ।[२]
५. ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।
६. आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।
७. आसीनः संभवात् ।
८. ध्यानाच्च ।
९. अचलत्वं चापेक्ष्य ।
१०. स्मरन्ति च ।
११. यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।
१२. आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम् ।[३]
१३. तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।
१४. इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।।
१५. अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।
१६. अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।
१७. अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।[४]
१८. यदेव विद्ययेति हि ।
१९. भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ।[५]

अध्याय ४ पाद २
(४।२)

१. वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।
२. अत एव सर्वाण्यनु ।[६]
३. तन्मनः प्राण उत्तरात् ।
४. सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।
५. भूतेषु तच्छ्रुतेः ।
६. नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।
७. समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।[७]
८. तदापीतेस्संसारव्यपदेशात् ।[८]
९. सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।
१०. नोपमर्देनातः ।
११. अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ।
१२. प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् स्पष्टो ह्येकेषाम् ।[९]

---

१. 'ऐहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे'—निम्बार्क ।
२. 'न प्रतीकेन हि सः', ऐसा भी वैकल्पिक रूप से पदच्छेद--वल्लभ ।
३. 'आप्रायणात्०'--मध्व, वल्लभ और बलदेव ।
४. 'अतोऽन्यदपीत्येकेषा०'—मध्व ।
५. 'सम्पद्यते' के स्थान पर 'सम्पत्स्यते'—मध्व ।
६. 'अत एव च सर्वाण्यनु'—मध्व ।
७. 'समना चासृत्यु०'—मध्व ।
८. 'तदपीतेः०'—मध्व ।
९. 'स्पष्टो ह्येकेषाम्', इतना अंश एक पृथक् सूत्र--मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

१३. स्मर्यते च ।

१४. तानि परे तथाह्याह ।

१५. अविभागो वचनात् ।

१६. तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।

१७. रश्म्यनुसारी ।

१८. निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च ।[1]

१९. अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।[2]

२०. योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते ।[3]

अध्याय ४ पाद ३

(४।३)

१. अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।

२. वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।[4]

३. तटितोऽधिवरुणःसम्बन्धात् ।[5]

४. अतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।[6]

५. वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।

६. कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।

७. विशेषितत्वाच्च ।

८. सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।

९. कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।

१०. स्मृतेश्च ।

११. परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।

१२. दर्शनाच्च ।

१३. न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ।[7]

१४. अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयधा च दोषात्तत्क्रतुश्च ।[8]

१५. विशेषं च दर्शयति ।

---

१. 'सम्बन्धस्य' के स्थान पर 'सम्बन्धात्' और 'निशि नेति चेन्न सम्बन्धात्, इतना ही अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व ।

२. अतश्चायनेऽपि हि दक्षिणे'—मध्व ।

३. 'स्मर्येते' के स्थान पर 'स्मर्यते'—निम्बार्क, वल्लभ और बलदेव ।

४. 'वायुशब्दादविशेष०'—मध्व ।

५. 'तडितोऽधि०'—निम्बार्क, वल्लभ और बलदेव ।
इस सूत्र के बाद 'वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती', यह एक अधिक सूत्र—वल्लभ ।

६. 'आतिवाहिकस्त०'—मध्व
इसके बाद 'उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः', 'यह एक अधिक सूत्र—मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

७. 'न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः'—निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और बलदेव ।

८. 'उभयधा च दोषात्' के स्थान पर 'उभयथा दोषात्'—निम्बार्क और वल्लभ ।
'उभयथा च दोषात्'—मध्व और बलदेव ।

अध्याय ४ पाद ४
(४।४)

१. सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।[१]
२. मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।
३. आत्मा प्रकरणात् ।
४. अविभागेन दृष्टत्वात् ।[२]
५. ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।
६. चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादिडुलोमिः ।[३]
७. एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।
८. संकल्पादेव तच्छ्रुतेः । [४]
९. अत एव चानन्याधिपतिः ।[५]
१०. अभावं बादरिराह ह्येवम् ।
११. भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।[६]
१२. द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।
१३. तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।[७]
१४. भावे जाग्रद्वत् ।
१५. प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।
१६. स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि । [८]
१७. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।[९]
१८. प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।[१०]
१९. विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ।[११]
२०. दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।[१२]
२२. भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।
२२. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।[१३]

---

१. 'सम्पद्याविहाय स्वेन०'—मध्व ।
२. 'अविभागेनैव'—मध्व ।
३. 'चितिमात्रेण०'—मध्व ।
'तदात्मकत्वात्' के स्थान पर 'तदात्मत्वात्'—वल्लभ
४. 'सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः'—मध्व और वल्लभ ।
५. 'अत एवानन्याधिपतिः'—निम्बार्क ।
६. 'भावं जैमिनिर्विकल्पाम्नानात्'—मध्व ।
७. 'तत्त्वभावे सन्ध्य०'—वल्लभ ।
८. 'अन्यतरापेक्षम्' के स्थान पर 'अन्यतरापेक्ष्यम्'—बलदेव ।
९. 'जगद्व्यपारवर्जम्', केवल इतना ही अंश एक पृथक् सूत्र—मध्व ।
१०. 'प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधि०'—निम्बार्क और बलदेव ।
११. 'विकारावर्ति च तथाहि दर्शयति'—मध्व ।
१२. 'स्थितिमाह दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने'—मध्व ।
१३. सूत्रसंख्या —५४५ (रामानुज); ५४९ (निम्बार्क); ५६४ (मध्व); ५५४ (वल्लभ); ५५८ (बलदेव) ।

परिशिष्ट 'ख'

अधिकरण-क्रम से वैष्णव-भाष्यों के प्रतिपाद्य-विषय

१. रामानुजभाष्य

अध्याय १ पाद १

१—जिज्ञासाधिकरण—सू० १।१।१[1] (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)—

प्रस्तूयमान शास्त्र की विषयप्रयोजनादिसूचक प्रस्तावना।

प्रासंगिक विषय—

(१) सू० १।१।१ के 'अथ' शब्द का 'अनन्तर' अर्थ स्वीकार करने के बाद यह निर्णय करना कि किस पूर्ववृत्त के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा की जासकती है अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी बनने के लिए किस योग्यता का होना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। उक्त निर्णय करने के प्रसंग से शंकर के इस मत का निराकरण करते हुए कि साधनचतुष्टय —नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत् और मुमुक्षत्व—का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है, अपने इस मत का प्रतिपादन कि ब्रह्मजिज्ञासा से पूर्व कर्मस्वरूपज्ञान का होना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

(२) उक्त विषय के प्रसंग से शंकर के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष के रूप में अनूदन।

(३) निर्विशेष वस्तु में प्रमाणाभाव को प्रदर्शित करते हुए प्रमाणों के सविशेषविषयत्व का प्रतिपादन और उसके फलस्वरूप वस्तु के निर्विशेषत्व या सन्मात्रत्व का निराकरण कर उसके सविशेषत्व का प्रतिपादन।

(४) अनुभूति के स्वविषयाभिन्नत्व, ज्ञानाविषयत्व, अनुत्पन्नत्व, निर्विष-

---

१. सूत्राङ्क रामानुजभाष्य के अनुसार हैं।

यत्व, निराश्रयत्व, निर्विकारत्व, भेदरहितत्व, निर्धर्मकत्व एवं आत्मत्व का निराकरण कर क्रमशः उसके स्वविषयभिन्नत्व, ज्ञानविषयत्व, उत्पन्नत्व, सविषयत्व, साश्रयत्व, सविकारत्व, भेदयुक्तत्व, सधर्मकत्व एवं आत्मधर्मत्व का प्रतिपादन।

(५) आत्मा अनुभूतिमात्र या चिन्मात्र है और उसका अहमर्थत्व एवं ज्ञातृत्व औपाधिक या मिथ्या है, इस मत का निराकरण कर ज्ञानस्वरूप आत्मा के अहमर्थत्व और ज्ञातृत्व के स्वाभाविकत्व एवं सत्यत्व का प्रतिपादन।

(६) मोक्षदशा में भी आत्मा के अहमर्थत्व का प्रतिपादन।

(७) सम्पूर्ण भेदविषयक प्रत्यक्ष दोषमूल एवं अन्यथासिद्ध है और फलतः शास्त्रबाध्य है, इस मत का निराकरण।

(८) वेदान्तवाक्य निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, इस पक्ष का निराकरण करते हुए संक्षेप में यह प्रदर्शन कि सभी वेदान्तवाक्यों में सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन है।

(९) निर्गुणत्वप्रतिपादक और सगुणत्वप्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का विषय-विभाग से परस्पर अविरोध प्रदर्शित करते हुए ब्रह्म के प्राकृतहेय-गुणरहितत्व एवं स्वाभाविकज्ञानादिकल्याणगुणयुक्तत्व का प्रतिपादन।

(१०) ब्रह्म के ज्ञेयत्व या ब्रह्मज्ञानविषयत्व का प्रतिपादन।

(११) ब्रह्म के आनन्दस्वरूपत्व के साथ स्वाभाविक रूप से आनन्दगुण-युक्तत्व का प्रतिपादन।

(१२) भेद-प्रतिपादक और अभेद-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों के परस्पर अविरोध का प्रदर्शन।

(१३) स्मृति और पुराण एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म के परमार्थत्व और अन्य के अपारमार्थिकत्व का प्रतिपादन करते हैं, इस पक्ष का निराकरण करते हुए यह प्रदर्शित करना कि वेदान्त-वाक्यों के समान स्मृति और पुराण भी ब्रह्म के सविशेषत्व और जगत् के सत्यत्व तथा चित्, अचित् एवं ब्रह्म के स्वरूपतः परस्पर-भेद का प्रतिपादन करते हैं।

(१४) निर्विशेष स्वयंप्रकाश ब्रह्म में ईश और ईशितव्य आदि अनन्त विकल्पों से युक्त जगत् दोषपरिकल्पित है और वह दोष ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान कर उसमें अनन्त विक्षेपों को प्रदर्शित करने वाली सदसदनिर्वचनीय अनादि अविद्या है, शंकर के इस मत का प्रस्तावन।

(१५) शंकर के उक्त मत का निराकरण करने के लिए उस में सप्तविध अनुपपत्तियों के प्रदर्शन को प्रस्तुत करते हुए उक्त अविद्या के सम्बन्ध में आश्रयानुपपत्ति का प्रदर्शन।

(१६) उक्त अविद्या के द्वारा ब्रह्मस्वरूपतिरोधान की अनुपपत्ति का प्रदर्शन।

(१७) उक्त अविद्या के स्वरूप की अनुपपत्ति का प्रदर्शन।

(१८) उक्त अविद्या के अनिर्वचनीयत्व की अनुपपत्ति का प्रदर्शन।

(१९) उक्त अविद्या की सिद्धि में प्रमाणों की अनुपपत्ति का प्रदर्शन; साथ में 'सत्ख्याति' का समर्थन।

(२०) निर्विशेषब्रह्मविज्ञान के अविद्यानिवर्तकत्व की अनुपपत्ति का प्रदर्शन करते हुए सविशेष ब्रह्म के ज्ञान से मोक्षसिद्धि का प्रतिपादन; साथ में 'अपर्यवसानवृत्ति' का निरूपण एवं संक्षेप में अपने दार्शनिक सिद्धान्त का उपन्यास।

(२१) ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान से अविद्यानिवृत्ति की अनुपपत्ति का प्रदर्शन और उसके साथ शांकरमतनिराकरण का उपसंहार।

(२२) सूत्रार्थ-योजना के लिए केवल कार्यार्थ में शब्द के प्रामाण्य को मानने वाले मीमांसक के मत का पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तावन।

(२३) उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्ध वस्तु में भी शब्दव्युत्पत्ति का प्रदर्शन कर प्रस्तुत अधिकरण के सिद्धान्तपक्ष के रूप में शास्त्रारम्भ के औचित्य का समर्थन।

२—**जन्माद्यधिकरण**—सू० १।१।२ (जन्माद्यस्य यतः)—

जगज्जन्मादिकारण रूप में जिज्ञास्य ब्रह्म का परिचय और साथ में यह प्रतिपादन कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' आदि वेदान्त-वाक्यों के द्वारा उक्त ब्रह्म की लक्षणतः प्रतिपत्ति हो सकती है।

३—**शास्त्रयोनित्वाधि०**—सू० १।१।३ (शास्त्रयोनित्वात्)—

ब्रह्म के अनुमानादिगम्यत्व का निराकरण करते हुए शास्त्रैकप्रमाणकत्व का प्रतिपादन।

४—**समन्वयाधि०**—सू० १।१।४ (तत्तु समन्वयात्)—

पूर्वपक्षी मीमांसक के इस पक्ष का निराकरण करते हुए कि प्रवृत्तिनिवृत्ति-प्रतिपादक होने के कारण शास्त्र प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरही ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकता, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कि ब्रह्म के परम-पुरुषार्थ होने के कारण उसमें पुरुषार्थप्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादक रूप से समन्वय हो सकता है और फलतः ब्रह्म का शास्त्रप्रमाणकत्व अक्षुण्ण है।

प्रासंगिक रूप से साथ में निष्प्रपञ्चीकरणनियोगवाद, ध्याननियोग-वाद, शंकर के मायावाद एवं भास्कर के भेदाभेदवाद आदि वादों का निराकरण।

प्रस्तुत पाद के अवशिष्ट अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है। अधिकरण निम्न प्रकार से हैं—

५—ईक्षत्यधि०—सू० १।१।५-१२ (ईक्षतेः०—श्रुतत्वाच्च)।
६—आनन्दमयाधि०—सू० १।१।१३-२० (आनन्दमयः०—अस्मिन्नस्य च०)।
७—अन्तरधि०—सू० १।१।२१-२२ (अन्तः०—भेद०)।
८—आकाशाधि०—सू० १।१।२३ (आकाशः०)।
९—प्राणाधि०—सू० १।१।२४ (अत एव प्राणः)।
१०—ज्योतिरधि०—सू० १।१।२५-२८ (ज्योतिः०—उपदेशभेदा०)।
११—प्राणाधि०—सू० १।१।२९-३२ (प्राणः०—जीवमुख्यप्राण०)।

अध्याय १ पाद २

उक्त पाद में निम्न ६ अधिकरण हैं और इन सब का विषय 'श्रुति-वाक्य-समन्वय' है:—

१—सर्वत्रप्रसिद्ध्यधि०—सू० १।२।१-८ (सर्वत्र०—सम्भोगप्राप्तिः०)।
२—अत्त्रधि०—सू० १।२।९-१२ (अत्ता०—विशेषणाच्च)।
३—अन्तराधि०—सू० १।२।१३-१८ (अन्तरः०—अनवस्थितेः०)।
४—अन्तर्याम्यधि०—सू० १।२।१९-२१ (अन्तर्याम्यधि०—उभये०)।
५—अदृश्यत्वादिगुणकाधि०—सू० १।२।२२-२४ (अदृश्यत्वा०—रूपोप०)।
६—वैश्वानराधि०—सू० १।२।२५-३३ (वैश्वानरः०—आमनन्ति०)।

अध्याय १ पाद ३

उक्त पाद में ७ प्रमुख अधिकरण हैं, जिनका विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है। इनमें से षष्ठ अधिकरण (प्रमिताधिकरण) के अन्तर्गत ३ अवान्तर अधिकरण हैं, जिनके कि विषय प्रासंगिक हैं। इस प्रकार प्रस्तुत पाद में कुल १० निम्न अधिकरण हैं:—

१—द्युभ्वाद्यधि०—सू० १।३।१-६ (द्युभ्वा—स्थित्य०)।
२—भूमाधि—सू० १।३।७-८ (भूमा०—धर्मोप०)।
३—अक्षराधि०—सू० १।३।९-११ (अक्षर०—अन्यभाव०)।
४—ईक्षतिकर्माधि०—सू० १।३।१२ (ईक्षतिकर्म०)।

५—दहराधि०—सू० १।३।१३-२२ (दहरः०—अपि स्मर्यते)।

६—प्रमिताधि०—सू० १।३।२३-४१ (शब्दादेव०—ज्योतिर्दर्शनात्)।

सू० १।३।२३-२४ और १।३।४०-४१ उक्त अधिकरण (प्रतिमाधि०) का प्रमुख भाग है, जिसका विषय प्रस्तुत पाद के अन्य अधिकरणों के समान 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है, अवशिष्ट सूत्रों में उक्त अधिकरण के अन्तर्गत निम्न तीन अवान्तर अधिकरण हैं, जिनका विषय 'ब्रह्मविद्याधिकार' है—

७—देवताधि०—सू० १।३।२५-२९ (तदुपर्यपि०—समाननाम०):—

ब्रह्मविद्या में देवों के अधिकार के सम्बन्ध में विचार।

८—मध्वधि०—सू० १।३।३०-३२ (मध्वादि०—भावं तु)—

ऐसी ब्रह्मविद्याओं में, जिनमें कि स्वयं देव ही उपास्य प्रतीत होते हैं, देवों के अधिकार के सम्बन्ध में विचार।

९—अपशूद्राधि०—सू० १।३।३३-३९ (शुगस्य०—स्मृतेश्च)—

ब्रह्मविद्या में शूद्रों के अधिकार के सम्बन्ध में विचार।

(सू० १।३।४०-४१ में प्रमिताधिकरण का अवशिष्ट अंश है, जो कि 'प्रमिताधिकरणशेष' के नाम से अभिहित है।)

१०—अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधि०—सू० १।३।४२-४४ (आकाशः०—पत्यादि०)—

श्रुतिवाक्य-समन्वय।

अध्याय १ पाद ४

उक्त पाद में निम्न ८ अधिकरण हैं, जिनमें प्रथम ६ का विषय 'श्रुति-वाक्य-समन्वय' है और अवशिष्ट अधिकरणों के अन्य विषय हैः—

१—आनुमानिकाधि०—सू० १।४।१-७ (आनुमानिक०—महद्वच्च)।

२—चमसाधि०—सू० १।४।८-१० (चमस०—कल्पनोप०)।

३—संख्योपसंग्रहाधि०—सू० १।४।११-१३ (न संख्योप०—ज्योतिषै०)।

४—कारणत्वाधि०—सू० १।४।१४-१५ (कारणत्वेन०—समाकर्षात्)।

५—जगद्वाचित्वाधि०—सू० १।४।१६-१८ (जगद्०—अन्या०)।

६—वाक्यान्वयाधि०—सू० १।४।१९-२२ (वाक्यान्वयात्—अवस्थितेरिति)।

७—प्रकृत्यधि०—सू० १।४।२३-२८ (प्रकृतिश्च०—योनिश्च हि गीयते)—

ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन।

८—सर्वव्याख्यानाधि०—सू० १।४।२९ (एतेन सर्वे)—

समन्वयाध्याय के विषय का उपसंहार।

अध्याय २ पाद १

१—स्मृत्यधिक०—सू० २।१।१-२ (स्मृत्यनवकाश०—इतरेषाम्०)—

समन्वयाध्याय में प्रस्तुत श्रुतिवाक्य–समन्वय और ब्रह्मकारणवाद के विषय में स्मृतिविरोध के आधार पर सांख्य द्वारा किए हुए आक्षेप का निराकरण।

२—योगप्रत्युक्त्यधि०—सू० २।१।३ (एतेन योगः प्रत्युक्तः)—

उक्त निराकरण के अतिदेश से योगस्मृति-निराकरण।

३—विलक्षणत्वाधि०—सू० २।१।४-१२ (न विलक्षणत्वा०—अन्यथानुमेय०)–

कार्यकारणवैलक्षण्य के आधार पर ब्रह्मकारणवाद के विषय में किए हुए आक्षेप का निराकरण।

४—शिष्टापरिग्रहाधि०—सू० २।१।१३ (एतेन शिष्टा०)—

उक्त निराकरण के अतिदेश से अन्य शिष्टापरिगृहीत मतों का सामान्यतः निराकरण।

५—भोक्त्रापत्त्यधि०—सू० २।१।१४ (भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्०)—

ब्रह्मकारणवाद के अनुसार कार्य जगत् में जीवेश्वर-स्वभाव-विभाग के यथावस्थित बने रहने का प्रतिपादन।

६—आरम्भणाधि०—सू० २।१।१५-२० (तदनन्यत्व०—यथाच०)—

कारण ब्रह्म से कार्य जगत् के अनन्यत्व का प्रतिपादन और प्रासंगिक रूप से वैशेषिकमत तथा शंकर, भास्कर एवं यादवप्रकाश के मतों का निराकरण।

७—इतरव्यपदेशाधि०—सू० २।१।२१-२३ (इतरव्यप०—अश्मादि०)—

जीव के हिताकरण के आधार पर ब्रह्मकारणवाद के विषय में किए हुए आक्षेप का निराकरण।

८—उपसंहारदर्शनाधि०—सू० २।१।२४-२५ (उपसंहार०—देवादि०)—

कारणकलापोपसंहारसापेक्षत्व के आधार पर ब्रह्मकारणवाद के विषय में किए हुए आक्षेप का निराकरण।

९—कृत्स्नप्रसक्त्यधि०—सू० २।१।२६-३१ (कृत्स्नप्रसक्ति०—विकरण०)—

ब्रह्म की कृत्स्नप्रसक्ति के आधार पर ब्रह्मकारणवाद के विषय में किए हुए आक्षेप का निराकरण।

१०—प्रयोजनवत्त्वाधि०—सू० २।१।३२-३६ (न प्रयोजन०—सर्वधर्मोप०)—

जगत्सृष्टि के प्रयोजनवत्त्व के आधार पर ब्रह्मकारणवाद के विषय में किए हुए आक्षेप का निराकरण।

अध्याय २ पाद २

१—रचनानुपपत्त्यधि०—सू० २।२।१-६ (रचनानुप०—विप्रतिषेधा०)—

प्रधानकारणवादी सांख्यमत का निराकरण।

२—महद्दीर्घाधि०—सू० २।२।१०-१६ (महद्दीर्घ०—अपरिग्रहा०)—

परमाणुकारणवादी वैशेषिकमत का निराकरण।

३—समुदायाधि०—सू० २।२।१७-२६ (समुदाय०—उदासीना०)—

बाह्यार्थास्तित्ववादी वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक बौद्धमतों का निराकरण।

४—उपलब्ध्यधि०—सू० २।२।२७-२६ (नाभावः०—न भावो०)—

विज्ञानमात्रास्तित्ववादी योगाचार बौद्धमत का निराकरण।

५—सर्वथानुपपत्त्यधि०—सू० २।२।३० (सर्वथानुपपत्तेश्च)—

सर्वशून्यवादी माध्यमिक बौद्धमत का निराकरण।

६—एकस्मिन्नसम्भवाधि०—सू० २।२।३१-३४ (नैकस्मिन्०—अन्त्या०)—

अनेकान्तवादी जैनमत का निराकरण।

७—पशुपत्यधि०—सू० २।२।३५-३८ (पत्युः०—अन्तवत्त्व०)—

केवलनिमित्तकारणवादी पाशुपतमत का निराकरण।

८—उत्पत्त्यसम्भवाधि०—सू० २।२।३९-४२ (उत्पत्त्य०—विप्रति०)—

'पंचरात्र' के आपातप्रतीत जीवोत्पत्ति-प्रतिपादन के आधार पर पांचरात्रमत के सम्बन्ध में किए गए आक्षेप का निराकरण करते हुए उक्त मत का समर्थन।

अध्याय २ पाद ३

१—वियदधि०—सू० २।३।१-६ (न वियदश्रुतेः—असम्भवस्तु०)—

आकाश आदि तत्त्वों की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

२—तेजोऽधि०—सू० २।३।१०-१७ (तेजोऽतः०—चराचर०)—

तत्त्वों की उत्पत्ति केवल तत्त्वान्तरों से नहीं, अपितु तत्त्वान्तरशरीरक ब्रह्म से होती है, इस विषय का प्रतिपादन।

३—आत्माधि०—सू० २।३।१८ (नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः)—

जीवात्मा की उत्पत्ति का निषेध कर उसके नित्यत्व का प्रतिपादन,

साथ में प्रासंगिक रूप से शंकर, भास्कर आदि के मतों का निराकरण।

४—ज्ञाधि०—सू० २।३।१९-३२ (ज्ञोऽत एव—नित्योप०)—
जीवात्मा के स्वाभाविक ज्ञातृत्व एवं अणुत्व का प्रतिपादन।

५—कर्त्रधि०—सू० २।३।३३-३९ (कर्त्ता०—यथा च०)—
जीवात्मा के स्वाभाविक कर्तृत्व का प्रतिपादन।

६—परायत्ताधि०—सू० २।३।४०-४१ (परात्तु०—कृतप्रयत्ना०)—
जीव का स्वाभाविक कर्तृत्व परमात्मायत्त है, यह प्रतिपादन।

७—अंशाधि०—सू० २।३।४२-५२ (अंशोनाना०—प्रदेशभेदा०)—
जीवात्मा के परमात्मांशत्व का प्रतिपादन और साथ में उक्त परमात्मांशत्व के सम्बन्ध में अन्य मतों के द्वारा प्रदर्शित उपपत्तियों की आलोचना करते हुए स्वाभिमत उपपत्ति का प्रदर्शन।

अध्याय २ पाद ४

१—प्राणोत्पत्त्यधि०—सू० २।४।१-३ (तथा प्राणाः—तत्पूर्वं०)—
इन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

२—सप्तगत्यधि०—सू० २।४।४-५ (सप्त०—हस्तादयस्तु०)—
इन्द्रियों की संख्या पर विचार।

३—प्राणाणुत्वाधि०—सू० २।४।६-७ (अणवश्च—श्रेष्ठश्च)—
इन्द्रियों के अणुत्व और मुख्यप्राण की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

४—वायुक्रियाधि०—सू० २।४।८-११ (न वायु०—पञ्चवृत्ति०)—
मुख्यप्राण के स्वरूप एवं व्यापार पर विचार।

५—श्रेष्ठाणुत्वाधि०—सू० २।४।१२ (अणुश्च)—
मुख्यप्राण के अणुत्व का प्रतिपादन।

६—ज्योतिराद्यधि०—सू० २।४।१३-१४ (ज्योतिराद्य०—तस्य च०)—
अग्नि आदि देवता एवं जीव इन्द्रिय और प्राण का अधिष्ठान परमात्मा के संकल्प से करते हैं, यह प्रतिपादन।

७—इन्द्रियाधि०—सू० २।४।१५-१६ (त इन्द्रियाणि०—भेदश्रुतेः०)—
इन्द्रिय और प्राण के स्वरूप-भेद पर विचार।

८—संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधि०—सू० २।४।१७-१९ (संज्ञामूर्ति०—वैशेष्यात्तु०)—
समष्टि-सृष्टि के समान नामरूपव्याकरणात्मक व्यष्टि-सृष्टि का कर्त्ता भी परमात्मा ही है, यह प्रतिपादन।

अध्याय ३ पाद १

१—तदन्तरप्रतिपत्त्यधि०—सू० ३।१।१-७ (तदन्तर०—भाक्तं वा०)—

शरीरन्तर प्राप्त करने के लिए गमन करने वाला जीव भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर प्रयाण करता है, यह प्रतिपादन ।

२—कृतात्याधि०—सू० ३।१।८-११ (कृतात्यये०—सुकृत०)—

लोकान्तर से लौटने वाला जीव कर्मविशेष के साथ लौटता है, यह प्रतिपादन ।

३—अनिष्टादिकार्यधि०—सू० ३।१।१२-२१ (अनिष्टादि०—तृतीय०)—

पापात्मा देहपरित्याग के बाद पुण्यात्माओं के समान चन्द्रलोक को गमन नहीं करते, यह प्रतिपादन ।

४—तत्स्वाभाव्याधि०—सू० ३।१।२२ (तत्स्वाभाव्या०)—

लोकान्तर से लौटने वाला जीव जिन आकाश आदि रूपों को प्राप्त करता है, वे देव, मनुष्य आदि रूपों के समान उसे अपने लिए नहीं मिले, उनके साथ तो केवल उसकी सादृश्यापत्ति होती है, यह प्रतिपादन ।

५—नातिचिराधि०—सू० ३।१।२३ (नातिचिरेण०)—

उक्त आकाश आदि रूपों में जीव बहुत समय तक नहीं रहता, यह प्रतिपादन ।

६—अन्याधिष्ठिताधि०—सू० ३।१।२४-२७ (अन्या०—योनेः०)—

उक्त आकाश आदि रूप अन्य जीवों के द्वारा स्वकर्मफलयोग के लिए अधिष्ठित होते हैं और लोकान्तर से लौटने वाला जीव उनके साथ केवल संश्लेष प्राप्त करता है, उनके द्वारा भोग नहीं भोगता; भोग शरीर तो उसे योनि-प्राप्ति के बाद ही प्राप्त होता है, यह प्रतिपादन ।

अध्याय ३ पाद २

१—सन्ध्याधि—सू० ३।२।१-६ (सन्ध्ये०—सूचकश्च हि०)—

स्वाप्निक सृष्टि भी सत्य है और उसका कर्त्ता ईश्वर है, यह प्रतिपादन ।

२—तदभावाधि०—सू० ३।२।७-८ (तदभावः०—अतः०)—

नाड़ी और पुरीतत् में सुषुप्ति होते हुए भी जीव का साक्षात् सुषप्ति-स्थान स्वयं ब्रह्म है, यह प्रतिपादन ।

३—कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधि०—सू० २।३।९ (स एव तु०)—

जो जीव सोता है, वही उठता है, सोने के बाद बदल नहीं जाता, यह प्रतिपादन ।

४—**मुग्धाधि०**—सू० ३।२।१० (मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः०)—

मूर्च्छादशा अर्धमरणावस्था है, यह प्रतिपादन ।

५—**उभयलिङ्गाधि०**—सू० ३।२।११-२५ (न स्थान०—अतोऽनन्तेन०)—

जीव और जड तत्त्वों का अन्तर्यामी होने पर भी ब्रह्म में उनके दोष प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि ब्रह्म उभयलिङ्ग अर्थात् निरस्तनिखिलदोष और कल्याणगुणाकर है, यह प्रतिपादन, साथ ही ब्रह्म के गुणों एवं जगत् के सत्यत्व का प्रतिपादन ।

६—**अहिकुण्डलाधि०**—सू० ३।२।२६-२९ (उभयव्यप०—प्रतिषेधाच्च)—

प्रमुख रूप से अचिद् वस्तु के ब्रह्मरूपत्वप्रकार का प्रदर्शन करते हुए यह प्रतिपादन कि चिदचिद् तत्त्व ब्रह्म के विशेषणस्थानीय हैं और ब्रह्म उनका विशेष्यस्थानीय है

७—**पराधि०**—सू० ३।२।३-३६ (परमतः०—अनेन सर्व०)—

ब्रह्म के परात्परत्व का प्रतिपादन ।

८—**फलाधि०**—सू० ३।२।३७-४० (फलमतः०—पूर्वं तु०)—

ब्रह्म के सर्वफलप्रदत्व का प्रतिपादन ।

अध्याय ३ पाद ३

१—**सर्ववेदान्तप्रत्ययाधि०**—सू० ३।३।१-५ (सर्ववेदान्त०—उपसंहारः०)—

भिन्न-भिन्न शाखाओं में पठित समान विद्याएँ सर्ववेदान्तप्रत्ययन्याय से एक हैं और इसलिए उनमें परस्पर गुणों का उपसंहार करना चाहिए, यह प्रतिपादन ।

२—**अन्यथात्वाधि०**—सू० ३।३।६-९ (अन्यथात्वम्—व्याप्तेश्च०)—

छान्दोग्य (१।१-५) और बृहदारण्यक (१।३) में पठित उद्गीथ विद्या एक है या परस्पर-भिन्न, इस विषय पर विचार ।

३—**सर्वाभेदाधि०**—सू० ३।३।१० (सर्वाभेदा०)—

छान्दोग्य (५।१), बृहदारण्यक (६।१) और कौषितकि (३) में पठित प्राणविद्या एक है या परस्पर-भिन्न, इस विषय पर विचार ।

४—**आनन्दाधि०**—सू० ३।३।११-१७ (आनन्दादयः०—अन्यादिति०)—

ब्रह्मस्वरूपानुसन्धान जिन गुणों के विना हो ही नहीं सकता, ऐसे

ब्रह्मस्वरूपनिरूपक सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि गुणों का उपसंहार सभी ब्रह्म-विद्याओं में करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

५—कार्याख्यानाधि०—सू० ३।३।१८ (कार्याख्यानादपूर्वम्)—

छान्दोग्य (५।१) और बृहदारण्यक (६।१) में पठित प्राणविद्या के विषय में यह प्रतिपादन कि उसमें आचमनीय जल का उपास्य प्राण के वस्त्र के रूप में अनुसन्धान करने का विधान है।

६—समानाधि०—सू० ३।३।२६ (समान एवम्०)—

वाजसनेयक अग्निरहस्य (शत० ब्रा० १०।६) और बृहदारण्यक (५।६) में पठित शाण्डिल्यविद्या एक ही है, यहप्रतिपादन।

७—सम्बन्धाधि०—सू० ३।३।२०-२२ (सम्बन्धा०-दर्शयति च)—

बृहदारण्यक (५।५) में आदित्यमण्डल और नेत्र में सत्य ब्रह्म की उपासना बताकर जो 'तस्योपनिषदहरिति' और 'तस्योपनिषदहमिति', ये दो उपनिषद् (रहस्य) बताये गए हैं, वे क्रमशः आदित्यमण्डल और नेत्र से सम्बद्ध उक्त उपासना में पृथक्-पृथक् व्यवस्थायनीय हैं या अनियम से दोनों ही दोनों स्थानों से सम्बद्ध उपासना में उपसंहरणीय है, इस विषय पर विचार।

८—सम्भृत्यधि०—सू० ३।३।२३ (सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः)—

'ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि० (तै० ब्रा० २।४।६) वाक्य में पठित सम्भृति, द्युव्याप्ति आदि गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार करना चाहिये या नहीं, इस विषय पर विचार।

९—पुरुषविद्याधि०—सू० ३।३।२४ (पुरुषविद्या०)—

तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् (८०) और छान्दोग्य (३।१६) में पठित पुरुषविद्या एक ही है या परस्पर-भिन्न, इस विषय विचार।

१०—वेधाद्यधि०—सू० ३।२।२५ (वेद्याद्यर्थ०)—

उपनिषदों के आरम्भ में अधीत 'शुक्रं प्रविध्य०' आदि मन्त्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म विद्या के अङ्ग हैं या नहीं, इस विषय पर विचार।

११—हान्यधि—सू० ३।३।२६ (हानौ तूपायन०)—

विभिन्न विद्याओं के प्रकरणों में कहीं तो विद्वान् के सुकृत और दुष्कृत कर्मों का केवल विनाश कहा गया है और कहीं उनकी उसके सुहृद् और दुर्हृदों में प्राप्ति, तो उक्त विनाश और प्राप्ति श्रुतानुसार पृथक्-पृथक् व्यवस्थापनीय हैं या दोनों सभी विद्याओं में उपसंहरणीय हैं, इस विषय पर विचार।

१२—साम्परायाधि०—सू० ३।३।२७-३१ (साम्पराये०—यावदधि०)—

विद्वान् के कर्मों का विनाश देह-वियोग-काल में ही होजाता है या देह से उत्क्रान्त होने के बाद मार्ग में होता है, इस विषय पर विचार।

१३—अनियमाधि०—सू० ३।३।३२ (अनियमस्सर्वेषाम्०)—

जिन उपासनाओं में अर्चिरादिगति का श्रवण है, उन्हीं को करने वाले उपासकों को उक्त गति प्राप्त होती है या समान रूप से सभी ब्रह्मोपासनाओं के करने वालों को, इस विषय पर विचार।

१४—अक्षरध्यधि०—सू० ३।३।३३-३४ (अक्षरधियाम्०—इयदामननात्)—

मुण्डक (१।१) और बृहदारण्यक (३।८) में श्रुत अक्षरसम्बन्धी अस्थूलत्व आदि गुणों का सभी ब्रह्मविद्याओं में उपसंहार करना चाहिए, यह प्रतिपादन ।

१५—अन्तरत्वाधि०—सू० ३।३।३५-३७ (अन्तरा०—सैव हि०)—

बृहदारण्यक (२।४) में उषस्त और कहोल को उपदिष्ट विद्याएँ एक ही हैं या परस्पर-भिन्न, इस विषय पर विचार।

१६—कामाद्यधि०—सू० ३।३।३८-४० (कामादी०—उपस्थिते०)—

छान्दोग्य (८।१) में पठित दहरविद्या और बृहदारण्यक (४।४) में पठित 'स वा एष महानज आत्मा' आदि विद्या एक ही हैं या परस्पर-भिन्न, इस विषय पर विचार।

१७—तन्निर्धारणानियमाधि०—सू० ३।३।४१ (तन्निर्धारणा०)—

कर्माङ्गाश्रय उपासनाओं का कर्मों में अनिवार्य रूप से उपसंहार करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

१८—प्रदानाधि०—सू० ३।३।४२ (प्रदानवदेव०)—

दहरविद्या (छान्दोग्य ८।१) में परमात्मा की उपासना बता कर उसके गुणों की उपासना भी पृथक् रूप से बताई गई है अतः स्वरूप में अनुसंहित परमात्मा का तत्तद् गुण से विशिष्ट रूप में भी अनुसन्धान आवृत्त करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

१९—लिङ्गभूयस्त्वाधि०—सू० ३।३।४३ (लिङ्गभूयस्त्वात्०)—

तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् (१२) में दहरविद्या के अनन्तर जो 'सहस्रशीर्षं देवम्···सोऽक्षरः परमः स्वराट्' (नै० ना० उप० १३) अधीत है, उस के द्वारा केवल उक्त दहरविद्या के उपास्य का विशेषनिर्धारण है, या सभी ब्रह्मविद्याओं के उपास्य का विशेषनिर्धारण है, इस विषय पर विचार।

२०—पूर्वविकल्पाधि०—सू० ३।३।४४-५० (पूर्वविकल्पः०—परेण च०)—

वाजसनेयक अग्निरहस्य (शत० ब्रा० १०।५) में श्रुत 'मनश्चित' आदि अग्नि क्रियारूप हैं या विद्यारूप, इस विषय पर विचार।

२१—शरीरे भावाधि०—सू० ३।३।५१-५२ (एक आत्मनः०—व्यतिरेकः०)—

उपासक को अपने स्वरूप का किस रूप में अनुसन्धान करना चाहिए, इस विषय पर विचार।

२२—अङ्गावबद्धाधि०—सू० ३।३।३५-५४ (अङ्गावबद्धास्तु०-मन्त्रादिवद्वा०)-

क्रत्वङ्गाश्रय उपासनाएँ जिन शाखाओं में श्रुत हैं, उन्हीं में नियत माननी चाहिए या उनका सभी शाखाओं से सम्बन्ध मानना चाहिए, इस विषय पर विचार।

२३—भूमज्यायस्त्वाधि०—सू० ३।३।५५ (भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वम्०)—

छान्दोग्य (५।११-२४) में पठित वैश्वानरविद्या के द्वारा उपास्य विश्वरूप वैश्वानर की व्यस्त रूप में उपासना करनी चाहिए या समस्त रूप में, इस विषय पर विचार।

२४—शब्दादिभेदाधि०—सू० ३।३।५६ (नाना शब्दादिभेदात्)—

सद्विद्या, भूमविद्या, दहरविद्या आदि ब्रह्मविद्याएँ स्वरूपतः एक हैं या पृथक्-पृथक्, इस विषय पर विचार।

२५—विकल्पाधि०—सू० ३।३।५७-५८ (विकल्पोऽविशिष्ट०—काम्यास्तु०)-

विभिन्न ब्रह्मविद्याओं का समुच्चय आवश्यक है या वैकल्पिक रूप से किसी एक के द्वारा ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, इस विषय पर विचार; साथ ही स्वर्गादिफलक काम्यविद्याओं के सम्बन्ध में भी उक्त विचार।

२६—यथाश्रयभावाधि०—सू० ३।३।५९-६४ (अङ्गेषु०—दर्शनाच्च)—

क्रत्वङ्गाश्रय उपासनाओं का क्रतुओं में अनिवार्य से रूप अनुष्ठान करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार (इस अधिकरण में नवीन विषय नहीं, प्रस्तुत पाद के अधिकरण १७ के विषय का ही दृढीकरण है)।

अध्याय ३ पाद ४

१—पुरुषार्थाधि०—सू० ३।४।१-२० (पुरुषार्थोऽतः०—विधिर्वा०)—

विद्या से पुरूषार्थ की प्राप्ति होती है या विद्याङ्गक कर्म से, इस विषय पर विचार।

२—स्तुतिमात्राधि०—सू० ३।४।२१-२२ (स्तुतिमात्रम्०—भावशब्दाच्च)—

'स एष रसानां रसतमः···'(छान्दोग्य १।१।३) आदि वाक्य क्रत्वव-

यवभूत उद्गीथादि की केवल स्तुति करने के लिए हैं या उनमें रसतमादि दृष्टि के विधान के लिए हैं, इस विषय पर विचार।

३—पारिप्लवार्थाधि—सू० ३।३।२३-२४ (पारिप्लवार्था इति०–तथा चैक०)–

उपनिषदों में वर्णित आख्यान पारिप्लव-प्रयोग के लिए हैं या विद्या-विशेष के प्रतिपादन के लिए हैं, इस विषय पर विचार।

४—अग्नीन्धनाद्यधि०—सू० ३।४।२५ (अत एव चाग्नी०)—

ऊर्ध्वरेता आश्रमों के विद्याधिकार के सम्बन्ध से यह प्रतिपादन कि उक्त आश्रमों में अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान के विना ही विद्या की सिद्धि होती है।

५—सर्वापेक्षाधि०—सू० ३।४।२६ (सर्वापेक्षा च०)—

गृहस्थ ब्रह्मोपासक को विद्या के साथ अग्निहोत्र आदि कर्मों का भी अनुष्ठान करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

६—शमदमाद्यधि०—सू० ३।४।२७ (शमदमाद्युपेतः०)—

गृहस्थ ब्रह्मोपासक को शम, दम आदि का भी अनुष्ठान या अभ्यास करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

७—सर्वान्नानुमत्यधि०—सू० ३।४।२८-३१ (सर्वान्ना०—शब्दश्चा०)—

विद्यानिष्ठ को आहार-विहार के सम्बन्ध में स्वेच्छाचार नहीं करना चाहिये, यह प्रतिपादन।

८—विहितत्वाधि०—सू० ३।४।३२-३५ (विहितत्वा०—अनभिभवं च०)—

यज्ञादि कर्म आश्रमाङ्ग रूप में भी किए जा सकते हैं और विद्याङ्ग रूप में भी, साथ ही उक्त दोनों रूपों में उनका स्वरूप समान ही है, यह प्रदिपादन।

९—विधुराधि०—सू० ३।४।३६-३९ (अन्तरा चापि—अतस्त्वित०)—

अनाश्रमी का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं, इस विषय पर विचार।

१०—तद्भूताधि०—सू० ३।४।४०-४३ (तद्भूतस्य तु०—बहिस्तू०)—

नैष्ठिक, वैखानस आदि आश्रमों से भ्रष्ट व्यक्ति का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं, इस विषय पर विचार।

११—स्वाम्यधि०—सू० ३।४।४४-४५ (स्वामिनः०—आर्त्विज्यम्०)—

कर्माङ्गाश्रय उद्गीथ आदि उपासनायें यजमान को करनी चाहिये या ऋत्विक् को, इस विषय पर विचार।

१२--सहकार्यन्तरविध्यधि०--सू० ३।४।४६-४८ (सहकार्यन्तर०-मौन०)—

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य······अथ मुनिः' (बृहदारण्यक ३।५।१) वाक्य में पाण्डित्य और बाल्य के समान मौन का भी विधान किया गया है या केवल अनुवाद, इस विषय पर विचार।

१३—अनाविष्काराधि—सू० ३।४।४९ (अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्)—

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृहदारण्यक ३।५।१) के बाल्य-विधान का क्या तात्पर्य है, इस विषय पर विचार।

१४--ऐहिकाधि०--सू० ३।४।५० (ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे०)—

अभ्युदयफलक उपासनाएँ कब सिद्ध होती हैं--इसी जन्म में या जन्मान्तर में, इस विषय पर विचार।

१५--मुक्तिफलाधि०--सू ३।४।५१ (एवं मुक्तिफलानियमः०)

मुक्तिफलक उपासनाएँ कब सिद्ध होती हैं--इसी जन्म में या जन्मान्तर में, इस विषय पर विचार।

अध्याय ४ पाद १

१--आवृत्त्यधि०—सू० ४।४।१-२ (आवृत्तिः०--लिङ्गाच्च)—

ब्रह्मोपासना की असकृत् आवृत्ति करनी चाहिए, यह प्रतिपादन।

२--आत्मत्वोपासनाधि०--सू० ४।१।३ (आत्मेति तूपगच्छन्ति०)—

उपासक को ब्रह्म की उपासना इस रूप में करनी चाहिए कि वह अपना आत्मा है, यह प्रतिपादन।

३--प्रतीकाधि०--सू० ४।१।४-५ (न प्रतीके०—ब्रह्मदृष्टिः०)—

प्रतीक में आत्मत्वानुसन्धान नहीं करना चाहिए, साथ ही प्रतीक में ब्रह्म-दृष्टि करना तो उचित है, किन्तु ब्रह्म में प्रतीक-दृष्टि करना उचित नहीं, यह प्रतिपादन।

४--आदित्यादिमत्यधि०--सू० ४।१।६ (आदित्यादिमतयश्चाङ्गे)—

उद्गीथ आदि कर्माङ्गों में आदित्य आदि की दृष्टि करनी चाहिए, यह प्रतिपादन।

५--आसीनाधि०—सू० ४।१।७-११ (आसीनः०--यत्रैकाग्रता०)--

उपासना बैठ कर करनी चाहिए और जिस देश तथा काल में एकाग्रता हो सके वही उपासना के लिए उपयुक्त देश और काल है, यह प्रतिपादन।

६—आप्रयाणाधि०—सू० ४।१।१२ (आप्रयाणात्तत्रापि०)—

देहपरित्यागपर्यन्त ब्रह्मोपासना की आवृत्ति करते रहना चाहिये, यह प्रतिपादन।

७—तदधिगमाधि०—सू० ४।१।१३ (तदधिगम उत्तरपूर्वा०)—

विद्या की प्राप्ति (सिद्धि) होने पर उसकी महिमा से पूर्वकृत पापों का विनाश हो जाता है और उत्तरकालीन पापों का श्लेष नहीं होता, यह प्रतिपादन।

८—इतराधि०—सू० ४।१।१४ (इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु)—

विद्या की सिद्धि होने पर पुण्यकर्मों की भी उक्त स्थिति होती है; इतना अवश्य है कि विद्यानुगुण अन्न आदि दृष्ट फलों को देने वाले सुकृत शरीर रहने तक बने रहते हैं और उसके बाद वे भी विनष्ट हो जाते हैं यह प्रतिपादन।

९—अनारब्धकार्याधि०—सू० ४।१।१५ (अनारब्धकार्ये०)—

विद्या की सिद्धि होने पर जो पूर्वकृत कर्मों का विनाश कहा गया है, वह संचित कर्मों का ही होता है, प्रारब्ध कर्मों का नहीं, यह प्रतिपादन।

१०—अग्निहोत्राद्यधि०—सू० ४।१।१५-१८ (अग्निहोत्रादि०—यदेव०)—

अग्निहोत्र आदि नित्य-नैमित्तिक कर्म विद्या के सहकारी हैं, अतः उनका श्लेष तो होता है, जो कि विद्या के लिए आवश्यक भी है और इसीलिए उनका अनुष्ठान करते रहना चाहिए, यह प्रतिपादन।

११—इतरक्षपणाधि०—सू० ४।१।१९ (भोगेन त्वितरे०)—

प्रारब्ध कर्मों का भोग से क्षपण होने के बाद विद्वान् ब्रह्मसपन्न होता है, यह प्रतिपादन।

अध्याय ४ पाद २

१—वागधि०—सू० ४।२।१-२ (वाङ्मनसि०—अत एव०)—

स्थूल शरीर से उत्क्रान्त होने के अवसर पर विद्वान् की वागादि इन्द्रियाँ मन में सम्पन्न (संयुक्त) होती हैं, यह प्रतिपादन।

२—मनोधि०—सू० ४।२।३ (तन्मनः प्राण उत्तरात्)—

सेन्द्रिय मन प्राण में सम्पन्न होता है, यह प्रतिपादन।

३—अध्यक्षाधि०—सू० ४।२।४ (सोऽध्यक्षे०)—

इन्द्रिय और मन से संयुक्त प्राण जीव में सम्पन्न होता है, यह प्रतिपादन।

४—भूताधि०—सू० ४।२।५-६ (भूतेषु०—नैकस्मिन्०)—

इन्द्रिय, मन और प्राण से युक्त जीव भूतों में सम्पन्न होता है, यह प्रतिपादन।

५—आसृत्युपक्रमाधि०—सू० ४।२।७-१३ (समाना०—स्मर्यते०)—

अविद्वान् के समान सूक्ष्मशरीर (इन्द्रिय, मन, प्राण और भूतसूक्ष्म) से युक्त विद्वान् की भी स्थूलशरीर से उत्क्रान्ति (निष्क्रमण) होती है, यह प्रतिपादन।

६—परसम्पत्त्यधि०—सू० ४।२।१४ (तानि परे तथा ह्याह)—

इन्द्रिय, मन और प्राण सहित जीव से परिष्वक्त भूतसूक्ष्म परतत्त्व में सम्पन्न होते हैं, यह प्रतिपादन।

७—अविभागाधि०—सू० ४।२।१५ (अविभागो वचनात्)

परतत्त्व में सपन्न होने का अर्थ उसमें लीन हो जाना नहीं, अपितु उसमें अविभक्त रूप से स्थित होना है, यह प्रतिपादन।

८—तदोकोऽधि०—सू० ४।२।१६ तदोकोऽग्रज्वलनम्०)

अविद्वान् की अपेक्षा विद्वान् की उत्क्रान्ति के इस विशिष्ट प्रकार का प्रतिपादन कि विद्वान् परमात्मानुगृहीत होते हुए सुषुम्ना नाडी के द्वारा उत्क्रान्त होता है।

९—रश्म्यनुसाराधि०—सू० ४।२।१७ (रश्म्यनुसारी)—

उत्क्रान्त विद्वान् सूर्य-रश्मियों का अनुसरण करता हुआ ऊर्ध्वगमन करता है, यह प्रतिपादन।

१०—निशाधि०—सू० ४।२।१८ (निशि नेति चेन्न०)—

रात्रिकाल में उत्क्रान्त होने पर भी विद्वान् को ब्रह्म की प्राप्ति होती है, यह प्रतिपादन।

११—दक्षिणायनाधि०—सू० ४।२।१९-२० (अतश्चायनेऽपि०—योगिनः प्रति०)

दक्षिणायन में उत्क्रान्त होने पर भी विद्वान् को ब्रह्म की प्राप्ति होती है, यह प्रतिपादन।

अध्याय ४ पाद ३

१—अर्चिराद्यधि०—सू० ४।३।१ (अर्चिरादिना०)—

एकमात्र अर्चिरादिमार्ग से विद्वान् गमन करता है, यह प्रतिपादन।

२—वाय्वधि०—सू० ४।३।२ (वायुमब्दादविशेष०)—

अर्चिरादिमार्ग के विभिन्न वर्णनों का समन्वय करते हुए यह प्रतिपादन कि उक्त मार्ग में वायु संवत्सर (वर्ष) के बाद है।

३—वरुणाधि—सू० ४।३।३ (तटितोऽधि०)—

अर्चिरादिमार्ग में विद्युत् के बाद वरुण और वरुण के बाद क्रमशः इन्द्र और प्रजापति हैं, यह प्रतिपादन।

४—आतिवाहिकाधि०—सू० ४।३।४ (आतिवाहिकाः०)—

अर्चिरादिमार्ग में वर्णित 'अर्चिः' आदि विद्वानों का अतिवहन करने (ले जाने) के लिए परमपुरुष के द्वारा नियुक्त आतिवाहिक देवविशेष हैं, यह प्रतिपादन।

५—कार्याधि०—सू० ४।३।६-१५ (कार्यं बादरिरस्य०—विशेषञ्च०)—

उक्त अर्चिरादि आतिवाहिक कार्यब्रह्म के उपासकों को कार्यब्रह्म तक लेजाते हैं या परब्रह्म के उपासकों को परब्रह्म तक, इस विषय पर विचार।

अध्याय ४ पाद ४

१—सम्पद्याविर्भावाधि०—सू० ४।४।१-३ (सम्पद्याविर्भावः०—आत्मा०)—

उक्त अर्चिरादिमार्ग के द्वारा परब्रह्म-सम्पन्न होने पर जीवात्मा आविर्भूतस्वरूप एवं मुक्त होकर अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होता है, यह प्रतिपादन।

२—अविभागेन दृष्टत्वाधि०—सू० ४।४।४ (अभिभागेन०)—

मुक्तात्मा अपने को स्वान्तरात्मा परमात्मा से अविभक्त (अपृथग्भूत) रूप में अनुभव करता है, यह प्रतिपादन।

३—ब्राह्माधि०—सू० ४।४।५-७ (ब्राह्मेण०—एवमप्युप०)—

मुक्तात्मा के आविर्भूत होने वाले स्वरूप पर यह विचार कि वह ज्ञान-स्वरूप होते हुए ज्ञानादिगुणयुक्त है या चिन्मात्र।

४—संकल्पाधि०—सू० ४।४।८-९ (सङ्कल्पादेव०—अत एव०)

मुक्तात्मा कर्मानधीन है, अपने सत्यसङ्कल्प से ही उसे ऐश्वर्य-प्राप्ति होती है, यह प्रतिपादन।

५—अभावाधि०—सू० ४।४।१०-१६ (अभावम्०—स्वाप्यय०)—

मुक्तात्मा सशरीर रहता है या अशरीर, इस विषय पर विचार।

६—जगद्व्यापारवर्जाधि०—सू० ४।४।१७-२२ (जगद्व्यापार०—अनावृत्तिः०)

मुक्तात्मा के ऐश्वर्य और परमपुरुषसाम्य की सीमा का निर्धारण करते हुए अन्त में यह प्रतिपादन कि वह मुक्त ही बना रहता है, उसकी संसार में आवृत्ति नहीं होती।

अधिकरण-संख्या—१५६।

२. निम्बार्कभाष्य

अध्याय १ पाद १

१—जिज्ञासाधि०—सू० १।१।१[1] (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)—

शास्त्रप्रस्तावना।

२—जन्माद्यधि०—सू० १।१।२ (जन्माद्यस्य यतः)—

जगज्जन्मादिकारण रूप से ब्रह्म का परिचय।

३—शास्त्रयोन्यधि०—सू० १।१।३ (शास्त्रयोनित्वात्)—

ब्रह्म के शास्त्रैकप्रमाणकत्व का प्रतिपादन।

४—समन्वयाधि०—सू० १।१।४ (तत्तु समन्वयात्)—

ब्रह्म के शास्त्रप्रमाणकत्व के ऊपर मीमांसक के द्वारा उठाये गये आक्षेप का निराकरण करते हुए अपने उक्त सिद्धान्त (ब्रह्म के शास्त्रैक-प्रमाणकत्व) का दृढीकरण, साथ में ब्रह्म के शब्दाविषयत्व या अवाच्यत्व का प्रतिपादन करने वाले पूर्वपक्षी के आक्षेप का संक्षेपतः निराकरण।

इस प्रकार उक्त चार अधिकरणों में मूल रूप में विषय रामानुज-भाष्य के ही अनुसार हैं, केवल इतना अन्तर है कि जहाँ रामानुजभाष्य में विभिन्न प्रासंगिक विषयों का निरूपण एवं विरोधी मतों का निराकरण है, वहाँ निम्बार्कभाष्य में अन्य सभी स्थलों की भाँति संक्षेपतः सूत्रार्थ मात्र दिया गया है। प्रस्तुत पाद के अवशिष्ट सातों अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय भी रामानुजभाष्य के ही समान हैं।

अध्याय १ पाद २

प्रस्तुत पाद में सब अधिकरण रामानुजभाष्य के समान हैं, केवल इतना अन्तर है कि जहाँ रामानुजभाष्य में अधिकरण २ (अत्रधिकरण) ४ सूत्रों (१।२।९-१२) का माना गया है, वहाँ निम्बार्कभाष्य में उसे २ सूत्रों (१।२।९-१०) का माना गया है और अवशिष्ट सूत्रों (१।२।११-१२) में एक पृथक् अधिकरण--गुहाधिकरण--है। इस प्रकार निम्बार्कभाष्य के अनुसार प्रस्तुत पाद में रामानुजभाष्य से एक अधिक अर्थात् ७ अधिकरण हैं, किन्तु उन सब का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' ही है।

अध्याय १ पाद ३

प्रस्तुत पाद में अधिकरण और विषय रामानुजभाष्य के ही समान

---

१. सूत्राङ्क निम्बार्कभाष्य के अनुसार हैं।

हैं। सूत्रों के योगविभाग में कहीं-कहीं भेद होने के कारण सूत्राङ्क में भले ही कुछ भेद हो गया है, किन्तु अधिकरणों की पूर्वोत्तर सीमा उन्हीं सूत्रों से है, जिनसे रामानुजभाष्य में है।

अध्याय १ पाद ४

सूत्राङ्क में कहीं-कहीं भेद होने पर भी सब अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के ही समान हैं।

अध्याय २ पाद १

सूत्राङ्क में भेद होने पर भी सब अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के ही समान हैं, केवल इतना अन्तर है कि अधिकरण ६ (आरम्भणाधिकरण) में रामानुजभाष्य में प्रासंगिक रूप से जो शंकर, भास्कर और यादवप्रकाश के मतों का निराकरण है, वह निम्बार्कभाष्य में नहीं और जहाँ रामानुजभाष्य के अनुसार उक्त अधिकरण का विषय कारण ब्रह्म से कार्य जगत् के विशुद्ध अनन्यत्व का प्रतिपादन है, वहाँ निम्बार्कभाष्य के उक्त अधिकरण में अनन्यत्व के साथ 'नत्वत्यन्तभिन्नत्वम्' के द्वारा भिन्नत्व के प्रतिपादन की ओर भी झुकाव है।

अध्याय २ पाद २

सूत्राङ्क में भेद होने पर भी सब अधिकरण और उनकी पूर्वोत्तर सीमाएँ रामानुजभाष्य के समान हैं। अन्तिम अधिकरण (उत्पत्त्यसभवाधिकरण) को छोड़कर सब अधिकरणों के विषय भी रामानुजभाष्य के ही समान हैं। 'उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण' का विषय जहाँ रामानुजभाष्य के अनुसार आक्षेपनिराकरणपूर्वक पांचरात्रमतसमर्थन है, वहाँ निम्बार्कभाष्य के अनुसार शाक्तमतनिराकरण है।

अध्याय २ पाद ३

१—**वियदधि०**—सू० २।३।१-६ (न वियदश्रुतेः—यावद्विकारन्तु०)—
आकाश आदि तत्त्वों की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

२—**मातरिश्वाधि०**—सू० २।३।७ (एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः)—
आकाशोत्पत्ति के अतिदेश से वायु की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

३—**असम्भवाधि०**—सू० २।३।८ (असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः)—
जगत्कारण 'सत्' की अनुत्पत्ति का प्रतिपादन।

४—**तेजोऽधि०**—सू० २।३।९-१३ (तेजोऽतः०—तदभिध्यानात्तु०)—
तत्त्व अपने पूर्ववर्ती तत्त्व से उत्पन्न होते हैं या तदन्तरात्मा परमात्मा से, इस विषय पर विचार।

उक्त सूत्रों में अधिकरण-भेद होने पर भी सब विषय रामानुजभाष्य के ही समान हैं।

५—**विपर्ययाधि०**—सूत्र २।३।१४ (विपर्ययेण तु०)—
तत्त्वों के प्रलय-क्रम पर विचार।

६—**अन्तराविज्ञानाधि०**—सू० २।३।१५ (अन्तरा विज्ञानमनसी०)—
मन और इन्द्रियों के उत्पत्ति-क्रम का निरूपण।

७—**आत्माधि०**—सू० २।३।१६-१७ (चरचरव्यपाश्रयस्तु०—नात्मा०)—
जीवात्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन।

८—**ज्ञाधि०**—सू० २।३।१८ (ज्ञोऽत एव)—
जीवात्मा के अणुपरिमाणकत्व का प्रतिपादन।

९—**उत्क्रान्त्यधि०**—सू० २।३।१९-३१ (उत्क्रान्ति०—नित्योप०)—
जीवात्मा के अणुपरिमाणकत्व का प्रतिपादन।

प्रस्तुत पाद के अवशिष्ट तीन अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के समान हैं, केवल सूत्रांक का भेद है। इस प्रकार इस पाद में १२ अधिकरण हैं।

अध्याय २ पाद ४

१—**प्राणोत्पत्त्यधि०**—सू० २।४।१-४ (तथा प्राणाः—तत्पूर्वकत्वाद्०)—
इन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

२—**सप्तगत्यधि०**—सू० २।४।५-६ (सप्त०—हस्तादयस्तु०)—
इन्द्रियों की संख्या पर विचार।

३—**प्राणाणुत्वाधि०**—सू० २।४।७ (अणवश्च)—
इन्द्रियों के अणुत्व का प्रतिपादन।

४—**मुख्यप्राणोत्पत्त्यधि०**—सू० २।४।८ (श्रेष्ठश्च)—
मुख्यप्राण की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

५—**वायुक्रियाधि०**—सू० २।४।९-१२ (न वायुक्रिये०—पञ्चवृत्तिः०)—
मुख्यप्राण के स्वरूप पर विचार।

६—**श्रेष्ठाणुत्वाधि०**—सू० २।४।१३ (अणुश्च)
मुख्यप्राण के अणुत्व का प्रतिपादन।

७—**ज्योतिराद्यधि०**—सू० २।४।१४-१८ (ज्योतिराद्य०—भेदश्रुतेः०)—
इन्द्रियाँ अग्नि आदि देवताओं से प्रेरित होकर कार्य करती हैं, किन्तु भोक्ता रूप में उनका स्वामी जीव ही है, यह प्रतिपादन, साथ ही मुख्यप्राण और इन्द्रियों के परस्पर स्वरूप-भेद पर विचार।

८—संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधि०—सू० २।४।१६-२१ (संज्ञामूर्ति०—वैशेष्यात्तु०)—

समष्टि-सृष्टि के समान नामरूपव्याकरणात्मक व्यष्टि-सृष्टि का कर्त्ता भी परमात्मा है।

इस प्रकार प्रस्तुत पाद में सूत्रांक-भेद, कुछ अधिकरण-भेद एवं अधिकरण ७ (ज्योतिराद्यधिकरण) में आंशिक रूप से विषय भेद होने पर भी सभी सूत्रों के विषय रामानुजभाष्य के समान हैं।

अध्याय ३ पाद १

प्रस्तुत पाद में सभी अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के समान हैं।

अध्याय ३ पाद २

प्रस्तुत पाद के प्रथम चार अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के समान हैं। पाँचवा अधिकरण (उभयलिङ्गाधिकरण) सू० ३।२।११ (न स्थानतोऽपि०) से लेकर सू० ३।२।२१ (दर्शनाच्च) तक ही है, किन्तु उसका विषय रामानुज भाष्य के ही समान है।

६—प्रकृतैतावदधि०—सू० ३।२।२२-३६ (प्रकृतैतावत्त्वम्०-प्रतिषेधाच्च०)—

जगत् के सत्यत्व और ब्रह्म के अनन्तत्व का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म के साथ जीव और जडतत्त्व के भेदाभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन।

अवशिष्ट दो अधिकरण, उनकी सीमा और विषय रामानुजभाष्य के ही समान हैं। इस प्रकार प्रस्तुत पाद में कुल ८ अधिकरण हैं।

अध्याय ३ पाद ३

प्रस्तुत पाद के प्रथम ११ अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के समान हैं।

१२—साम्परायाधि०—सू० ३।३।२७-३० (साम्पराये०—उत्पन्नः०)—

विषय रामानुजभाष्य के समान।

१३—अनियमाधि०—सू० ३।३।१३ (अनियमः सर्वेषाम्०)—

विषय रामानुजभाष्य के समान।

१४—यावदधिकाराधि०—सू० ३।३।३२ (यावदधिकारम्०)—

वसिष्ठ आदि आधिकारिक विद्वानों की स्वाधिकार के भोगकाल तक जगत् में स्थिति रहती है, यह प्रतिपादन।

रामानुजभाष्य और निम्बार्कभाष्य के अनुसार 'यावदधिकारमवस्थितिः०' सूत्र के क्रम में परस्पर-भेद होने के कारण निम्बार्कभाष्य में अधि-

करण १२ की उत्तर सीमा और अधिकरण १३ के क्रम में भेद तथा अधिकरण १४ का आधिक्य हो गया है, अन्यथा प्रतिपाद्य-विषय में कोई भेद नहीं है।

आगे सू० ३।३।३३-४२ (अक्षर०—प्रदानवदेव०) में पाँच अधिकरण हैं, जो कि सीमा और विषय में रामानुजभाष्य के ही समान हैं।

२०—लिङ्गभूयस्त्वाधि०—सू० ३।३।४३–५० (लिङ्ग०—परेण च०)—

'मनश्चित' आदि अग्नि क्रियामय क्रतु के अङ्गभूत हैं या विद्यामय क्रतु के, इस विषय पर विचार।

उक्त अधिकरण स्वरूप और विषय में रामानुजभाष्य का अधिकरण २० (पूर्वविकल्पाधिकरण) ही है, अन्तर इतना है कि यहाँ सू० ३।३।४३ (लिङ्गभूयस्त्वात्०) को और अधिक सम्मिलित कर लिया गया है, जबकि रामानुजभाष्य में उक्त सूत्र को एक भिन्न विषय के प्रतिपादक के रूप में पृथक् अधिकरण माना गया है।

प्रस्तुत पाद के अवशिष्ट ६ अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के ही समान हैं। इस प्रकार इस पाद में कुल २६ अधिकरण हैं।

अध्याय ३ पाद ४

प्रस्तुत पाद में १५ अधिकरण हैं, जिनमें से प्रथम १३ अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के ही समान हैं।

१४—ऐहिकाधि०—सू० ३।४।५० (ऐहिकमप्रस्तुते०)—

ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति (सिद्धि) के काल पर विचार।

१५—मुक्तिफलका०—सूत्र ३।४।५१ (एवम्०)—

प्राप्तविद्य विद्वान् को मुक्तिरूप फल की प्राप्ति के काल पर विचार।

अध्याय ४ पाद १–४

चतुर्थ अध्याय के सभी पादों में सब अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमा और विषय रामानुजभाष्य के समान हैं।

३. मध्वभाष्य

अध्याय १ पाद १

१—जिज्ञासाधि०—सू० १।१।१[1] (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)—

शास्त्रप्रस्तावना।

---

१. **सूत्राङ्क मध्वभाष्य के अनुसार हैं।**

२--जन्माद्यधि०--सू० १।१।२ (जन्माद्यस्य यतः)—

जगज्जन्मादिकारण रूप में ब्रह्म का लक्षण।

३—शास्त्रयोनित्वाधि०--सू० १।१।० (शास्त्रयोनित्वात्)—

ब्रह्म के शास्त्रप्रमाणकत्व का प्रतिपादन।

४—समन्वयाधि०--सू० १।१।४ (तत्तु समन्वयात्)—

जगत्कारण रूप में एकमात्र ब्रह्म (विष्णु) का ही शास्त्रप्रमाणकत्व है, अन्य तत्त्वों (शिव आदि) का नहीं, यह प्रतिपादन।

५--ईक्षत्यधि०--सू० १।१।५-११ (ईक्षतेः०--श्रुतत्वाच्च)—

ब्रह्म के अवाच्यत्व का निराकरण कर उसके वाच्यत्व का प्रतिपादन।

प्रस्तुत पाद के अवशिष्ट सभी अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है। अधिकरण निम्न प्रकार से है :—

६—आनन्दमयाधि०—सू० १।१।१२-१९ (आनन्दमयः०—अस्मिन्नस्य०)।

७—अन्तःस्थत्वाधि०—सू० १।१।२०-२१ (अन्तः०--भेद०)।

८—आकाशाधि०—सू० १।१।२२ (आकाशः०)।

९--प्राणाधि०—सू० १।१।२३ (अत एव प्राणः)।

१०—ज्योतिरधि०--सू० १।१।२४ (ज्योतिश्चरणा०)।

११--छन्दोऽभिधानाधि०—१।१२५-२७ (छन्दोऽभि०—उपदेश०)।

१२—पादान्त्यप्राणाधि०—सू० १।१।२८-३१ (प्राणस्तथा०—जीवमुख्य०)।

अध्याय १ पाद २

प्रस्तुत पाद के सभी अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है। अधिकरण निम्न प्रकार से हैं :—

१--सर्वगतत्वाधि०—सू० १।२।१-८ (सर्वत्र०—संभोगप्राप्ति०)।

२—अत्तृत्वाधि०—सू० १।२।९-१० (अत्ता०—प्रकरणाच्च)।

४—अन्तराधि०—सू० १।२।१३-१७ (अन्तरः०--अनवस्थितेः०)।

५--अन्तर्याम्यधि०--सू० १।२।१८-२० (अन्तर्याम्यधि०-शारीरश्च)।

६—अदृश्यत्वाधि०--सू० १।२।२१-२३ (अदृश्य०—रूपोप०)।

७—वैश्वानराधि०--सू० १।२।२४-३१ (वैश्वानरः०--आमनन्ति०)।

अध्याय १ पाद ३

प्रस्तुत पाद के प्रथम सात अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है। उक्त ७ अधिकरण निम्न प्रकार से है :—

१—द्युभ्वाद्यधि०--सू० १।३।१-७ (द्युभ्वा०—स्थित्य०)।

२—**भूमाधि०**—सू० १।३।८-९ (भूमा०-धर्मोप०)
३—**अक्षराधि०**—सू० १।३।१०-१२ (अक्षरम्०—अन्यभाव०)।
४—**सदधि०**—१।३।१३ (ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्)।
५—**दहराधि०**—सू० १।३।१४-२१ (दहरः०-अल्पश्रुतेः०)।
६—**अनुकृत्यधि०**—सू० १।३।२२-२३ (अनुकृतेः०—अपि०)
७—**वामनाधि०**—सू० १।३।२४-२५ (शब्दादेव०—हृद्यपेक्षया०)।

इसके बाद निम्न दो अधिकरणों का विषय 'उपासनाधिकार' है:—

८—**देवताधि०**—सू० १।३।२६-३३ (तदुपर्यपि०—भावन्तु०)—
देवों के उपासनाधिकार के सम्बन्ध में विचार।

९—**अपशूद्राधि०**—सू० १।३।३४-३८ (शुगस्य०—श्रवणाध्ययना०)—
शूद्रों के उपासनाधिकार के सम्बन्ध में विचार।

अवशिष्ट निम्न अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है :—

१०—**कम्पनाधि०**—सू० १।३।३९ (कम्पनात्)।
११—**ज्योतिरधि०**—सू० १।३।४० (ज्योतिर्दर्शनात्)।
१२—**आकाशाधि०**—सू० १।३।४१ (आकाशोऽर्थान्तर०)।
१३—**सुषुप्त्यधि०**—सू० १।३।४२ (सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन)।
१४—**ब्राह्मणाधि०**—सू० १।३।४३ (पत्यादिशब्देभ्यः)।

अध्याय १ पाद ४

प्रस्तुत पाद के प्रथम तीन अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' हैं। उक्त तीन अधिकरण निम्न प्रकार से हैं :—

१—**आनुमानिकाधि०**—सू० १।४।१-९ (आनुमानिक०—चमस०)।
२—**ज्योतिरुपक्रमाधि०**—सू० १।४।१०-११ (ज्योतिरूपक्रमात्तु०-कल्पनोप०)।
३—**न संख्योपसंग्रहाधि०**—सू० १।४।१२-१४ (न संख्योप०—ज्योतिषै०)।

इसके बाद अवशिष्ट निम्न अधिकरणों का विषय परमात्मा के सर्व-शब्दवाच्यत्व का प्रतिपादन है :—

४—**आकाशाधि०**—सू० १।४।१५ (कारणत्वेन चाकाशादिषु०)
अवान्तरकारण रूप में आकाश आदि शब्दों के द्वारा परमात्मा ही अभिहित है, यह प्रतिपादन।

५—**समाकर्षाधि०**—सू० १।४।१६-२३ (समाकर्षात्—अवस्थितेरिति०)—
जब सब शब्द परमात्मवाचक हैं, तो उनका अन्यत्र व्यवहार कैसे होता है, इस विषय पर विचार।

६--**प्रकृत्यधि०**—सू० १।४।२४-२८ (प्रकृतिश्च०—योनिश्च०)—
प्रकृति आदि स्त्रीलिंग शब्दों का वाच्य भी परमात्मा है, यह प्रतिपादन।

७—**एतेन सर्वव्याख्यानाधि०**—सू० १।४।२६ (एतेन सर्वे व्याख्याता:०)—
अतिदेश से सभी शून्य आदि शब्दों के परमात्मवाचकत्व का प्रतिपादन।

अध्याय २ पाद १

१—**स्मृत्यधि०**—सू० २।१।१-३ (स्मृत्यनव०—एतेन योग:०)—
समन्वयाध्याय में प्रतिपादित विषय के सम्बन्ध में रुद्र आदि के द्वारा प्रणीत स्मृतियों के आधार पर उठाए गए आक्षेप का निराकरण।

२—**न विलक्षणत्वाधि०**—सू० २।१।४-५ (न विलक्षणत्वा०—दृश्यते तु)—
उक्त स्मृतियों के आधार पर श्रुति और तदनुसारिणी स्मृति के प्रामाण्य के सम्बन्ध में उठाए गये आक्षेप का निराकरण करते हुए वेद, रामायण, महाभारत, पंचरात्र और वैष्णव पुराणों के स्वत:प्रामाण्य का प्रतिपादन।

३—**अभिमान्यधि०**—सू० २।१।६-७ (अभिमानि०—दृश्यते च)—
वेद युक्तिविरुद्ध है, इस आक्षेप का निराकरण।

४—**असदधि०**—सू० २।१।८-१३ (असदिति०—एतेन०)—
उक्त आक्षेप का ही निराकरण करते हुए असत्कारणवाद का निराकरण और उसके अतिदेश से अकर्तृकत्ववाद, अचेतनकर्तृत्ववाद आदि वादों का निराकरण।

५—**भोक्त्राधि०**—सू० २।१।१४ (भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्०)—
मोक्षावस्था में श्रुतियाँ जीव का ब्रह्म के साथ ऐक्य बताती हैं, अत: उक्त दोनों में भेद नहीं, इस आक्षेप का निराकरण।

६—**आरम्भणाधि०**—सू० २।१।१५-२० (तदनन्यत्वम्०—यथा०)—
ब्रह्म अन्यसाधननिरपेक्ष होकर केवल अपनी निजी सामर्थ्य से सृष्टि करता है, यह प्रतिपादन।

७—**इतरव्यपदेशाधि०**—सू० २।१।२२-२७ (इतर०—कृत्स्नप्रसक्ति:०)—
जीवकर्तृत्ववाद का निराकरण।

८—**श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाधि०**—सू० २।१।२८-३२ (श्रुतेस्तु—विकरण०)—
जीवकर्तृत्ववाद के सम्बन्ध में उठने वाले दोष ईश्वरकर्तृत्ववाद के सम्बन्ध में नहीं उठ सकते, यह प्रतिपादन।

९—न प्रयोजनाधि०—सू० २।१।३३-३४ (न प्रयोजन०—लोकवत्तु०)—
सृष्टि के प्रयोजनवत्त्व के आधार पर ईश्वरकर्तृत्ववाद के विषय में किए गए आक्षेप का निराकरण।

१०—वैषम्यनैर्घृण्याधि०—सू० २।१।३५-३७ (वैषम्य०—उपपद्यते०)—
वैषम्य और नैर्घृण्य के आधार पर ईश्वरकर्तृत्ववाद के विषय में किए गए आक्षेप का निराकरण।

११—सर्वधर्मोप०—सू० २।१।३८ (सर्वधर्मोपपत्तेश्च)—
ईश्वर में सब गुणों की उपपत्ति का प्रतिपादन।

अध्याय २ पाद २

१—रचनानुपपत्त्य०—सू० २।२।१-४ (रचनानुप०—व्यतिरेका०)—
अचेतनप्रवृत्तिमत अर्थात् निरीश्वरसांख्यमत का निराकरण।

२—अन्यत्राभावाधि०—सू० २।२।५ (अन्यत्राभावाच्च०)—
सेश्वरसांख्यमत का निराकरण।

३—अभ्युपगमाधि०—सू० २।२।६ (अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्)—
लोकायत (चार्वाक) मत का निराकरण।

४—पुरुषाश्माधि०—सू० २।२।७-८ (पुरुषाश्म०—अङ्गित्वा०)—
पुरुषोपसर्जनप्रकृतिकर्तृत्ववाद का निराकरण।

५—अन्यथानुमित्यधि०—सू० २।२।९-१० (अन्यथा०—विप्रतिषेध०)—
प्रकृत्युपसर्जनपुरुषकर्तृत्ववाद का निराकरण

६—वैशेषिकाधि०—सू० २।२।११-१७ (महद्दीर्घ०—अपरिग्रहा०)—
परमाण्वारम्भवादी वैशेषिकमत का निराकरण।

७—समुदायाधि०—सू० २।२।१८-२५ (समुदाय उभय०—अनुस्मृतेश्च)—
परमाणुपुञ्जवादी बौद्धमत का निराकरण।

८—असदधि०—सू० २।२।२६-२९ (नासतः०—वैधर्म्याच्च)—
शून्यवादी बौद्धमत का निराकरण।

९—अनुपलब्ध्यधि०—सू० २।२।३०-३२ (न भावोऽनुप०—सर्वथानुप०)—
विज्ञानवादी बौद्धमत का निराकरण।

१०—नैकस्मिन्नधि०—सू० २।२।३३-३६ (नैकस्मिन्०—अन्त्यावस्थितेः०)—
सदसद्वादी जैनमत का निराकरण।

११—पत्युरधि०—सू० २।२।३७-४१ (पत्युरसा०—अन्तवत्त्व०)
पशुपतिजगत्कर्तृत्ववादी पाशुपतमत का निराकरण।

१२—उत्पत्त्यधि०—सू० २।२।४२-४५ (उत्पत्ति०—विप्रति०)—
शाक्तमत का निराकरण।

अध्याय २ पाद ३

१—वियदधि०—सू० २।३।१-७ (न वियदश्रुतेः—यावद्विकारम्०)—
आकाश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार।

२—मातरिश्वाधि०—(एतेन मातरिश्वा०)—
वायु की उत्पत्ति पर विचार।

३—असंभवाधि०—सू० २।३।६ (असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः)—
'सत्' की उत्पत्ति का निराकरण।

४—तेजोऽधि०—सू० २।३।१० (तेजोऽतस्तथा०)—
अग्नि की उत्पत्ति पर विचार।

५—अबधि०—सू० २।३।११ (आपः)—
जल की उत्पत्ति पर विचार।

६—पृथिव्यधि०—सू० २।३।१२ (पृथिव्यधिकाररूप०)—
पृथिवी की उत्पत्ति पर विचार।

७—तदभिध्यानाधि०—सू० २।३।१३ (तदभिध्यानादेव तु०)—
विष्णु ही संहारकर्त्ता हैं, यह प्रतिपादन।

८—विपर्ययाधि०—सू० २।३।१४ (विपर्ययेण तु०)—
प्रलय-क्रम पर विचार।

९—अन्तराधि०—सू० २।३।१५-१६ (अन्तरा०—चराचर०)—
विज्ञान और मन की उत्पत्ति और प्रलय के क्रम पर विचार।

१०—आत्माधि०—सू० २।३।१७ (नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः)—

११—ज्ञाधि०—सू० २।३।१८-१९ (ज्ञोऽत एव—युक्तेश्च)—
जीव की उत्पत्ति पर विचार।

१२—उत्क्रान्त्यधि०—(उत्क्रान्ति०—गुणाद्वा०)—
जीव के अणुत्व का प्रतिपादन।

१३—व्यतिरेकाधि०—सू० २।३।२७ (व्यतिरेको गन्धवत्०)—
जीव एकरूप है या अनेकरूप, इस विषय पर विचार।

१४—पृथगधि०—सू० २।३।२८-२९ (पृथगुपदेशात्—तद्गुण०)—
परमात्मा से जीव के भिन्नत्व का प्रतिपादन।

१५—यावदधि०—सू० २।३।३० (यावदात्मभावित्वाच्च०)—
जीव के नित्यत्व का प्रतिपादन।

१६--पुंस्त्वाधि०—सू० २।३।३१-३२ (पुंस्त्वादि०—नित्योप०)—
जीव के ज्ञानानन्दादिरूपत्व पर विचार।

१७--कर्त्तृत्वाधि०--सू० २।३।३३-४२ (कर्त्ता०--कृतप्रयत्ना०)--
जीव के कर्त्तृत्व का प्रतिपादन।

१८--अंशाधि०--सू० २।३।४३-५० (अंशो नाना०--आभास एव च)—
जीव के ब्रह्मांशत्व पर विचार, साथ ही यह विचार कि ब्रह्मांशत्व की दृष्टि से जीव और मत्स्याद्यवतारों में क्या अन्तर है।

१९--अदृष्टाधि०--सू० २।३।५१-५३ (अदृष्टानियमात्—प्रदेशादिति०)—
जीवों की परस्पर-भिन्न विचित्र दशाओं पर विचार।

अध्याय २ पाद ४

१--प्राणोत्पत्त्यधि०-सू० २।४।१-३ (तथा प्राणाः--प्रतिज्ञानुपरोधाच्च)—
इन्द्रियों की उत्पत्ति पर विचार।

२--तत्प्रागधि०--सू० २।४।४ (तत्प्राक्श्रुतेश्च)—
मन की उत्पत्ति पर विचार।

३--तत्पूर्वकत्वाधि०--सू० २।४।५ (तत्पूर्वकत्वाद्वाचः)--
वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति पर विचार।

४--सप्तगत्यधि०--सू०० २।४।६-७ (सप्तगतेः०--हस्तादयस्तु०)--
इन्द्रियों की संख्या पर विचार।

५--अण्वधि०--सू० २ ४।८ (अणवश्च)—
इन्द्रियों के परिमाण पर विचार।

६--श्रेष्ठाधि०--सू० २।४।९-१० (श्रेष्ठश्च--न वायुक्रिये०)—
मुख्यप्राण की उत्पत्ति पर विचार।

७--चक्षुराद्यधि०--सू० २।४।११-१२ (चक्षुरादिवत्तु०--अकरणत्वाच्च०)—
सेन्द्रिय प्राण के परमात्मवशत्व का प्रतिपादन।

८--पञ्चवृत्त्यधि०--सू० २।४।१३ (पञ्चवृत्तिर्मनोवद्०)—
प्राण के पञ्चवृत्तित्व का प्रतिपादन।

९--अण्वधि०--सू० २।४।१४ (अणुश्च)--
प्राण के परिमाण का निरूपण।

१०--ज्योतिरधि०--सू० २।४।१५-१७ (ज्योतिराद्य०--तस्य च०)--
सेन्द्रिय प्राण के परमात्मप्रवर्त्यत्व का प्रतिपादन।

११--इन्द्रियाधि०--सू० २।४।१८-२० (त इन्द्रियाणि०--वैलक्षण्याच्च)--
प्राण और इन्द्रियों के परस्पर स्वरूप-भेद पर विचार।

१२—संज्ञाधि०—सू० २।४।२१ (संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु०)—
नामरूपव्याकरण का कर्त्ता भी विष्णु है, यह प्रतिपादन ।

१३—मांसाधि०—सू० २।४।२२-२३ (मांसादि०—वैशेष्यात्तु०)—
शरीर के पंचभूतात्मकत्व पर विचार ।

अध्याय ३ पाद १

१—तदन्तराधि०—सू० ३।१।१ (तदन्तरप्रतिपत्तौ०)—
शरीर-परित्याग के बाद जीव भूतों से संपरिष्वक्त होकर ही गमन करता है, यह प्रतिपादन ।

२—त्र्यात्मकत्वाधि०—सू० ३।१।२ (त्र्यात्मकत्वात्तु०)—
पूर्वाधिकरण के ही विषय का प्रतिपादन ।

३—प्राणगत्यधि०—सू० ३।१।३ (प्राणगतेश्च)—
पूर्वप्रसक्त विषय का ही प्रतिपादन ।

४—अग्नाद्यधि०—सू० ३।१।४ (अग्न्यादिगति०)—
शरीरपरित्याग के बाद जीव के साथ इन्द्रियाँ भी जाती हैं, यह प्रतिपादन ।

५—प्रथमाधि०—सू० ३।१।५ (प्रथमे श्रवणादिति चेन्न०)—
प्रथम अधिकरण (तदन्तराधिकरण) से प्रस्तुत विषय का ही प्रतिपादन ।

६—अश्रुतत्वाधि०—सू० १।३।६ (अश्रुतत्वादिति०)—
पूर्वप्रस्तुत विषय का ही प्रतिपादन ।

७—भाक्ताधि०—सू० ३।१।७ (भाक्त वाऽनामवित्त्वात्०)—
'अपाम सोमममृता अभूम' आदि के द्वारा प्रतिपादित पुण्यात्माओं का अमृतत्व गौण है, आत्मवेत्ता का अमृतत्व ही मुख्य है, यह प्रतिपादन ।

८—कृतात्ययाधि०—सू० ३।१।८ (कृतात्ययेऽनुशयवान्०)—
लोकान्तर से कर्मविशेष के साथ जीव लौटता है, यह प्रतिपादन ।

९—यथैताधि०—सू० ३।१।९ (यथेतमनेवं च)—
लोकान्तरगमन और वहाँ से आगमन के मार्ग पर विचार ।

१०—चरणाधि०—सू० ३।१।१०-१२ (चरणादिति०—सुकृतदुष्कृत०)—
उक्त गमनागमन केवल आचरण का फल है या यज्ञादि कर्मों का फल है, इस विषय पर विचार ।

११—अनिष्टाधि०—सू० ३।१।१३-१५ (अनिष्टादि०—स्मरन्ति च)

पुण्यात्माओं और पापात्माओं के गमनागमन-सम्बन्धी भेद पर विचार।

१२—अपि सप्ताधि०—सू० ३।१।१६ (अपि सप्त)—

रौरव आदि सात नरक प्रधान नरक हैं, यह प्रतिपादन।

१३—तत्राप्यधि०—सू० ३।१।१७ (तत्रापि च०)—

नरक में भी ईश्वर का व्यापार है, किन्तु वह वहाँ के या अन्यत्र कहीं के सुख-दुख से लिप्त नहीं, यह प्रतिपादन।

१४—विद्याधि०——सू० २।१।१८ (विद्याकर्म०)—

अर्चिरादिमार्ग और धूमादिमार्ग में से किसी भी मार्ग को न प्राप्त करने वाले जीवों की गति पर विचार।

१५—न तृतीयाधि०—सू० ३।१।१९-२३ (न तृतीये०—स्मरणाच्च)

महातम में सुख का किंचित् लेश है या नहीं, इस विषय पर विचार।

१६—तत्स्वाभाव्याधि०—सू० ३।१।२४ (तत्स्वाभाव्या०)—

'धूमो भूत्वा' (छा० ५।१०।५) आदि के द्वारा प्रतिपादित जीवों के धूमादिभाव के स्वरूप पर विचार।

१७—नातिचिराधि०—सू० ३।१।२५ (नातिचिरेण विशेषात्)—

लोकान्तर से प्रस्थान करने के बाद मार्ग में बहुत अधिक विलम्ब नहीं होता, यह प्रतिपादन।

१८—अन्याधि०—सू० ३।१।२६-२७ (अन्याधिष्ठिते०—अशुद्धमिति०)—

लोकान्तर से लौटते हुए जीव का जो व्रीहि आदि शरीरों में प्रवेश होता है, वह उनमें प्रवेशमात्र ही है, उनके द्वारा वह भोग नहीं करता, यह प्रतिपादन।

१९—रेतोऽधि०—सू० ३।१।२७ (रेतःसिग्योगोऽथ)

लोकान्तर से लौटकर जीव वीर्यसेक्ता (पिता) में प्रवेश करता है, यह प्रतिपादन।

२०—योन्यधि०—सू२।१।२९ (योनेः शरीरम्)

पिता के शरीर से मातृयोनि में प्रवेश कर जीव भोगशरीर प्राप्त करता है, यह प्रतिपादन।

अध्याय ३ पाद २

१—सन्ध्याधि०—सू० ३।२।१-४ (सन्ध्ये०—सूचकश्च०)—

जीव की स्वप्नदशा का निरूपण।

२—पराभिध्यानाधि०—सू० ३।२।५ (पराभिध्यानात्तु०)—

स्वप्न के प्रकाशन के समान उसका तिरोधान करने वाला भी परमात्मा है, यह प्रतिपादन।

३—देहयोगाधि०—सू० ३।३।६ (देहयोगाद्वा सोऽपि०)—

जगाने वाला भी परमात्मा है, यह प्रतिपादन।

४—तदभावाधि०—सू० ३।३।७ (तदभावो नाडीषु०)—

जीव की सुषुप्तिदशा का निरूपण।

५—प्रबोधाधि०—सू० ३।३।८ (अतः प्रबोधोऽस्मात्०)—

परमात्मा ही सोते हुए को जगाता है, यह प्रतिपादन।

६—कर्मानुस्मृत्यधि०—सू० ३।३।६ (स एव च कर्मानुस्मृति)—

परमात्मा कुछ ही जीवों का स्वप्नादिकर्त्ता नहीं है, अपितु सभी जीवों का है, यह प्रतिपादन।

७—सम्पत्त्यधि०—सू० ३।२।१० (मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः०)—

मूर्च्छादशा का निरूपण।

८—न स्थानतोऽप्यधि०—सू० ३।३।११-१३ (न स्थानतोऽपि–अपि चैव०)—

स्थानभेद होने पर भी परमात्मा के स्वरूप में भेद नहीं, एकरूप विष्णु ही सर्वत्र स्थित है, यह प्रतिपादन।

९—अरूपाधि०—सू० ३।३।१४-१७ (अरूपवदेव०—दर्शयति०)—

भौतिक रूपों की दृष्टि से परमात्मा अरूपवान् है, क्योंकि उसका रूप भौतिक न होकर विज्ञानन्दात्मक है, यह प्रतिपादन।

१०—उपमाधि०—सू० ३।३।१८ (अत एव चोपमा०)—

परमात्मा और जीव के सम्बन्ध पर विचार।

११—अम्बुवदधि०—सू० ३।३।१९ (अम्बुवद०)—

जीव का स्वाभाविक ज्ञानानन्दरूपत्व परमात्मा की भक्ति से ही अभिव्यक्त होता है, यह प्रतिपादन।

१२—वृद्धिह्रासाधि०—सू० ३।३।२०-२१ (वृद्धिह्रास०—दर्शनाच्च)—

जीवों में ज्ञान और भक्ति आदि साधनों की दृष्टि से परस्पर तारतम्य है और फलतः उनके साध्य में भी तारतम्य है, यह प्रतिपादन।

१३—प्रकृत्यधि०—सू० ३।३।२२ (प्रकृतैतावत्त्वं हि०)—

परमात्मा (हरि) स्रष्टा और संहर्त्ता ही नहीं, अपितु पालक भी है, यह प्रतिपादन।

१४—अव्यक्तत्वाधि०—सू० ३।३।२३-२७ (तदव्यक्त०—अतोऽनन्तेन०)—

परमात्मा अव्यक्त है, उसका साक्षात्कार उसी की कृपा से होता हैं, यह प्रतिपादन ।

१५—अहिकुण्डलाधि०—सू० ३।३।२८-३१ (उभय०—प्रतिषेधाच्च)—

परमात्मा आनन्दस्वरूप होते हुए आनन्दी भी है, यह प्रतिपादन ।

१६—परमताधि०—सू० ३।३।३२-३४ (परमतः०—बुद्ध्यर्थः)—

परमात्मा के आनन्दादि गुण लोक के आनन्दादि गुणों से परतर हैं, यह प्रतिपादन ।

१७—स्थानविशेषाधि०—सू० ३।३।३५-३६ (स्थान०—उपपत्तेश्च)—

परमात्मानन्द एकरूप होते हुए भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप अधिकारियों को तारतम्य से अनुभूत होता है, यह प्रतिपादन ।

१८—तथान्यत्वाधि०—सू० ३।३।३७ (तथान्यत्प्रतिषेधात्)—

ध्यानकाल में ब्रह्म का जो रूप अनुभूत होता है, वही उसका वास्तविक रूप नहीं, अपितु उससे परतर है, यह प्रतिपादन ।

१९—फलाधि०—सू० ३।३।३८ (अनेन सर्वगतत्व०)—

सभी देशों और कालों में सभी वस्तुओं का स्रष्टा परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं, यह प्रतिपादन ।

२०—फलाधि० शेषः—सू० ३।३।३९-४२ (फलमत उपपत्तेः—पूर्वं तु०)—

सर्वफलप्रद परमात्मा ही है, यह प्रतिपादन ।

अध्याय ३ पाद ३

१—सर्ववेदान्ताधि०—सू० ३।३।१-५ (सर्ववेदान्त०—दर्शयति च)—

ब्रह्मज्ञान किसी एक शाखा के अध्ययन से नहीं, अपितु सभी वेदों के निर्णय के फलस्वरूप प्राप्त होता है, यह प्रतिपादन ।

२—उपसंहाराधि०—सू० ३।३।६-९ (उपसंहारोऽर्था०—संज्ञातश्चेत्०)—

सभी वेदों में प्रतिपादित गुणों का उपसंहार कर उनसे युक्त परमात्मा की उपासना करनी चाहिए, यह प्रतिपादन ।

३—प्राप्त्यधि०—सू० ३।३।१० (प्राप्तेश्च समञ्जसम्)—

उपासकों को अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप परमात्मगुणों का उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि सभी गुणों का अनुसन्धान तो केवल ब्रह्मा ही कर सकता है, यह प्रतिपादन ।

४--सर्वाभेदाधि०—सू० ३।३।१० (सर्वाभेदादन्यत्रेमे)—

उपासकों को अपने द्वारा अनुसंहित गुणों के अनुरूप फल प्राप्त होता है, यह प्रतिपादन।

५--आनन्दाधि०—सू० ३।३।१२ (आनन्दादयः प्रधानस्य)--

सभी मुमुक्षुओं को मोक्षरूप फल की सिद्धि के लिए अनिवार्य रूप से किन गुणों का अनुसन्धान करना चाहिए, इस विषय पर विचार।

६—प्रियशिरस्त्वाधि०—सू० ३।३।१३ (प्रियशिरस्त्वाद्य०)--

सभी उपासकों को 'प्रियशिरस्त्व' आदि गुणों की उपासना करने की आवश्यकता नहीं, यह प्रतिपादन।

७--इतराधि०—सू० ३।३।१४ (इतरे त्वर्थसामान्यात्)--

अन्य ब्रह्मगुणों का अभीष्ट फल के अनुरूप उपसंहार करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

८—आध्यानाधि०--सू० ३।३।१५-१६ (आध्यानाय०—आत्मशब्दाच्च)—

गुणों के उपसंहार के सम्बन्ध में भी प्रमाण हैं और 'आत्मेत्येवोपासीत', यह गुणानुपसंहार के सम्बन्ध में भी प्रमाण है, यह प्रतिपादन।

९—आत्मग्रहीत्यधि०--सू० ३।३।१७ (आत्मगृहीतिरितर०)

'आत्मेत्येवोपासीत', इस अनुपसंहार-प्रतिपादक वाक्य का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञानानन्दादि स्वरूपनिरूपक गुणों का भी अनुसन्धान नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'आत्म' शब्द से ही उक्त गुणों का ग्रहण होजाता है, यह प्रतिपादन।

१०—अन्वयाधि०—सू० ३।३।१८ (अन्वयादिति चेत्०)—

फिर भी अन्य सभी गुणों का ग्रहण 'आत्म' शब्द से नहीं हो सकता, यह प्रतिपादन।

११—कार्याख्यानाधि०--सू० ३।३।१९ (कार्याख्यानादपूर्वम्)—

ब्रह्म के अपूर्व गुणों का ही अनुसन्धान करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

१२--समानाधि०—सू० ३।३।२०-२१ (समान एवञ्चा०--सबन्धादेव०)—

अपूर्व गुणों में भी समान गुणों का ही अनुसन्धान करना चाहिए, त्रिविक्रमत्व आदि कादाचित्क विशिष्ट गुणों का नहीं, सभी गुणों का अनुसन्धान तो ब्रह्मा ही करता है, यह प्रतिपादन।

१३—न वाधि०—सू० ३।३।२२-२३ (न वा विशेषात्—दर्शयति च)—

अधिकारियों की योग्यता के अनुसार 'आत्मेत्येवोपासीत' वाक्य के

'आत्म' शब्द से सभी गुणों का ग्रहण होता भी है और नहीं भी होता है, यह प्रतिपादन।

१४——**सम्भृत्यधि०**—सू० ३।३।२४ (सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः)—

देवादि उपासकों को 'सम्भृति' और 'द्युव्याप्ति' गुणों का उपसंहार करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

१५—**पुरुषाधि०**--सू० ३।३।२५ (पुरुषविद्यायामपि०)--

सब गुण सभी विद्याओं में प्रतिपादित नहीं हैं, अतः विद्याओं में परस्पर गुणोपसंहार करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

१६--**वेधाधि०**--सू० ३।३।२६ (वेधाद्यर्थभेदात्)—

'भिन्धि विद्धि ऋगीहि' आदि वाक्य में प्रतिपादित गुणों के अनुसन्धान में सबका अधिकार नहीं, यह प्रतिपादन।

१७—**हान्यधि०**—सू० ३।३।२७-२८ (हानौ तूपायन०—साम्पराये०)—

मुक्त जीव स्वेच्छा से उपासना करते हैं, यह प्रतिपादन।

१८--**छन्दाधि०**—सू० ३।३।२९-३१ (छन्दतः०--उपपन्नः०)--

मुक्त जीव स्वेच्छा से कर्म करते हैं, यह प्रतिपादन।

१९—**अनियमाधि०**--सू० ३।३।३२ (अनियमः सर्वेषाम्०)—

सभी प्राप्तज्ञान जीवों की मुक्ति होती है, यह प्रतिपादन।

२०—**यावदधि०**--सू० ३।३।३३-३४ (यावदधिकारम्०—अक्षरधियाम्०)—

अधिकारियों के अधिकार या साधन के तारतम्य से उनके मोक्षानन्द में भी तारतम्य रहता है, यह प्रतिपादन।

२१--**इयदामननाधि०**—सू० ३।३।३५-३७ (इयदामननात्—अन्यथा०)—

भूमविद्या (छा० ७) में प्राण सर्वोत्तम रूप में वर्णित है और प्राण से उत्तम रूप में परमात्मा वर्णित है, यह प्रतिपादन।

२२--**व्यतिहाराधि०**—सू० ३।३।३८ (व्यतिहारो विशिषन्ति०)--

पूर्वप्रसक्त विषय पर ही विचार।

२३--**सत्याधि०**--सू० ३।३।३९ (सैव हि सत्यादयः)--

पूर्वप्रसक्त विषय पर ही विचार।

२४--**कामाधि०**--सू० ३।३।४०-४२ (कामादितरत्र०--उपस्थितेस्तद्०)--

उक्त भूमविद्या में प्रकृति (लक्ष्मी) का पाठ इसलिए नहीं कि वह न तो उक्त विद्या में पठित नाम आदि के समान बद्ध है और न परमात्मा के समान मोचक है, वह तो स्वेच्छा से मूल स्थान में रहती हुई ईश्वरेच्छा के

अनुसार अवतार धारण करती है और नित्यमुक्त होने पर भी एक भक्त के समान विष्णु की उपासना करती रहती है, यह प्रतिपादन।

२५--**निर्धारणाधि०**--सू० ३।३।३४ (तन्निर्धारणार्थनियमः०)--

श्रवण, मनन आदि ब्रह्मदर्शन से पृथक् होते हुए उसके साधन हैं, यह प्रतिपादन।

२६--**प्रदानाधि०**--सू० ३।३।४४ (प्रदानवदेव०)--

श्रवणादि मात्र से ही ब्रह्मदर्शन नहीं होता, अपितु गुरुप्रसाद से होता है, यह प्रतिपादन।

२७--**लिङ्गभूयस्त्वाधि०**--सू० ३।३।४५ (लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि०)--

गुरुप्रसाद ही बलवान् है, फिर भी श्रवण आदि भी करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

२८--**विकल्पाधि०**--सू० ३।३।३६-४७ (पूर्वविकल्पः०--अतिदेशाच्च)--

पूर्वप्राप्त गुरु के अतिरिक्त अन्य उत्तम गुरु से भी अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है, यह प्रतिपादन।

२९--**विद्याधि०**--सू० ३।३।४८-४९ (विद्यैव तु०--दर्शनाच्च)--

मोक्ष कर्म से नहीं, अपितु विद्या से होता है और केवल विद्या से नहीं, अपितु अपरोक्ष ज्ञान से ही होता है, यह प्रतिपादन।

३०--**श्रुत्यधि०**--सू० ३।३।५० (श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च०)--

पूर्वप्रसक्त विषय का ही प्रतिपादन।

३१--**अनुबन्धाधि०**--सू० ३।३।५१ (अनुबन्धादिभ्यः)--

केवल श्रवणादि और गुरुप्रसाद से ही ब्रह्मदर्शन नहीं होता, उसके-लिए भक्ति आदि की भी आवश्यकता है, यह प्रतिपादन।

३२--**प्रज्ञान्तराधि०**--सू० ३।३।५२ (प्रज्ञान्तर०)--

उपासनाओं के परस्पर-भेद के समान तत्फल ब्रह्मदर्शन में भी भेद होता है, यह प्रतिपादन।

३३--**न सामान्याधि०**--सू० ३।३।५३ (न सामान्यादप्युप०)--

केवल सामान्यदर्शन से मुक्ति नहीं होती, उसके लिए साथ में भक्ति की परमावश्यकता है, यह प्रतिपादन।

३४--**परेणाधि०**--सू० ३।३।५४ (परेण च शब्दस्य०)--

भक्तिवश परमात्मा ही दर्शन देकर मुक्ति देता है, यह प्रतिपादन।

३५--**एकाधि०**--सू० ३।३।५५-५६ (एक आत्मनः०--व्यतिरेकः०)--

अंशी जीव और उसके अंशों के एकत्व का प्रतिपादन।

३६—अङ्गावबद्धाधि०—सू० ३।३।५७-५८ (अङ्गावबद्धास्तु०-मन्त्रादि०)—

ब्रह्मा आदि देवताओं का अनुसन्धान प्रत्येक विद्या में करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

३७—भूमाधि०—सू० ३।३।५९ (भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वम्०)—

सभी ब्रह्मगुणों में 'भूमा' गुण विशिष्ट है, यह प्रतिपादन।

३८—नाना शब्दाधि०—सू० ३।३।६० (नाना शब्दादिभेदात्)—

'भूमा' गुण की भी भिन्न-भिन्न रूप में उपासना होती है, यह प्रतिपादन।

३९—विकल्पाधि०—सू० ३।३।६१ (विकल्प०)—

स्वयोग्य उपासना के अनन्तर विशिष्ट फल की अपेक्षा से अन्य कोई सामान्य उपासना भी विकल्प के की जा सकती है, यह प्रतिपादन।

४०—कामाधि०—सू० (काम्यास्तु यथाकामम्०)

उपासकों को अपनी-अपनी कामना के अनुसार उपासनाओं और गुणों का उपसंहार करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

४१—अङ्गाधि०—सू० ३।३।६३-६६ (अङ्गेषु०—गुणसाधारण्य०)—

अङ्गदेवताओं का परमेश्वर के अङ्गों पर आश्रित रूप में अनुसन्धान करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

४२—न वाधि०—सू० ३।३।६७-६८ (न वा तत्सह०-दर्शनाच्च)—

अङ्गदेवताओं का अनुसन्धान करना अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं, यह प्रतिपादन।

अध्याय ३ पाद ४

१—पुरुषार्थाधि०—सू० ३।४।१-९ (पुरुषार्थोऽतः०—तुल्यन्तु०)—

सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति ज्ञान से होती है, यह प्रतिपादन।

२—असार्वत्रिकाधि०—सू० ३।४।१०-१२ (असार्वत्रिकी—अध्ययन०)—

ज्ञान में सबका अधिकार नहीं, अपितु विष्णुभक्त का अधिकार है, यह प्रतिपादन।

३—अविशेषाधि०—सू० ३।४।१३ (नाविशेषात्)—

देव, ऋषि और मनुष्यों का सभी पुरुषार्थ-साधनों में समान रूप से अधिकार नहीं, यह प्रतिपादन।

४—स्तुत्यधि०—सू० ३।४।१४-३३ (स्तुतये०—सहकारित्वेन च)—

ज्ञानी स्वेच्छाचरण कर सकता है या उसे किसी नियमित आचार का ही पालन करना चाहिए, इस विषय पर विचार।

५—उभयलिङ्गाधि०—सू० ३।४।३४-४० (सर्वथापि०—तद्भूतस्य०)—

ज्ञानप्राप्ति के लिए सभी प्रकार का उत्साह होने पर भी जो ज्ञान-योग्य हैं वही ज्ञान प्राप्त करते हैं, यह प्रतिपादन।

६—आधिकारिकाधि०—सू० ३।४।४१-४३ (न चाधि०—बहिस्तू०)—

परमात्मा तथा देवादिकों के ऐश्वर्य की आकाङ्क्षा नहीं करनी चाहिए, इससे पतन होता है, यह प्रतिपादन।

७—फलश्रुत्यधि०—सू० ३।४।४४-४६ (स्वामिनः०—सहकार्यन्तर०)—

ब्रह्मज्ञान और यागादि कर्मों का फल प्रमुख रूप से देवों को प्राप्त होता है, साथ में प्रजा को भी थोड़ा फल प्राप्त हो जाता है, यह प्रतिपादन।

८—कृत्स्नभावाधि०—सू० ३।४।४७-४८ (कृत्स्न०—मौन०)—

देव ही पूर्ण गृहस्थ हैं और वही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं मुनि हैं, यह प्रतिपादन।

९—अन्वयाधि०—सू० ३।४।४९ (अनाविष्कुर्वन्नु०)—

विद्या को गोपनीय रखना चाहिए और उसका दान गोपनीय रूप से ही योग्य अधिकारियों को करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

१०—ऐहिकाधि०—सू० ३।४।५० (ऐहिकमप्रस्तुत०)—

विद्या की सिद्धि के काल पर विचार।

११—मुक्तिफलाधि०—सू० ३।४।५१ (मुक्तिफलानियमः०)

मोक्षरूप फल की प्राप्ति के काल पर विचार।

अध्याय ४ पाद १

१—आवृत्त्यधि०—सू० ४।१।१-२ (आवृत्तिः०—लिङ्गाच्च)

ब्रह्मोपासना की आवृत्ति करनी चाहिए या एक बार के करने से ही फल की प्राप्ति होती है, इस विषय पर विचार।

२—आत्माधि०—सू० ४।१।३ (आत्मेति तूपगच्छन्ति०)—

ब्रह्म (विष्णु) अपना आत्मा है, इस रूप में मोक्षार्थियों को उपासना सर्वथा करनी चाहिए, यह प्रतिपादन।

३—न प्रतीकाधि०—सू० ४।१।४ (न प्रतीके०)—

प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि नहीं करनी चाहिए, यह प्रतिपादन।

४—ब्रह्माधि०—सू० ४।१।५ (ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्)—

परमेश्वर विष्णु में ब्रह्मदृष्टि करनी ही चाहिए, यह प्रतिपादन।

५--आदित्याधि०--सू० ४।१।६ (आदित्यादि०)--

विष्णु का अमुक अङ्ग अमुक देव की उत्पत्ति का स्थान है, इस रूप में विष्णु के अङ्गों और अङ्गाश्रित देवों का चिन्तन करना ही चाहिए, यह प्रतिपादन।

६—आसीनाधि०—सू० ४।१।७-११ (आसीनः०–यत्रैकाग्रता०)—

शरीर को किस स्थिति में रखकर तथा किस देश और काल में उपासना करनी चाहिए, इस विषय पर विचार।

७--आप्रायणाधि०--सू० ४।१।१२ (आ प्रायणात्०)–

मोक्ष की प्राप्ति होने तक उपासना करनी चाहिये, यह प्रतिपादन।

८--तदधिगमाधि--सू० ४।१।१३-१९ (तदधिगम उत्तर०--भोगेन०)

विद्या की सिद्धि होने पर विद्वान् जीव के कर्मों की क्या स्थिति होती है, इस विषय पर विचार।

अध्याय ४ पाद २

१--वाङ्मनोधि०—सू० ४।२।१-२ (वाङ्मनसि०—अत एव च०)—

देवों के मोक्ष के अवसर पर वागभिमानिनी उमा मनोऽभिमानी रुद्र में विलीन होती है, यह प्रतिपादन।

२—मनः प्राणाधि०—सू० ४।२।३ (तन्मनः प्राण उत्तरात्)—

मनोऽभिमानी रुद्र प्राण (वायु) में विलीन होता है, यह प्रतिपादन।

३—अध्यक्षाधि०—सू० ४।२।४ (सोऽध्यक्षे०)--

प्राण परमात्मा में विलीन होता है, यह प्रतिपादन।

४—भूताधि०—सू० ४।२।५ (भूतेषु तच्छ्रुतेः)—

अन्य देवों का लय भूतों में होता है, यह प्रतिपादन।

५—एकस्मिन्नधि०—सू० ४।२।६ (नैकस्मिन्०)—

एक भूत में सभी देवों का लय नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न भूतों में होता है, यह प्रतिपादन।

६—समनाधि०—सू० ४।२।७-१४ (समना चासृत्युप०—स्मर्यते)—

समना अर्थात् प्रकृतिदेवी (लक्ष्मी) नित्यमुक्त है, यह प्रतिपादन।

७--पराधि०--सू० ४।२।१५ (तानि परे०)--

प्राण के द्वारा सभी देव परमात्मा में लीन होते हैं, यह प्रतिपादन।

८—अविभागाधि०—सू० ४।२।१६ (अविभागोवचनात्)—

मुक्त देवों के सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व आदि पर विचार।

९—तदोकोऽधि०—सू० ४।२।१७-२१ (तदोकोग्र०—अतश्चायने०)—
ज्ञानी जीव की उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में विचार।

१०—योग्यधि०—सू० ४।२।२२ (योगिनः प्रति०)—
पूर्वप्रसक्त विषय के सम्बन्ध में ही विचार।

अध्याय ४ पाद ३

१—अर्चिराद्यधि०—सू० ४।३।१ (अर्चिरादिना०)—
विद्वान् जीव अर्चिरादिमार्ग के द्वारा गमन करता है, यह प्रतिपादन।

२—वायुशब्दाधि०—सू० ४।३।२ (वायुशब्दादवि०)—
अर्चिरादिमार्ग में 'अर्चिः' के बाद वायु क्रम-प्राप्त है, यह प्रतिपादन।

३—तटितोऽधि०—सू० ४।३।३ (तटितोऽधिवरुणः०)—
अर्चिरादिमार्ग में तटित् (विद्युत्) के बाद वरुण क्रम-प्राप्त है, यह प्रतिपादन।

४—आतिवाहिकाधि०—सू० ४।३।४-५ (आति०—उभय०)—
आर्चिरादि मार्ग में आतिवाहिक (ले जाने वाला) वायु है और वही वैद्युत अर्थात् विद्युत् का पति है, यह प्रतिपादन।

५—वैद्युताधि०—सू० ४।३।६—वैद्युत (विद्युत्पति) वायु ही ब्रह्म तक विद्वान् जीव को ले जाता है, यह प्रतिपादन।

६—कार्याधि०—सू० ४।३।७-१६ (कार्यम्०—विशेषञ्च०)—
अर्चिरादिमार्ग कार्यब्रह्म तक ले जाता हैं या परब्रह्म की प्राप्ति कराता है, इस विषय पर विचार।

अध्याय ४ पाद ४

१—सम्पद्याधि०—सू० ४।४।१ (सम्पद्याविहाय०)—
विद्वान् परब्रह्म को प्राप्त कर उसके साथ दिव्य भोगों का अनुभव करता है, यह प्रतिपादन।

२—मुक्ताधि०—सू० ४।४।२ (मुक्तः प्रतिज्ञानात्)
मुक्त जीव ही परब्रह्म को प्राप्त कर उसके साथ भोगों का अनुभव करता है, सुषुप्ति में प्रतिदिन परब्रह्म को प्राप्त करने वाला बद्ध जीव नहीं, यह प्रतिपादन।

३—आत्माधि०—सू० ४।४।३ (आत्मा प्रकरणात्)—
'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' (छा० ८।१२) श्रुति में 'परं ज्योतिः' शब्द से परमात्मा का ही अभिधान है, यह प्रतिपादन।

४--अविभागाधि०--सू० ४।४।४ (अविभागेनैव०)--

जिन भोगों का अनुभव परत्मामा करता है, उन्हीं का मुक्त जीव करते हैं, यह प्रतिपादन।

५--ब्रह्माधि०—सू० ४।४।५-७ (ब्राह्मेण०-एवमप्युप०)—

मुक्त जीव किस प्रकार के शरीर के द्वारा भोगों का अनुभव करते हैं, इस विषय पर विचार।

६—संकल्पाधि०—सू० ४।४।८ (संकल्पादेव०)--

मुक्त जीवों को संकल्पमात्र से भोग प्राप्त होते हैं, उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता, यह प्रतिपादन।

७—अनन्याधिपतित्वाधि०—सू० ४।४।९ (अत एव०)--

मुक्त जीवों का परमाधिपति विष्णु को छोड़ कर अन्य कोई पति नहीं, यह प्रतिपादन।

८—अभावाधि०—सू० ४।४।१०-१६ (अभावम्०—स्वाप्यय०)--

मुक्त जीवों के शरीर होता है या नहीं, शरीराभाव या शरीरसद्भाव में वे किस प्रकार भोग करते हैं, शरीरसद्भाव की दशा में उन्हें दुःखों का भी अनुभव होता है या नहीं, इन विषयों पर विचार।

९—जगद्व्यापाराधि०—सू० ४।४।१७-१९ (जगद्०—विकारा०)—

जगत्सृष्टयादि व्यापार को छोड़कर अन्य अधिकार और भोग मुक्तों को प्राप्त होते हैं, यह प्रतिपादन।

१०—स्थित्यधि०—सू० ४।४।२१-२२ (स्थितिमाह०—भोगमात्र०)—

मुक्त जीवों के भोगों की स्थिति एकरूप रहती है, उसमें वृद्धि या ह्रास नहीं होता, किन्तु फिर भी मुक्तों में भोगविशेष का कादाचित्क तारतम्य रहता है, यह प्रतिपादन।

११—अनावृत्त्यधि०—सू० ४।४।२३ (अनावृत्तिः०)--

मुक्त जीव की संसार में आवृत्ति नहीं होती, यह प्रतिपादन।

अधिकरण-संख्या—२२३[1]।

---

१. निम्बार्कभाष्य में अधिकरण-संख्या—१६२।

४. वल्लभभाष्य

अध्याय १ पाद १

१--जिज्ञासाधि०--सू० १।१।१[1] (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)—
शास्त्रप्रस्तावना।

२—जन्माद्यधि०—सू० १।१।२ (जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्)—
ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारणत्व (मुख्यतः कर्तृत्वरूप निमित्तकारणत्व) और शास्त्रप्रमाणकत्व का प्रतिपादन।

३--समन्वयाधि०--सू० १।१।३ (तत्तु समन्वयात्)--
ब्रह्म ही जगत् का समवायिकरण है, यह प्रतिपादन।

४--ईक्षत्यधि०—सू० १।१।४-१० (ईक्षतेर्ना०--श्रुतत्वाच्च)—
ब्रह्म के शब्दाप्रतिपाद्यत्व का निराकरण कर उसके वेदान्तप्रतिपाद्यत्व एवं व्यवहार्यत्व का प्रतिपादन।

सूत्राङ्क में भेद होने पर भी प्रस्तुत पाद के अवशिष्ट ६ अधिकरण, उनका विषय (श्रुतिवाक्य-समन्वय) और उनकी पूर्वोत्तर सीमाएँ रामानुजभाष्य के अनुसार हैं। इस प्रकार प्रस्तुत पाद में कुल १० अधिकरण हैं।

अध्याय १ पाद २

प्रस्तुत पाद के सभी अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' है। अधिकरण निम्न प्रकार से हैं :—

१—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधि०—सू० १।२।१-४ (सर्वत्र०--कर्मकर्तृ०)—
२--शब्दविशेषाधि०--सू० १।२।५-८ (शब्दविशेषात्--सम्भोग०)—
३—अत्ता चराचराधि०--सू० १।२।९-१० (अत्ता०--प्रकरणाच्च)--
४--गुहां प्रविष्टावित्यधि०--सू० १।२।११-१२ (गुहाम्०–विशेषणाच्च)-

अवशिष्ट ४ अधिकरणों की सीमाएँ रामानुजभाष्य के अनुसार हैं, इस प्रकार प्रस्तुत पाद में कुल ८ अधिकरण हैं।

अध्याय १ पाद ३

सूत्राङ्क-भेद होने पर भी प्रस्तुत पाद के प्रथम ४ अधिकरण, उनकी पूर्वोत्तर सीमाएँ एवं विषय (श्रुतिवाक्य-समन्वय) रामानुजभाष्य के अनुसार हैं। आगे तीन अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' ही है, किन्तु सीमाएँ निम्न प्रकार से है :—

५—दहराधि०—सू १।३।१४-२१ (दहरः०--अल्प०)-

१. **सूत्राङ्क वल्लभभाष्य के अनुसार हैं।**

६--अनृकृत्यधि०--सू० १।३।२२-२३ (अनु०--अपि०)
७--शब्दादेव प्रमिताधि०--सू० १।३।२४-२५ (शब्दा०- हृद्य०)-
आगे निम्न दो अधिकरणों का विषय 'उपासनाधिकार' है :-
८--तदुपर्यपीत्यधि०--सू० १।३।२६-३३ (तदु०--भावं तु०)--
देवों के उपासनाधिकार के सम्बन्ध में विचार।
९--शुगस्येत्यधि०--सू० १।३।३४-३८ (शुगस्य०--श्रवणा०)--
शूद्रों के उपासनाधिकार के सम्बन्ध में विचार।
अवशिष्ट निम्न ४ अधिकरणों का विषय 'श्रुतिवाक्य-ससन्वय' है :-
१०--कम्पनाधि०--सू० १।३।३९ (कम्पनात्)--
११--ज्योतिर्दर्शनाधि०--सू० १।३।४० (ज्योतिर्दर्शनात्)--
१२--अर्थान्तरव्यपदेशाधि०--सू० १।३।४१ (आकाशोऽर्था०)--
१३--सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरित्यधि०--सू० १।३।४२।४३ (सुषुप्त्यु०--पत्यादि०)
इस प्रकार प्रस्तुत पाद में कुल १३ अधिकरण है।

अध्याय १ पाद ४

प्रस्तुत पाद के प्रथम तीन अधिकरण, उनका विषय (श्रुतिवाक्य-समन्वय) और उनकी पूर्वोत्तर सीमाएं रामानुज भाष्य के अनुसार है।
४--यथाव्यपदिष्टाधि०--सू० १।४।१४ (कारणत्वेन०)--
श्रुतिवाक्य-समन्वय।
५--समाकर्षाधि०--सू० १।४।१५ (समाकर्षात्)--
श्रुतिवाक्य-समन्वय।
इसके बाद दो अधिकरणों का विषय (श्रुतिवाक्य-समन्वय) और उनकी सीमाएँ रामानुज भाष्य के अनुसार हैं।
८--प्रकृतिश्चेत्यधि०--सू० १।४।२३-२८ (प्रकृतिश्च०--एतेन०)--
ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन।
इस प्रकार प्रस्तुत पाद में कुल ८ अधिकरण हैं।

अध्याय २ पाद १

१--स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इत्यधि०--सू० २।१।१ (स्मृत्य०)--
स्मृतिविरोध परिहार करते हुए सांख्यस्मृति-निराकरण।
२--इतरेषामित्यधि०--सू० २।१।२ (इतरेषाम्)--
पूर्वप्रसक्त विषय का ही प्रतिपादन।
३--एतेन योग इत्यधि०--सू० २।१।३ (एतेन०)--
अतिदेश से योगस्मृति-निराकरण।

४--न विलक्षणत्वाधि०--सू० २।१।४-६ (न विलक्षण०--दृश्यते तु)--

ब्रह्मकारणवाद के विषय में कार्यकारण के वैलक्षण्य के आधार पर किए गए आक्षेप का निराकरण।

५--असदिति चेत्यधि०--सू० २।१।७-११ (असदिति०-तर्का०)--

कार्य के लीन होने पर कारण में उसके दोषों की प्रसक्ति के आधार पर ब्रह्मकारणवाद के विषय में किए गए आक्षेप का निराकरण।

६--एतेनेत्यधि०--सू० २।१।१२ (एतेन शिष्टा०)--

अतिदेश से परमाणुवाद और मायावाद आदि वादों का निराकरण।

७--भोक्त्रापत्तेरित्यधि०--सू० २।१।१३ (भोक्त्रापत्तेः०)--

ब्रह्मकारणवाद के अनुसार भोग्य का भोक्तृत्व होगा या भोक्ता का भोग्यत्व होगा, इस आक्षेप का निराकरण।

८--तदनन्यत्वाधि०--सू० २।१।१६-१६ (तदनन्यत्वम्०--सत्त्वात्०)--

कारण (ब्रह्म) से कार्य (जगत्) के अनन्यत्व का प्रतिपादन।

९--असद्व्यपदेशाधि०--सू० २।१।१७ (असद्०--यथा च०)--

असत्कार्यवाद का निराकरण करते हुए सत्कार्यवाद का प्रतिपादन।

१०--इतरव्यपदेशाधि०--सू० २।१।२१--२३ (इतर०--अश्मादि०)--

ब्रह्मकारणवाद में जीवहिताकरणादि दोषों की प्रसक्ति का निराकरण।

११--उपसंहारदर्शनाधि०--सू० २।१।२४-२६ (उपसंहार०--स्वपक्ष०)--

ब्रह्मकारणवाद के विषय में कारककलापोपसंहार और कृत्स्नप्रसक्ति के आधार पर किए गए आक्षेप का निराकरण।

१२--सर्वोपेताधि०--सू० २।१।३०-३७ (सर्वोपेता०--सर्व०)--

ब्रह्म के सत्यादिगुणयुक्तत्व और सर्वशक्तिमत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उसके कर्त्तृत्व के विषय में उसके विकरणत्व एवं सृष्टि के प्रयोजनवत्त्व के आधार पर किए गए आक्षेप का निराकरण।

अध्याय २ पाद २

१--रचनानुपपत्तेरित्य०--सू० २।२।१-६ (रचना०--अभ्युपगमे०)--

केवलप्रधानवाद का निराकरण।

२--पुरुषाश्मवदित्यधि०--सू० २।२।७-१० (पुरुषा०--विप्रति०)--

पुरुषप्रेरितप्रधानकारणवाद का निराकरण।

३--महद्दीर्घवद्वेत्यधि०--सू० २।२।११-१७ (महद्०--अपरि०)--

परमाणुकारणवाद का निराकरण।

४--समुदाय उभयहेतुकेऽपीत्यधि०—सू० २।२।१८-२७ (समुदाय०--उदासीना०)—

बाह्यार्थवादी बौद्धमत का निराकरण।

५—नाभाव उपलब्धेरित्यधि०--सू० २।२।२८-३२ (नाभावः०—सर्वथा०)—

विज्ञानवादी बौद्धमत का निराकरण।

६—नैकस्मिन्नसम्भवादित्यधि०—सू० २।२।३३-३६ (नैकस्मन्० —अन्त्या०)

जैनमत निराकरण।

७--पत्युरसामंजस्याधि०—सू० २।२।३७-४१ (पत्युः०--अन्तवत्त्वम्०)—

तार्किकादि मत का निराकरण।

८--उत्पत्त्यसम्भवादित्यधि०---सू० २।२।४२-४५ (उत्पत्त्य०-विप्रति०)

भागवत (पांचरात्र) मत के निराकरणीय अंश का निराकरण।

अध्याय २ पाद ३

१—न वियदित्यधि०—सू० २।३।१-७ (न वियद्०—यावद्०)—

आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

२—एतेन मातरिश्वेत्यधि०—सू० २।३।८ (एतेन०)—

वायु की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

३—असम्भवाधि०—सू० २।३।९ (असम्भवस्तु०)—

ब्रह्म की उत्पत्ति की अनुपपन्नता का प्रतिपादन।

४—तेजोऽत इत्यधि०—सू० २।३।१० (तेजोऽतः०)—

अग्नि की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

५—आप इत्यधि०—सू० २।३।११ (आपः०)—

जल की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

६—पृथिव्यधिकारेत्यधि०—सू० २।३।१२ (पृथिव्यधि०)—

'ता अन्नमसृजन्त' (सू० ६।२।४) वाक्य के 'अन्न' शब्द का वाच्य 'पृथिवी' है, यह निर्णय।

७—तदभिध्यानादेवेत्यधि०—सू० २।३।१३ (तदभि०)—

तत्तद् अवान्तर कारणों के द्वारा परमात्मा ही तत्तत् कार्यों की सृष्टि करता है, यह प्रतिपादन।

८—विपर्ययेणेत्यधि०—सू० २।३।१४ (विपर्ययेण०)—

उत्पत्ति-क्रम से प्रलय-क्रम विपरीत होता है, यह प्रतिपादन।

९—अन्तरा विज्ञानमनसी इत्यधि०—सू० २।३।१५-१६ (अन्तरा०—चराचर०)—

विज्ञानमय (जीव) और मनोमय (वेद) की उत्पत्ति होती है या नहीं, इस विषय पर विचार।

१०—नात्मा श्रुतेरित्यधि०—सू० २।३।१७ (नात्मा०)—

पूर्वप्रस्तुत प्रसंग में ही जीवात्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन।

११—ज्ञोत एवेत्यधि०—सू० २।३।१८ (ज्ञोऽत एव)—

जीव के स्वरूप पर विचार।

१२—उत्क्रान्तिगत्यागतीनामित्यधि०—सू० २।३।१९-२८ (उत्क्रान्ति०-पृथगुप०)—

जीव के परिमाण पर विचार।

१३—तद्गुणसारत्वादित्यधि०—सू० २।३।१९-३२ (तद्गुण०-नित्योप०)—

'तत्त्वमसि' (छा० ६) आदि वाक्यों के द्वारा जो जीव का ब्रह्म के रूप में व्यपदेश किया गया है, उसकी उपपत्ति का स्वाभिमत प्रकार से प्रदर्शन।

१४—कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यधि०—सू० २।३।३३-४० (कर्त्ता०—यथा०)—

जीव के कर्त्तृत्व का प्रतिपादन।

१५—परात्तु तच्छ्रुतेरित्यधि०—सू० २।३।४१-४२ (परात्तु०—कृत०)—

जीव के कर्त्तृत्व के परमात्माधीनत्व का प्रतिपादन।

१६—अंशो नानाव्यपदेशादित्यधि०—सू० २।३।४३-५३ (अंशः०—प्रदेशा०)—

स्वाभिमत उपपत्ति का प्रदर्शन करते हुए जीव के ब्रह्मांशत्व का प्रतिपादन।

अध्याय २ पाद ४

१—तथा प्राणा इत्यधि०—सू० २।४।१-५ (तथा०—सप्त)—

अतिदेश से पूर्ववर्णित सभी जीवधर्मों का इन्द्रियों के सम्बन्ध में प्रतिपादन।

२—हस्तादय इत्यधि०—सू० २।४।६ (हस्तादयस्तु०)—

इन्द्रियों की संख्या पर विचार।

३—अणवश्चेत्यधि०—सू० २।४।७ (अणवश्च—न वायु०)—

इन्द्रियों के अणुत्व का प्रतिपादन।

४—श्रेष्ठश्चेत्यधि०—सू० २।४।८-९ (श्रेष्ठश्च—न वायु०)—

मुख्यप्राण के नित्यगतिमत्त्व तथा अणुत्व का प्रतिपादन, साथ ही उसके स्वरूप पर विचार।

५—चक्षुरादिवत्त्वित्यधि०—सू० २।४।१०-१२ (चक्षुरादि०—अणुश्च)—

मुख्यप्राण के भगवदधीनत्व, जीवाधीनत्व, जीवोपकारित्व, पञ्चवृत्तित्व एवं अणुत्व का प्रतिपादन।

६—ज्योतिराद्यधिष्ठानं त्वित्यधि०—सू० २।४।१४ (ज्योतिराद्यधिष्ठानम्०)—

इन्द्रियों की प्रवृत्ति अग्नि आदि देवों के अधिष्ठान से होती है, यह प्रतिपादन।

७—प्राणवतेत्यधि०—सू० २।४।१५ (प्राणवता०)—

इन्द्रियाँ प्राणयुक्त देवों से अधिष्ठित हैं, यह प्रतिपादन।

८—तदिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादित्यधि०—सू० २।४।१७-१९ (तदिन्द्रियाणि०[1] —वैलक्षण्याच्च)—

इन्द्रियाँ प्राण की वृत्तियाँ हैं या तत्त्वान्तर, इस विषय पर विचार।

९—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्त्वित्यधि०—सू० २।४।२० (संज्ञामूर्ति०)—

नामरूपव्याकरणात्मक व्यष्टि-सृष्टि का कर्त्ता भी परमात्मा है, यह प्रतिपादन।

१०—मांसादि भौममित्यधि०—सू० २।४-२१-२२ (मांसादि०—वैशेष्या०)—

वाक्, मन और प्राण भौतिक हैं या स्वतन्त्र तत्त्व, इस विषय पर विचार।

अध्याय ३ पाद १

१—तदन्तरप्रतिपत्तावित्यधि०—सू० ३।१।१-७ (तदन्तर०—भाक्तम्०)—

जन्मान्तर में ब्रह्मज्ञानौपयिक शरीर को ग्रहण करने वाला जीव मरणोपरान्त संस्कृत भूतों के साथ लोकान्तर को प्रयाण कर वहाँ सोमभाव को प्राप्त करता है, यह प्रतिपादन।

२—कृतात्ययाधि०—सू० ३।१।८-११ (कृतात्यये०—सुकृत०)—

चन्द्रलोक से कर्मविशेष के साथ लौटते हुए जीव वृष्टिभाव को प्राप्त करता है, यह प्रतिपादन।

३—अनिष्टादिकारिणामित्यधि०—सू० ३।१।१२-१६ (अनिष्टादि०—तत्रापि०)—

पापात्माओं का चन्द्रलोक को गमन होता है या नहीं, इस विषय पर विचार।

४—विद्याकर्मणोरित्यधि०—सू० ३।१।१७-२० (विद्या०—दर्शनाच्च)—

पूर्वप्रसक्त विषय का ही निरूपण।

---

१. **वल्लभ इस सूत्र का पाठ 'तदिन्द्रियाणि०' मानते हैं (पृ० ३४५ की पाद-टिप्पणी में परिशेषार्थ सूचित)।**

५—शब्दावरोधाधि०—सू० ३।१।२१-२३ (तृतीये०—नाति०)—

वृष्टिभाव के बाद अन्नभाव की प्राप्ति पर विचार।

६—अन्याधिष्ठित इत्यधि०—सू० ३।१।२४-२५ (अन्या०—अशुद्धम्)—

अन्नभाव के बाद रेतोभाव की प्राप्ति पर विचार।

७—रेतःसिगधि०—सू० ३।१।२६ (रेतः०)—

पूर्वप्रसक्त विषय का ही निरूपण।

८—योनेः शरीरमित्यधि०—सू० ३।१।२७ (योनेः०)—

योनि से निर्गत शरीर ही 'गर्भ' कहा जाता है, वही पूर्वोक्त प्रक्रिया का फल है, यह प्रतिपादन।

अध्याय ३ पाद २

१—सन्ध्याधि०—सू० ३।२।१-६ (सन्ध्ये०—देह०)—

जीव की स्वप्नदशा का निरूपण।

२—तदभावो नाडीष्वित्यधि०—सू० ३।२।७ (तदभावः०)—

जीव की सुषुप्तिदशा का निरूपण।

३—अतः प्रबोध इत्यधि०—सू० ३।२।८-१० (अतः०—मुग्धे०)—

सुषुप्ति से प्रबुद्ध होने की दशा के सम्बन्ध में विचार।

४—उभयलिङ्गाधि०—सू० ३।२।११-१३ (न स्थान०—अपि०)—

श्रुतियों के द्वारा कहीं तो जीव और जड के धर्म ब्रह्म में प्रतिपादित किए गए है और कहीं उनका निषेध किया गया है, तो ऐसी स्थिति में उक्त धर्मों के सम्बन्ध में किस प्रकार अविरोध स्थापित होगा, इस विषय को प्रस्तुत करते हुए इसके सम्बन्ध में अन्य ब्रह्मवादियों के द्वारा प्रस्तुत समाधान पर विचार।

५—अरूपवदेव हीत्यधि०—सू० ३।२।१४-१८ (अरूप०—अतएव०)—

पूर्वप्रसक्त विषय के सम्बन्ध में एकदेशिमत के द्वारा प्रस्तुत समाधान पर विचार।

६—अम्बुवदग्रहणादित्यधि०—सू० ३।२।१९-२२ (अम्बु०—प्रकृतै०)—

पूर्वप्रसक्त विषय के सम्बन्ध में स्वाभिमत सिद्धान्त का प्रतिपादन।

७—तदव्यक्तमाह हीत्यधि०—सू० ३।२।२३-२४ (तदव्यक्तम्—अपि०)—

उक्त विषय के सम्बन्ध में स्वाभिमत सिद्धान्त का प्रकारान्तर से प्रतिपादन।

८—प्रकाशादिवच्चेत्यधि०—सू० ३।२।२५-२७ (प्रकाशादि०—उभय०)—

उक्त स्वाभिमत सिद्धान्त का प्रकारान्तर से स्थिरीकरण।

९—प्रकाशाश्रयवद्वेत्यधि०—सू० ३।२।२८-३० (प्रकाशा०—प्रतिषेधाच्च)—
ब्रह्म के धर्म ब्रह्म से भिन्न हैं या ब्रह्म ही हैं, इस विषय पर विचार।

१०—परमतः सेतून्मानेत्यधि०—सू० ३।२।३१-३७ (परमतः०—अनेन०)—
ब्रह्म के परमोत्कृष्टत्व या परात्परत्व का प्रतिपादन।

११—फलमत इत्यधि०—सू० ३।२।३८-४१ (फलमतः०—पूर्वं तु०)—
ब्रह्म के सर्वफलप्रदत्व का प्रतिपादन।

अध्याय ३ पाद ३

१—सर्ववेदान्तप्रत्ययाधि०—सू० ३।३।१-१५ (सर्ववेदान्तप्रत्ययम्०—आत्मशब्दाच्च)—

ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य है, यह प्रतिपादित करते हुए ब्रह्म के स्वरूप, गुण, रूप, अवतार, बाल्य आदि अवस्थाओं एवं लीलाओं के अनुसन्धान के सम्बन्ध में विविध विचार।

२—आत्मगृहीत्यधि०—सू० ३।३।१५-१७ (आत्मगृहीतिः०-अन्वयादिति०)—

'तस्यैष एव शारीर आत्मा' (तै० ब्रह्मा० २।३) वाक्य में प्रतिपादित 'शारीर आत्मा' जीव है या ब्रह्म, इस विषय पर विचार।

३—कार्याख्यानाधि०—सू० ३।३।१८-२३ (कार्या०—संभृति०)—

भगवद्विग्रह के आत्मरूपत्व का प्रतिपादन, साथ ही आवेशावतार के सम्बन्ध में विचार।

४—पुरुषविद्यायामित्यधि०—सू० ३।३।२४ (पुरुषविद्यायामिव०)—

तैत्तिरोयोपनिषद् में पठित 'अन्नमय' आदि में पुरुषसूक्तोक्त पुरुष की विशेषताओं का उपसंहार करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

५—वेधाद्यधि०—सू० ३।३।२५-२६ (वेधा०—हानौ०)—

भगवान् के सम्बन्ध में निरूपित ऐसे धर्म जो लोक में दोष प्रतीत होते हैं, दोष नहीं, अपितु गुण हैं, यह निरूपण।

६—संपरायाधि०—सू० ३।३।२७-२८ (संपराये०—छन्दतः०)—

पापनाश ज्ञान से होता है, भक्ति से नहीं, भक्ति तो पापनाश के बाद ही सम्भव होती हैं और इस प्रकार 'अक्षरब्रह्म' को प्राप्त कराने वाले ज्ञानमार्ग से 'पुरुषोत्तम' को प्राप्त कराने वाला भक्तिमार्ग उत्कृष्ट है, यह प्रतिपादन।

७—गतेरर्थवत्त्वमित्यधि०—सू० ३।३।२९ (गतेरर्थवत्त्वम्०)—

मर्यादामार्ग में ही भक्ति के साथ ज्ञान अपेक्षित है, पुष्टिमार्ग में नहीं, यह प्रतिपादन।

८—उपपन्नाधि०--सू० ३।३।३० (उपपन्न:०)--

पुष्टिमार्गीय भक्त को मुक्ति की भी अपेक्षा नहीं, रहस्यभजनकर्त्ता पुष्टिमार्गीय भक्त मुमुक्षु से श्रेष्ठ है, यह प्रतिपादन।

९—अनियमाधि०--सू० ३।३।३१ (अनियम:०)—

गोपालपूर्वतापनी उपनिषद् में अमृतत्वसाधन के रूप में प्रतिपादित धारण, रसन, भजन एवं ध्यान आदि साधन समुदित रूप में अमृतत्व के साधन हैं या उनमें से कोई भी एक, इस विषय पर विचार।

१०—आधिकारिकाधि०--सू० ३।३।३२ (यावदधिकारम्०)—

कार्यविशेष का सम्पादन कराने के लिए अधिकारी जीवों में भगवान् के द्वारा स्थापित किए हुए आधिकारिक धर्म कार्यविशेष के सम्पादन के ही साधन हैं, मुक्ति के नहीं, यह प्रतिपादन।

११—अक्षरधियामित्यधि०--सू० २।३।३३-३४ (अक्षर०—इयदा०)—

पुरुषोत्तम-प्राप्ति रूप परा मुक्ति का साधन पुरुषोत्तमभक्ति ही है, अक्षरब्रह्मोपासना नहीं, अक्षरब्रह्मोपासना को जो मुक्ति का साधन बताया गया है, वह परम्परा-सम्बन्ध से बताया गया है, यह प्रतिपादन।

१२—अन्तरा भूतग्रामवदित्यधि०--सू० ३।३।३५-३७ (अन्तरा०--व्यति०)—

भक्त को 'मैं भगवान् हूँ', ऐसा ज्ञान होना उसकी भक्ति में हानिकर है, अतः भगवान् उसे ऐसा ज्ञान प्रायः नहीं देते, यह प्रतिपादन।

१३—सैव हीत्यधि०--सू० ३।३।३८-३९ (सैव०—कामादी०)—

भक्ति में सत्यादि साधनों की सम्पत्ति स्वतः हो जाती है, इसके अतिरिक्त भक्तिमार्ग में ज्ञानमार्गीय काम, क्रोध आदि बाधक भी साधक हो जाते हैं, यह प्रतिपादन।

१४--आदरादित्यधि०—सू० ३।३।४०-४१ (आदरात्०—उपस्थिते०)—

नित्य वर्णाश्रमधर्म और भगवद्धर्मों की एक काल में ही प्राप्ति हो, तो इनमें से किनका बाध होना चाहिए, इस विषय पर विचार।

१५—तन्निर्धारणाधि०--सू० ३।३।४२ (तन्निर्धारणा०)—

पुरुषोत्तमविद् को कर्म करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

१६—प्रदानवदित्यधि०--सू० ३।३।४३ (प्रदान०)—

सर्वात्मभाव (भगवद्भाव) विहित कर्म, ज्ञान एवं भक्ति आदि साधनों के द्वारा साध्य है या केवल भगवदनुग्रह से प्राप्य है, इस विषय पर विचार।

१७—लिङ्गभूयस्त्वाधि०—सू० ३।३।४४-५३ (लिङ्ग०—एके०)—

सर्वात्मभाव के वरण एवं स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसके परमोत्कृष्टत्व का प्रतिपादन।

१८—व्यतिरेकाधि०—सू० ३।३।५४-५६ (व्यति०—मन्त्रादि०)—

पुरुषोत्तम की प्राप्ति इतरसाधनसापेक्ष ब्रह्मज्ञान से होती है या तन्निरपेक्ष ब्रह्मज्ञान से, इस विषय पर विचार।

१९—भूम्न इत्यधि०—सू० ३।३।५७ (भूम्नः०)—

छान्दोग्य (७।२३-२६) में श्रुत 'भूमा' शब्द से सर्वात्मभाव अभिप्रेत है या मोक्ष, इस विषय पर विचार।

२०—नाना शब्दादिभेदादित्यधि०—सू० ३।३।५८ (नाना०)—

विभिन्न भगवदवताररूपों की समुदित रूप में उपासना करनी चाहिए या पृथक्-पृथक्, इस विषय पर विचार।

२१—विकल्प इत्यधि०—सू० ३।३।५९ (विकल्पः०)—

मुक्तिफलक विभिन्न उपासनाओं का समुच्चय आवश्यक है या विकल्प से किसी एक का करना ही पर्याप्त है, इस विषय पर विचार।

२२—काम्यास्त्वित्यधि०—सू० ३।३।६० (काम्यास्तु०)—

काम्य उपासनाओं का समुच्चय आवश्यक है या नहीं, इस विषय पर विचार।

२३—अङ्गेष्वित्यधि०—सू० ३।३।६१-६२ (अङ्गेषु०—शिष्टेश्च)—

उपासनाङ्गों का समुच्चय आवश्यक है या नहीं, इस विषय पर विचार।

२४—समाहाराधि०—सू० ३।३।६३-६४ (समाहारात्०—गुण०)—

एक भगवदवतार के रूप में दूसरे अवतार के रूप का समाहार करके उपासना की जा सकती है या नहीं, इस विषय पर विचार।

२५—न वा तत्सहभावाश्रुतेरित्यधि०—सू० ३।३।६५-६६ (न वा तत्सह०—दर्शनाच्च)

अध्याय ३ पाद ४

१—पुरुषार्थोऽत इत्यधि०—सू० ३।४।१-२४ (पुरुषार्थः०—अत एव०)—

परमपुरुषार्थ भगवान् की प्राप्ति इतरसाधननिरपेक्ष एकमात्र सर्वात्मभाव अर्थात् भगवद्भाव से होती है और ब्रह्मज्ञान कर्मशेष नहीं, अपितु मोक्षरूप फल की प्राप्ति के लिए एक स्वतन्त्र साधन है, यह प्रतिपादन।

२—सर्वापेक्षेत्यधि०—सू० ३।४।२५-३० (सर्वापेक्षा०—शब्दः०)—

ब्रह्मज्ञान अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए कर्मसापेक्ष है, यह प्रतिपादन।

३—विहितत्वाच्चाश्रमकर्मेत्यधि०—सू० ३।४।३१-३८ (विहित०—अतः०)—

विद्वान् को आश्रम-कर्म करने चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार, साथ ही भक्तिमार्गीय श्रवण, कीर्तन आदि धर्मों की उत्कृष्टता का प्रतिपादन।

४—तद्भूतस्येत्यधि०—सू० ३।४।३९ (तद्भूतस्य तु०)—

भगवदीयों की सायुज्य मुक्ति नहीं होती, क्योंकि उन्हें प्राप्त होने वाले पुष्टिमार्गीय भगवद्भाव का कभी तिरोधान नहीं हो सकता, यह प्रतिपादन।

५—न चाधिकारिकमित्यधि०—सू० ३।४।४०-४१ (न चाधि०—उपपूर्वम्०)—

भगवद्भाव को प्राप्त भक्त न तो आधिकारिक फलों की इच्छा रखते हैं और न मुक्ति की, यह प्रतिपादन।

६—बहिस्तूभयथेत्यधि०—सू० ३।४।४२-४५ (बहिः०—श्रुतेश्च)—

भगवदीयों को गृह-त्याग करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

७—सहकार्यन्तराधि०—सू० ३।४।४६ (सहकार्यन्तर०)—

मर्यादा-पुष्टि-भेद से सहकारी साधनों की उपयोगिता के तारतम्य पर विचार।

८—गृहिणोपसंहार इत्यधि०—सू० ३।४।४७-५० (कृत्स्न०—ऐहिकम्०)—

भक्तिमार्ग में गृहस्थाश्रम की उपयोगिता पर विचार।

९—एवं मुक्तिफलानियम इत्यधि०—सू० ३।४।५१ (एवं मुक्ति०)—

पूर्वाधिकरण में वर्णित गृहस्थाश्रमी को मुक्त होने पर भक्तिरसानुभवरूप मुक्तिफल अनिवार्यतः प्राप्त होता है या नहीं, इस विषय पर विचार।

अध्याय ४ पाद १

१—आवृत्त्यधि०—सू० ४।१।१-२ (आवृत्तिः०—लिङ्गाच्च)—

श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि की आवृत्ति करनी चाहिए या उनका एक बार ही करना पर्याप्त है, इस विषय पर विचार।

२—आत्माधि०—सू० ४।१।३-५ (आत्मेति०—ब्रह्म०)—

ज्ञानमार्ग के फल पर विचार।

३—आदित्याद्यधि०—सू० ४।१।६-१० (आदित्यादि०—स्मरन्ति च)—

श्रुतियों में आदित्य आदि की जो ब्रह्मरूप से उपासनाएँ वर्णित हैं, वे प्रतीकोपासनाएँ हैं या नहीं, इस विषय पर विचार करते हुए साथ में यह प्रतिपादन कि भगवान् भक्त के हृदय में प्रकट होते हैं और प्रेमवश उसे साक्षात् दर्शन भी देते हैं।

४—यत्रैकाग्रताधि०—सू० ४।१।११ (यत्रैकाग्रता०)

हृदय में अनुभव करने वाले और साक्षात् दर्शन करने वाले भक्तों में परस्पर और उनके द्वारा अनुभूत एवं दृष्ट भगवत्स्वरूप में परस्पर कोई तारतम्य है या नहीं, इस विषय पर विचार।

५—आप्रायणाधि०—सू० ४।१।१२ (आ प्रायणात्०)—

पुष्टिमार्गीय भक्त को मुक्ति में प्रभु के साथ वार्तालाप आदि वही दृष्ट फल प्राप्त होते हैं, जिनका कि वह पूर्व में अनुभव कर चुका है, यह प्रतिपादन।

६—तदधिगमाधि०—सू० ४।१।१३-१६ (तदधिगमे०—अग्नि०)—

मर्यादामार्गीय भक्त को प्राप्त होने वाले फल एवं उसकी प्राप्ति के प्रकार पर विचार।

७—अतोऽन्याधि०—सू० ४।१।१७-१९ (अतः०—भोगेन०)—

पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध-कर्म भोग से ही नष्ट होते हैं या विना भोग के भी, इस विषय पर विचार; साथ में उक्त भक्त को प्राप्त होने वाले फल की प्राप्ति के प्रकार का प्रतिपादन।

अध्याय ४ पाद २

१—वाङ्मनोऽधि०—सू० ४।२।१-४ (वाङ्०—सोऽध्यक्षे०)—

फल-प्राप्ति की दशा में पुष्टिमार्गीय भक्त के सूक्ष्मशरीर का स्वरूपतः नाश होता है या भगवनुग्रह से वह अलौकिक हो जाता है, इस विषय पर विचार।

२—भूताधि०—सू० ४।२।५-६ (भूतेषु०—नैकस्मिन्०)—

मर्यादामार्गीय भक्त के सूक्ष्मशरीर के लय-प्रकार का प्रतिपादन।

३—समानाधि०—सू० ४।२।७-१५ (समाना०—तानि०)—

मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग की व्यवस्था तथा पुष्टिमार्गीय मुक्ति की उत्कृष्टता आदि विषयों का प्रतिपादन।

४—अविभागाधि०—सू० ४।२।१६ (अविभागः०)—

नित्यलीला में प्रविष्ट भक्त कभी वहाँ से बहिष्कृत नहीं होते, यह प्रतिपादन।

५—तदोकोऽधि०—सू० ४।२।१७ (तदोकोऽग्र०)—

मर्यादामार्गीय साधकों के उत्क्रमण-प्रकार का प्रतिपादन।

६—रश्म्यधि०—सू० ४।२।१८ (रश्म्यनु०)—

उत्क्रान्त विद्वान् सूर्य-रश्मियों का अनुसरण करता हुआ ऊर्ध्वगमन करता है, यह प्रतिपादन।

७—निश्यधि०—सू० ४।२।१९-२१ (निशि०—योगिन.०)—

विद्वान् की मुक्ति में उत्क्रमण-काल के आधार पर बाधा उपस्थित नहीं होती, यह प्रतिपादन।

अध्याय ४ पाद ३

१—अर्चिराद्यधि०—सू० ४।३।१-४ (अर्चिरादिना०—वरुणात्०)—

अर्चिरादिमार्ग से ज्ञानी ही गमन करता है या भक्त भी, यह विचार करते हुए उक्त मार्ग के स्वरूप एवं क्रम पर विचार।

२—आतिवाहिकाधि०—सू० ४।३।५-७ (आति०—वैद्युते०)—

अर्चिरादिमार्ग से गमन करने वाले अपनी कामनाओं और साधनों के अनुरूप विभिन्न लोकों का अनुभव करने के बाद ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं, यह प्रतिपादन।

३—कार्याधि०—सू० ४।३।८-१४ (कार्यम्०—न च कार्ये०)—

'अमानव पुरुष' अर्चिरादिमार्ग से गमन करने वाले जीवों को अविकृत परब्रह्म की प्राप्ति कराता है या कार्यरूप ब्रह्मलोक की, इस विषय पर विचार।

४—अप्रतीकाधि०—सू० ४।३।१६ (अप्रतीका०)—

'अमानव पुरुष' अर्चिरादिमार्ग से गमन करने वाले सभी जीवों को ब्रह्म की प्राप्ति कराता है या उनमें से कुछ को, इस विषय पर विचार।

५—विशेषाधि०—सू० ४।३।१७ (विशेषञ्च०)—

ज्ञानी और भक्तों को अविशेष रूप से परतत्त्व की प्राप्ति होती है या कुछ तारतम्य रहता है, इस विषय पर विचार।

अध्याय ४ पाद ४

१—संपद्याविर्भावाधि०—सू० ४।४।१-४ (संपद्या०—अविभागेन०)—

मुक्त जीव भगवदनुग्रहातिशय से आविर्भूत होकर भगवान् के साथ दिव्य भोगों का अनुभव करता है, यह प्रतिपादन।

२—ब्राह्माधि०—सू० ४।४।५-१२ (ब्राह्मेण०—द्वादशाह०)—

आविर्भूत जीव प्राकृत शरीर से भोगों का अनुभव करता है या अप्राकृत शरीर से, इस विषय पर विचार।

३—तत्त्वभावाधि०—सू० ४।४।१३-१४ (तत्त्वभावे०—भावे०)—

यद्यपि भगवान् के रूप में तत्कालीन पुरुषों को प्राकृत शरीर के समान अवस्थाएँ दिखाई देती हैं, किन्तु वस्तुतः उसमें प्राकृत धर्म नहीं, यह प्रतिपादन।

५—प्रदीपाधि०—सू० ४।४।१५-१६ (प्रदीप०—स्वाप्यय०)—

मुक्त जीव में भगवदावेश हो जाता है, जिससे उसे भगवान् के साथ भोगानुभव करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, यह प्रतिपादन।

५—जगद्व्यापाराधि०—सू० ४।४।१७-२२ (जगद्०—अनावृत्तिः०)—

भगवान् के साथ मुक्त जीव का भोगानुभव लौकिक व्यापार से युक्त है या नहीं, इस विषय पर विचार, अन्त में यह प्रतिपादन कि चाहे ज्ञानी हो और चाहे भक्त, मुक्त होने पर किसी की संसार में आवृत्ति नहीं होती।

अधिकरण-संख्या—१६२।

५. बलदेवभाष्य

अध्याय १ पाद १

१—जिज्ञासाधि०[१]—१।१।१[२] (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)—

शास्त्रप्रस्तावना।

२—जन्माद्यधि०—सू० १।१।२ (जन्माद्यस्य०)—

जगज्जन्मादिकारण रूप में ब्रह्म का परिचय।

---

१. बलदेवभाष्य में अधिकरणों का निर्देश स्पष्ट नहीं है। उक्त भाष्य के परिशिष्ट में उसके सम्पादक ने जो 'अधिकरणमालिका' दी है, उसी के अनुसार यहाँ अधिकरणों का निर्देश किया गया है, किन्तु जहाँ उक्त 'अधिकरणमालिका' बलदेवभाष्य के अनुकूल प्रतीत नहीं हुई है, वहाँ उसके अनुसरण का परित्याग कर दिया गया है।

२. सूत्राङ्क बलदेवभाष्य के अनुसार हैं।

३—शास्त्रयोनित्वाधि०—सू० १।१।३ (शास्त्र०)—

ब्रह्म के शास्त्रैकप्रमाणकत्व का प्रतिपादन।

४—समन्वयाधि०--सू० १।१।४ (तत्तु०)--

ब्रह्म के शास्त्रप्रमाणकत्व का दृढीकरण।

५--ईक्षत्यधि०--सू० १।१।५-११ (ईक्षतेः०--श्रुतत्वाच्च)—

ब्रह्म के अवाच्यत्व का निरास।

प्रस्तुत पाद में ६ अधिकरण और अवशिष्ट हैं, जिन सब की सीमाएँ एवं विषय रामानुजभाष्य के अनुसार हैं।

अध्याय १ पाद २

सू० १।२।६-१२ को छोड़ कर प्रस्तुत पाद के अन्य सभी सूत्रों में अधिकरण एवं उनकी सीमाऐं रामानुजभाष्य के अनुसार हैं और उक्त सूत्र (१।२।६-१२) अन्य भाष्यों के समान दो अधिकरणों में विभक्त हैं। इस प्रकार इस पाद में कुल ७ अधिकरण हैं, जिन सब का विषय 'श्रुतिवाक्य-समन्वय' हैं।

अध्याय १ पाद ३

प्रस्तुत पाद के प्रथम पाँच अधिकरण, उनकी सीमाएँ एवं विषय रामानुजभाष्य के समान हैं।

६—प्रमिताधि०—सू० १।३।२४-२५ (शब्दा०—हृद्य०)—

श्रुतिवाक्य-समन्वय।

सूत्राङ्क-भेद होने पर भी अधिकरण ७, ८, ९ तथा उनकी सीमाएँ एवं विषय रामानुजभाष्य के अनुसार हैं।

१०--कम्पनाधि०—सू० १।३।३९-४० (कम्पनात्०—ज्योतिः०)--

श्रुतिवाक्य-समन्वय

११—अर्थान्तरत्वाधि०--सू० १।३।४१-४३ (आकाशः०—पत्यादि०)—

श्रुतिवाक्य-समन्वय।

अध्याय १ पाद ४

प्रस्तुत पाद के सभी अधिकरण, उनकी सीमाएँ एवं विषय रामानुज-भाष्य के अनुसार हैं। अन्तिम अधिकरण (सर्वव्याख्यानाधि०) में समन्वयाध्याय के उपसंहार का प्रकार कुछ भिन्न रूप में है।

अध्याय २ पाद १

प्रस्तुत पाद के प्रथम दो अधिकरण, उनकी सीमा एवं विषय रामानुज भाष्य के अनसार हैं।

३—विलक्षणत्वाधि०—सू० २।१।४-५ (न विलक्षण०—अभिमानि०)—
वेदप्रामाण्य के विषय में किए गए आक्षेप का निराकरण।

४—वैरूप्याधि०—सू० २।१।६-११ (दृश्यते०—तर्का०)—
कार्यकारण-वैरूप्य के आधार पर ब्रह्मकारणवाद के विषय में किए गए आक्षेप का निराकरण।

५—शिष्टापरिग्रहाधि०—सू० २।१।१२ (एतेन०)—
शिष्टापरिगृहीत वैशेषिकादि मतों का निराकरण।

६—भोक्त्रापत्त्यधि०—सू० २।१।१३ (भोक्त्रा०)—
शक्तिमान् ब्रह्म और तच्छक्ति जीव के भेदाभेद-सम्बन्ध का प्रतिपादन।

७—आरम्भणाधि०—सू० २।१।१४-२० (तदनन्यत्वम्०—यथा च०)—
कारण ब्रह्म से कार्य जगत् के अनन्यत्व का प्रतिपादन।

८—इतरव्यपदेशाधि०—सू० २।१।२१-२६ (इतर०—कृत्स्न०)—
जीवकर्त्तृत्ववाद का निराकरण।

९—शब्दमूलाधि०—सू० २।१।२७-२९ (श्रुतेस्तु०—स्वपक्षे०)—
जीवकर्त्तृत्ववाद के विषय में उठने वाले दोष ब्रह्मकर्तृत्ववाद के विषय में नहीं उठ सकते, यह प्रतिपादन।

१०—सर्वोपेताधि०—सू० २।१।३० (सर्वोपेता०)—
ब्रह्म के सर्वशक्तिविशिष्टत्व का प्रतिपादन करते हुए उसके जगत्कर्त्तृत्व का दृढीकरण।

११—विकरणत्वाधि०—सू० २।१।३१ (विकरण०)—
ब्रह्म के विकरणत्व के आधार पर ब्रह्मत्तृत्ववाद के विषय में किए गए आक्षेप का निराकरण।

१२—प्रयोजनाधि०—सू० २।१।३२-३३ (न प्रयोजन०—लोकवत्तु०)—
सृष्टि के आधार पर ब्रह्मकर्त्तृत्ववाद के विषय में किये गए आक्षेप का निराकरण।

१३—वैषम्यनैर्घृण्याधि०—सू० २।१।३४-३५ (वैषम्य०—न कर्म्मा०)—
ब्रह्मकर्त्तृत्ववाद पर आक्षिप्त वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों का परिहार।

१४—भक्तपक्षपाताधि०—सू० २।१।३६-३७ (उपपद्यते०—सर्व०)—
ब्रह्म में भक्तपक्षपातरूप वैषम्य उपपन्न है, यह प्रतिपादन।

अध्याय २ पाद २

प्रस्तुत पाद के सभी अधिकरण एवं उनकी सीमाएँ रामानुजभाष्य के समान हैं। अन्तिम अधिकरण (उत्पत्त्यसम्भवाधि०) को छोड़ कर अन्य सभी अधिकरणों के विषय भी रामानुजभाष्य के समान हैं। उक्त अधिकरण का विषय निम्बार्कभाष्य और मध्वभाष्य के समान 'शाक्तमत-निराकरण' है।

अध्याय २ पाद ३

प्रस्तुत पाद के प्रथम ६ अधिकरण, उनकी सीमा एवं विषय मध्वभाष्य के समान हैं, किन्तु विषय-प्रतिपादन प्रकार मध्वभाष्य से भिन्न होते हुए रामानुजभाष्य के समान है।

७—तदभिध्यानाधि०—सू० २।३।१२-१५ (तदभि०—चराचर०)—

तत्त्व अपने पूर्ववर्त्ती तत्त्व से उत्पन्न होते हैं या साक्षात् सर्वेश्वर से, इस विषय पर विचार।

८—आत्माधि०—सू० २।३।१६ (नात्मा०)—

जीव के नित्यत्व का प्रतिपादन।

९—ज्ञाधि०—सू० २।३।१७ (ज्ञोऽत एव)—

जीव के ज्ञानस्वरूपत्व के साथ ज्ञातृस्वरूपत्व का प्रतिपादन।

१०—उत्क्रान्तिगत्यधि०—सू० २।३।१८-२५ (उत्क्रान्ति०—व्यतिरकः०)—

जीव के अणुपरिमाणकत्व का प्रतिपादन।

११—पृथगुपदेशाधि०—सू० २।३।२६-२९ (पृथगुप०—पुंस्त्वादि०)—

जीव का धर्मभूत ज्ञान नित्य है, यह प्रतिपादन।

१२—नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गाधि०—सू० २।३।३० (नित्योप०)

'आत्मा ज्ञानमात्र एवं विभु है,' सांख्य के इस सिद्धान्त का निराकरण।

१३—कर्त्रधि०—सू० २।३।३१-४१ (कर्त्ता०—कृतप्रयत्ना०)—

जीव के कर्त्तृत्व और उस कर्त्तृत्व के परमात्मायत्तत्व का प्रतिपादन।

१४—अंशाधि०—सू० २।३।४१-४३ (अंशः०—अपि स्मर्यते)—

जीव के ब्रह्मांशत्व का प्रतिपादन।

१५—मत्स्याद्यधि०—सू० २।३।४४-४८ (प्रकाशादि०—आभास एव च)—

ब्रह्मांशत्व की दृष्टि से जीव और मत्स्यादि अवतारों में कोई अन्तर है या नहीं, इस विषय पर विचार।

१६—अदृष्टानियमाधि०—सू० २।३।४९-५१ (अदृष्टा०—प्रदेशा०)—

जीव सभी दृष्टियों से एक समान हैं या उनमें परस्पर कोई वैशिष्ट्य भी है, इस विषय पर विचार।

अध्याय २ पाद ४

प्रस्तुत पाद के प्रथम दो अधिकरण, उनकी सीमा एवं विषय रामानुज-भाष्य के समान हैं।

३—**प्राणाणुत्वाधि०**—सू० २।४।७ (अणवश्च)—
इन्द्रियों के अणुत्व का प्रतिपादन।

४—**प्राणश्रेष्ठाधि०**—सू० २।४।८ (श्रेष्ठश्च)—
मुख्यप्राण की उत्पत्ति का प्रतिपादन।

५—**वायुक्रियाधि०**—सू०—२।४।९ (न वायु०)—
मुख्यप्राण के स्वरूप पर विचार।

६—**जीवोपकरणत्वाधि०**—सू० २।४।१०-११ (चक्षुरादि०—अकरण०)—
मुख्यप्राण के जीवोपकरणत्व का प्रतिपादन।

७—**पञ्चवृत्त्यधि०**—सू० २।४।१२ (पञ्चवृत्तिः०)—
मुख्यप्राण के पञ्चवृत्तित्व का प्रतिपादन।

अधिकरण ८, ९, १० अपनी सीमा एवं विषय में क्रमशः रामानुज भाष्य के प्रस्तुतपादीय अधिकरण ५, ६, ७ के समान हैं।

अन्तिम दो अधिकरण (११ एवं १२) अपनी सीमा एवं विषय में क्रमशः मध्वभाष्य के प्रस्तुतपादीय अधिकरण १२ एवं १३ के समान हैं।

अध्याय ३ पाद १

प्रस्तुत पाद के सभी अधिकरण, उनकी सीमा एवं विषय रामानुज-भाष्य के अनुसार हैं।

अध्याय ३ पाद २

१—**सन्ध्याधि०**—सू० ३।२।१-३ (सन्ध्ये०—मायामात्रम्०)—
स्वाप्निक सृष्टि जीवकर्तृक है या परमात्मकर्तृक, इस विषय पर विचार।

२—**स्वप्नाधि०**—सू० ३।२।४-५ (सूचकश्च०—परा०)—
स्वाप्निक सृष्टि सत्य है या मिथ्या, इस विषय पर विचार।

३—**देहयोगाधि०**—सू० ३।२।६ (देहयोगाद्वा०)—
जागरणकर्त्ता परमात्मा है, यह प्रतिपादन।

अधिकरण ४ एवं ५ अपनी सीमा एवं विषय में क्रमशः रामानुज-भाष्य के प्रस्तुतपादीय अधिकरण २ एवं ३ के समान हैं।

६--**मुग्धाधि०**--सू० ३।२।१० (मुग्धे०)—

मूर्च्छादिशा के समय जीव की ब्रह्म में सुषुप्ति के समान सम्प्राप्ति होती है या अर्धप्राप्ति होती है, इस विषय पर विचार ।

७—**उभयलिङ्गाधि०**—सू० ३।२।११-१३ (न स्थानतोऽपि०-अपि चैवम्०)-

नाना स्थानों में स्थित भगवान् के अनेक रूप परस्पर-भिन्न हैं या नहीं, इस विषय पर विचार ।

८—**अरूपवदधि०**—सू० ३।२।१४-१७ (अरूप०—दर्शयति०)—

ब्रह्म सविग्रह है या नहीं, इस विषय पर विचार ।

९—**उपमाधि०**—सू० ३।२।१८-२२ (अतएव०—प्रकृतै०)—

भजनीय भगवान् और भक्त जीव में भेद है या अभेद, इस विषय पर विचार ।

१०—**अव्यक्ताधि०**—सू० ३।२।२३ (तदव्यक्ताधि०)-

भगवान् के प्रत्यग्रूपत्व का प्रतिपादन ।

११—**संराधनाधि०**—सू० ३।२।२४-२७ (अपि संराधने०--अतोऽनन्तेन०)-

भगवान् के ज्ञानभक्तिलभ्यत्व का प्रतिपादन ।

१२—**अहिकुण्डलाधि०**--सू० ३।२।२८-३१ (उभय०—प्रतिषेधाच्च)—

भगवान् के स्वरूप और गुणों के अभेद का प्रतिपादन ।

१३--**पराधि०**—सू० ३।२।३२-३४ (परमतः०-बुद्धचर्थः०)--

भगवान् के परानन्दादि का निरूपण ।

१४—**स्थानविशेषाधि०**--सू० ३।२।३५-५६ (स्थान०—उपपत्तेश्च)—

भगवान् के भान (प्रकाश, दर्शन) के वैचित्र्य का निरूपण ।

१५--**अन्यप्रतिषेधाधि०**--सू० ३।२।३७ (तथान्य०)--

भगवान् के सर्वपरत्व का प्रतिपादन ।

१६—**सर्वगतत्वाधि०**—सू० ३।२।३८ (अनेन०)-

ध्येय भगवान् परिच्छिन्न हैं या व्यापक, इस विषय पर विचार ।

१७--**फलाधि०**--सू० ३।२।३९-४२ (फलमतः०--पूर्वं तु०)—

भगवान् के सर्वफलप्रदत्व का प्रतिपादन ।

अध्याय ३ पाद ३

१--**सर्ववेदान्तप्रत्ययाधि०**—सू० ३।३।१-५ (सर्ववेदान्त०—दर्शयति०)—

भगवान् के सर्ववेदवेद्यत्व का प्रतिपादन ।

२--उपसंहाराधि०—सू० ३।३।६-७ (उपसंहारः०—अन्यथात्वम्०)—

एक उपासना में श्रुत गुणों का दूसरी उपासना में उपसंहार (अनुसन्धान) करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

३--पराधि०--सू० ३।३।८-९ (न वा०--संज्ञातः०)--

एकान्ती भक्त को ऐकान्तिक उपासना में सर्वगुणोपसंहार करना चाहिए नहीं, इस विषय पर विचार।

४--व्याप्त्यधि०--सू० ३।३।१० (व्याप्तेश्च)—

बाल्य आदि ब्रह्मधर्मों का चिन्तन करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

५—सर्वाभेदाधि०--सू० ३।३।११ (सर्वाभेदा०)—

भगवान् के बाल्य आदि कर्मों के नित्यत्व का प्रतिपादन।

६--आनन्दाद्यधि०—सू० ३।३।१२ (आनन्दादयः०)—

परमात्मा के पूर्णानन्दत्व आदि गुणों का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

७—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्त्यधि०—सू० ३।३।१३-१८ (प्रिय०-अन्वयादिति०)-

प्रियशिरस्त्व आदि धर्मों का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

८--अपूर्वाधि०—सू० ३।३।१९ (कार्या०)--

भगवान् में पितृत्व, पुत्रत्व, सखित्व, स्वामित्व आदि धर्मों का चिन्तन करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

९--समानाधि०--सू० ३।३।२० (समान एवम्०)—

विग्रहभूत (साकार) आत्मा (भगवान्) की उपासना से मोक्ष होता है, यह प्रतिपादन।

१०—सम्बन्धाधि०—सू० ३।३।२१-२५ (सम्बन्धा०--पुरुष०)—

आवेशावतार के भक्तों को आवेशावतार में सकल भगवद्धर्मों का उपसंहार करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

११--वेधाद्यधि०—सू० ३।३।२६ (वेधाद्यर्थ०)—

मुमुक्षु को वेधादि गुणों की उपासना करनी चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

१२—हान्यधि०—सू० ३।३।२७-२८ (हानौ०—साम्पराये०)—

भगवान् के शास्त्रीय ज्ञानगम्यत्व का चिन्तन करना अनिवार्य है या ऐच्छिक, इस विषय पर विचार।

१३—उभयाविरोधाधि०--सू० ३।३।२९-३० (छन्दतः०--गतेः०)--

माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता रुचिभक्ति और ऐश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता विधिभक्ति के रूप में ब्रह्मोपासना के द्वैविध्य का प्रतिपादन।

१४—उपपन्नाधि०—सू० ३।३।३१ (उपपन्नः०)—

रुचिभक्ति के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन।

१५—अनियमाधि—सू० ३।३।३२ (अनियमः०)—

गोपालतापनी उपनिषद् में अमृतत्व-साधन के रूप में पठित ध्यान, रसन, भजन आदि समुदित रूप में मोक्ष-साधन हैं या इन में से कोई एक ही, इस विषय पर विचार।

१६--यावदधिकाराधि०—सू० ३।३।३३ (यावदधि०)—

ब्रह्मा आदि आधिकारिक जीवों की सिद्धविद्य होने पर भी स्वाधिकार-भोग पर्यन्त प्रपञ्च में ही स्थिति रहती है, तत्पश्चात् उनकी मुक्ति होती है, यह प्रतिपादन।

१७--अक्षरध्यधि०--सू० ३।३।३४-३५ (अक्षर०—इयदा०)—

अक्षरब्रह्मसम्बन्धिनी दृष्टियों का सभी उपासनाओं में उपसंहार करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

१८—अन्तराधि०—सू० ३।३।३६-३८ (अन्तरा०—व्यतिहारः०)—

विचित्र प्रासाद, गोपुर एवं प्राकार आदि से युक्त भगवल्लोक के स्वरूप का निरूपण।

१९—सत्याद्यधि०--सू० ३।३।३९ (सैव हि०)--

भगवत्स्वरूपाभिन्न सत्यज्ञानादि विशेषों (गुणों) के स्वाभाविकत्व का प्रतिपादन।

२०—कामाद्यधि०—सू० ३।३।४०-४२ (कामा०—उपस्थिते०)—

भगवत्स्वरूपाभिन्न श्री (लक्ष्मी) के नित्यत्व एवं भगवान् के तादृश-नित्यश्रीविशिष्टत्व का प्रतिपादन।

२१—तन्निर्धारणाधि०--सू० ३।३।४३ (तन्निर्धारणा०)—

श्रीहरि की उपासना श्रीकृष्ण रूप से ही करनी चाहिए या अन्य श्रीराम आदि रूपों से भी की जा सकती है, यह प्रतिपादन।

२२—प्रदानाधि०--सू० ३।३।४५ (प्रदान०)--

गुरूप्रसादयुक्त श्रवणादि साधनों से भगवत्प्राप्ति होती है, यह प्रतिपादन।

२३—लिङ्गभूयस्त्वाधि०—सू० ३।३।४५ (लिङ्ग०)—

स्वप्रयत्न बलवान् है या गुरुप्रसाद, इस विषय पर विचार।

२४—पूर्वविकल्पाधि०—सू० ३।३।४६-४७ (पूर्व०—अतिदेशाच्च)—

गोपालतापनी उपनिषद् में प्रतिपादित 'गोपालोऽहम्' यह भावना परापरात्मस्वरूपैक्यविषयक है या पूर्वोपदिष्ट भक्ति का ही कोई प्रकार-विशेष है, इस विषय पर विचार।

२५—विद्याधि०—सू० ३।३।४८-५० (विद्यैव०—श्रुत्यादि०)—

विद्या ही मोक्षहेतु है, कर्म नहीं, यह प्रतिपादन।

२६—अनुबन्धाधि०—सू० ३।३।५१ (अनुबन्धादिभ्यः)—

मोक्ष-साधन के रूप में सत्सङ्ग के महत्त्व का प्रतिपादन।

२७—प्रज्ञान्तरपृथक्त्वाधि०—सू० ३।३।५२-५३ (प्रज्ञा०—न सामान्या०)—

ब्रह्मोपासना का तारतम्य प्राप्य फल के तारतम्य का हेतु है या नहीं, इस विषय पर विचार।

२८—ताद्विध्याधि०—सू० ३।३।५४ (परेण च०)—

भगवान् के द्वारा किए हुए केवल वरण से उनका साक्षात्कार प्राप्त होता है या ज्ञानवैराग्ययुक्तभक्तिहेतुक वरण से, इस विषय पर विचार।

२९—शरीरे भावाधि०—सू० ३।३।५५ (एक आत्मनः०)—

जाठर (उदराग्नि), हृदय, ब्रह्मरन्ध्र आदि में विष्णु की उपासना करनी चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

३०—व्यतिरेकाधि०—सू० ५।३।५६-५८ (व्यतिरेकः०—मन्त्रादि०)—

जिस उपासना में यद्गुणक भगवत्स्वरूप ध्यात है, उससे तद्गुणक स्वरूप ही प्राप्त होता है अथवा ध्यात स्वरूप से प्राप्त स्वरूप में गुणों का आधिक्य होता है, इस विषय पर विचार।

३१—भूमज्यायस्त्वाधि०—सू० ३।३।५९ (भूम्नः०)—

स्वरूपगत एवं गुणगत बहुत्व का चिन्तन भगवदुपासना में करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

३२—नानाविधोपासनाधि०—सू० ३।३।६० (नाना०)—

अनेक रूपों में की जाने वाली उपासना एकविध है या विविध, इस विषय पर विचार।

३३—**विकल्पाधि०**—सू० ३।३।६१ (विकल्प:०)—

विभिन्न भगवदुपासनाओं का समुच्चय आवश्यक है या किसी एक का ही करना पर्याप्त है, इस विषय पर विचार।

३४—**काम्याधि०**—सू० ३।३।६२ (काम्यास्तु०)—

काम्य उपासनाओं के सम्बन्ध में उक्त विचार।

३५—**आश्रयभावाधि०**—सू० ३।३।६३-६८ (अङ्गेषु०—दर्शनाच्च)—

भगवान् के मुख आदि अङ्गों के मन्दस्मित आदि गुणों का पृथक् चिन्तन करना चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

अध्याय ३ पाद ४

१—**पुरुषार्थाधि०**—सू० ३।४।१-१४ (पुरुषार्थ:०—स्तुतये०)—

विद्या मोक्ष का ही हेतु है या स्वर्गादि का भी, इस विषय पर विचार करते हुए यह प्रतिपादन कि विद्या कर्माङ्ग रूप में नहीं, अपितु स्वतन्त्र रूप में सभी पुरुषार्थों का साधन है।

२—**कामकाराधि०**—सू० ३।४।१५-२५ (काम०—अत एव०)—

विद्याविशिष्ट व्यक्ति यथेष्टाचार कर सकता है या नहीं, इस विषय पर विचार।

३—**सर्वापेक्षाधि०**—सू० ३।४।२६-२७ (सर्वा०—शमदमा०)—

विद्याङ्ग रूप में यज्ञादि कर्मों एवं शमदमादि साधनों का अनुष्ठान करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

४—**सर्वान्नानुमत्यधि०**—सू० ३।४।२८-३१ (सर्वान्ना०—शब्द:०)—

शास्त्रों के विद्वान् के लिए सर्वान्नभक्षण का विधान है या केवल आपत्कालीन अनुमति है, इस विषय पर विचार।

५—**आश्रमकर्माधि०**—सू० ३।४।३२-३३ (विहित०—सहकारित्वेन च)—

लब्धविद्य स्वनिष्ठ अधिकारी को कर्म करने चाहिए या नहीं, इस विषय पर विचार।

६—**भगवद्धर्माधि०**—सू० ३।४।३४-३५ (सर्वथा०—अनभिभवम्०)—

वर्णाश्रमधर्म और भगवद्धर्मों की एक साथ प्राप्ति होने पर परिनिष्ठित अधिकारी को इनमें से किन का अनुष्ठान करना चाहिए, इस विषय पर विचार।

७—**विधुराधि०**—सू० ३।४।३६-३८ (अन्तरा०—विशेषा०)—

निरपेक्ष निराश्रम व्यक्ति का ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं, इस विषय पर विचार।

८—ज्यायस्त्वाधि०—सू० ३।४।३९-४० (अतः०—तद्भूतस्य०)—

साश्रम अधिकारियों से निरपेक्ष निराश्रम अधिकारी श्रेष्ठ है, यह प्रतिपादन।

९—आधिकारिकाधि०—सू० ३।४।४१-४३ (न चाधि०—बहिस्तु०)—

निरपेक्ष अधिकारी स्वनिष्ठ और परिनिष्ठित अधिकारियों से भी श्रेष्ठ है, यह प्रतिपादन।

१०—स्वाम्यधि०—सू० ३।४।४४।४६ (स्वामिनः०—श्रुतेश्च)—

निरपेक्षों की देह यात्रा अपने प्रयत्न से चलती है या प्रभु के प्रयत्न से, इस विषय पर विचार।

११—सहकार्यन्तरविध्यधि०—सू० ३।४।४७ (सहकार्यन्तर०)—

निरपेक्ष अधिकारी को शम, दम, ध्यान आदि का अनुष्ठान करना चाहिए या प्रभु के स्वरूप, गुण, एवं चरित्रों का स्मरण करना चाहिए, इस विषय पर विचार।

१२—गार्हस्थ्याधि०—सू० ३।४।४-४९ (कृत्स्न०—मौन०)—

गृहस्थ का ही ब्रह्मविद्या में अधिकार है, तदितरजनों का नहीं, इस पक्ष का निराकरण।

१३—अनाविष्काराधि०—सू० ३।४।५० (अनाविष्कुर्वन्०)—

योग्य पात्र को ही गोपनीय रूप से विद्या का उपदेश देना चाहिए, यह प्रतिपादन।

१४—ऐहिकाधि०—सू० ३।४।५१ (ऐहिकम्०)—

विद्या की सिद्धि के काल पर विचार।

१५—मुक्तिफलाधि०—सू० ३।४।५२ (एवं मुक्ति०)—

मुक्तिरूप फल की प्राप्ति के काल पर विचार।

अध्याय ४ पाद १

प्रस्तुत पाद के प्रथम दो अधिकरण अपनी सीमा एवं विषय में रामानुजभाष्य के समान हैं।

३—प्रतीकाधि०—सू० ४।१।४ (न प्रतीके०)—

प्रतीक में आत्मत्वानुसन्धान नहीं करना चाहिए, यह प्रतिपादन।

४—ब्रह्मदृष्ट्यधि०—सू० ४।१।५ (ब्रह्मदृष्टिः०)—

ईश्वर में आत्मदृष्टि के समान ब्रह्मदृष्टि भी करनी चाहिए, यह प्रतिपादन।

५—आदित्यादिमत्यधि०—सू० ४।१।६ (आदित्यादि०)—

भगवान् के अङ्गों का इस प्रकार अनुसन्धान करना चाहिए कि अमुक नेत्र आदि अङ्ग अमुक आदित्य आदि देवों की उत्पत्ति के हेतु हैं, यह प्रतिपादन ।

६—आसीनाधि०—सू० ४।१।७-१० (आसीनः०—स्मरन्ति च)—

उपासना करने में शरीर के स्थितिप्रकार का प्रतिपादन ।

७—एकाग्रताधि०—सू० ४।१।११ (यत्रैकाग्रता०)—

उपासना में दिग्देशकाल के नियम पर विचार ।

८—आप्रायणाधि०—सू० ४।१।१२ (आप्रायणात्०)—

मुक्तिपर्यन्त उपासना करनी चाहिए और मुक्त होने पर भी करनी चाहिए, यह प्रतिपादन ।

अधिकरण ९,१०,११ सीमा एवं विषय में क्रमशः रामानुजभाष्य के प्रस्तुतपादीय अधिकरण ७,८,९ के समान हैं ।

१२—अग्निहोत्राद्यधि०—सू० ४।१।१६ (अग्निहोत्रादि०)—

विद्या के उदय से पूर्व अनुष्ठित अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म विद्यारूप फल के ही लिए हैं, अतः विद्या से उनका नाश नहीं होता, यह प्रतिपादन।

१३—निरपेक्षाधि०—सू० ४।१।१७-१९ (अतोऽन्यापि०—भोगेन०)—

परमातुर निरपेक्ष अधिकारियों का प्रारब्ध भोग के बिना ही नष्ट हो जाता है, यह प्रतिपादन ।

अध्याय ४ पाद २

सूत्राङ्क-भेद होने पर भी प्रस्तुत पाद के प्रथम ८ अधिकरण अपनी सीमा एवं विषय में रामानुजभाष्य के समान हैं ।

९—रश्म्यधि०—सू० ४।२।१८-१९ (रश्म्यनु०—निशि०)—

उत्क्रान्त विद्वान् सूर्य-रश्मियों का अनुसरण करता हुआ ऊर्ध्वगमन करता है, यह प्रतिपादन ।

इसके बाद अन्तिम 'दक्षिणायनाधिकरण' सीमा एवं विषय में रामानुजभाष्य के समान है ।

अध्याय ४ पाद ३

प्रस्तुत पाद के प्रथम तीन अधिकरण सीमा एवं विषय में रामानुजभाष्य के समान हैं ।

४—आतिवाहिकाधि०—सू० ४।३।४-५ (आति०—उभय०)—[1]

अर्चिरादिमार्ग में वर्णित 'अर्चि' आदि मार्गचिह्न हैं या विद्वानों को ले जाने वाले देव, इस विषय पर विचार।

५—वैद्युताधि०—सू० ४।३।६ (वैद्युतेनैव०)—

अर्चिरादिमार्ग में विद्युत् की प्राप्ति के बाद विद्वानों को 'अमानव पुरुष' ब्रह्म तक ले जाता है, यह प्रतिपादन।

६—कार्याधि०—सू० ४।३।७-१५ (कार्यम्०—अप्रतीका०)—

उक्त 'अमानव पुरुष' विद्वान् को परब्रह्म की प्राप्ति कराता है या कार्यब्रह्म (चतुर्मुख ब्रह्मा) की, इस विषय पर विचार।

७—विशेषाधि०—सू० ४।३।१६ (विशेषञ्च०)—

निरपेक्ष भक्तों को भी अर्चिरादिमार्ग के द्वारा ही गमन करना पड़ता है या उन्हें स्वयं भगवान् सीधे ही अपने लोक को ले जाते हैं, इस विषय पर विचार।

अध्याय ४ पाद ४

१—सम्पद्याविर्भावाधि०—सू० ४।४।१-२ (संपद्याविर्भावः०—मुक्तः०)—

मुक्ति में आविर्भूत होने वाले जीव के स्वरूप पर विचार।

२—आत्माधि०—सू० ४।४।३ (आत्मा प्रकरणात्)—

'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' (छा० ८।१२।३) में निर्दिष्ट 'परं ज्योतिः' आदित्यमण्डल है या परब्रह्म, इस विषय पर विचार।

३—अविभागेन दृष्टत्वाधि०—सू० ४।४।४ (अविभागेन०)—

मुक्तिलोक में ब्रह्म के साथ मुक्त की स्थिति के स्वरूप पर विचार।

अधिकरण ४ सीमा एवं विषय में रामानुजभाष्य के प्रस्तुतपादीय अधिकरण ३ के समान है।

४—संकल्पाधि०—सू० ४।४।८ (सङ्कल्पादेव०)

मुक्त के सत्यसङ्कल्पत्व का प्रतिपादन।

५—अनन्याधिपत्यधि०—सू० ४।४।९ (अत एव चानन्या०)—

मुक्त के भगवदेकाश्रयत्व का प्रतिपादन।

---

१. **रामानुजभाष्य के अनुसार इस अधिकरण का स्वरूप—सू० ४।३।४-५ (आति०—वैद्यतेनैव०) है (पृ० ३७२ पर संशोधित रूप में पठनार्थ सूचित)।**

६—अभावाधि०—सू० ४।४।१०-१४ (अभावे०—द्वादशाह०)—
मुक्त के दिव्यविग्रहसम्पन्नत्व के सम्बन्ध में विचार।

७—प्रदीपाधि०—सू० ४।४।१५-१६ (प्रदीपा०—स्वाप्यय०)—
मुक्त के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन।

८—जगद्व्यापारवर्जाधि०—सू० ४।४।१७-२१ (जगद्०—भोग०)—
मुक्त के जगत्कर्तृत्व का निषेध एवं उसके ऐश्वर्य तथा भगवत्साम्य की सीमा का निर्द्धारण।

९—अनावृत्त्यधि०—सू० ४।४।२२ (अनावृत्तिः०)—
मुक्त की संसार में आवृत्ति नहीं होती, यह प्रतिपादन।

अधिकरण-संख्या—१९९।

प्रस्तुत अध्ययन के सहायक ग्रन्थ

संस्कृत-ग्रन्थ

श्रुति-साहित्य—

१—ऋग्वेद-संहिता, चतुर्थ भाग (९-१० मण्डल), वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, सन् १९४६ ।

२—शतपथ ब्राह्मण, द्वितीय भाग (७-१४ काण्ड), अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, बनारस ।

३—ऐतरेयारण्यक, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १८९८ ।

४—तैत्तिरीयारण्यक, प्रथम भाग (१-६ प्रपाठक), आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १८९८ ।

५—तैत्तिरीयारण्यक, द्वितीय भाग (७-१० प्रपाठक), आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १९२७ ।

६—शांखायन (सांखायन) आरण्यक, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १९२२ ।

७—ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, सर्वहितैषी कम्पनी तथा गोर्खा पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण, सन् १९३८ ।

(अ) ईशावास्योपनिषद् „ „ „

(आ) केनोपनिषद् „ „ „

(इ) कठोपनिषद् „ „ „

(ई) प्रश्नोपनिषद् „ „ „

(उ) मुण्डकोपनिषद् „ „ „

(ऊ) तैत्तिरीयोपनिषद् „ „ „

(ए) ऐतरेयोपनिषद् „ „ „

(ऐ) छान्दोग्योपनिषद् „ „ „

(ओ) बृहदारण्यकोपनिषद् „ „ „

(औ) तैत्तिरीयनारायणोपनिषद्, सर्व हितैषी कम्पनी तथा गोर्खा पुस्तकालय, बनारस, प्रथम संस्करण, सन् १९३८
(अं) कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ,, ,, ,,
(अः) श्वेताश्वतरोपनिषद् ,, ,, ,,

ब्रह्मसूत्र-साहित्य—

१—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, ले० श्री शंकराचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
२—ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य, ले० श्री भास्कराचार्य, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, प्रथम संस्करण।
३—शारीरकमीमांसाश्रीभाष्य, ले० श्री रामानुजाचार्य, प्रकाशक—श्री धनीराम शास्त्री, वृन्दावन, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०११।
४—वेदान्तपारिजातसौरभभाष्य, ले० श्री० निम्बार्काचार्य, प्रकाशक—श्री कल्याणदास वृन्दावन, प्रथम संस्करण, सन् १९३२।
५—वेदान्तकौस्तुभभाष्य, ले० श्री निवासाचार्य, प्रकाशक—श्री कल्याणदास वृन्दावन, प्रथम संस्करण, सन् १९३२।
६—ब्रह्मसूत्रवृत्ति (वेदान्तकौस्तुभप्रभा), ले० श्री केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य, प्रकाशक—श्री कल्याणदास वृन्दावन, प्रथम संस्करण, सन् १९३७।
७—पूर्णप्रज्ञदर्शन (ब्रह्मसूत्रमध्वभाष्य), ले० श्री मध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ), प्रकाशक—श्री जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, सन् १८८१।
८—श्रीमदणुभाष्य, ले० श्री वल्लभाचार्य, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् १९२१।
९—बालबोधिनी (अणुभाष्यटीका), ले० श्रीधर त्र्यम्बक पाठक शास्त्री, भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना, प्रथम संस्करण, सन् १९२६।
१०—ब्रह्मसूत्रगोविन्दभाष्य, ले० श्री बलदेव विद्याभूषण, प्रकाशक—श्री कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, प्रथम संस्करण, सं० २०११।
११—ब्रह्मसूत्रवैदिकभाष्य, ले० श्रीभगवदाचार्य, रामानन्द साहित्य मन्दिर, अलवर, सन् १९४८।
१२—तत्त्वप्रकाशिका (मध्वभाष्यटीका) ले० श्री जयतीर्थ, गवर्नमेण्ट ऑरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर।

पुराणेतिहास-साहित्य—

१—महाभारत, प्रथम भाग (आदि पर्व), चित्रशाला प्रेस पूना, सन् १९२९।
२—महाभारत, पंचम भाग (शान्ति पर्व), चित्रशाला प्रेस पूना, सन् १९३२।

३—विष्णुपुराण (छः अंश), गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० २००६।

आगम-साहित्य—

१—परमसंहिता, ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, सन् १९४०।

२—पंचरात्ररक्षा, ले० श्रीवेंकटदेशिकाचार्य, ग्रन्थमाला कार्यालय, कंजीवरम्, सन् १९४१।

३—आगमप्रामाण्य, ले० श्री यामुनाचार्य, प्रकाशक—श्री परांकुशाचार्य, मथुरा प्रथम संस्करण, सन् १९३६।

२—मृगेन्द्रतन्त्र (मृगन्द्रागम), विद्यापाद एवं योगपाद, अनुसन्धान तथा पुरातत्व विभाग, जम्मू-काश्मीर सरकार, श्रीनगर, सन् १९३०।

षड्दर्शन-साहित्य

१—षड्दर्शन, लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९८२।

२—शाबरभाष्य (पूर्वमीमांसादर्शन), पूर्व षट्क, ले० श्री शबरस्वामी, प्रकाशक—श्री जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, सनु १८८३।

३—प्रशस्तपादभाष्य (वैशेषिकदर्शन), ले० श्री प्रशस्तपाद आचार्य—चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस।

४—सांख्यकारिका, ले० श्री ईश्वरकृष्ण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९८९।

वैष्णवदर्शन-साहित्य—

१—सिद्धित्रय, ले० श्री यामुनाचार्य, प्रकाशक—श्री रामदुलारे शास्त्री, कलकला, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०००।

२—तत्त्वत्रय (सभाष्य), ले० श्री लोकाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सन् १९३८।

३—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ले० श्री गोस्वामी गिरिधर जी महाराज, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारस, सनु १९०६।

४—तत्त्वसन्दर्भ (षट्सन्दर्भ), ले० श्री जीवगोस्वामी, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, बनारस।

५—षट्सन्दर्भ, ले० श्री जीवगोस्वामी, प्रकाशक—श्री श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता, शाकाब्द १८२२।

६—सर्वसम्वादिनी, ले० श्री जीवगोस्वामी (बंगाक्षर), प्रकाशक—श्री हरिदास शर्मा, कलकत्ता, सन् १९२७।

७—प्रमेयरत्नावली, श्री बलदेव विद्याभूषण, संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता, सन् १६२७ ।

८—सिद्धान्तरत्न (प्रथम भाग), ले० श्री बलदेव विद्याभूषण, सरस्वती भवन, बनारस, सन् १६२४ ।

६—सिद्धान्तरत्न (द्वितीय भाग) ले० श्री बलदेव विद्याभूषण, सरस्वती भवन, बनारस, सन् १६२७ ।

१०—वेदान्तसिद्धान्तसंग्रह, ले० श्री ब्रह्मचारिवनमालिमिश्र, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो बनारस, सन् १६१२ ।

बौद्ध-जैन-साहित्य—

१—अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सम्पादक श्री राजेन्द्रलाल मित्र, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता सन् १८८८ ।

२—माध्यमिककारिका, ले० श्री नागार्जुन, सम्पादक—प्रो० पुसें, पीटर्स बर्ग, सन् १६०३ ।

३—विग्रहव्यावर्तनी, ले० श्री नागार्जुन, सम्पादक—काशीप्रसाद जायसवाल तथा राहुल सांकृत्यायन, (जर्नल, बिहार तथा उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग ३, अंक २३, सन् १६३७) ।

४—अभिधर्मकोश—ले० श्री वसुबन्धु, काशी विद्यापीठ बनारस, संवत् १६८८ ।

५—तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धिसमेत), ले० श्री उमास्वामी, प्रकाशक, रावजी सखाराम जोशी, शोलापुर, तृतीय संस्करण, सन् १६३७ ।

अन्य विविध—

१—पाणिनिसूत्र (सिद्धान्तकौमुदी से), ले० श्री पाणिनि मुनि, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, सन् १६२६ ।

२—पाशुपतसूत्र (कौण्डिन्यकृत पंचार्थभाष्य समेत) सम्पादक—आर० अनन्तकृष्ण शास्त्री, ऑरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी ट्रावनकोर विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम्, सन् १६४० ।

२—वैदिककोष (प्रथम भाग) संग्रहीता—श्री हंसराज, दयानन्द महा-विद्यालय संस्कृत ग्रंथमाला, सन् १६२६ ।

हिन्दी-ग्रन्थ

१—बौद्धधर्मदर्शन, ले० श्री आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण सन् १६३६ ।

२—बौद्धदर्शन, ले० श्री राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, सन् १९४८।

३—गीतारहस्य (हिन्दी अनुवाद) ले० श्री बालगंगाधार तिलक, पूना, तृतीय संस्करण, सन् १९१९।

४—भारतीयदर्शन, ले० श्री बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर बनारस, चतुर्थ संस्करण सन् १९४९।

५—उपनिषत्प्रकाश, लेखक—श्री दर्शनानन्द जी सरस्वती, वेद मन्दिर, बरेली, दशम संस्करण, सन् १९५५।

अँग्रेजी-ग्रन्थ

१—हिस्ट्री ऑव् इन्डियन फिलासफी (प्रथम पुस्तक), ले० डा० एस० एन० दासगुप्ता, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, चतुर्थ संस्करण, सन् १९५७।

२—हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलासफी (तृतीय पुस्तक), ले० डा० एस० एन० दासगुप्ता, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, सन् १९४०।

३—हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलासफी (चतुर्थ पुस्तक), ले० डा० एस० एन० दासगुप्ता, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, सन् १९४९।

४—फिलासफी आव् उपनिषद्, ले० डाउसन, (इङ्गलिश अनुवाद) एडिनबरा।

५—दी वेदान्त, डा० वी० एस० घाटे, भाण्डारकर आरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् १९२६।

६—वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, ले० श्री आर० जी० भाण्डारकर, भाण्डारकर आरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् १९२९।

७—इन्ट्रोडक्शन (श्रीकरभाष्य, भाग २) ले० श्री हयवदन राव, मैसूर लिंगायत एजूकैशन फन्ड एसोशिएशन, मैसूर, सन् १९३६।

८—कम्पेयरीज़न ऑव् द भाष्याज़् ऑव् शंकर, रामानुज, केशवकाश्मीरी एण्ड वल्लभ ऑन सम कूशल सूत्राज़्, ले० डा० आर० डी० करमरकर, ऑरियण्टल बुक सप्लाइंग एजेन्सी, पूना, सन् १९२०।

९—क्रिटीक ऑव् द ब्रह्मसूत्राज़्, प्रथम भाग, ले० व प्रकाशक—डा० पी० एम० मोदी, भावनगर।

१०—क्रिटीक ऑव् द ब्रह्मसूत्राज़्, द्वितीय भाग, ले० व प्रकाशक—डा० पी० एम० मोदी, रावपुर बड़ौदा, सन् १९५६।

११--ब्रह्मसूत्राज़् ऑव् बादरायण विद् कमेण्टरी ऑव् शंकराचार्य, ले० डा० एस० के० बेलवलकर, ऑरियन्टल बुक सप्लाइंग एजेन्सी, पूना सन् १९२३।

१२--सिस्टम ऑव् बुद्धिस्टिक थॉट, ले० यामाकामी सोगन, कलकत्ता विश्व-विद्यालय, सन् १९१२।

१३--सेण्ट्रल फिलासफी ऑव् बुद्धिज़्म, ले० डा० टी० आर० वी० मूर्ति, जार्ज एलन एण्ड अनविन, एल० टी० डी०, लन्दन, सनु १९५५।

१४--झा कॉमेमोरेशन वॉल्यूम, सम्पादक--श्री के० चट्टोपाध्याय, ऑरियन्टल बुक एजेंसी, पूना, सनू १९३७।

१५--दी वेदान्त, ले० डा० एन० के० दत्ता, कलकत्ता विश्वविद्यालय, सनु १९३१।

पत्र-पत्रिकाएँ

१--अच्युत, वर्ष ३ अंक ४, सम्वत् १९९३, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, बनारस। (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य-भूमिका, ले० महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज।)

२--साप्ताहिक संस्कृतम्, दिनाङ्क ३०-८-५५, २०-९-५५, २७-९-५५, ४-१०-५५, ११-१०-५५, १८-१०-५५, २५-१०-५५, १-११-५५।

३--जर्नल ऑव् अमेरिकन ऑरियण्टल सोसाइटी, अंक ३१, सनु १९११ (दी डेट ऑव् फिलसाफीकल सूत्राज़्, ले० प्रो० जैकोबी)।

नामानुक्रमणिका

* पृ० ३१ पंक्ति ५ में 'गीतार्थसंग्रह' के स्थान पर 'गीतार्थसंग्रहरक्षा' भूल से छप गया है।

*पृ० २२ पंक्ति १९ पर ये नाम अशुद्ध छप गए हैं।

* पृ० १६२ पंक्ति २५ में 'वल्लभ' के स्थान पर 'बलदेव' भूल से छप गया है।